एमएएचडी–05

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अन्धा युग

चन्द्रगुप्त

नाटक और कथेतर गद्य विधाएँ

एमएएचडी–05

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

नाटक और कथेतर गद्य विधाएँ

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

अध्यक्ष

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

संयोजक एवं सदस्य

संयोजक

प्रो. (डॉ.) चन्द्रकला पाण्डेय
हिन्दी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता

समन्वयक

डॉ. मीता शर्मा
सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सदस्य

- **प्रो. (डॉ.) सुदेश बत्रा**
  पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
  राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
- **(डॉ.) कुमार कृष्ण**
  अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
  हिमांचल विश्वविद्यालय, शिमला
- **प्रो. (डॉ.) नन्दलाल कल्ला**
  पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
  जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
- **डॉ. नन्दकिशोर आचार्य**
  वरिष्ठ आलोचक व साहित्यकार, बीकानेर
- **प्रो. (डॉ.) जवरीमल पारख**
  अध्यक्ष, मानविकी विद्यापीठ
  इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय खुला विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
- **प्रो. (डॉ.) रंजना बेन अरगडे**
  अहमदाबाद विश्वविद्यालय, गुजरात
- **डॉ. हेतु भारद्वाज**
  पूर्व प्राचार्य,
  पारीक महाविद्यालय जयपुर

संपादन एवं पाठ्यक्रम-लेखन

संपादक मण्डल

डॉ. प्रेम प्रकाश भट्ट
पूर्व एसोशिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर

डॉ. मीता शर्मा
सहायक आचार्य एवं संयोजक, हिन्दी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

इकाई लेखक	इकाई सं.
डॉ. हेतु भारद्वाज पूर्व प्राचार्य, पारीक महाविद्यालय जयपुर	1,12
डॉ. मीता शर्मा सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा	2,11
डॉ. मकरन्द भट्ट प्राध्यापक, हिन्दी विभाग लाल बहादुर शास्त्री महाविद्यालय, जयपुर	3,4
प्रो.(डॉ.) नवनीत चौहान विभागाध्यक्ष, हिन्दी सरदार पटेल विश्वविद्यालय,वल्लभनगर,गुजरात	5
डॉ. हरिचरण शर्मा पूर्व एसोशिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	6,7
निरूपमा भट्ट से.नि. प्राध्यापक, हिन्दी विभाग सुबोध जैन कॉलेज, जयपुर	8
डॉ.(प्रो.) सुदेश बत्रा हिन्दी विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	9
डॉ. मनोज गुप्ता पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी सुबोध महाविद्यालय, जयपुर	10

इकाई लेखक	इकाई सं.
प्रो.(डॉ.) दयाशंकर त्रिपाठी हिन्दी विभाग सरदार पटेल विश्वविद्यालय,बल्लभनगर, गुजरात	13,14
प्रो. सत्यकाम हिन्दी विभाग इन्दिरा गांधी अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय,नई दिल्ली	15
प्रो. रामअवध शास्त्री अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग हिन्दू कॉलेज अमरोहा (उत्तर प्रदेश)	16
डॉ. लक्ष्मी शर्मा व्याख्याता, हिन्दी विभाग खण्डेलवाल स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जयपुर	17
डॉ. अर्चना त्रिपाठी अनुसन्धान अधिकारी, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय वैस्ट ब्लॉक-7,आर.के. पुरम, नई दिल्ली	18,23
डॉ. पल्लव नन्दवाना सहायक आचार्य, जा.रा.ना. राजस्थान विद्यापीठ विश्वविद्यालय, उदयपुर	19,20
डॉ. आलोक गुप्ता भाषा भवन, हिन्दी विभाग गुजरात विश्वविद्यालय, नौरंगपुरा, अहमदाबाद	21,22

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. नरेश दाधीच	**प्रो. एम.के. घड़ोलिया**	**योगेन्द्र गोयल**
कुलपति	निदेशक	प्रभारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा	**संकाय विभाग**	**पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग**

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल

सहायक उत्पादन अधिकारी,

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पुनः उत्पादन - फरवरी 2012 ISBN-13/978-81-8496-103-4

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

व. म. खु. वि., कोटा के लिये कुलसचिव व. म. खु. वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

एमएएचडी-05

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

नाटक और कथेतर गद्य विधाएँ

खण्ड सं.	इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
1.	**नाटक व रंगमंच : सैद्धान्तिक विवेचन**		
	इकाई - 1	नाटक का स्वरूप, तत्व व रंगमंच	11–38
	इकाई - 2	हिन्दी नाटक की परम्परा और विकास	39–51
2.	**जयशंकर प्रसाद कृत 'चन्द्रगुप्त'**		
	इकाई - 3	प्रसाद का नाट्य साहित्य	52–67
	इकाई - 4	चन्द्रगुप्त : कथावस्तु, पात्र संरचना व प्रतिपाद्य	68–83
3	**धर्मवीर भारती कृत 'अंधा युग'**		
	इकाई - 5	धर्मवीर भारती की नाट्य दृष्टि और नाट्य साहित्य	84–107
	इकाई - 6	अंधायुग में कथावस्तु और चरित्र चित्रण	108–132
	इकाई - 7	गीतिनाट्य के रूप में अंधा युग	133–149
4	**मोहन राकेश कृत 'आधे अधूरे'**		
	इकाई - 8	मोहन राकेश : नाट्य दृष्टि व उनके नाटक	150–160
	इकाई - 9	आधे अधूरे : एक विवेचन	161–172
	इकाई - 10	आधे अधूरे : रंगमंचीय विधान	173–186
5.	**निबन्ध और कथेतर गद्य साहित्य**		
	इकाई - 11	निबन्ध साहित्य की परम्परा व विकास	187–216
	इकाई - 12	कथेतर गद्य विधाओं की परम्परा व विकास	217–234
6	**प्रमुख निबन्ध और कथेतर गद्य विधाएँ**		
	इकाई - 13	बालमुकुन्द गुप्त कृत 'एक दुराशा' का अध्ययन व विवेचन	235–255
	इकाई - 14	रामचन्द्र शुक्ल कृत 'काव्य मे लोकमंगल की साधनावस्था' का विवेचन व विश्लेषण	256–280
	इकाई - 15	हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'अशोक के फूल' का अध्ययन व विवेचन	281–293
	इकाई - 16	विद्यानिवास मिश्र कृत 'मेरे राम का मुकुट भींग रहा है' का अध्ययन व विवेचन	294–306
	इकाई - 17	हरिशंकर परसाई कृत 'ठिठुरता हुआ गणतन्त्र की व्यंग चेतना का अध्ययन व विवेचन	307–320
	इकाई - 18	महादेवी वर्मा कृत 'भाभी' रेखाचित्र का अध्ययन व विवेचन	321–334
	इकाई - 19	अज्ञेय कृत संसमरण 'प्रेमचन्द' (स्मृति लेखा से) का अध्ययन	335–348

	व विवेचन	
इकाई - 20	रांघेय राघव कृत रिपोतर्ज 'अन्धकार' (तूफानों के बीच में) का अध्ययन व विवेचन	349–361
इकाई - 21	निर्मल वर्मा कृत 'चीड़ों पर चांदनी' (यात्रा वृतान्त) के एक अंश का अध्ययन व विवेचन	362–375
इकाई - 22	पाण्डेय बेचैन शर्मा 'उग्र कृत' 'अपनी खबर' (आत्मकथा) का अध्ययन व विवेचन	376–389
इकाई - 23	विष्णु प्रभाकर कृत 'आवारा मसीहा' (जीवनी) के एक अंश का अध्ययन व विवेचन	390–397

खण्ड-परिचय

प्रस्तुत पाठ्य सामग्री वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा के एम.ए. उत्तरार्द्ध हिन्दी विषय के छात्रों के लिये तैयार की गयी है । यह विषय सामग्री 'नाटक एवं कथेतर गद्य विधाएँ' शीर्षक, प्रथम प्रश्न पत्र पर केन्द्रित है । पाठ्य सामग्री 6 खण्डों में विभक्त की गई है । खण्ड (1) नाटक एवं रंगमंच से सम्बन्धित है । नाटक का तात्विक विवेचन एवं रंगमंच से नाटक की संलग्नता के पक्षों पर दो इकाइयाँ तैयार की गई हैं । साथ ही हिन्दी नाटकों की परम्परा और ऐतिहासक परिप्रेक्ष्य में उसका विकास भी प्रस्तुत किया गया है । कुल मिलाकर नाटक और रंगमंच की पारस्परिकता उभारी गयी है । इस खण्ड का उद्देश्य छात्रों के लिये नाट्य और मंच के रिश्ते को रेखांकित कर प्राचीन और आधुनिक दृष्टि से नाट्य विधा का शास्त्रीय निरूपण करना है । खण्ड (2) में हिन्दी के प्रमुख नाट्य लेखक जयशंकर प्रसीद की प्रमुख नाट्य कृति 'चन्द्रगुप्त' का विवेचन प्रस्तुत किया गया है । खण्ड (3) में धर्मवीर भारती की नाट्य दृष्टि, अंधायुग में कथावस्तु,चरित्र चित्रण,शिल्प सौष्ठव का उल्लेख है । खण्ड (4) में मोहन राकेश कृत नाटक 'आधे अधूरे' को स्थान दिया गया है । राकेश हिन्दी के नाटक में युगान्तरकारी मोड़ लाने वाले रचनाकार है । उनकी नाट्यकृति 'आधे अधूरे आधुनिक संवेदनाओं का नाटक है जो कि समकालीन जीवन की विडम्बना पूर्ण स्थितियों को तीव्रता से उभारता है ।

मुख्य रूप से चन्द्रगुप्त,अंधायुग और 'आधे अधूरे' रचनाओं का प्रतिपाद्य, नाट्यदृष्टि, शिल्प सौष्ठव और रंगमंचीय विधान को ध्यान में रखकर उक्त रचनाओं का विश्लेषण किया गया है । कुल मिलाकर नाट्य विधा व प्रमुख नाट्य कृतियों को संक्षिप्त एवं सारगर्भित ढंग से समझाने का प्रयास इन खण्डों में किया गया है ।

निबन्ध के तात्विक स्वरूप, रचना विधान और निबन्ध के क्रमिक विकास का परिचय खण्ड (5) में दिया गया है । साथ ही निबन्ध के अतिरिक्त अलग कोटि मेर स्थान पाने वाली कथेतर गद्य विधाएँ भी हैं । उनके स्वरूप और विकास का परिचय भी इसी खण्ड में दिया गया है ।

नाटक के अलावा कतिपय कथेतर गद्य विधाएं भी इस प्रश्न पत्र में स्थान पाती है । ध्यान रखने की बात यह है कि छात्रों के अध्ययन हेतु सावधानीपूर्वक कुछ प्रसिद्ध कथेतर गद्य रचनाओं को स्थान दिया गया है । इन कथेतर रचनाओं में निबन्ध हैं, ललित निबन्ध है, व्यंग्य रचना है, रेखाचित्र है, संस्मरण है, रिपोर्ताज हैं, यात्रा-वृतान्त है, आत्मकथा है और जीवनी है । कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये कथेतर गद्य विधाएं कथा साहित्य से अलग हटकर अपनी पहचान बनाती हैं । इनमें से प्रत्येक विधा का अपना तात्विक स्वरूप है, अपनी शिल्प संरचना है और अपना अलग आस्वादन है । मुख्य रूप से कथेतर गद्य विधा के अन्तर्गत निबन्ध को स्थान दिया जाता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और विधानिवास मिश्र जैसे प्रतिष्ठित निबन्धकारों की रचनाएँ इसमें संकलित हैं ।

कथेतर गद्य विधाओं के अन्तर्गत - प्रमुख कृतियों के मुख्य अंश- पाठ के रूप में निर्धारित हैं, इसलिए कथेतर गद्य विधाओं के तात्विक स्वरूप को समझने के साथ-साथ यदि

छात्र उनके कुछ चुने हुए अंश का पाठ्य वस्तु के रूप में अध्ययन करेंगे तो कथेतर गद्य विधाओं से व्यावहारिक स्तर पर भी परिचित हो सकेंगे । इस दृष्टि से खण्ड (6) में महत्वपूर्ण निबन्ध तथा अन्य कथेतर गद्य विधाओं के अंश अध्ययन हेतु निर्धारित किए गए हैं । इनमें से प्रत्येक रचना के व्याख्या-योग्य स्थलों को समझाने का भी प्रयास किया गया कुल मिलाकर प्रस्तुत प्रश्न-पत्र में निहित पाठ्य सामग्री 'नाटक एवं कथेतर गद्य विधाएँ' शीर्षक को सार्थकता प्रदान करती है । आशा है कि एम.ए. उत्तरार्द्ध हिन्दी के छात्र; हिन्दी में विशेषज्ञों के द्वारा तैयार की गई इस सामग्री से न केवल परीक्षा की तैयारी कर सकेंगे अपितु नाटक एवं कथेतर गद्य विधाओं के सम्बन्ध में विधागत स्वरूप और तात्विक अनुशीलन का लाभ उठाते हुए साहित्य के गम्भीर पाठक के रूप में भी आगे बढ सकेंगे ।

इकाई -1 नाटक का स्वरूप. तत्व व रंगमंच

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2.1 परिभाषा

1.2.2 नाट्य और नृत्य

1.3 नाटक के तत्व

1.3.1 कथावस्तु

1.3.2 संवाद

1.3.3 दृश्य विधान

1.3.4 रचना विधान

1.3.5 नाटक का अंत

1.3.6 रस

1.4 हिन्दी नाटक और रंगमंच

1.4.1 भारतेन्दुपूर्व रंगमंच

1.4.2 भारतेन्दु और हिन्दी नाटक व रंगमंच

1.4.3 प्रसाद और हिन्दी नाटक व रंगमंच

1.4.4 समकालीन हिन्दी रंगमंच

1.4.5 लोकनाट्य शैली और शास्त्रीय शैली के प्रयोग

1.4.6 वर्तमान हिन्दी रंगमंच के विरोधाभास

1.5 सारांश

1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.7 संदर्भ ग्रन्थ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप:

- नाटक का स्वरूप व परिभाषा को समझ सकेंगे ।
- नाटक के रचना विधान का विश्लेषण कर सकेंगे ।
- नाटक के महत्व समझ सकेंगे ।
- नाटक और रंगमंच के अन्तःसम्बन्धों को स्पष्ट कर सकेंगे ।
- हिन्दी नाटक और रंगमंच के विकास को समझ सकेंगे ।
- रंगमंच के शास्त्रीय और लोकरूपों को समझ सकेंगे ।
- वर्तमान हिन्दी रंगमंच की समस्याओं को समझ सकेंगे ।

1.1 प्रस्तावना

साहित्य की सबसे प्रभावशाली और जीवन को सर्वाधिक जीवंत रूप में प्रस्तुत करने वाली विधा नाटक है । शेक्सपीयर ने तो मानव जीवन को ही एक रंगमंच माना है, जिस पर सभी अपने लिए प्रस्तावित पार्ट का अभिनय करने के लिए उपस्थित होते हैं और अपने लिए निर्धारित कार्याभिनय कर चले जाते हैं । भारत और पश्चिम दोनों में नाटक और रंगमंच की परम्परा बहुत प्राचीन रही है । भारत में तो काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रणयन ही नाटक को केन्द्र में रखकर किया गया । भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' इस विधा के विश्लेषण का सबसे प्राचीन तथा वैज्ञानिक विवेचन ग्रन्थ है । पश्चिम में भी अरस्तू जैसे दार्शनिकों ने नाट्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है ।

भारत में नाटक को 'पंचम वेद' माना गया है, क्योंकि नाटक ऐसी सम्पूर्ण विधा है जिसमें जीवन अपने समग्र रूप में घटित होता है । पाठ, नृत्य, अभिनय, संगीत आदि का समुच्चय नाटक में ही सम्भव है, इसीलिए नाटक को जीवन-अवस्थाओं का अनुकरण ही कहा गया है । यही नहीं मनुष्य के अन्तस की वृत्तियों का अनुकरण भी नाटक में ही होता है । नाटक जीवंत और सक्रिय मानव जीवन को दर्शक / पाठक के समक्ष प्रस्तुत कर देता है इसलिए मनुष्य पर नाटक का सर्वाधिक प्रभाव होता है ।

नाटक के दो प्रमुख उद्देश्य माने गये हैं - मनोरंजन तथा हितोपदेश । हमारे यहाँ मनोरंजन को कभी संकीर्ण तथा अश्लील अर्थों में नहीं देखा गया । संस्कृत-नाटक का विदूषक दर्शक को हंसाता ही नहीं, प्रबोधित भी करता है । पारसी नाट्य शैली ने मनोरंजन की दृष्टि से नाटक को अश्लीलता की ओर घसीटा और कुछ समय के लिए उसे लक्ष्यभ्रष्ट भी किया ।

संस्कृत नाट्यशास्त्र में नाटक के विविध रूपों की विस्तृत चर्चा मिलती है । साथ ही लोक ने भी अनेक नाट्य रूपों का संधान किया और उनका उपयोग लोक जागरण के लिए भी किया । लोक जीवन में लोक नाट्य रूपों का पूरा हस्तक्षेप रहा है । नौटंकी, सांग, खयाल, भवई, नाच, रास जैसे अनेक रूप ने जाने कब से लोक जीवन में रचे-बसे हैं । इन रूपों का उपयोग भी शास्त्रीय नाटकों में किया गया है । इस तरह, भारत में नाटक और लोक नाट्य की परम्परा साथ-साथ चलती रही है ।

1.2 नाटक का स्वरूप

1.2.1 परिभाषा

पाणिनि का मत है कि नाटक शब्द की व्युत्पत्ति, 'नट' धातु से हुई जबकि रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्य दर्पण' नामक ग्रंथ में इसकी व्युत्पत्ति 'नाट' धातु से मानी है । बेवर और मोनियर विलियम्स का मत हैं कि 'नट ' धातु 'नृत' धातु का प्राकृत कृप है। मार्कंड की धारणा है कि 'नृत' धातु बहुत प्राचीन है जबकि 'नट' धातु का प्रयोग बहुत बाद में हुआ । अनेक विद्वानों के अनुसार 'नट' तथा नृत' दोनों धातुओं का प्रयोग

ऋग्वेदकाल से होता आ रहा है । सायण ने अपने भाष्य में 'नट का अर्थ व्याप्नोति' किया है जबकि 'नृत' का 'गात्र विक्षेपण' ।

'सिद्धान्त कौमुदी' में नाट्य की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गयी है - 'नट नृतौ । इत्यमेवपूर्वमपि पठितम । तत्रांगविक्षेप: । पूर्व पठितस्य नाट्यमर्थ: । यत्कारिष नटव्यपदेश: । ' इसका तात्पर्य है कि 'नट ' धातु का अर्थ दोनों ही था-गात्र विक्षेपण और अभिनय । ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में 'नृत', और 'नट' दोनों धातुएँ समानार्थक थीं किन्तु कालान्तर में 'नट' धातु का अर्थ व्यापक हो गया । 'नृत' धातु का प्रयोग 'गात्र विक्षेपण' के अर्थ में होने लगा और 'नद' का प्रयोग 'अभिनय' के लिए।

वस्तुत: नाट्य शब्द 'नट' धातु से बना है तथा इसके अर्थ में नृत्य (गात्र विक्षेपण) और अभिनय दोनों आ जाते हैं । भरतमुनि ने नाट्य शब्द को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सम्पूर्ण संसार के भावों का अनुकीर्तन ही नाट्य है । इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए 'दशरूपककार ने लिखा है 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' । उसकी व्याख्या करते हुए धनिक ने लिखा है-

"काव्य में नायक की जो धीरोदात्त इत्यादि अवस्थाएँ बतलाई गई हैं उनकी एकरूपता जब नट अभिनय के द्वारा प्राप्त कर लेता है तब वही एकरूपता की प्राप्ति नाट्य कहलाती है । यह अभिनय, चार प्रकार का होता है, वाचिक, आंगिक, सात्विक और आहार्य । वचनों के द्वारा जो अभिनय किया जाता है उसे 'वाचिक' कहते हैं । भुजाक्षेप इत्यादि अंगों का अभिनय 'आंगिक' अभिनय कहलाता है । स्तम्भ, स्वेद इत्यादि सात्विक भावों के अभिनय को 'सात्विक' अभिनय कहते हैं और वेश, रचना इत्यादि के द्वारा जो अभिनय किया जाता है उसे 'आहार्य ' अभिनय कहते हैं । "

अंग्रेजी में नाटक के लिए 'ड्रामा' शब्द का प्रयोग किया जाता है । ड्रामा शब्द का ग्रीक में अर्थ होता है सक्रियता । एश्लेड्यूक्स ने अपने इंग्लिश ड्रामा नामक ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है -

'ड्रामा शब्द ग्रीक में सक्रियता का वाचक होता है । ड्रामा शब्द की व्युत्पत्ति से भारतीय और पाश्चात्य नाटकों के मौलिक अन्तर का स्पष्टीकरण भी हो गया । भारत में अनुकरण और अभिनय को नाटक का प्रमुख तत्व माना जाता है और पाश्चात्य देशों में सक्रियता को इसका प्रमुख उपादान ध्वनित किया गया

संस्कृत में विभिन्न आचार्यों ने नाटक के स्वरूप को स्पष्ट करने का गंभीर प्रयास किया है ।

इन आचार्यों में भावप्रकाश के रचयिता शारदातनय प्रतापरूद्रदेव, यशोभूषण के प्रणेता विद्यानाथ, संगीत रत्नाकर के प्रणेता निशंक शारंडदेव आदि प्रमुख हैं । इसके अतिरिक्त साहित्य-दर्पण, नाट्य-दर्पण, सिद्धान्त-कौमुदी आदि ग्रन्थों में भी इस विषय पर प्रकाश डाला गया है ।

1.2.2 नाट्य और नृत्य

नाट्य के स्वरूप को धनंजय और धनिक दोनों ने ही विस्तार से समझाने की चेष्टा की है । उन दोनों के मतानुसार नाट्य में निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं-

1. नाट्य में नायकों की धीरोदात्तादि अवस्थाओं का और उनकी वेश रचना आदि का अनुकरण प्रधान रहता
2. नाट्य को रूपक भी कहते हैं, क्योंकि यह देखा जाता है । इसकी यह चाक्षुष प्रत्यक्षता इसकी प्रमुख विशेषता है ।
3. नाट्य रसाश्रित होता है ।
4. नाट्य में सात्विक अभिनय की बहुलता होती है ।
5. नाट्य में वाच्यार्थ का अभिनय होता है ।

नृत्य - यह शब्द 'नृतीगात्रविक्षेपे' धातु में 'क्यप' प्रत्यय लगकर सम्पन्न हुआ है । नृत्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए दशरूपककार ने लिखा है-

"अन्यम्दावाश्रयं नृत्यम् "

इस कारिका की टीका में धनिक ने नृत्य की निम्नलिखित विशेषताएँ ध्वनित की हैं-

1. नृत्य में भावों का अनुकरण प्रधान रहता है ।
2. इसमें आंगिक अभिनय की ही प्रधानता रहती है ।
3. नृत्य में पदार्थ का अभिनय रहता है । (3)

नृत और नृत्य

नृत्य और नृत दोनों ही शब्द नृत नामक एक ही धातु से बने हैं । किन्तु दोनों के स्वरूपों में परस्पर बड़ा अन्तर है । नृत्य का स्वरूप हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं । नृत्य को स्पष्ट करते हुए दशरूपककार में लिखा है

"नत ताल लयाश्रयम् "

अर्थात् नृत्य उसे कहते हैं जो ताल और लय के आश्रित हो । नृत में ताल और लय के अनुरूप गात्र विक्षेपण किया जाता है ।

समानताएँ

1. अंगों का विक्षेप दोनों में ही अपेक्षित समझा जाता है ।
2. दोनों ही नाटक के अभिनय की सफलता में सहायक होते हैं । नृत्य अवान्तर पदार्थों के अभिनय को परिक्षत करता है । यह बात धनिक के 'नृत्यस्यकचइदवान्तर पदार्थाभियेन' से प्रकट है । नृत्य से अभिनय की शोभा बढ़ती हैं । यह 'नृत्यस्य च शोभा हेतुत्वेन' से प्रकट है ।

अन्तर

1. नृत्य में अंग-विक्षेप क्रिया-भावों के सहारे संचरित होती है । नृत्य में वह ताल और लय के सहारे संचरित होती है ।
2. नृत्य में पदार्थ का अभिनय होता है । किन्तु नृत में किसी बात का अभिनय नहीं किया जाता है ।

3. नृत्य को लोग देवों द्वारा आविष्कृत मानते हैं इसलिए वह सार्वभौमिक वस्तु है । किन्तु नृत्य स्थानीय वस्तु होती है । उसका भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रूपों में विकास होता है । इसलिए पहले को मार्ग और दूसरे को देशी कहते है ।
4. नृत्य भावाभिनय में सहायक समझा जाता है । नृत केवल सौन्दर्य का विधायक मात्र होता है ।
5. संस्कृत के आचार्यों ने इन शब्दों पर बड़ी सूक्ष्मता और गहनता से विचार किया है तथापि निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते है कि काल के प्रवाह में नाट्य (नाटक) शब्द व्यापक अर्थ धारण करता गया और नृत तथा नृत्य नाटक के अंग बन गये । नृत्य एक स्वतंत्र कला है तथा उसका अपना अलग शास्त्र विधान है तथा उसका उपयोग नाटक में भी किया जाता है ।

1.3 नाटक के तत्व

जैसे किसी भी विधा के लक्षण ऐसे होना चाहिए, जो उसे अन्य विधाओं से स्पष्ट पृथकता प्रदान करें, वैसे ही उसके तत्व भी ऐसे ही होने चाहिए, जो उसे अन्य विधाओं से स्पष्ट पृथकता प्रदान करें ।

सामान्य रूप से आलोचक नाटक के छः तत्व मानते हैं-

1. कथा तत्व (कथावस्तु)
2. संवाद या कथोपकथन
3. पात्र योजना या चरित्र चित्रण
4. देशकाल या वातावरण का चित्रण
5. भाषा शैली
6. उद्देश्य ।

पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक के यह छः तत्व माने हैं और हिन्दी के आलोचक भी इन्हीं को मानकर हिन्दी के नाटकों की आलोचना करते हैं । कुछ हिन्दी के आलोचक संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित वस्तु, नेता, और रस को भी नाटक के तत्व मान बैठते हैं । वस्तुतः जैसे संस्कृत आचार्यों ने अलग से नाटकों के लक्षणों का विवेचन नहीं किया है, वैसे ही नाटक तत्वों का भी विवेचन नहीं किया है । वस्तु, नेता और रस तत्व न होकर वह आधार हैं जो सभी प्रकार के रूपक उपरूपक की संरचना के घटक बनते हैं, जो सभी में होते है । वस्तु, नेता और रस के अलग-अलग भेदों के अनुसार रूपक और उप रूपकों में भेद हो जाते हैं, जैसे, वस्तु सब में है, किन्तु जिसकी वस्तु प्रख्यात होती है, वह नाटक, जिसकी वस्तु उत्पाद्य होती है, वह प्रकरण । उसी तरह नेता और रस भी उनमें भेद उत्पन्न कर देते हैं । यह तत्व भी ऐसे हैं, जो महाकाव्यादि अन्य विधाओं के तत्व भी माने जा सकते हैं ।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रतिपादित और हिन्दी आलोचकों द्वारा स्वीकृत नाटक के छः तत्व-कथा, संवाद, चरित्र चित्रण, देशकाल, भाषा शैली और उद्देश्य ऐसे सामान्य तत्व हैं,

जो उपन्यास और कहानी के भी तत्व माने जाते हैं । तो इनमें भेद क्या रहा? वे आधारभूत तत्व क्या हैं, जो नाटक को कहानी और उपन्यास से पृथक् करते हैं । प्राय: अनेक कहानियों का नाट्य रूपान्तर किया जाता है, तो कौन सी विशेष बात की जाती है, जिससे कहानी नाटक बन जाती है? हमारी सम्मति में वह आधार है - कहानी को संवादों और दृश्य विधानों की शैली में प्रस्तुत करना । कोई भी कहानी साधारण हेर-फेर कर संवादों और दृश्य विधानों के रूप में प्रस्तुत किये जाने पर नाटक का कलेवर धारण कर लेती है । अत: नाटक के ये छ: तत्व, जो आज माने जाते हैं, भ्रामक हैं वस्तुत: नाटक के तीन ही तत्व हैं-

1. कथावस्तु 2. संवाद 3. दृश्य विधान

बाकी सभी तत्व इन तीन आधारभूत तत्वों के अन्तर्गत समाहित हो सकते हैं । नाटक मूलत: दृश्य काव्य होता है अर्थात् उसका अभिनयात्मक होना आवश्यक है, अत: तीनों तत्वों का आधारभूत गुण अभिनयात्मकता होना चाहिए ।

1.3.1 कथावस्तु

कथावस्तु में चरित्र चित्रण और उद्देश्य को लिया जा सकता है । वस्तुत: पात्रों का चरित्र चित्रण और कथा अभीष्ट या उद्देश्य या फल प्राप्ति, जो चाहें कहे, कथा के ही मूल अंग है । उन्हें अलग से तत्व नहीं माना जाना चाहिए ।

प्रतिपक्ष प्रश्न उठा सकता है कि चरित्र या पात्र योजना एक मुख्य वस्तु है, उसे अलग तत्व मानना आवश्यक है । किन्तु ध्यान से देखने पर ऐसा आवश्यक नहीं । क्योंकि जो भी कथा होगी उसमें पात्र आवश्यक रूप से होंगे और पात्रों के जीवन का संघर्ष, उनके जीवन की घटनाएँ आदि ही तो कथा का स्वरूप हैं । उन पात्रों का तथा नायक का चरित्र भी उन्हीं संघर्ष और घटनाओं के घात-प्रतिघात से विकसित होगा । अत: वह मूलत: कथा का ही अंग है ।

एक प्रश्न और भी उठ सकता है कि नाटक में नायक का होना आवश्यक है । नाटक की कथा नायक को धुरी मानकर ही विकसित होती है । बिना नायक के नाटक नहीं हो सकता । बात सही है । किन्तु नायक भी एक पात्र है, अन्य पात्रों की तुलना में वह प्रधान पात्र है, बस । अत: अन्य पात्रों के चरित्र-चित्रण की ही भाँति उसका चरित्र भी कथा का ही अंग है । संस्कृत में नायक (नेता) को अलग से तत्व मानने की आवश्यकता इसलिए पड़ी, क्योंकि संस्कृत नाटकों में नायक नायिका में कुछ विशिष्ट गुण होने आवश्यक थे । हर कोई नायक नायिका का पद नहीं प्राप्त कर सकता था । आज नायक नायिका के सम्बन्ध में कोई रूढ़ मान्यता नहीं रही, अत: अलग से उसके लिए तत्व मानने की आवश्यकता नहीं उद्देश्य को (या पुरानी शब्दावली में कहें तो फल प्राप्ति को) कथा का अंग मानने में सम्भवतः किसी को ऐतराज न होगा ।

1.3.2 संवाद

संवाद नाटक का वह तत्व है जो किसी कथा को नाटक का रूप प्रदान करता है । नाटक में कथा का विकास तथा पात्रों का चरित्र-चित्रण और उद्देश्य प्राप्ति संवादों द्वारा ही व्यक्त होती है । संवाद देशकाल का भी ज्ञान कराते हैं । संवादों का माध्यम भाषा-शैली है । अत: भाषा शैली के तत्व को संवाद के तत्व में ही आसानी से समाहित किया जा सकता है ।

1.3.3 दृश्य विधान

दृश्य विधान नाटक का वह तत्व है जो नाटक की कथा को नाटक के रूप मे गठन का मूल आधार प्रस्तुत करता है । नाटककार अपनी कथा को नाटक का रूप देने के लिए सबसे पहले उसे अंकों (यदि अनेकांकी है तो) और दृश्यों में और यदि एकांकी है तो एक या अनेक दृश्यों में बाँटकर उसके अभिनयात्मक रूप की कल्पना करता है और इस कल्पना से दृश्य विधान तथा रंग निर्देश करता है । यह दृश्य-विधान स्पष्ट कर देता है कि कथा ऐतिहासिक है तो इतिहास के किस काल की है, सामाजिक है तो उसकी कथा किस वर्ग के जीवन से सम्बन्धित है, पात्रों का जीवन स्तर कैसा है, कथा में घटनाओं का स्थान क्या है । यह सब बातें दृश्य विधान स्पष्ट कर देता है, साथ ही नाटक को अभिनेय बना देता है । अत: दृश्य विधान के तत्व में ही देशकाल और वातावरण के चित्रण के तत्व को सम्मिलित किया जा सकता है ।

इस प्रकार नाटक के केवल तीन ही आधारभूत तत्व रह जाते हैं-कथावस्तु, संवाद और दृश्य विधान ।

1. कथावस्तु - कथा, चरित्र-चित्रण या पात्र-योजना, उद्देश्य
2. संवाद - संवाद, भाषा-शैली
3. दृश्य विधान - देशकाल और वातावरण का चित्रण

हिन्दी में आज नाटक के जितने भी प्रकार प्रचलित हैं उन सभी अनेकांकी एकांकी, रेडियो नाटक आदि के ये तीनों ही आधारभूत तत्व हैं । विभिन्न नाटक प्रकारों में परस्पर भेद रचना-विधान के आधार पर पड़ जाता है । उदाहरण के लिए अनेकांकी की कथा का विन्यास अनेक अंगों और दृश्यों में होगा, एकाकी की कथा का गठन एक अंक और एक दृश्य या अनेक दृश्यों में ही होगा तथा एक पात्रीय नाटक में एक ही पात्र होगा आदि ।

कथा- जब हिन्दी के विभिन्न नाटक प्रकारों की कथाओं को देखते हैं तो अनेकाकियो में दो प्रकार की कथा देखने में आती है - आधिकारिक और प्रासंगिक । विषय की दृष्टि से कथा के प्रख्यात उत्पाद्य और मिश्र भेद आज भी स्वीकार हैं । हिन्दी नाटकों की कथाएँ या तो इतिहास प्रसिद्ध होती हैं या काल्पनिक या मिश्र । किन्तु काल्पनिक कथाओं का आधार जीवन यथार्थ ही होता है । नाटक की कथाएँ जीवन के सामान्यत: तीन क्षेत्रों से ग्रहण की जाती है:-

1. ऐतिहासिक
2. पौराणिक
3. सामाजिक

सामाजिक विषयवस्तु में राजनैतिक, समस्यामूलक, आदि विषय समाहित हो जाते हैं, क्योंकि उन सब विषयों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में समाज से ही होता है ।

संवाद - हिन्दी नाटकों में चार प्रकार के संवादों का प्रयोग होता है अत: हम उसी आधार पर चार प्रकार के संवाद मानते हैं-

1. स्वगत 2. कथा-गति प्रेरक 3. कथा गति अवरोधक 4. सूचक

रंगमंच पर न दिखाई जाने वाली घटनाओं (जो कथा के विकास को गति देने वाली हैं, पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाली है या कथा सम्बन्धी किसी रहस्य का उद्घाटन करने वाली है) की सूचना देने वाले सूचक संवाद ।

संवादों के गुण होने चाहिए ।

1. नाटकीयता
2. क्षिप्रता,
3. लघुता,
4. कथा के अभीष्ट को स्पष्ट करने की क्षमता
5. चरित्र चित्रण करने की तथा पात्रों के चरित्रगत अन्तर्द्न्द्र को स्पष्ट करने की क्षमता ।
6. कथा को विकसित कर अन्त की ओर अग्रसर करने की क्षमता ।
7. पात्रों के वाचिक अभिनय के साथ-साथ उनमें आंगिक और सात्विक अभिनय को स्वाभाविक रूप में उत्पन्न करने की क्षमता आदि ।

भाषा की दृष्टि से संवादों की विशेषता होनी चाहिए

1. सरलता
2. पात्रानुकूलता
3. कथा के भावों को स्पष्ट करने की क्षमता ।
4. नाटकीयता ।

दृश्य विधान - नाटकों में दृश्य विधान एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व होता है । नाटकों के दृश्य-विधान में निम्न विशेषताएँ होनी चाहिए-

दृश्य विधान ऐसा होना चाहिए, जो रंगमंच की सीमाओं में सरलता से प्रस्तुत और परिवर्तित किया जा सके ।

1. दृश्य विधान ऐसा होना चाहिए, जो नाटक की कथा की आत्मा को कथा के वातावरण से दर्शकों के सम्मुख स्पष्ट कर सके ।
2. दृश्य-विधान ऐसा होना चाहिए, जो पात्रों में क्रियाशीलता उत्पन्न कर सके ।
3. दृश्य-विधान यथासम्भव स्वाभाविक होना चाहिए, ऐसा जो दर्शकों की कल्पना में कथा का पूर्ण और सजीव बिम्ब उपस्थित कर सके ।

4. दृश्य-विधान पात्रों के स्तर, पात्रों के जीवन, पात्रों के मनोभावों तथा कथा की परिस्थितियों आदि को भी स्पष्ट कर सके ।

1.3.4 रचना विधान

रचना विधान के लिए भारतीय आचार्यों ने पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ, पाँच कार्यावस्थाएँ और पाँच संधियाँ मानी हैं । इन तीनों के परस्पर योग से कथा विकसित होती है । पाश्चात्य विद्वानों ने संधियों का विवेचन नहीं किया है, जिस रूप में हमारे भारतीय आचार्यों ने किया है । उन्होंने कथा के तीन भाग किए हैं-आदि, मध्य और अन्त ।

हिन्दी नाटकों को देखते हुए हमें कथा केवल चार स्थितियों में ही विभाजित मिलती है- आरम्भ, विकास, चरम सीमा और अन्त । कथा आरम्भ होती है और अपने अन्त की ओर घटनाओं के तथा पात्रों के बाह्य तथा आन्तरिक घात प्रतिघातों से विकास पाती है और अनेक संघर्षों को पार कर संघर्ष की चरम सीमा पर पहुँच जाती है, जहाँ दर्शक विस्मय विमूढ़ सा उत्सुक होकर 'सकते' की सी स्थिति में पहुँच जाता है । जहाँ उसके मन में नायक के प्रति संवेदना जाग जाती है और वह उसके प्रति सहानुभूति भरे हृदय से उत्सुक होकर परिणाम की प्रतीक्षा करने लगता है । तब कथा दर्शक के मन को सन्तुष्ट करती हुई या विस्मय विमूढ़ करती हुई या करूण आदि भावों से आप्लावित करती हुई समाप्त हो जाती है ।

इन चारों ही स्थितियों के बीच की कथा-जिज्ञासा, कौतूहल, विस्मयविमूढ़ता, औत्सुक्य तथा आकस्मिकता की आरोही-अवरोही गति से विकास करती हुई अन्त की ओर अग्रसर होती जाती है ।

नाटक के रचना-विधान में संवाद और दृश्य विधान का भी बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है । नाटककार दर्शकों के सम्मुख कोई विचार, उद्देश्य या समस्या आदि रखने के लिए एक कथा की कल्पना करता है । उसे नाटक का रूप देने के लिए संवादों और दृश्य-विधान के ढॉचें में रंगमंच पर पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत करता है । संवादों के द्वारा ही वह कथा और चरित्रों का विकास करता है । तथा कथा और पात्रों को अभिनयात्मकता प्रदान करता है । इसी प्रकार दृश्य विधान में आरम्भ, विकास, चरम सीमा और अन्त की दृष्टि से सारी कथा को कल्पित कर विभाजित करता है और उसी आधार पर दृश्य विधानों का निर्देशन करता है । दृश्य विधान कथा तथा कथा की परिस्थितियों, पात्रों के जीवन स्तर, उनके मनोभावों आदि को सजीव बनाने का माध्यम है । इसीलिए दृश्य विधान नाटक रचना का महत्वपूर्ण तत्व है । नाटककार अपने पात्रों के स्तर, मनोभावों, मनोदशा आदि का चित्रण करने के लिए विस्तृत रूप से दृश्य विधान की कल्पना करता है - उस दृश्य में क्या-क्या समान हो, कौन सी वस्तु कहां हो, वह कैसी हो आदि ।

1.3.5 नाटक का अन्त

प्राचीन भारतीय सिद्धान्त के अनुसार नाटक का अन्त सुखान्त होना चाहिए और पाश्चात्य सिद्धान्त के अनुसार दुखान्त और सुखान्त नाटक के अन्त के लिए ऐसी कोई

सीमा रेखा खींचना सही नहीं है । नाटक का अन्त सुखाना भी हो सकता है, दुखान्त भी, प्रसादान्त भी, विस्मयकारी भी आदि । यह नाटककार की कथा और उसके उद्देश्य पर निर्भर करता है ।

1.3.6 रस

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने रस निष्पत्ति पर विशेष बल दिया है । रस निष्पत्ति का सिद्धान्त नाटक और फिर बाद में समूचे साहित्य की जीवन के लिए आनन्दवादी उपयोगिता की दृष्टि से प्रतिपादित किया गया था । इसलिए साहित्य को अलौकिक आनन्द देने तथा उससे दर्शक या पाठक की 'भेद प्रतीति' या उसके विवेक ज्ञान' के तिरोभाव हो जाने तथा पूर्ण तदाकारता स्थापित हो जाने की बात कही गई है, यद्यपि उसमें 'कान्ता सम्मित' उपदेश के निहित रहने की बात भी आचार्यों ने कही है ।

आज साहित्य में केवल आनन्दवादी उपयोगिता का सिद्धान्त मान्य नहीं है । साहित्य आज प्रकारान्तर से उपदेशपरक होता है और स्वभावत: नाटक भी उद्देश्यपरक ही होता है । अत: दर्शक की 'भेद-प्रतीति' और 'विवेक ज्ञान' के 'तिरोभाव' हो जाने पर 'अलौकिक आनन्द, की प्रतीति करते हुए रसानन्द में ऊब-डूब करने की बात मान्य आज नहीं है । आज के दर्शक का 'विवेक ज्ञान' नष्ट नहीं होता वरन् उसे नाटक द्वारा और जाग्रत किया जाता है । दर्शक विवेकशील द्रष्टा की भाँति नाटक द्वारा प्रस्तुत जीवन की परिस्थितियों और समस्याओं पर विचार करता हुआ उन्हें देखता है । हाँ, ऐसे भी कुछ नाटक हैं जो केवल मनोरंजन करते हैं, किन्तु उन्हें उत्कृष्ट कोटि में नहीं रखा जाता । अत: रस निष्पत्ति का सिद्धान्त आज हिन्दी नाटकों में मान्य नहीं है ।

प्राचीनकाल के नाटकों की कथा सरल और स्थूल रूप से विकसित होती थी । इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें मनुष्य के हृदयगत भावों का वर्णन नहीं होता था । किन्तु वे मनोभाव जीवन की जटिल और उलझी हुई परिस्थितियों से उत्पन्न न होकर अपने सीधे और सरल रूप में किसी न किसी रस के अन्तर्गत चित्रित होते थे लेकिन आज का जीवन जटिल, संकुल और उलझनपूर्ण हो गया है । ' जीवन की गति सरल नहीं रह गई है । आज के मानव को अनेक स्थूल भौतिक बाहय परिस्थितियों तथा मानिकस द्वन्दों से होकर गुजरना होता है । इसलिए उसके जीवन की कथा का चित्रण भी प्राचीनकाल के वित्रणो की भाँति सरल गति का नहीं हो सकता । नाटक में कथा घटनाओं के पारस्परिक घात-प्रतिघातों की प्रतिक्रिया में पात्रों के आन्तरिक संघर्षों तथा पात्रों और घटनाओं के पारस्परिक संघर्षों के त्रिकोणी स्वरूप के आधार पर विकसित होती है । इन संघर्षों में आज भी क्षृंगार, हास्य, करूण आदि रसों की सृष्टि होती है । दर्शक उनका अनुभव करता है किन्तु आज यह विभिन्न रस' कथा में निहित उद्देश्य को अत्यधिक मार्मिक रूप से दर्शक को झकझोरने, स्पर्श करने और प्रेरित करने की शक्ति प्रदान करने में सहायक के रूप में आते हैं । आज रस साध्य नहीं साधन है, मुख्य नहीं, गौण है, सहायक है ।

संस्कृत नाटकों में नायक सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति ही हो सकता था, जो निश्चित रूप से भला ही होगा । इसलिए रस निष्पत्ति से दर्शक का 'विवेकज्ञान और 'पार्थक्य प्रतीति' का नष्ट हो जाना और रसमग्न हो जाना कोई बुरी बात नहीं थी । किन्तु आज तो अधमपात्र भी नायक हो सकता है अगर उसके साथ रसमग्नता दिखाई गई तो दर्शक भले बुरे का ज्ञान ही नहीं कर सकेगा । अत: ऐसे ही अनेक कारणों से आज रस को नाटकों में प्रमुख स्थान नहीं दिया जा सकता । उद्देश्य को भी मार्मिक बनाकर उसे दर्शक की अनुभूति का विषय बनाने में सहायक का स्थान ही माना जा सकता है, इस प्रकार कथा की आत्मा और उसके उद्देश्य का दर्शक के लिए संवेघ और उसकी अनुभूति का विषय बन जाना ही साधारणीकरण होना माना जायेगा ।

आज नाटकों में दर्शकों को रसमग्न करने की शक्ति नहीं, वरन् दर्शक के मर्म को झकझोरने, स्पर्श करने और उद्बुद्ध करने की शक्ति होनी चाहिए । नाटक की उत्कृष्टता का यही मापदण्ड है-अपने सजीव अभिनय और कथा तथा पात्रों के बाहय एवं आन्तरिक द्वन्दों तथा जीवन-चित्रण के द्वारा दर्शक के मन-प्राण को झकझोर कर, उसके मर्म को कुरेदकर उसे प्रेरित कर देना, उसकी चेतना को जाग्रत कर देना ।

1.4 हिन्दी नाटक और रंगमंच

1.4.1 भारतेन्दु से पूर्व रंगमंच

हिन्दी रंगमंच का इतिहास अत्यन्त जटिल, विवादास्पद और बिखरा हुआ रहा है । उसकी विविध रूपच्छायाएं और उनकी बनावट और उनसे पड़ने वाले प्रभाव का पता तो चलता है पर उसकी एकोन्मुखी, अविच्छिन्न, विशिष्ट परम्परा विकसित नहीं हो पायी । सामान्यत: हिन्दी रंगमंच की जड़ें ' संस्कृत रंगमंच और लोकमंच की परम्परा में मानी जाती हैं । भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में निहित नियमों के साथ-साथ संस्कृत रंगमंच विशिष्ट प्रेक्षक, आभिजात्य वर्ग के लिए प्रचलित था-वह अपने नाटकीय कार्य व्यापार, रंगमंचीय विधान, सूत्रधार, नट-नटी, यवनिका, प्रस्तावना, नान्दीपाठ आदि नियमों से बंधा होकर भी इसलिए महत्वपूर्ण था कि एक तो उमसे 'अभिनेता' प्रधान था, निर्देशक की सत्ता नहीं थी । अभिनेता ही दर्शक से सीधे साक्षात्कार करके उसकी कल्पना शक्ति को जाग्रत करता था । दूसरी और वह अनुमान और कल्पना पर आश्रित था । कालिदास, भास आदि के नाटकों में स्थूल बाहय प्रभावों का आश्रय न लेकर कथन और पात्रों के अभिनन्दन से ही दृश्य परिकल्पना और स्थितियों और उनके परिवर्तनों का मूर्त किया गया है । लेकिन धीरे-धीरे संस्कृत रंगमंच मृतप्राय: हो गया और उसके साथ-साथ भारतीय रंगमंच की परम्परा भी क्षीण हो गयी । यद्यपि डॉ. दशरथ ओझा और जगदीश चन्द्र माथुर ने अध्ययन और शोध के आधार पर भाषा-नाटकों कार विकास दिखाकर यह सिद्ध किया है कि मध्यकाल में इन भाषा नाटकों के साथ एक पूरी रंग परम्परा थी जो असम, नेपाल, मिथिला और बुन्देल खण्ड के राज्याश्रय में

संरक्षित थी और काफी पनप रही थी किन्तु यह रंग परम्परा सही नहीं थी । बल्कि उससे भी पूर्व से चली आती समृद्ध लोकमंच की परम्परा अवश्य थी जो पूरे भारतवर्ष में सक्रिय थी - जीवन्त थी- बंगाल में यात्रा, गुजरात में भवई, महाराष्ट्र में तमाशा, मालवा में माच, दक्षिण में यक्षगान, हिन्दी प्रदेश में रासलीला, रामलीला, नौटंकी, स्वांग, भगत आदि, मध्यप्रदेश में नाचा आदि प्रमुख लोकनाट्य हैं जो जन जीवन के बीच अत्यन्त लोकप्रिय थे । कुछ विद्वान इन लोकनाट्यों और लोकमंचों को ही हिन्दी रंगमंच के उद्भव का मूल कारण मानते हैं । यह सही है कि नाट्यशास्त्र ने भी नाट्यधर्मी और लोकधर्मी दोनों परम्पराओं को स्वीकार किया है - एक आभिजात्य मंच और दूसरा जन-जीवन के बीच का मंच किन्तु इन्हीं से हिन्दी रंगमंच का उदय हुआ - ऐसा नहीं लगता । हिन्दी रंगमंच ने संस्कृत मंच और लोकमंच की सुदृढ़ परम्परा के प्रभाव अवश्य ग्रहण किये । डॉ. ओझा ने "हिन्दी के प्रथम अभिनीत नाटक विद्याविलाप का उद्भव नेपाल के कीर्तनिया लोकनाट्य से माना है ।" हिन्दी रंगमंच का दूसरा नाटक बम्बई में मराठी नाटककार विष्णुदास भवे 'गोपीचन्दख्यान' 26 नवम्बर, 1853 को प्रथम प्रयोग के रूप में सामने आया जिसे इचल करंजीकर नाटक मंडली और नूतन सांगलीकर नाट्य मण्डली द्वारा खेला गया । इसके अतिरिक्त किर्लोस्कर नाटक मण्डली, अवलतेकर हिन्दू नाटक मण्डल ने भी बम्बई में हिन्दी नाटक खेले लेकिन ये सभी प्रयोग हिन्दी क्षेत्र के बाहर के थे । हिन्दी क्षेत्र में पहला महत्वपूर्ण प्रयोग लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह ने सन् 1643 में किया । दरबारी संस्कृति से प्रभावित होते हुए भी इसका प्रदर्शन मध्यकालीन नाट्यरूपों के आधार पर किया था - विशेषकर रामलीला का लौकिकीकरण । इसी की प्रेरणा से साधारण जनता के मनोरंजन के लिए लखनऊ में ही अमानत की 'इन्दर सभा' का प्रदर्शन 1853 ई. में संगीत और नृत्य-परक शैली में शृंगारिक भावनाओं की परितृप्ति करता हुआ उर्दू-अवधी ब्रजभाषा का मिश्रण लिए हुए मध्यकालीन नाट्य रूपों के विधान पर ही हुआ । इसकी लय, गीत-संगीत शेरों-शायरी ने इसे लोकप्रिय बना दिया ।

इस अव्यावसायिक रंगमंच के साथ दूसरी ओर पारसी रंगमंच दृढ़ संगठन के साथ विकसित हो रहा था जिसकी मूल प्रेरणा पाश्चात्य रंगमंच था । 1759 में अंग्रेजों ने मनोरंजनार्थ ताल बाजार में और रूसी व्यक्ति लेवोदोद ने 1756 में डोम टोला में भारतीय रंगमंच की स्थापना की थी जिनमें स्थानीय लोगों की सहायता से विदेशी नाटक बंगला में खेले जाते थे । पारसी थियेटर की सक्रियता से नाट्य लेखन और नाट्य प्रदर्शन के नए मानदण्ड सामने आए जिन पर तत्कालीन साहित्यकारों-समीक्षकों ने विचार करना आवश्यक नहीं समझा बल्कि उसे सस्ता मानकर प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण व्यक्त किया । बलवन्त गार्गी हिन्दी रंगमंच का सूत्रपात पारसी रंगमंच से ही मानते हुए कहते हैं कि "जिस समय बंगाल 1870 में व्यावसायिक थियेटर की नींव रख रहा था, तब कुछ पारसी बम्बई में नाटक और ललित कलाओं में रूचि लेने लगे । परिणाम यह हुआ कि पारसियों ने व्यावसायिक हिन्दी नाटक की स्थापना करने में

पहल की ।" इस बात का समर्थन प्रसिद्ध नाट्य समीक्षक नेमिचन्द्र जैन तथा अन्य विद्वान भी करते है । बम्बई-कलकत्ता में उदित पारसी हिन्दी रंगमंच के लिए सबसे पहले पारसी नाटककार नसरवानजी खान साहब 'आराम' ने भारतीय कथानकों को लेकर गोपीचन्द्र 'शाकुन्तलम', 'पद्मावत' 'चन्द्रावली, आदि अनेक ऑपेरा लिखे जिनके प्रदर्शन पारसी नाटक मण्डलियों ने किए । इन पारसी कम्पनियों ने हिन्दी और उर्दू के नाटकों के प्रदर्शनों से रंगमंच की नियमित परम्परा डाली और दर्शक बनाये । पारसी रंगमंच ने एक ओर आगाहश्र कश्मीरी, मु. अनवर हुसैन 'आरजू', मुंशी मेंहदी हसन 'अहसन' से नाटक लिखवाये जो उर्दू-हिन्दी मिश्रित थे और दूसरी ओर नारायण प्रसाद बेताब, राधेश्याम कथावाचक, तुलसीदास शैदा हरिकृष्ण जौहर, विश्वम्भ नाथ शर्मा कौशिक ने ऐतिहासिक-पौराणिक कथानक लेकर धर्म, भक्ति, संस्कृति को लेते हुए और साथ ही तत्कालीन युगीन समस्याओं - परदा, अशिक्षा दहेज, मद्यपान, मांस-भक्षण, नारी-दुर्दशा-को आधार बनाकर सामाजिक नाटक लिखे और प्रदर्शन कराए ।

चूंकि हिन्दी नाटक का यह काल राष्ट्रीयता, पुररूत्थानवाद संक्रमण और परिवर्तन का था और साहित्यिकता एवं सांस्कृतिक चेतना के पुनर्जागरण के प्रसार का काल था, इसलिए उस समय पारसी हिन्दी रंगमंच को न पहचाना गया और न उसे एक रचनात्मक-कलात्मक सरोकार की दृष्टि से देखा गया । नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल ने हिन्दी रंगमंच के इतिहास और पारसी रंगमंच के इतिहास और प्रकृति का अध्ययन करते समय यह अनुभव किया कि 'इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्य सब भाषाओं की अपेक्षा सबसे अधिक पारसी नाट्य-लेखन और उनका रंगमंच-प्रदर्शन हिन्दी भाषा में ही हुआ है इसलिए हिन्दी भाषा, हिन्दी क्षेत्र और हिन्दी संस्कृति के संदर्भ में उसे पारसी हिन्दी रंगमंच और नाटक कहना ही अधिक युकिासंगत है ।" डॉ. गोविन्द चातक भी मानते हैं कि "वस्तुत: पारसी रंगमंच हिन्दी क्षेत्र में सबसे अधिक फला-फूला । स्तर की बात जाने दें तो पारसी थियेटर के नाटककारों ने भारतीय संस्कृति के आदर्शो या नाट्य पद्धति का अपने नाटकों में पूरा समाहार किया । पारसी रंगमंच पर रोमानी ही नहीं, पुररूत्थानवादी, संस्कृति प्रधान और राष्ट्रीय भावना से युक्त नाटक प्रस्तुत किए गए ।" पारसी थियेटर शुद्ध व्यावसायिक थियेटर था इसलिए उसने अपनी मौलिक रंग शैली की तलाश की इस शैली में अंग्रेजी का ड्रामा अधिक न होकर भारतीय लोकरंग और प्रेक्षकों को जुटाने वाले तत्वों की प्रधानता थी -शेरो-शायरी, उर्दू जबान की अदायगी, भावुकता का आवेग, अतिनाटकीयता अभिनेताओं की झटकेदारी बुलन्द स्वर में संवाद-अदायगी, गीत-संगीत, नृत्य, चमत्कृत कर देने वाले धनि-प्रभाव आदि का ऐन्द्रजालिक वातारण प्रेक्षकों को बांधने वाला था । यहाँ तक कि दो दृश्यों के परिवर्तन काल में 'इंटरल्यूड' की तरह ये पारसी थियेटर कॉमिक भी करते थे और बहुत बड़ा प्रेक्षक वर्ग केवल उस कॉमिक के आकर्षण से. प्रदर्शन देखने जाता था । हास्य-व्यंग्य श्रृंगार भी दर्शकों को खींचते थे । यूरोप के आपेरा की रंग-तकनीक का उपयोग चित्रित परदों के उपयोग

द्वारा रंगमंच की पृष्ठभूमि बनाना, परदेश बदलना, अतिरंजनापूर्ण वातावरण ऐसी मौलिक विशेषताएँ थी जिनसे पारसी रंगमंच फैलता चला गया । धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक कथानकों को चुन कर इन्होंने अपने कौशल का परिचय दिया । अंग्रेजी के श्रेष्ठ नाटककारों के नाटकों को चुनना और उर्दू में उनका अनुवाद कर प्रदर्शन करना भी इनकी परम्परा में था जैसे शेक्सपीयर के 'हैमलेट' नाटक को 'खूने नाटक' नाम से करना । बलवंत गार्गी के अनुसार 'हर अंक अधिकतर मौन झाँकियों की रचना राजपूती कला के चित्रों और मन्दिरों के भित्ति चित्रों के आधार पर की जाती थी ।'' दरअसल प्रतिस्पर्धा का भाव पनपा होता तो हिन्दी रंगमंच की जड़ें पर्याप्त मजबूत हुई होतीं लेकिन गलत प्रकार की प्रतिक्रियाओं और विरोध ने जन्म लिया जो दूरगामी दृष्टि से शून्य था । उस समय हम पारसी रंगमंच की मूल शक्ति और अपेक्षाओं को नहीं समझ पाये । जबकि उसकी कई विशेषतायें थीं:-

1. रंगमंच की शक्ति को समझना और सम्प्रेषित करने के सूत्रों का अन्वेषण ।
2. अभिनेता और निर्देशक की मौलिक प्रतिभा पर बल ।
3. प्रेक्षक का महत्व समझना ।
4. निजी मौलिक रंग विधान की परिकल्पना ।
5. सबसे बड़ी बात यह कि नाटककार को रंगमंच और विशुद्ध नाट्य मण्डलियों से जोड़ना और युग की आवश्यकताओं के अनुसार नाटक लिखवाना अर्थात् 'पूर्णत: नाटककार' की कल्पना (जो आज है उसे) चरितार्थ करना ।
6. रंगमंच की प्रकृति के अनुकूल केवल भाषा नहीं, कार्यतत्व पर अधिक बल ।
7. रंगमंच को व्यावसायिक रूप देकर प्रतिष्ठित करना और वेतन पर अभिनेता आदि से कार्य कराना अर्थात् रंगकर्म की स्वतंत्र सत्ता स्थापित करना और अभिनेता के स्वतंत्र अस्तित्व के साथ-साथ नाटककार निर्देशक अभिनेता के समीकरण का प्रयास करना ।
8. पूरी हिन्दी भाषी जनता से संरक्षण प्राप्त करना और साहित्य और रंगमंच की दूरी को मिटाने की कोशिश ।
9. समय की नब्ज को पहचानते हुए अपने लेखन और रंग शैली में परिवर्तन लाने का प्रयास । उदाहरणार्थ राष्ट्रीय चेतना और संस्कृति के प्रभाव बढ़ने के साथ उनके नाटककार भी शुद्ध हिन्दी भाषा, हिन्दी के छंद, गीत और इतिहास पुराण की सीधी कथा नाटकों में लाने लगा ।

हिन्दी नाटककारों, समीक्षकों और बुद्धजीवियों ने पारसी रंगमंच की इन विशेषताओं को नहीं पहचाना- न उसमें अपने संस्कृत मंच और लोक मंच पद्धतियों के मिश्रण को देखा बल्कि उनका ध्यान उसके उन दोषों पर ही गया जो व्यावसायिक दृष्टि की प्रधानता होने के कारण उनमें आ गए थे । अतिरंजना, अतिनाटकीयता, अश्लीलत्व आदि ऐसे दोष थे जिनसे भारतेन्दु और प्रसाद जैसे नाटककार सर्जनात्मक दृष्टि से संघर्ष करते हुए उनके 'शुद्ध रंगकर्म' के प्रति नकारात्मक दृष्टि नहीं रख सकते थे । क्या यह ट्रेजडी

नहीं कि समूची हिन्दी-भाषी जनता जिसे स्वीकार ही नहीं, संरक्षित कर रही थी, उसे हिन्दी लेखक ने 'विदेशी वस्तु' मानकर अपने से दूर रखा, अछूत माना और तत्कालीन 'बुद्धिजीवी' ने असहयोग की मुद्रा में उसे कृत्रिम, अश्लील, भ्रष्ट-शत्रु कहा । उसे पश्चिम का 'थियेटर' और ड्रामा' तो माना, पर उसमें हिन्दी भाषी क्षेत्र की शक्ति के स्वर को नहीं पहचाना । बल्कि उल्टे प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण होने के कारण एक ओर हिन्दी का लेखक भी 'रंगमंच' के विरोध में "साहित्यिक' नाटक लिखने लगा, दूसरी ओर समीक्षक ने भी वर्ग भेद कर डाला-साहित्यिक नाटक और रंगमंचीय नाटक । इससे बड़ी भ्रान्ति और इससे बड़ा दुर्भाग्य हिन्दी नाटक और नाटक रंगमंच के इतिहास में और कोई नहीं था । साहित्य और रंगमंच को वर्गों में बांटकर अलग करके देखने की इस दुर्व्यवस्था ने नितान्त भ्रामक अवधारणा को जन्म दिया जिसने हिन्दी नाट्य लेखन और हिन्दी रंगमंच दोनों को बहुत बड़ा आघात पहुँचाया । उल्टे नाटक को रंगमंच की दूषित छाया से बचाने के प्रयास में विषय पक्ष और कृत्रिम भाषा से इतना आरोपित करने और 'साहित्यिक' बनाये रखने की प्रतिक्रियात्मक कोशिश हुई कि नाटकशास्त्र दर्शन, इतिहास, आध्यात्मिक, राष्ट्र-प्रेम भारतीयता से मण्डित तो हुआ पर एक दृश्यमाध्यम का प्राण-तत्व क्रमश: दूर होता गया । डी. लक्ष्मी नारायण पलाल के शब्दों में ' 'हिन्दी ने 'अति शुद्ध' और अर्थभावना के कारण उसे हिन्दी का अपना नहीं स्वीकार किया और रंगमंच-दर्शक, रंगमंच नाटक, विषयवस्तु और नाटक, पाठक और दर्शक, व्यवसाय और साहित्य के बीच करीब पचास वर्षा का भयानक अन्तराल, शून्य पैदा कर दिया ।" आश्चर्य की बात यह है कि पारसी रंगमंच के प्रभाव से न भारतेन्दु अछूते रहे न प्रसाद । दोनों ने पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया में लिखा लेकिन दोनों में उसकी रंग शैली के, अभिनय शैली के और गीत-संगीत के प्रभाव देखे जा सकते हैं ।

1.4.2 भारतेन्दु और हिन्दी नाटक व रंगमंच

भारतेन्दु ने सक्रिय होकर पारसी रंगमंच के विरूद्ध-बल्कि उसके समानान्तर एक अव्यावसायिक रंगमंच का भी आरम्भ किया-रंगमंच के क्षेत्र में व्यावसायिकता और अव्यावसायिकता का यह संघर्ष इतने रचनात्मक आन्दोलन की तरह हिन्दी क्षेत्र में कभी नहीं हुआ । विश्वनाथ सिंह के 'आनन्द रघुनन्दन' और गोपालचन्द्र के 'नहुष' नाटकों के मंचन तो हुए ही किन्तु मुँख रूप से काशी में, काशी के महाराजाधिराज ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह की राजसभा (थियेटर रायल) में 3 अप्रैल 1868 को शीतलता प्रसाद त्रिपाठी का नाटक 'जानकी मंगल' खेला गया जिसमें स्वयं भारतेन्दु ने लक्ष्मण की भूमिका की थी । जानकी मंगल से एक नए, शौकिया हिन्दी रंगमंच का, रंग जागरूकता का शुभारम्भ हुआ । बंगला रंगमंच और मराठी रंगमंच की स्थिति इस समय तक काफी सशक्त थी । भारतेन्दु उसके समकक्ष हिन्दी का रंगमंच विकसित करना चाहते थे । बंगाल में जो कार्य गिरीशचन्द्र घोष योजनाबद्ध ढंग से कर रहे थे, भारतेन्दु ने 1868 ई. में ही यतीन्द्रमोहन ठाकुर के 'विध्या सुन्दर' का हिन्दी में

छायानुवाद किया जिसका मंचन भी हुआ । उनके सत्य हरिश्चन्द्र ' वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी', अंधेरनगरी', प्रेमजोगिनी आदि सभी नाटकों के प्रदर्शन अपनी मित्र मण्डली के सहयोग से वाराणसी में किये गये । प्राय: उनके नाटक काशी नरेश की सभा में होते थे । भारतेन्दु के समय में उनके और उनके प्रतिनिधि मण्डल के सहयोग से अनेक नाट्य मंडलियाँ बनीं और नाट्य लेखन और प्रस्तुतीकरण का सिलसिला आरम्भ हुआ । एक ऐसे रंगमंच की स्थापना की गयी जिसे भारतेन्दु ने आर्यशिष्टजनोपयोगी रंगमंच' की संज्ञा दी । श्रीनिवासदास, प्रताप नारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास आदि के नाटकों के मंचन होते रहे । डॉ.चंद्रलाल दुबे ने अकेले नागरी मण्डली द्वारा अभिनीत नाटकों की संख्या 100 से ऊपर बतायी है । तत्कालीन हिन्दी रंगकर्म में काशी में नागरी मण्डली के महत्व का इससे ज्ञान होता है ।

इस रंगकर्म के प्रभाव से आरम्भ में एक संगठित रंगान्दोलन की तरह अनेक नाटक मंडलियाँ बनीं । काशी में कवितावर्धिनी सभा (1870), नेशनल थियेटर (1884) जैन नाटक मंडली (19031) श्री नागरी नाट्यकला संगीत मण्डल (1907), नागरी नाटक मंडली (1909) भारतेन्दु नाटक मण्डली (1909) की स्थापना और उनका रंगकार्य वस्तुत: हिन्दी रंगमंच का वास्तविक स्वरूप सामने लाता है । भारतेन्दु के नाटकों के साथ-साथ राधाकृष्ण दास का महाराणा प्रताप', 'द्विजेन्द्रलाल राय का 'दुर्गादास', जयशंकर प्रसाद का 'स्कन्दगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' और 'चन्द्रगुप्त' के प्रदर्शन हुए । प्रयाग की प्रमखु नाट्य संस्था रामलीला नाट्य मण्डली' (1898- 1907) की स्थापना माधव शुक्ल और उनके सहयोगियों ने की थी । उन्हीं के प्रयास से 1900 में 'नाट्य समिति' का गठन हुआ जिसने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के अवसर पर 'महाराणा प्रताप' (1911), 'सत्य हरिश्चन्द्र' (1914) और 'महाभारत' (1915) का मंचन किया था । इस समिति ने भारतेन्दु द्वारा अनूदित 'मुद्राराक्षस' का भी मंचन किया जिसमें बालकृष्ण भट्ट ने कलाकार के रूप मे परिचय दिया । आगे चलकर बालकृष्ण भट ने 'नागरी प्रवर्धिनी सभा, की स्थापना की जो प्राय: दशहरे के अवसर पर मालवीय जी के निवास पर नाट्य प्रदर्शन करती थी । माधव शुक्ल की प्रेरणा से लखनऊ में हिन्दू यूनियन क्लब का गठन हुआ । कानपुर में भारतेन्दु मण्डल (1876) भारत एन्टरेटेनमेंट क्लब (1885) भारत मनोरंजनी सभा (1887) आदि नाट्य संस्थाएं रंगकार्य करती रहीं- मथुरा जबलपुर, इन्दौर आदि के क्षेत्रों में रंगमंचीय गतिविधियों का जोर रहा । हिन्दी रंगमंच के व्यापक प्रचार-प्रसार और विकास-सम्भावनाओं की दृष्टि से भारतेन्दु युग एक पूरे आन्दोलन और रंगचेतना का युग था किन्तु भारतेन्दु की असमय मृत्यु के कारण यह सारा आन्दोलन वहीं रूका रह गया । नेतृत्व के अभाव में और भारतेन्दु जैसा सशक्त नाट्यकार रंगकर्मी न होने के कारण पारसी रंगमंच तो अपने कार्य करता रहा पर हिन्दी का अव्यवसायी रंगमंच और हिन्दी रंगमंच की स्वभावगत मौलिक विशेषताओं की खोज में जैसे एक दम शून्य पैदा हो गया । आगे जितने भी हिन्दी नाटककार आए,. उन्होंने नाट्य लेखन तो बड़ी भारी संख्या में किया पर वे व्यावहारिक रंगमंच से

कोई नाता नहीं जोड़ पाए । यहां तक कि उनके नाटकों में भी रंग परिकल्पना की अवधारणा बहुत स्पष्ट नहीं आ पायी । प्रसाद, उनके समकालीन लेखक, प्रसादोत्तर नाटककार लक्ष्मी नारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी' उदयशंकर भट्ट, गोविन्द वल्लभ पंत, सेठ गोविन्ददास आदि ने रंगमंच की परम्परा और भूमिका को पहचाना ही नहीं । वे सभी अपने नाटकों के लिए न रंगमंच पैदा कर पाये, न चली आती रंग-परम्परा को अक्षुण्ण रख पाये जबकि उस समय पॉरसी रंगमंच का व्यावसायिक रूप पूरी क्षमता के साथ जीवित था । रंगमंच की बात सबने की पर उसके अर्थ सौन्दर्य को नहीं समझा । ये नाटककार अधिकांशत: दृश्यबंध, संवाद-रचना, रंग निर्देशों तक ही रंगमंच का अर्थ समझते रहे । क्रमश: नाटक शब्दों के रंगमंच तक और 'लिखित' या 'पाठ्य-तत्व' तक सीमित रह गया । भारतेन्दु का अभाव रंगमंच के लिए भयानक दुर्घटना थी ।

1.4.3 प्रसाद और हिन्दी नाटक व रंगमंच

प्रसाद जी का साहित्य क्षेत्र में प्रवेश हिन्दी कविता के लिये ही नहीं हिन्दी नाटक के लिए भी नवयुग का सन्देश लेकर आया था । जयशंकर प्रसाद के नाटकों से हिन्दी नाटक और रंगमंच की पहचान उसी तरह बन सकती है, बल्कि बन भी जानी चाहिए जिस तरह कालिदास, शेक्सपीयर, ब्रेख्त से संस्कृत, अंग्रेजी,जर्मनी नाटक और रंगमंच की पहचान बनी हुई है । भारतेन्दु और प्रसाद हिन्दी के दो ऐसे नाटककार है जिनमें भारतीय लोक परम्परायें एवं सांस्कृतिक परम्परायें ही नहीं बल्कि हमारा समूचा राष्ट्रीय संघर्ष, चरित्र और आधुनिक भारतीय द्वन्द्व चेतना अन्तनिर्हित है । विशेषकर प्रसाद के नाटकों में जो भारतीय क्लासिक तत्व है, जो भारतीयता और आधुनिकता का क्रिया-प्रतिक्रिया का संघर्षमूलक सन्तुलन है, जो संगीत एवं काव्य की आन्तरिक लय है, जो मन: स्थितियों की सूक्ष्म जटिल संवेदना है, वह अपनी विशिष्टिता और मौलिकता में अभी भी अकेली है, लेकिन हमारे विशिष्ट सुविधा सम्पन्न निर्देशकों ने भी प्रसाद के नाटकों को आरम्भ में असफल, असाध्य और रंगमंचीय कहकर नकार दिया लेकिन इस नकारात्मकता के बीच भी हिन्दी रंगमंच की भारतीय और विश्व रंगमंच की तुलना में एक निजी, स्वतंत्र सत्ता और प्रकृति के अन्वेषण में कहीं भारतेन्दु और प्रसाद दोनों चुनौती के स्तर पर बने रहे ।

प्रसाद के नाटकों के लिए जिस प्रकार. के भाव बोध, संस्कार, शास्त्रीय परम्परा का अनुभव काव्य और नाट्य के विलक्षण समन्वय की दृष्टि, सहज अनुभूति और अयथार्थवादी रंगमंच की अपेक्षा थी, वह उस समय नहीं था । स्वयं प्रसाद ने अपने रंगमंच शीर्षक निबंध में इसका उल्लेख किया है कि हिन्दी का अपना कोई रंगमंच नहीं है ।' उनके मन में पारसी रंग विधान और व्यावसायिकता-साहित्यिकता के प्रश्न को लेकर यह प्रतिक्रिया भी काम कर रही थी कि नाटक के अनुरूप रंगमंच हो, रंगमंच के अनुरूप नाटक नहीं । वह नाटककार की सत्ता के प्रति सतर्क थे और भारतेन्दु जैसे सक्रिय रंगकर्मी नहीं । दरअसल एक रंगमंच नाटककार के मन, उसकी कल्पना के

भीतर होता है और फिर रचता जाता है और एक रंगमंच-रंग प्रक्रिया बाहर होती है जिसे निर्देशक रचता है । प्रसाद के मन में अपने महाकाव्यात्मक धरातल के उदात्त और वैविध्ययपूर्ण नाटकों को लेकर बहुत स्पष्ट, समग्र और अनुकूल परिकल्पना नहीं थी और न वह इसे आवश्यक समझ रहे थे । वह पश्चिम से आते इब्सन के यथार्थवादी रंगमंच के विरूद्ध थे और उसे 'भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं मान रहे थे और न पारसी रंगमंच उन्हें हिन्दी रंगमंच के स्वभाव के अनुकूल लग रहा था । इसलिए प्रसाद के नाटक उस संघर्ष और प्रक्रिया का परिणाम अधिक हैं । क्रमश: अनुभव से वह 'ध्रुवस्वामिनी' तक आते-आते 'सर्जनात्मक रंगमंच' को स्पष्ट कर सके जहाँ भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि, शास्त्रीय परम्परा, 'अभिनेता' और सहृदय प्रेक्षक का वैशिष्ट्य और आधुनिक हिन्दी रंगमंच की शक्ति का स्वरूप दीखने लगता है-भाषा में, क्रियाओं में, अभिनय-शैली में, चरित्रों में, कथ्य के अंकन में, विरोध पात्रों और स्थितियों से उत्पन्न तनाव और उससे स्वत: सघन होती जाती नाटकीयता में । 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद यथार्थवादी रंगशैली की ओर झुके हैं । उसमें प्रथम बार मंच सर्जना और दृश्यबंध का इतना स्पष्ट विधान है- वह 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' की तरह परदों का दृश्य विधान नहीं है । जो उन्होंने दिया वह है दृश्यत्व और काव्यत्व का अदभुत समन्वय, एक विराट फलक जहाँ कल्पना विस्तार पाती है, एक संवेदनात्मक धरातल और सौन्दर्य बोध । एक ऐसा रंगमंच जहाँ उनके समय में प्रचलित स्थूल बाहय वस्त्र, रूप रंग के स्थान पर भव्यता के साथ सूक्ष्म अन्तरंग भावात्मक अन्तर्जगत का संश्लेषण जो नाटक को नवीन लय देता है । एक विराटस्थापत्य की कल्पना और पात्रों के अभिनय, उनके प्रवेश-प्रस्थान के लिए विभिन्न सिद्धान्तों प्रयोगों के अन्वेषण की जिज्ञासा वह पैदा करते हैं इसीलिए हिन्दी का आधुनिक रंगमंच जब समृद्ध हुआ, विकसित हुआ तब उसका ध्यान प्रसाद के नाटकों के रंगमंच पर गया ।

प्रसाद युग और प्रसादोत्तर काल में हिन्दी रंगमंच का प्रसार और विडम्बना

एक ओर चौथे दशक में फिल्म के प्रभाव से नाटक मंडलियाँ बिखरने लगीं-पारसी रंगमंच भी फिल्मों की स्पर्धा में अधिक तड़क-भड़कपूर्ण और फिल्मी नकल से, प्रभावित होने लगा, दूसरी ओर मदन थियेटर्स के रंगकर्मियों ने 1936 के आसपास और उसके बाद भी लगभग दस पन्द्रह वर्षो तक नयी नाटक मंडलियाँ बनायीं । इनमें इण्डियन आर्टिस्टस एसोसिएशन कलकत्ता, शाहजहाँ थियेट्रिकल कम्पनी और पँवार थियेटर्स प्रमुख भ्रमणशील मण्डलियॉ थीं, जो व्यावसायिक रंगमंच के इतिहास, रंगमंच 'घुमन्तू व्यक्तित्व' को जीवित रखे थीं । इनके इतिहास से यह भी स्पष्ट होता है कि जो विद्वान 1932-33 तक पारसी रंगमंच को तिरोहित मान रहे थे, वह भामक था । वस्तुत: फिल्मों से लड़ाई के संदर्भ में और रंग चेतना को जगाये रखने के प्रयत्न में 1969 तक पारसी रंगमंच जीवित रहा जो आज के 'दूरदर्शन प्रभाव काल' में रंगमंच के लिए अनुकरणीय है ।

यह विरोधाभास ही है कि एक ओर यह रंगमंच संघर्षरत था, दूसरी ओर हिन्दी नाटक केवल भाषा और साहित्य तक सीमित होता जा रहा था । प्रसाद की रंग परिकल्पना के बाद लक्ष्मीनारायण मिश्र जैसे समस्या नाटककार और प्रसाद के काव्यात्मकता, भावात्मकता एवं पारसी रंग विधान के प्रति आक्रामक रवैया होने के कारण तथा इब्सन के यथार्थवादी रंगमंच के प्रभाव के कारण मिश्रजी के नाटक केवल लिखित वक्तव्य बनकर आये । उनमें इब्सन का केवल बाहय यथार्थ था, उसका समूचा यथार्थवादी रंगमंच नहीं क्योंकि रंगमंच के उस 'अप्रत्यक्ष-सौन्दर्य' और कला वैशिष्ट्य की अनुभूति और शक्ति उनमें नहीं थी । हिन्दी नाटक रंगमंच के अनुभव से क्रमश: कटता चला गया । चारित्रिक मनोवेग की अभिव्यक्ति, व्याख्या-आलोचना हमें संस्कृत नाटकों में, शेक्सपीयर और प्रसाद में भी मिलती है पर उनमें रंगमंच का स्वभाव और अभिनय तत्व अन्तर्भूत है-मिश्रजी के नाटकों में नाट्यकर्म नहीं है, केवल कथन है । दूसरी ओर वे नाटक अधिक लिखे जाने लगे जो ऐतिहासिक, पौराणिक न होकर राष्ट्रीय उद्बोधन और सांस्कृतिक दृष्टि के नाटक थे । चूंकि यह युग साम्प्रदायिकता से हटकर राष्ट्रीय उद्बोधन और पाप-पुण्य, हिंसा-अहिंसा, अछूतोद्धार स्वतंत्रता-संघर्ष, सामाजिक राजनैतिक जागरण का था अत: सेठजी प्रेमीजी आदि के नाटकों में नैतिक पक्ष प्रबल था- इनमें भारतेन्दु और प्रसाद जैसी रंगमंच और अभिनय की खोज नहीं मिलती । इस काल में पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया में और राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण शौकिया, अव्यावसायिक नाट्य संस्थायें गठित हुई और आर्थिक संकट तथा अन्य साधनों की कमी के कारण मिटती भी रहीं-साथ ही लोग परम उत्साह में नाट्य मंचन करते भी रहे । हिन्दी भाषी क्षेत्र में रंगमंच की सक्रियता, संघर्ष और उमंग को किसी ने कभी इस रूप में नहीं देखा । यह बड़ा दुर्भाग्य ही था कि इस उमंग को न उस समय के साहित्यकारों ने समझा न हमारे राजनेताओं ने जबकि यह अवसर स्वर्णिम अवसर था जिस समय नाटक और रंगमंच के अन्तःसूत्र प्रगाढ़ बन्धन से बंधते और समूचे राष्ट्रीय-चरित्र-निर्माण, सांस्कृतिक जागरण में युवा चेतना को संगठित करने में और हिन्दी रंगमंच की जड़ें मजबूत करने में उसकी सक्रियता का सर्जनात्मक उपयोग किया जाता । सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक उपेक्षा के कारण साधनों और संरक्षण के अभाव में अन्त में हिन्दी का यह रंगकर्म बिल्कुल उद्देश्यहीन होकर समाप्त हो गया - यही समय हिन्दी रंगमंच की मृत्यु का, उसके शून्य में भटकने का सिद्ध हुआ । जबकि बंगाल, महाराष्ट्र के रंगमंच का व्यापक प्रसार होता रहा । सोचने की बात है कि इसी शैकिये हिन्दी रंगमंचीय कार्य की उपलब्धियां बहुत बड़ी हो सकती थीं किन्तु उसका लुपा होना ही आज तक हिन्दी रंगमंच के अस्तित्व और प्रकृति के लिए अमंगल बना हुआ है । बहुत सारे सक्रिय रंगकर्मी नौकरी के लिए इधर-उधर भागे, जो नहीं भागे उन्हें राजनैतिक आन्दोलन ने दबा लिया । हिन्दी का दर्शक समूह इस समय भी अल्फेड और कोरथियन की नकल में बनी भ्रमणशील पारसी रंगमंडलियाँ के नाटक देखने में व्यस्त था । 'रामलीला' के अवसरों पर नाट्य प्रदर्शन होने लगे । अब दर्शकों को वेश्याओं

द्वारा सीता की भूमिका निभाने और राम के रसिया रूप को लेकर कोई विरोध नहीं था । साथ ही प्रयाग, काशी, लखनऊ, कानपुर में बहुत सी हिन्दी नाट्य मंडलियाँ बनीं जिसके प्रदर्शनों में सस्थान्त घरों के युवक भी कार्य करने लगे । प्रदर्शन से पहले मुशायरे, कवि सम्मेलन का भी प्रयास शुरू हुआ ताकि दर्शक समूह जुटे । हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा से हिन्दी नाटकों के मंचन आरम्भ हुए । शिव पूजन सहाय, श्यामसुन्दर दास, माधव शुक्ल जैसे साहित्यकारों ने हिन्दी रंगमंच को विकसित करना चाहा । इसी समय उपेन्द्रनाथ अश्क और जगदीशचन्द्र माथुर के नाटकों-एकांकियों से यथार्थवादी रंगमंच का समारम्भ हुआ । अश्क और माथुर के नाटकों को भी विश्वविद्यालयों कॉलेजों स्कूलों में, अव्यावसायिक और नाट्य संस्थाओं द्वारा सुदरतापूर्वक अभिनीत किया गया । राष्ट्रीय चेतना ने भी नाटक संस्थाओं को जन्म दिया । कलकत्ता, बम्बई, प्रयाग, काशी के अतिरिक्त जबलपुर की नाट्य समिति, सारा की मनोरंजन नाटक मंडली लखनऊ की 'अवध नाट्य मंडली', छपरा की ' 'शारदा नवयुवक समिति मुजफ्फरपुर की 'नवयुवक समिति', मानपुर की उत्साहित समाज' 'जागो भारत', मेरठ की, 'नया भारत समाज', आगरा की, 'हिन्दी नाटक समाज', मथुरा की 'हिन्दी नाट्य परिषद, बस्ती की 'पक्का बाजार नाटक मंडली, आदि रंग जागरण का उदाहरण हैं पर उनके प्रदर्शन कभी-कभी होते थे । इनके प्रदर्शनों में समाज सुधार और राष्ट्रीय भावना थी पर उनकी शैली मुख्यत: पारसी रंग शैली की भोंडी नकल थी । उस काल के प्रसिद्ध रंगकर्मी ललित कुमार सिंह 'नटवर' ने उस अधकचरी भददी नकली धुनों और अभिनय शैली का उनकी अस्वाभाविकता और विकृतियों का खुलकर चित्रण किया है । हिन्दी रंगमंच को कोई महत्वपूर्ण अभिनेता और निदेशक हमें इस काल में नहीं मिलता और न नाट्य समीक्षक का कोई अस्तित्व मिलता है । यह भी दुर्घटना ही है कि पचास वर्ष तक नाट्य की साहित्यिक समीक्षा की परम्परा तो चलती रही पर हिन्दी रंगमंच के अव्यावसायिक रूप के अध्ययन, तथ्य संग्रह, उस पर विचार समीक्षा और मूल्यांकन का कोई कार्य नहीं हुआ ।

आजादी से पूर्व भी 1936 के आस-पास जिस समय-पारसी रंगमंच सिनेमा की आँधी से नष्ट होने लगा था, हिन्दी का शौकिया मंच केवल स्कूल कॉलेजों के वार्षिकोत्सवों प्रतियोगिताओं में एकांकी प्रदर्शन तक सीमित रह गया था और नाट्य लेखन का रंगमंच से कोई रिश्ता नहीं था उस समय व्यावहारिक रंगमंच की उस शून्यता को बेधने का महत्वपूर्ण कार्य किया दो रंगमंच शक्तियों ने - एक पृथ्वी थियेटर और दूसरा इप्ता (इण्डियन पीपुल्स थियेटर) । एक प्रकार से ये दोनों हिन्दी रंगमंच के दो रूप, दो दृष्टियाँ थीं जो अपने-अपने सोच और शैली के साथ फैलने लगीं । एक व्यावसायिक मंच था और दूसरा अव्यावसायिक ।

पृथ्वी थियेटर

पृथ्वी थियेटर (बम्बई 1944 ई.) का उदय हिन्दी रंग जगत् में एक विचारणीय कदम था । इस शुद्ध व्यावसायिक रंगमंच ने अपनी निजी विशेषता तलाशनी चाही और पारसी

रंग शैली से कुछ अलग हटकर साथ ही सिनेमा से होड़ करते हुए ' नयी रंगशाला, संवाद-अदायगी, अभिनय का आदर्श, अभिनेता के व्यक्तित्व की प्रधानता, अतिनाटकीय तत्व आदि को मिलाकर एक नवीन चरण आरम्भ किया । पृथ्वीराज कपूर ने अपनी फिल्मी आय को थियेटर में लगाकर एक ऐसी मण्डली का आदर्श प्रस्तुत किया जो यद्यपि पारिवारिक थी, पर प्रतीक के रूप में कलाकारों-प्रबन्धकों को वेतन भी देती थी और घूम-घूम कर नाटक करती थी । बेताब के 'शकुन्तला' नाटक से आरम्भ करके पृथ्वी थियेटर ने दीवार, पठान, गद्दार, आहुति पैसा, किसान, कलाकार जैसे नयी शैली शिल्प के, नयी विषयवस्तु के नाटक 1960 ई. तक प्रस्तुत किये । व्यावसायिक मंच होते हुए भी व्यावसायिक पक्ष से समझौता न करना, नाट्य प्रयोगों को महत्व देना, नव-नाट्यान्दोलन को आगे बढ़ाना, नये नाट्यलेखन को महत्व देना और अपने अस्सी कलाकारों के साथ देश भ्रमण, कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो आज भी उल्लेखनीय और मार्गदर्शक हैं और जिनसे उस समय के अव्यावसायिक रंगमंच को भी प्रेरणा प्राप्त हुई । पृथ्वी थियेटर एक अखिल भारतीये रंगमंच के रूप में उदित और विकसित हुआ । बाद में आर्थिक संकट और पृथ्वी राजकपूर की अस्वस्थता के कारण यह थियेटर बन्द हो गया । अभी समकालीन हिन्दी रंगमंच के विकसित होने पर शशि कपूर और जेनीफर कपूर ने बम्बई में पुन: पृथ्वी थियेटर की स्थापना की जहाँ देश की शैकिया नाट्य मण्डलियाँ नाट्य प्रदर्शन करती हैं ।

भारतीय जन-नाट्य संघ

1943 में बंगाल के अकाल के कारण बम्बई में अखिल भारतीय स्तर पर बना भारतीय जन नाट्य संघ (इण्डियन पीपुल्स थियेटर) 'इप्टा' की स्थापना भी बहुत बड़ी उपलब्धि थी । इसके उद्देश्य के पीछे कमलादेवी चट्टोपाध्याय की दृष्टि अलग-अलग बिखरी अनेक नाट्य संस्थाओं को एक जगह संगठित करने की थी यर्थावादी रंगमंच की निश्चित रंगशैली से हटकर सर्जनात्मक रंगमंच की सम्भावनाओं का अन्वेषण, रंगमंच और जनजीवन के सम्बन्ध बनाने में, 'इप्टा' का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । 'इप्टा' ने न केवल आजादी के बाद के रंगमंच की सक्रियता और वैविध्य, रचनात्मकता और मौलिक सौन्दर्य-बोध दिया बल्कि एक ओर संस्कृत रंगमंच और लोकमंच की कल्पनाशीलता और 'अनुमान पर आश्रितमच को लिया, काव्य, गीत, संगीत, नृत्य, लोकधुनें लीं बल्कि बाहय उपकरणों से रहित दृश्य सच्चा, दर्शकों से सीधे साक्षात्कार, संवाद और साझेदारी, सांकेतिकता को और अभिनेता को महत्व दिया, कृत्रिम वातावरण वस्तुओं को नहीं । पराधीनता और आर्थिक असमानता के विरूद्ध खड़े होकर 'इप्टा' ने अपने प्रदर्शन का सार्थक उपयोग भी किया । राजेन्द्र रघुवंशी, कैफी आजमी शौकत आजमी आदि हस्तियों ने सक्रिय रंगकर्म किया । ख्वाजा अहमद अबास, राजेन्द्र सिंह बेदी इस्मत चुगताई जैसे व्यक्तित्व भी इप्टा के मौलिक नाट्यकार और कार्यकर्ता थे । हिन्दी नाटकों और नृत्य नाटकों को देशभर में पहुँचाना और राष्ट्र की प्रसुप्त आत्मा को झकझोरना, उनमें

जीवन शक्ति के संचार का कार्य था ही, वैसे इप्टा का चरित्र मूलत: राजनैतिक था । साम्यवादी पार्टी के इस रंगमंचीय पक्ष की अपनी मान्यताएँ और प्रतिबद्ध विचारधारा थी । साहित्य और कलाओं में यह काल प्रगतिवादी अंदोलन का काल था । 'मनुष्य' को महत्व देकर कृत्रिमता का विरोध करके, नए रंगमंच की लोकमंच से गृहीत रंग तत्वों की खोज करके इस थियेटर से भारतीय रंगमंच ने एक क्रांति पैदा कर दी और यह सोचने पर विवश किया कि भारत का नया अपना रंगमंच हो सकता है । इस मंच ने चली आती हुई शाब्दिक महत्व की परम्परा, भावनात्मक भाव में, बौद्धिक तार्किक शैली की बड़ी-बड़ी घटनाओं के घटाटोप दृश्य विधान और तड़क-भड़क चमत्कार के स्थान पर मनुष्य के नित्य प्रतिदिन की समस्याओं, सुख-दुख का व्यंग्य हास्य गायन, नृत्य, कोरस तीव्र क्रियाकलापों से व्यक्त करना आरम्भ किया । अपनी बात को केवल शब्दों से न कहकर मंच पर प्रस्तुत करने और दर्शकों तक सम्प्रेषित करने की आवश्यकता को अनुभव किया । कलकत्ता, बम्बई मुख्य केन्द्र होने पर भी और मुख्यत: बंगला, मराठी भाषा में अभिव्यक्ति करने पर भी इंप्टा' ने आगरा, इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर, पटना, दिल्ली को भी अपना केन्द्र बनाया । उसकी कई शाखाएँ खुलीं और ब्रेख्त के नाटकों के साथ प्रेमचंद और मंटो की कहानियों और उपन्यासों के मंचन शुरू हुए । 1951 -57 तक इसने महत्वपूर्ण कार्य किए । यद्यपि राजेन्द्र रघुवंशी के अनुसार आजादी के बाद इस थिएटर की पर्याप्त हानि हुई । धीरे-धीरे 'इप्टा' के आर्थिक संकट भी बढ़ते गए-संगठन की कठिनाईयाँ भी बढ़ती गयीं, साथ ही इप्टा के प्रदर्शनों की अपनी रंग रूढ़िया बन गयीं जिन्होंने इसे सीमित कर दिया और 60 से पूर्व ही यह एक प्रकार से ऊष्मारहित हो गया । स्वातंत्रोत्तर रंगमंच को सक्रियता और रचनात्मक आधार देने में 'इप्टा' का योगदान निश्चय ही है । इसी के कार्यो से, प्रभाव से एशियन थियेटर इंस्टीट्यूट की स्थापना हुई जिससे वर्तमान समय में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय का जन्म हुआ ।

1.4.4 समकालीन हिन्दी रंगमंच

सर्जनात्मक स्वरूप की अन्वेषण प्रक्रिया आजाद देश में साहित्य और कलाओं से जितनी अपेक्षाएँ बढ़ जाती हैं उतनी ही उन पर नए सिरे से सोचने, विचारने और उनके मानदण्डों पर चिन्तन करने तथा अपनी जड़ों की जाँच पड़ताल करने की आवश्यकता बढ़ जाती है । आजादी के बाद रंगमंच पर विचार करते समय हिन्दी रंगमंच के संदर्भ में बाह्य 'नाट्य समीक्षा, रंगकर्म यानी नाटककार निर्देशक, नाट्य समीक्षक, रंगकर्मी, दर्शक सब अपने आप एक दूसरे से नजदीक आकर प्रश्न पर प्रश्न करते नजर आते हैं क्योंकि हिन्दी रंगमंच की प्राचीन अविच्छिन्न परम्परा के स्थान पर हम उसका उदय सहसा हुआ देखते है जिसने नाट्य लेखन, नाट्य समीक्षा तथा सामाजिक दृष्टिकोण को अत्यन्त प्रभावित किया और परिवर्तन के लिए बेचैन किया । 50 के बाद जब हिन्दी रंगमंच की सत्ता पहली बार प्रतिष्ठित हुई तो रंगकर्म, रंगकर्मी, निर्देशन, निर्देशक

अभिनय और अभिनेता जैसे पक्षों और व्यक्तित्वों का अस्तित्व सामने आया और उसे नाट्य आन्दोलन एवं रंगान्दोलन का नाम दिया गया । यद्यपि किसी नवीन आंदोलन जैसे दृष्टि या प्रयत्न उसके साथ नहीं जुड़ा था तो भी एक मानसिक बौद्धिक उल्लास और समकालीन साहित्य और कला जगत में युगीन आवश्यकता कहा जा सकता है । आजाद भारत के इस नाट्य आंदोलन और रंगान्दोलन की सही परीक्षा हम गुलाम भारत में भारतेन्दु के बहुआयामी और निष्ठावान, सुविचारित और योजनाबद्ध कार्यो से कर सकते है । आज भी हिन्दी रंगमंच की व्यापक जड़ें हिन्दी नाट्य लेखन की समकालीन जरूरतों की पहचान हमें भारतेन्दु और उनके प्रयासों में मिलती है । भारतेन्दु के प्रयास सर्वथा विरोधी परिस्थितियों में अपनी संस्कृति, भारतीयता, नवजागरण, आधुनिकता परम्परा और प्रयोग अपनी मिट्टी से, लोकमानस से जुड़ने की दृष्टि सम्पन्नता का उदाहरण है-एक संगठित कर्म, जड़ता, और दासता के विरूद्ध । भारतेन्दु के नाटक और रंगमंचीय प्रयास, कल्पना और सर्जना हमारे लिए आईने की तरह है । वह अपने को बोलने की, समझने की तुला है । देखना है कि हिन्दी नाटक और रंगमंच, भाषा और साहित्य के उस नवजागरण काल के सामने हम कहीं खड़े होते हैं?

हिन्दी नाटक और रंगमंच की सत्ता का आरम्भ

सन् 50 के बाद 'हिन्दी रंगमंच ने जब अस्तित्व के लिए संघर्ष शुरू किया तो हिन्दी नाटक ने अपनी मौलिकता, साहित्य की अन्य विधाओं से पृथक् अपनी विशिष्टता और कलात्मक जटिलता को प्रतिष्ठित किया । अभी नाटक का 'दृश्य काव्यत्व' पाठ्यक्रम का अंग मात्र था, अब वह अनुभव और सम्प्रेषण की सुखद अनुभूति बनने लगा जिसे नाटककार निर्देशक समीक्षक ने भी महसूस किया । नाटक के पाठक के स्थान पर 'दर्शक' की संज्ञा महत्वपूर्ण हो गयी । समूचे भारतीय रंगमंच के समक्ष हिन्दी रंगमंच ने अपने को खड़ा किया । सन् 54-55 से 70 तक का समय इस दृष्टि से सर्जनात्मक दृष्टि और सक्रिय संघर्ष एवं उत्साह का कहा जायेगा । यह वही समय था जब नेहरू ने कलाओं, संस्कृति और साहित्य में आत्मानन्द तलाशने, आत्मान्वेषण करने और उनका जन समूह से सम्बन्ध बनाने का विचार क्रियान्वित किया । साहित्य नृत्य, नाट्य, संगीत की राष्ट्रीय अकादमियाँ स्थापित कर उन्होंने भारतीय इतिहास में नया अध्याय खोला और विभिन्न भारतीय भाषाओं और कलाओं में परस्पर आदान-प्रदान को एवं विकासशील भारत में भारतीय सांस्कृतिक औदात्य को महत्व देते हुए कहा कि मैं कलात्मक कार्यो में बहुत अधिक सरकारी हस्तक्षेप नहीं चाहता । ललितकलाएँ कम से कम हस्तक्षेप से विकसित होने दी जाएँ । राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, संगीत नाटक अकादमी, सांस्कृतिक कार्य विभागों और अन्य संख्याओं की स्थापना आजाद भारत को विकासशील रचनात्मक प्रवृत्ति का संकेत करती है । राष्टीय नाट्य विद्यालय की स्थापना (1959) एक सुखद घटना थी । निदेशक अल्काजी ने, सारी आपत्तियों आरोपों के बावजूद, इतने लम्बे शून्य के बाद हिन्दी नाट्य और रंगमंच को नगण्य और उपेक्षित स्थिति से ऊँचा उठाकर सहसा बहुत बड़े फलक पर प्रतिष्ठित करने का

उल्लेखनीय कार्य किया । अल्काजी की अपनी दृष्टि और निजी व्यक्तित्व था । नाट्य विद्यालय को बड़ा आकार और विविधता तो दी पर उसे भारतीय संस्कारों की जड़ों, और राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना नहीं दी । शायद यह उस समय सभी कलाओ पर पड़ता हुआ आधुनिकता का दबाव और प्रभाव था । स्वाभाविक रूप से नवीनता और प्रयोगात्मकता के भ्रम में नाट्य लेखन भी और रंगकर्म भी पश्चिमी रंग शैलियों और विचारों से शुरू हुआ । शेक्सपीयर ब्रेख्त इब्सन, चेखब मोलियर, ऑयन रेकी सब पर बहुत तेजी से ध्यान गया । भारतीय रंगकर्म को राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लाने के प्रयास में इब्सन, सोफोक्लीज, मोलियर, कामू स्टिंगबर्ग, चेखव, पिरेदेलो लोर्का, जार्ज बुखनर, सार्त्र आदि की, प्रोटोवस्की और स्टनिरलावस्की की अभिनय शैलियाँ और उनका प्रशिक्षण ही मुख्य हो गया - ब्रेख्तियन मंच शैली के प्रशिक्षण और हिन्दी नाट्य प्रस्तुतियों में उस शैली के प्रयोगों की प्राथमिकता आरम्भ हो गयी । जापानी बुकी शैली से राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की गतिविधियाँ शुरू हुई । भारतीय नाटक की शास्त्रीय परम्परा और हिन्दी प्रदेश की लोक परम्पराओं की अइप्तनता के कारण साथ ही हिन्दी भाषा और साहित्य की संवेदना न होने के कारण यह भटकाव था । राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय को इन प्रयोगों के साथ-साथ पहले संस्कृति, अपनी परम्पराओं, स्वतंत्र भारत की जरूरतों और सम्भावनाओं से जुड़ना था । अभिनय-पद्धतियों, मुद्राओं, भाव-भंगिमाओं, रंगमंच के प्रचार और प्रवृत्ति का यहाँ भण्डार है - वाणी और संगीत की अद्भुत सम्पदा यहाँ है, पर समूची सामाजिक व्यवस्था, शिक्षा प्रणाली जीवन-प्रवाह के इस समृद्ध सम्पदा से पूर्णत: कटे होने के कारण 'आत्मानन्द' और आत्मान्वेषण' के स्थान पर हमने अनुकरण-वृत्ति, कलावाद, रंगशिल्प को प्रधानता दी । पश्चिमी शैलियों को भारतेन्दु ने भी ग्रहण किया था लेकिन किसी मोहवश नहीं बल्कि उसे युग, देश और अपनी जरूरत समझते हुए अपने अनुकूल, हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति के अनुरूप ढालते हुए और साथ ही जनमानस की धड़कन को समझते हुए लोकधर्मी चेतना को अपनाया । एक ओर श्री राम सेन्टर जैसा संस्थान दूसरी ओर अनेक शैलियाँ, नाट्य संस्थाएँ महाराष्ट्र, कलकत्ता, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, पटना, चण्डीगढ़ आदि स्थानों पर जन्मीं और सर्जनात्मक आंदोलन की दृष्टि से निरंतर रंगकर्म हुआ । अभियान, देशांतर थियेटर यूनिट, नया थियेटर प्रयाग रंगमंच, अनामिका, जन नाटय मंच, प्रयोग, दर्पण, रूपान्तर, मेघदूत, प्रतिध्वनि आदि अनेक संस्थाओं ने हिन्दी रंगमंच की नींव मजबूत की । 60 से 70 का समय वस्तुत: रंगकर्म में क्रांति लहरों की तरह था । हिन्दी में श्रेष्ठतम नाट्य रचनाएँ इसी दौर में लिखीं गयीं । आगामी रंगकर्म की पीठिका इसी समय तैयार हुई और भारतीय भाषाओं के नाट्यानुवाद हिन्दी रंगमंच पर और हिन्दी नाटक भारतीय मंच पर प्रस्तुत होने लगे । नवीन भारतीय रंगमंच का अन्वेषण अलग-अलग रंगकर्मी अपने-अपने संस्थानों पर अपनी कल्पनाशक्ति और सृजनशक्ति से करने लगे । बंगाल में उत्पल दत्त, शम्भू मित्रा, रूद्र प्रसाद सेन गुप्ता, तरूण राय, आदि कर रहे थे, तो महाराष्ट्र में श्री राम लागू विजया मेहता, अरविंद देशपाण्डे और आगे चलकर

दिनेश माथुर, नलार पटेल, नादिरा जहीर बबर । कल्लूड़ में शिवराम कारन्त, के॰वी. सुवण्णा, मलयालयम में के.एन. पन्निकर, जी. अरविन्दन ने और हिन्दी में हबीब तनवीर सत्यदेव दुबे, श्यामानन्द जालान, सथ्यू लक्ष्मी, नारायण लाल जैसे निर्देशकों के सतत् प्रयास से भारतीय रंगकर्म के सर्जनात्मक पक्षों की जमीन और उसके समकक्ष हिन्दी रंगकर्म की प्रतिष्ठा हुई । अल्काजी के शब्दों में 'भारतीय रंगमंच के विकास में छठा दशक अनेक कारणों से बहुत समृद्ध और महत्वपूर्ण कालों में से एक माना जाएगा। " दिशांतर ने 'गणदेवता' 'तुगलक' 'सुनो जनमेजय' 'एवं इन्द्रजित' 'हयवदन', 'आधे अधूरे के मंचन से अगर नए कीर्तिमान प्रस्तुत किए तो 'अभियान' ने बाकी इतिहास' 'पगला घोड़ा' 'पंछी ऐसे आते हैं, गिनीपिग, 'घासीराम कोतवाल, आषाढ का एक दिन से । दिशातर ने सप्ताहांत रंगमंच का आरम्भ भी किया देश के कई भागों में यात्राएँ कीं-प्रदर्शन किए, मोहन राकेश नाटककार के रूप में इस संस्था से सम्बद्ध थे । काफी समय बाद रंजीत कपूर ने दिशातर से 'एक घोडा छः सवार' और 'एक रूका हुआ फैसला' जैसी रचनात्मक प्रस्तुतियाँ कीं । परस्पर परिसंवाद, गोष्ठियों और प्रतिक्रियाओं की पहल होने लगी । इस समूची हलचल को एक स्वस्थ दिशा देने में ' 'नटरंग ' रंगभारती' और 'इनैक्ट' ने तथा आगे चलकर 'छायानट' ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । लोगों ने यह समझना शुरू किया कि प्रस्तुतीकरण कोई खेल नहीं हैं । बल्कि एक गंभीर दायित्व और कला है ।

1.4.5 लोकनाटय शैली और शास्त्रीय शैली के प्रयोग

जब हिन्दी रंगमंच और नाट्य लेखन पश्चिमी रंग प्रयोगो और शैलियों से ऊब चुका तो हिन्दी रंगमंच की प्रकृति का अन्वेषण करने और अपनी मिट्टी और जनसमूह से जुड़ने की बेचैनी में लेखन और रंगकर्म दोनों लोक-नाट्य शैली के प्रयोग की ओर जुड़े । सन् 76-77 के आस-पास का समय इस दृष्टि से बेहद रचनात्मक कहा जा सकता है । सर्वेश्वर के 'बकरी' और मणि गधुकर के रंस गंधर्व' और 'दुलारी बाई' ने सहसा वातावरण ही बदल दिया । देश के कोने-कोने में इन नाटकों की नौटंकी, राजस्थानी, खयाल आदि लोकनाट्य रूपों में और साथ ही पारसी रंगमंच एवं आधुनिक रंगमंच के प्रयोगों में सैकड़ों मंचन हुए जो हजारों की भीड़ में खुले माहौल में भी हुए और बन्द प्रेक्षागृह के फ्रेम में भी हुए । इनका उपयोग नाट्य-प्रशिक्षण-शिविरों के लिए भी हुआ और बड़े-बड़े समारोहों के लिए भी । राष्ट्रीय फलक पर हबीब तनवीर अपने मूल लोक कलाकारों द्वारा छत्तीसगढ लोनाट्य रूपों का आधुनिक संदर्भ में सर्जनात्मक उपयोग 'चरनदास चोर' तथा अन्य कृतियों द्वारा कर रहे थे जिसने राजेन्द्र नाथ के कल्पनाशील निर्देश में प्रस्तुत 'घासीराम कोतवाल' के साथ अन्तर्राष्ट्रीय फलक पर भी भारतीय रंगमंच की छवि बनायी । इसी दौर में कारन्त ने दक्षिण की यक्षगान शैली के बहुत ही सार्थक प्रयोग किये । उनकी 'हयवदन' इतिहास की महत्वपूर्ण कड़ी है । अन्वेषण और जनता से जुड़ने के इसी प्रयास में बंसी कौल और मुद्राराक्षस ने गोगोल

की रचना का 'आला अफसर' नाम से नौटंकी शैली में स्मरणीय प्रस्तुतीकरण किया जो नौटंकी की मूल भावना और आधुनिक प्रासंगिकता का समन्वित रूप था । बंसी कौल ने माच लोक-शैली, दक्षिण नाट्य-शैलियों के प्रयोग भी किए । रतन थियम मणिपुरी, असमी लोक-नाट्यशैलियों और आचलिक बोली के धनी और सृजनशील निर्देशक और अभिनेता के रूप में उभरे । इस सारी रचनात्मक आकुलता और तीव्र गत्यात्मकता का प्रभाव-लेखन और रंगकर्म पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि एक ओर कथाकार और कवि हिन्दी नाट्य के क्षेत्र में आते गए जैसे गिरिराज किशोर, मृदुला गर्ग, शान्ति मेहरोत्रा, भीष्म साहनी, मृणाल पाण्डेय, शान्ता गांधी के भवई शैली में 'जिस्मा ओडन और तमाशा शैली में उषा बनर्जी के सैंया भये कोतवाल' ने ताजगी और रचना तलाश का परिचय दिया ।

80 के आसपास से हिन्दी नाटक और रंगमंच सारी जटिलताओं, विसंगतियों के बावजूद अपेक्षाकृत अधिक सार्थक, प्रासंगिक, जीवन्त, बल्कि मौलिक, किन्तु भारतीय मुहावरे की तलाश करने लगा । इसी बेचैनी में एक ओर सुरेन्द्र वर्मा का प्रयोगशील नाटक 'द्रौपदी' पहले ही आ चुका था, उनके 'सूर्य की अंतिम किरण' और 'आठवाँ सर्ग' भारतीय रंगमंच की अवधारणा के निकट आते प्रतीत हुए । मोहन राकेश के बाद सुरेन्द्र वर्मा हिन्दी के अकेले सशक्त नाटककार हैं । गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो', 'भीष्म साहनी का 'हानूश' और रामेश्वर प्रेम के 'चारपाई' और 'अन्तरंग' नाटक जितने सार्थक हैं उतनी उनकी चर्चा व्यापक रूप में नहीं हुई क्योंकि इस समय तक हिन्दी रंगमंच लोकरूपो से पूर्णत: ग्रस्त था । अगर हमारी भावना मात्र प्रयोग की न होकर 'हिन्दी रंगमंच' की होती और 'व्यक्तिगत अपेक्षाओं से ऊपर उठकर होती तो परिणाम भी सर्वथा भिन्न होते ।

1.4.6 वर्तमान हिन्दी रंगमंच के विरोधाभास

रंगकर्म के सरकारीकरण की चिंता

उपर्युक्त सारी उपलब्धियों, सम्भावनाओं और जटिलताओं के पीछे निश्चय ही सभी सरकारी संस्थाओं की मुख्य भूमिका रही है । राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय और श्रीराम सेंटर के रंगमण्डल ने नियमित नाट्य प्रदर्शनों और व्यावसायिक-अर्धव्यावसायिक रंगकर्म की नींव डाली । संगीत नाटक अकादमी ने केन्द्रीय और राज्य स्तर पर प्रतियोगिता से आरम्भ करके अनुदान और बड़े-बड़े नाट्य समारोहों को इस स्थिति तक पहुँचाया । 'अग्रदूत', 'साहित्य कला परिषद्' और सात सांस्कृतिक केन्द्रों ने समारोहों की संख्या बढ़ाई है । अन्तर्राज्यीय सांस्कृतिक आदान-प्रदान की योजनायें भारत सरकार के सांस्कृतिक मंत्रालय से चलीं । इस समय हिन्दी रंगमंच अन्तर्राष्ट्रीय महोत्सवों से भी जुड़ा है पर स्थितियों के प्रति स्वाभाविक असन्तोष और विरोध पैदा हुआ । अनुदानों से उत्पन्न सुविधाभोगी मनोवृत्ति, उत्सवों से जन्मी उत्सवधर्मिता और उपभोक्ता संस्कृति साथ ही कलाओं के सरकारीकरण और नियमों ने रंगकर्म की उस-संघर्ष ज्वाला को

ठण्डा स्कर दिया है जो पन्द्रह वर्ष पूर्व थी । इस समय का रंगकर्म ठंडा, निस्तेज और दृष्टिहीन है । चालीस-बयालीस वर्षो में अपेक्षा यह थी कि हिन्दी का नियमित रंगमंच होगा, रंगमंच एक कला के रूप में शिक्षा का अनिवार्य अंग होगा, रंगमंच हमारी भाषा और संस्कृति की पहचान होगा-जैसा कि भारतेन्दु और प्रसाद ने चाहा था, रंगमंच क्रियाओं-प्रक्रियाओं, संवाद-परिसंवाद का आधार होगा और कलाओं के समूहन एवं तुलनात्मक अध्यापन का आधार होगा - जो नहीं हुआ । यह समस्या आज भी ज्यों की त्यों है कि साहित्य और रंगमंच का विरोधाभास बना हुआ है । इस विरोधाभास को सरकारी संस्थानों ने और बढ़ाया है । सम्भवत: यह साहित्य अकादमी, संगीत नाटक अकादमी और ललित कला अकादमी के बीच समझदारी और आपसी सहयोग-भावना और हिन्दी के प्रति चिन्तन का न होना भी है । जितना व्यय पर्यटनों, उत्सवों आदि में किया जाता है, उतना नगरों, छोटे नगरो में रंगशालाये बनाने में किया जाता और रंगकर्म की स्वतंत्रता-स्वायत्तता को सुरक्षित रखा जाता, लोक कलाकारों को जड़ से न काटकर उनके महत्व को उनकी लोकभूमि, आर्थिक सुरक्षा, पारस्परिक कला के संरक्षण के अर्थ में देखा जाता तो सही दृष्टि होती । विरोधाभास की स्थिति बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश के रंगकर्म में भी है । ' भोपाल रंगमंडल की स्थापना हिन्दी रंगमंच के विकास में महत्वपूर्ण घटना है । उसके उद्देश्य भी व्यापक हैं और कार्य भी । आजाद भारत में रंगमंच की अपनी अन्तःशक्ति को अभी प्रमाणित करना है । इस सजीव कला के ऐसे नये मुहावरे की तलाश करना है जो प्रसार माध्यमों के बीच उसकी जीवन्तता को प्रतिष्ठित कर सके । भारतेन्दु की तरह नाट्य' की शक्ति को प्रमाणित करना है, व्यक्ति या व्यक्तियों की नहीं । इस समय दूरदर्शन ने हिन्दी रंगमंच को निश्चय ही प्रभावित किया है । एक ओर कलाकार अभिनेता, निर्देशक दोनों दूरदर्शन की ओर चले गये हैं दूसरी ओर दर्शक भी लुप्त हो गये हैं । साधनहीनता के कारण महानगरों-कस्बों में भी शौकिया नाट्य संस्थायें जैसे बन्द हो गयी हैं । कुछ ही शौकिया नाट्य दल इस संकट में भी सक्रिय हैं दूरदर्शन के इस आकर्षण मोह को तोड़ने के लिए रंगमंच को अपने जीवित-तत्व की सार्थकता और शक्ति प्रमाणित करने के मार्ग सोचने चाहिए और अभिनेता के सजीव व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करना चाहिए ।

1.5 सारांश

प्राचीन काल से ही पूरे विश्व मे नाटक को एक सम्पूर्ण विधा के रूप में स्वीकृति मिली है ।भारतीय नाट्य शास्त्र की परम्परा बहुत समृद्ध थी जिसने नाटक और रंगमंच सम्बन्धी चिन्तन के नये द्वारा खोलें किन्तु यह हिन्दी का दुर्भाग्य है कि उसमें नाटक और रंगमंच को प्रतिष्ठा भारतेन्दु के आविर्भाव ने दिलायी । भारतेन्दु और प्रसाद ने हिन्दी नाटक और रंगमंच को नये और विविध के आयाम दिए । इन लोगों ने पारसी थियेटर के समानान्तर हिन्दी में एक शिष्ट और सुरुचिपूर्ण रंगमंच के विकास की नींव रखी । इन दोनों के बाद फिर एक बार लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, हरि कृष्णा प्रेमी,

वृंदावनलाल वर्मा के नाटकों ने रंगमंच को कमजोर किया तथा पठनीय नाटक लिखे । स्वातंयोत्तर काल में पुन: हिन्दी रंगमंच और नाटक के विकास की नई दिशाएं मिलीं । इस विकास में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय तथा नाटक कला अकादमी जैसी सरकारी संस्थाओं ने योगदान दिया तो निजी संस्थाओं तथा रंगकर्मियों ने हिन्दी नाटक और रंगमंच को आगे बढ़ाया ।

1.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. नाटक की परिभाषा अपने शब्दों में लिखिए ।
2. नाटक के विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डालिए ।
3. संस्कृत नाट्यशास्त्र की नाटक विषयक मान्यताओं की समीक्षा कीजिए ।
4. हिन्दी नाटक की विकास का भाषा पर निबंध लिखिए ।
5. हिन्दी रंगमंच के उदय और विकास पर प्रकाश डालिए ।
6. हिन्दी रंगमंच के विकास में भारतेन्दु के महत्व को रेखांकित कीजिए ।
7. हिन्दी नाटक के विकास में प्रसाद के योगदान को रेखांकित कीजिए ।
8. हिन्दी रंगमंच के विकास में लोक नाटयशैलियों के प्रभाव की समीक्षा कीजिए ।

1.7 संदर्भ ग्रंथ

1. भरतमुनि; नाटयशास्त्र
2. दशरथ ओझा; आज का नाटक प्रगति और प्रभाव
3. दशरथ ओझा; हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास
4. डॉ. गिरीश रस्तोगी; समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष चेतना
5. जयदेव तनेजा; समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच
6. अवधेश चन्द्र गुप्त; स्वातंत्र्योत्रर हिन्दी नाटक : विचार तत्व
7. वीणा गौतम; आधुनिक हिन्दी नाटकों में मध्यवर्गीय चेतना

इकाई-2 हिन्दी नाटक की परम्परा व विकास

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 नाटक की परम्परा, कुत्पत्ति व अर्थ

2.3 हिन्दी नाटक का विकास

2.3.1 भारतेन्दु युग

2.3.2 द्विवेदी युग

2.3.3 प्रसाद युग

2.3.4 प्रसादोत्तर युग

2.4 नाटक के प्रकार

2.5 सारांश

2.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

2.7 संदर्भ ग्रन्थ

2.8 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- नाटक की परम्परा, उत्पत्ति व अर्थ से परिचित हो सकेंगे ।
- भारतेन्दु युगीन हिन्दी नाटक से परिचित हो सकेंगे ।
- द्विवेदी युगीन नाटक का परिचय प्राप्त करेंगे ।
- प्रसाद युगीन हिन्दी नाटक से अवगत हो सकेंगे ।
- प्रसादोत्तर युगीन हिन्दी नाटक की विकास यात्रा को समझ सकेंगे ।
- नाटक के प्रकार की. जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

2.1 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं में नाट्य विधा अति प्राचीन विधा है । दृश्य काव्य के भेदों में नाट्य विधा का प्रमुख स्थान है । यदि हम भारतीय आर्य भाषाओं के प्राचीन काल पर दृष्टि डालें तो पाते हैं कि संस्कृत साहित्य में नाट्य रचना के विशिष्ट महत्व के कारण कई नाटकों की रचना हुई । 'काव्येषु नाटकम् रम्यम्' अर्थात् काव्यों में सर्वाधिक रमणीय रचना नाटक ही है । यह उक्ति संस्कृत साहित्य में नाटकों के महत्व एवं उनकी प्राचीनता की पुष्टि करती है । अन्य गद्य विधाओं यथा निबन्ध, आलोचना, व्यंग्य, आत्मकथा, जीवनी, यात्रावृत्त, संस्मरण आदि की रचना का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अवतरण के पश्चात् आधुनिक काल से ही माना जाता है । भारतेन्दु काल से प्रारम्भ हुई ये साहित्यिक विधाएँ कालान्तर में विविध साहित्यकारों के माध्यम से उत्कर्ष तक पहुँची ।

विविध लेखकों ने आधुनिक काल से ही नाट्य रचना की तथा अपने नाटकों के माध्यम से समाज में चेतना जगाने का कार्य किया । जयशंकर प्रसाद का काल इस दृष्टि से स्वर्णकाल माना जाता है । प्रसाद के पश्चात् अनेक नाटककारों ने इसका विकास किया। हिन्दी नाटक की लगभग डेढ़ सौ वर्ष की विकास यात्रा में अनेक कालजयी नाट्यकृतियों का सृजन हुआ । इस दौरान नाटक की तकनीक में भी व्यापक बदलाव देखने को मिला। आइए हम हिन्दी नाटक का सामान्य परिचय प्राप्त करते हुए इसके उद्भव और विकास को जानें ।

2.2 नाटक की परंपरा, उत्पत्ति व अर्थ

नाटक की परंपरा बहुत प्राचीन है । विश्व-साहित्य में नाटक कविता के समानान्तर प्राचीनतम विधा के रूप में प्रतिष्ठित रही है । नाटक साहित्यिक विधा होने के साथ-साथ अभिनय की कला भी है । वस्तुतः, नाटक की सफलता रंगमंच पर अभिनीत होने में है । नाटक दृश्य काव्य है । संस्कृत साहित्य-शास्त्र में यह कहा गया है कि- काव्येषु नाटक रम्यम्'-अर्थात् काव्यशास्त्र में नाटक अधिक रमणीय है ।

हिन्दी-नाटकों के जन्मदाता निर्विवाद रूप से भारतेन्दु हरिश्चंद्र माने जाते हैं । भारतेन्दु से पूर्व रामायण महानाटक प्राणचंद चौहान, 1610 ई.) करुणाभरण (लछिराम, 1657 ई) शकुंतला (नेवाज, 1680 ई.) आनंद रघुनंदन (विश्वनाथ, 1700 ई.) हनुमन्नाटक (प्राणचंद चौहान) इत्यादि नाट्यकृतियाँ मिलती हैं किंतु ये नाट्योपजीवी नहीं हैं । भारतेन्दु एवं अन्य आलोचकों ने हिन्दी का प्रथम नाटक 'नहुष' को माना है, जो भारतेन्दु के पिता गिरधरदास दवारा रचित है । भारतेन्दु के मौलिक नाटकों में सत्य हरिश्चंद्र, विषस्य विषमौषधम भारतदुर्दशा, अंधेरनगरी इत्यादि अत्यन्त प्रसिद्ध नाटक हैं । भारतेन्दु का अनूदित एवं रूपान्तरित नाटकों के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण योगदान है । हिन्दी नाटक के क्षेत्र में नाटककार जयशंकर प्रसाद की देन अविस्मरणीय है । चंद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी इत्यादि प्रसाद की नाट्य रचनाएँ हिन्दी नाटक के क्षेत्र में मील का पत्थर हैं । हिन्दी के आधुनिक नाटककारों में भीष्म साहनी, मोहन राकेश, डी0 लक्ष्मी नारायण लाल, जगदीश चन्द्र माथुर, लक्ष्मी नारायण मिश्र इत्यादि चर्चित नाटककार हैं ।

नाटक की उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं । यूनान में नाटक की उत्पत्ति का संबंध जादू-टोना, कर्मकांड, धर्म इत्यादि से जोड़ा गया है तो ब्रिटेन में 'ईस्टर' नामक उत्सव से जुड़े समारोह के आयोजन से इसकी उत्पत्ति मानी गई है । इतना ही नहीं, लौकिक स्वांगों, कठपुतलियों के खेल वीरपूजा, दैवी उत्पत्ति इत्यादि से भी नाटक की उत्पत्ति का संबंध जोड़ा गया है । पाणिनि नाटक की उत्पत्ति 'नट' धातु से मानते है तो रामचंद्र गुणचंद्र 'नाट' धातु से नाटक की व्युत्पति बताते हैं । बेवर और मोनियर की यह मान्यता है कि 'नट' धातु मृत धातु का प्राकृत रूप है । अनेक विद्वानों का यह मत है कि 'नट' और 'नृत' दोनों धातुएँ ऋग्वेदकाल से प्रचलित हैं और दोनों धातुएँ

आरभ में समानार्थक थीं किंतु कालांतर में इनका अर्थ परिवर्तित हो गया । मृत धातु का प्रयोग 'गात्र विक्षेपण के अर्थ में संकुचित हो गया जबकि 'नट' का प्रयोग अभिनय के अर्थ में होने लगा, जिसके अंतर्गत नृत्य भी आते हैं । नाटक का अर्थ नृत, ताल और लय पर आश्रित रचना है । अंग्रेजी में इसके लिए ड्रामा (DRAMA) शब्द प्रयुक्त होता है ।

नाटक की विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं । नाटक के स्वरूप पर विचार करते हुए 'भरतमुनि' ने कहा है कि

त्रैलोकस्यास्य सर्वस्व नाट्य भावागृकीर्तनम् | '

अर्थात् 'सुख-दुःख समन्वित लोक में जो जिसका स्वभाव है, उसके अंगादि सहित अभिनय को नाटक कहते हैं । विश्व के समस्त भावों का अनुकीर्तन या अनुकरण ही नाटक है ।

धनंजय ने 'दशरूपक' में नाटक की परिभाषा इस प्रकार दी है-

अवस्थानुकृति: नाट्यम'

अर्थात् अवस्था की अनुकृति को नाटक कहते हैं ।

'महिमभट् ने नाटक की परिभाषा देते हुए लिखा है कि-

अनुभाव विभावना वर्णना काव्यमुच्यते

तेशा मेव प्रयोगस्तु नाट्य गीतादि रंजितम||

अर्थात् विभावादि के वर्णन से जब आनंद की उपलब्धि होती है, तो वह रचना 'काव्य' कहलाती है तथा जब गीत आदि के द्वारा रंजित कर उसका प्रयोग दिखाया जाता है, तो उसे 'नाटक' कहते हैं |

सिद्धान्त-कौमुदी में नाटक की परिभाषा इस प्रकार दी गई-

'वाक्यार्थभिनयोर्नाटयम । '

अर्थात् वाक्यार्थ का अभिनय ही नाटक है ।

हिन्दी में भी नाटक की विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं । यथा-

बाबू गुलाबराय के अनुसार-:

"नाटक का संबंध नट से है, अवस्थाओं की अनुकृति को नाट्य कहते हैं । इसी में नाटक शब्द की अधिक सार्थकता है । नाटक जीवन की सांकेतिक अनुकृति नहीं, वरन् सजीव प्रतिलिपि है । "

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक का लक्षण इस प्रकार बताया है-

'नाटक शब्द का अर्थ है- नट लोगों की क्रिया । नट कहते हैं विद्या के प्रभाव से अपने एवं किसी वस्तु के स्वरूप के फेर या स्वयं दृष्टिरोचन के अर्थ में फिरना । दृश्यकाव्य की संज्ञा रूपक है । रूपकों में नाटक ही सबसे मुख्य है, इससे रूपकमात्र को नाटक कहते हैं । "

नाटक की पाश्चात्य परिभाषाओं पर भी विचार करना उचित होगा ।

निकल ने कहा है कि “Drama is a copy of life, a mirror of custom, a reflection of truth” अर्थात् नाटक जीवन की प्रतिलिपि, प्रथाओं का दर्पण और सत्य का प्रतिबिंब है ।

विश्व के महान् नाटककार 'शेक्सपीयर ने नाटक को दर्पण के सदृश कहा है, जिसमें प्रकृति, स्वरूप, बिंब, युग, आकृति तथा उनके प्रभाव बिम्बित होते है ।

वस्तुत: नाटक वह साहित्यिक एवं मंचीय विधा है, जिसमें कोई मुख्य मनोहर एवं श्रेष्ठ कथा होती है, नायक धीरोदात्त कोटि का होता है । श्रृंगार या वीर रस में से किसी एक रस की प्रधानता होती है तथा इसमें 5 से लेकर 10 अंक तक होते हैं ।

2.3 हिन्दी नाटक का विकास

भारतीय काव्यशास्त्र में इन्द्रियों के बाहय-उपकरण के आधार पर काव्य के दो भेद किए गये हैं- श्रव्य और दृश्य । श्रव्य का अर्थ है- सुनने योग्य । जिस काव्य को सुनकर आनन्द प्राप्त होता है, वह श्रव्य काव्य कहा जाता है और दृश्य काव्य उसे कहते हैं जिसका आनन्द देखकर उठाया जाता है । यद्यपि दृश्य काव्य पढ़े और सुने भी जा सकते हैं, किन्तु उनका सम्यक आनन्द रंगमंच पर अभिनेता द्वारा अभिनय किए जाने पर ही उठाया जा सकता है । दोनों काव्य-भेदों का लक्ष्य प्रेक्षक के हृदय को उल्लासित करना होता है । दोनों स्थितियों में लक्ष्य की सिद्धि का माध्यम भिन्न-भिन्न होता है । श्रव्य काव्य के रचना की दृष्टि से भी तीन भेद किये गए हैं- (क) गद्य (ख) पद्य (ग) चम्पू । इसी प्रकार दृश्य काव्य के भेद रूपक में सम्पूर्ण

नाटकीय लक्षण होते हैं । भारतीय काव्यशास्त्र के आदि आचार्य 'भरतमुनि' द्वारा रचित 'नाट्यशास्त्र में रूपक के लिए 'नाटक शब्द का प्रयोग किया गया है । 'पाणिनी' ने नाटक की उत्पत्ति ‘नट' धातु से प्रदर्शित की । संस्कृत साहित्य में नाटक को काव्य की संज्ञा प्रदान की गई और घोषित किया गुया- 'काव्येषु नाटक रम्यम्' अर्थात् काव्यों में नाटक रमणीय होता है । आचार्य 'अभिनवगुप्त' ने भी भरत का अनुकरण करते हुए स्वीकार किया है- "नाटक वह दृश्य काव्य है, जो प्रत्यक्ष कल्पना एवं अध्यावसाय का विषय बन सत्य एवं असत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारण को आनन्द प्रदान करता है ।

वस्तुत: नाट्य साहित्य प्राचीन काल से ही भारतीय साहित्य में प्राप्त होता है, इसे पंचम वेद की संज्ञा भी दी गई है । आचार्य भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' नाट्य साहित्य का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ है । भरतमुनि के पश्चात् नाट्य साहित्य की परम्परा चलती रही है।

हिन्दी साहित्य में नाटकीयता की झलक चौदहवीं सदी में दृष्टिगोचर होती है । विद्यापति के 'परिजात हरण' और 'रूकमणि हरण नाटक इसके प्रमाण है । सोलहवीं सदी में गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस' एवं रामचन्द्रिका' में संवादगत नाटकीयता प्राप्त होती है । उन्नीसवीं सदी तक यह नाटक परम्परा पल्लवित होती रही,

किन्तु इस अवधि के नाटकों को पूर्ण नाटक नहीं कहा जा सकता । ये प्राय: अनुदित है अथवा रामायण और महाभारत' की कथाओं पर आधारित पद्यात्मक रचनाएं है । नाट्य-कला की दृष्टि से ब्रजभाषा में लिखित 'नहुष' को ही पूर्ण नाटक कहा जा सकता है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गोपालचन्द्र गिरिधरदास ने इसकी रचना 1857 ई. में की । इसे ही हिन्दी के प्रथम नाटक होने का गौरव प्राप्त है । यह ब्रज-भाषा मिश्रित नाट्य रचना है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'कालचक्र' पुस्तक में 'नहुष' (1857) को हिन्दी का प्रथम 'शकुन्तला' (1863) को दिव्तीय और विधासुंदर (1868 ई.) को तृतीय नाटक कहा है । यद्यपि रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह का नाटकीय तत्वों से भरपूर नाटक 'आनन्दरघुनन्दन अनुमानत: 1700 ई. में लिखा गया, किन्तु उसकी रचना पहले संस्कृत में की गई और बाद में उसे हिन्दी में अनूदित किया गया । अत: हिन्दी के प्रथम मौलिक नाटक का श्रेय 'नहुष को ही प्राप्त है । खड़ी बोली में लिखे गये सर्वप्रथम नाटक का श्रेय राजा लक्षमण सिंह कृत नाटक 'शकुन्तला (1863) को प्राप्त है । यद्यपि यह महाकवि कालीदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' का अनुवाद है । खड़ी बोली का दूसरा नाटक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा रचित विधासुन्दर (1868 ई.) है । यह संस्कृत की 'चौरपंचाशिका' कृति के बंगला संस्करण का छाया अनुवाद है ।

2.3.1 भारतेन्दु युग

19वीं शताब्दी में अंग्रेजों के साथ हिन्दी भाषा-भाषियों का सम्पर्क स्थापित हुआ और इससे हिन्दी नाटक के क्षेत्र में भी नई जागृति आई । अंग्रेजों के समुन्नत नाट्य साहित्य से हिन्दी भाषियों का साक्षात्कार हुआ । परिणामस्वरूप हिन्दी नाट्य-शिल्प को नवीन दिशा प्राप्त हुई । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी नाटक के अग्रदूत होकर सामने आए । उनके साथ पल्लवित हुई नाट्य परम्परा उत्तरोत्तर विकसित होती चली गई । वे मात्र नाटककार नहीं थे, अपितु निर्देशक, अभिनेता और रंगशिल्पी भी थे । इसलिए वे अप्रतिम नाट्य प्रयोक्ता के रूप में प्रतिष्ठित हुए । उन्होंने पौराणिक धारा का श्री गणेश किया । इस युग में सर्वाधिक संख्या में पौराणिक नाटक लिखे गये । उनके सत्प्रयास से ऐतिहासिक, समस्याप्रधान, राष्ट्रीय, प्रेम-प्रधान, प्रहसन आदि धाराएँ भी जीवन्त हो उठीं । उन्होंने अपनी दूरदृष्टि से भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य तत्वों में संतुलन और सामंजस्य स्थापित कर हिन्दी नाटक को गतिशील, स्वाभाविक एवं प्रभावपूर्ण बनाया ।

भारतेन्दु ने 18 नाटक लिखे, जिनमें मौलिक और अनूदित आदि हैं । मौलिक नाटकों में वैदिक हिंसा हिंसा न भवति, सत्यहरिश्चन्द्र, 'श्रीचन्द्रावली', 'विषस्यविषमौषधम्', 'भारत दुर्दशा, नीलदेवी' तथा 'अंधेर नगरी' आदि है तथा अनूदित नाटकों में विद्यासुन्दर, 'पाखण्ड विडम्बन', 'धनजय विजय, कर्पूर मंजरी, 'भारत-जननी, 'मुद्राराक्षस' तथा 'दुर्लभ-बन्धु' आदि हैं । इन्होंने अपने नाटकों में पद्यात्मक संवाद

योजना को भी अपनाया । इनके नाटकों का मूल उद्देश्य भारतीय जनमानस में नवचेतना उत्पन्न करना, राष्ट्रीय चेतना की भावना को विकसित करना तथा नागरिकों में देशप्रेम एवं आत्मसम्मान की भावना पैदा करना था

भारतेन्दु युग के अन्य नाटकारों में बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री, अम्बिकादत्त व्यास, कार्तिकप्रसाद खत्री आदि का योगदान स्मरणीय है । लाला श्री निवासदास के 'तृप्तां, 'संवरण', 'प्रहलाद चरित्र' तथा 'संयोगिता स्वयंवर', बालकृष्ण भट्ट का 'शिक्षादान', राधाकृष्णदास का 'महाराणाप्रताप, प्रतापनारायण मिश्र के 'कलि कौतुक', 'हठी हमीर', 'गो संकट', बद्रीनारायण चौधरी का 'भारत सौभाग्य' व राधाकृष्णदास का दुखिनी बाला नामक नाटक उल्लेखनीय है

भारतेन्दु युग के नाटकों ने भावी नाट्य साहित्य के विकास में सुदृढ़ आधारभूमि का निर्माण किया । साथ ही वे गद्य साहित्य की परम्परा के प्रवर्तन में भी महत्वपूर्ण योगदान देने वाले सिद्ध हुए ।

2.3.2 द्विवेदी युग

द्विवेदी युग में सुधारवाद का बोलबाला रहा अत: प्रगतिशील चेतना से सम्पृक्त नाटकों का विकास न हो सका । केवल पारसी-थियेट्रीकल कम्पनियों ही छोटे-मोटे नाटक प्रदर्शित करती रहीं । अत: इस युग में श्रृंगारिक नाटक लिखे गये, जिनका सामान्य उद्देश्य मनोरंजन प्रदान करना था । आगा हश्र कश्मीरी, हरिकृष्ण जौहर, राधेश्याम कथावाचक, नारायण प्रसाद 'बेताब' इत्यादि ने पारसी नाटक कम्पनियों के लिए हल्के फुल्के श्रृंगारिक नाटक लिखे । इनके नाटकों में साहित्यिक तत्व व आधुनिक तत्वों का लगभग अभाव रहा । इस युग में मिश्रबंधुओ ने 'नेत्रोन्मीलन', मैथिलीशरणगुप्त ने 'तिलोत्तमा व 'चन्द्रहास', प्रेमचन्द ने 'कर्बला, माखनलाल चतुर्वेदी ने कृष्णार्जुन युद्ध' जैसे साहित्यिक नाटकों की रचना की जिनमें अभिनेयता का पूर्ण रूप से अभाव था । कुछ प्रहसनात्मक नाटक भी लिखे गये जैसे- बद्रीनाथ भट्ट का 'विवाह विज्ञापन' तथा 'मिस अमेरिका नाटक । गोविन्द वल्लभपंत का 'वरमाला' इस युग का उल्लेखनीय नाटक है । इतने नाटक लिखे जाने के बाद भी इस युग में नाट्य-शिल्प विधान का अधिक विकास नहीं हुआ । यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने नाट्य शिल्प के विकास की दृष्टि से इस युग को गत्यावरोध का युग कहा है ।

2.3.3 प्रसाद युग

जयशंकर प्रसाद ने उत्कृष्ट नाटकों की रचना करके अपने समय के हिन्दी-नाटकों में नवीन चेतना, प्रभविष्णुता साहित्यिकता व काव्यमयता का संचार किया । एक प्रकार से इस युग को नाटक साहित्य की दृष्टि से नवोन्मेष का युग कहा जा सकता है । प्रसादजी ने ऐतिहासिक सांस्कृतिक नाटकों के माध्यम से भारतीय सांस्कृतिक परम्परा

और जातीय जीवन को नया स्वरूप प्रदान किया । उन्होंने अपने नाटकों में महाभारत के पश्चात से लेकर हर्षवर्धन के शासनकाल तक के भारतीय इतिहास का चित्रण किया । इन नाटकों में इतिहास का स्थूल ढांचा ही नहीं अपनाया गया है बल्कि उसके सूक्ष्म रूप रंग को भी भलीभांति अभिव्यक्त किया गया है । अपने नाटकों के लिए इतिहास ग्रंथों से सामग्री उधार लेकर ही संतुष्ट नहीं हो गये, बल्कि कुछ ऐसे तथ्यों का उद्घाटन किया है जिनसे इतिहासकार भी उनके नाटकों से बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं । ऐतिहासिकता को अपनाते हुए नाटककार प्रसाद ने अपनी कृतियों को शुष्क इतिवृत्त का रूप न प्रदान कर कल्पना के उचित समन्वय द्वारा ऐतिहासिक इतिवृत्त को साहित्य का रूप प्रदान किया है । प्रखर कल्पना और ऐतिहासिक सत्य के समुचित और संतुलित प्रयोग के माध्यम से प्रसाद ने भारतीय इतिहास की पाठिका पर इस देश की संस्कृति के प्राणवान भव्य रूप की झांकी प्रस्तुत की है । इन नाटकों में केवल राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख ही नहीं मिलता, बल्कि उनमें सम्बंधित युग की संस्कृति का जीवन्त चित्रण भी हुआ है । वास्तव में उनके नाटक भारतीय इतिहास और संस्कृति के कोष कहे जा सकते हैं । प्रसाद के नाटकों पर गौतम बुद्ध की करूणा और महात्मा गांधी की भारतीय दृष्टि का व्यापक प्रभाव पड़ा । उन्होंने समसामयिक समस्याओं को अतीत से प्रेरणा ग्रहण कर सुलझाने का प्रयास किया । उनके नाटक अतीत, वर्तमान और भविष्य का समन्वित बिम्ब प्रस्तुत करते हैं । उन्होंने अपने पात्रों को स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान करने का स्तुत्य उदाहरण प्रस्तुत किया । प्रसाद का नाटकीय योगदान चिरस्मरणीय है । प्रसाद जी ने कुल 13 नाटक लिखे, जिनमें सज्जन' (1911), 'कल्याणी-परिणय' 'करूणालय', 'प्रायश्चित', 'राज्यश्री', 'विशाखा', 'अजातशत्रु', 'कामना, 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'एक घूंट', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि हैं । प्रसादजी ने जिन नाटकीय विशेषताओं को अपने नाटकों में समाविष्ट किया, उन्हें इस युग के समस्त नाटककारों ने अपनाया । भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य-शैलियों का समन्वय, संघर्ष का प्राधान्य, द्वन्द्व-योजना, मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण आदि प्रसादकालीन नाटकों की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं ।

इस युग के अन्य नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्दवल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट आदि उल्लेखनीय है । इन्होंने मध्यकालीन कथानकों को ग्रहण कर पाठकों को राष्ट्रीय एकता व हिन्दू मुसिल्म सौहार्द की प्रेरणा दी । गोविन्द वल्लभ पंत ने पौराणिक, ऐतिहासिक व सामाजिक नाटक लिखे । 'वरमाला', राजमुकुट', कंजूस की खोपड़ी, 'अंगूर की बेटी', 'सिन्दूर-बिन्दी', 'ययाति', 'अंतपुर का छिद्र', 'विषकन्या' व 'सुजाता' इनके प्रमुख नाटक हैं । उदयशंकर भट्ट ने 'विक्रमादित्य', 'दाहर अथवा सिंध पतन', 'अम्बा" 'कमला, 'अन्तहीन अन्त, 'मुक्तिपथ, 'शक-विजय', क्रांतिकारी, 'नया समाज' तथा 'पार्वती' आदि नाटक लिखे । इसी प्रकार हरिकृष्ण प्रेमी के 'स्वर्ण विहीन', रक्षाबन्धन', 'पाताल-विजय', 'शिवा-साधना, 'प्रतिशोध, विषपान' आदि प्रमुख है ।

इसके अलावा सुदर्शन, लक्ष्मीनारायण मिश्र, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, चतुरसेन शास्त्री, जगन्नाथ प्रसाद मिश्र आदि ने भी नाटक लिखे । लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सिन्दूर की होली' व 'राजयोग' काफी लोकप्रिय हुए । मिश्र का 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक भी इस युग का सशक्त नाटक है । इस युग के नाटकों में सुधारवादी चेतना के अतिरिक्त सांस्कृतिक उत्थान व राष्ट्रोत्थान की भावनाएं अधिक प्रबल रूप से अभिव्यक्त हुई हैं । जी.पी श्रीवास्तव ने भी इस युग में अनेक नाटक लिखे । प्रसाद युग नाट्य साहित्य के विकास की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण है । इस युग में रचित समस्त नाटक युगीन चेतना को अभिव्यक्त करते है, किन्तु इस युग के अधिकांश नाटकों में अभिनेयता का अभाव है ।

2.3.4 प्रसादोत्तर युग

प्रसादोत्तर युग में आकर हिन्दी नाटकों का स्वरूप और अधिक निखर गया । इस युग में आकर नाट्य-साहित्य - में भावना के स्थान पर बौद्धिकता ने प्रवेश किया । नाटक जीवन के प्रत्यक्ष स्वरूप को अभिव्यक्त करने लगे । नाटक काल्पनिक दुनिया से हटकर जीवन के यथार्थ से सम्बद्ध हुआ और पात्र, चरित्र चित्रण, भाषा-वेशभूषा आदि में सामान्य जीवन का बोध होने लगा । इस युग में दैनिक जीवन की समस्याओं का बाहुल्य होने के कारण आर्थिक चित्रण की ओर भी ध्यान दिया गया । प्रसादोत्तर युगीन नाटकों की सर्वाधिक नवीनता इस बात में है कि इस युग के नाटकों में तकनीक पर विशेष ध्यान दिया गया । नाटकों में तीन अंक रखने पर जोर दिया गया । गीतों को कम या फिर हटा दिया गया । संकलनत्रय का विधान भी शिथिल हुआ । इन बातों के अतिरिक्त नाटकों का आकार छोटा होने लगा । नाटकों का अभिनय ढ़ाई-तीन घण्टों में पूर्ण होने लगा । नाटक जो प्रसाद युग में पठनीय बन गये थे रंगमंच से जुड़ने लगे । कहा जा सकता है कि रंगमंच और जीवन के यथार्थ से जुड़कर हिन्दी नाटक नवीन दिशा की ओर अग्रसर हुआ । लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, रामकुमार वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा आदि इस युग के प्रमुख नाटककार हैं । मिश्रजी की नाट्यकला पर इब्सन जोला एवं बनार्ड शॉ नामक पाश्चात्य नाटककारों की छाप है । मिश्रजी ने मूलत: समस्या प्रधान नाटकों की सर्जना की । इनमें मुख्यत: 'आधी रात', 'संन्यासी, 'मुक्ति का रहस्य', 'राक्षस का मंदिर, 'अशोक, 'गरूडध्वज', 'नारद की वीणा, वत्सराज', 'वितस्ता की लहरें उल्लेखनीय हैं ।

इनके नाटकों में रंगमंचीयता बखूबी विद्यमान है । सेठ गोविन्ददास ने अपने नाटकों के माध्यम से सामाजिक जीवन के विविध पक्षों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया । 'दुःख क्यों, 'महत्व किसे', बड़ा पापी कौन', 'प्रकाश, विकास', 'त्याग या ग्रहण, 'पाकिस्तान', 'पतित-सुमन' प्रेम या पाप' इत्यादि इनके सामाजिक नाटक हैं । इन्होंने कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे जिनमें 'कर्तव्य', 'हर्ष', 'अशोक', 'कुलीनता', 'शशिगुप्त, 'महाप्रभु, 'वल्लभाचार्य', 'शेरशाह' इत्यादि उल्लेखनीय हैं । इनके नाटकों में गाँधीवादी

विचारधारा की स्पष्ट झलक देखी जा सकती है । उपेन्द्रनाथ अश्क जिन्होंने सामाजिक-ऐतिहासिक नाटकों की रचना की 'जय-पराजय' इनका ऐतिहासिक नाटक हैं । 'स्वर्ग की झलक', कैद व उडान', 'छठा बेटा' 'आदि मार्ग, 'अलग-अलग रास्ते, 'पैंतरे', 'अंजो दीदी' इनके प्रमुख सामाजिक नाटक हैं । इनके नाटकों में सामयिक संदर्भ, सरलता, स्पष्टता, अभिनेयता प्रभाविष्णुता इत्यादि गुण भरपूर हैं ।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'विजयपर्व' जैसे कुछ नाटकों की रचना की, किन्तु एक सफल एकांकीकार होने के कारण इनके नाटक एकाकी संकलन के सदृश प्रतीत होते हैं । वृन्दावन लाल वर्मा ने भी ऐतिहासिक उपन्यासों के समान ऐतिहासिक नाटकों की भी रचना की परन्तु नाटककार के रूप में उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली । इन नाटककारों के अलावा चतुरसेनशास्त्री, अमृतलाल नागर, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, विष्णु प्रभाकर, जयनाथ नलिन, पृथ्वीनाथ शर्मा, रमेश मेहता, रांघेय राघव, देवराज दिनेश, राजेश शर्मा, कृष्ण किशोर, कमलाकांत पाठक आदि ने भी प्रसादोत्तर युग में अनेक श्रेष्ठ नाटक लिखे ।

सन् 1960 के आस-पास जिस तरह प्रयोगवादी काव्य का दौर चला, उसी प्रकार नाटक के क्षेत्र में प्रयोगवादी नाटक लिखे जाने लगे । इन प्रयोगवादी नाटकों का प्रारम्भ जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' नामक नाटक से माना जा सकता है । इनका 'पहला-राजा नामक नाटक पौर्वात्य एवं पाश्चात्य नाट्य कला का अदभुत समन्वय प्रस्तुत करता है । इनके नाटकों में अभिनेयता के सभी तत्व विद्यमान है । साठोत्तर नाटककारों में मोहन राकेश का नाम उल्लेखनीय है । इनके 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'आधे-अधूरे नामक नाटक साहित्य के लिए क्रांतिकारी कदम सिद्ध हुए । ये सभी नाटक रंगमंचीयता से भरपूर हैं । इसके पश्चात डॉ. धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण लाल, विष्णु प्रभाकर, सुरेन्द्र वर्मा, रमेश बख्शी, मुद्राराक्षस, बृजमोहन शाह, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, मणि मधुकर, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, दयाप्रकाश सिन्हा, शंकर शेष, भीष्म साहनी तथा प्रभात कुमार भट्टाचार्य आदि ने हिन्दी नाटक के क्षेत्र में अपना सशक्त व विकासात्मक कदम रखा । उपर्युक्त समस्त नाटककारों में से डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेन्द्र वर्मा तथा मणि मधुकर अपनी रंगमंच की पकड़ के कारण हिन्दी नाटक जगत् में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं । डॉ. लाल के नाटकों में, 'तोता-मैना', 'अंधा-कुंआ', मादा कैक्टस', रक्तकमल', 'कलंकी, 'मि. अभिमन्यु', 'अब्दुल्ला दीवाना', रातरानी', 'दर्पणसूर्यमुख, 'करपयू, 'व्यक्तिगत', सगुन पंछी', तथा 'यक्षप्रश्न' इत्यादि नाटक उल्लेखनीय है । सुरेन्द्र वर्मा के भी 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' व 'आठवां सर्ग' विशिष्ट नाटक हैं इसी प्रकार मणि-मधुकर के रस-गंधर्व, 'बुलबुल', सराय' तथा छत्रभंग' नामक नाटक उल्लेखनीय है । 'त्रिशंकु', 'अलगोजा, 'शह पेमात, युद्धमन', बृजमोहन शाह के बहुचर्चित नाटक हैं । इन समस्त नाटकों के अलावा 'अभिशप्त यक्ष' (प्रभात भट्टाचार्य), देवयानी का कहना है (रमेश

बख्शी), तिलचट्टा (मुद्राराक्षस), एक और अजनबी (मृदुला गर्ग), एक मशीन जवानी की (संतोष नारायण नौटियाल), एक से बढ़कर (राजेन्द्र कुमार शर्मा) शुतुरमुर्ग (ज्ञानदेव अग्निहोत्री), बकरी (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना), कथा एक कंस की (दया प्रकाश सिन्हा), बिन बाती के दीप, फंदी, खजुराहों का शिल्पी, मायावी सरोवर, एक और द्रोणाचार्य (शंकरशेष), हानूस (भीष्म साहनी), अमृत पुत्र (सत्यव्रत सिन्हा), सबरंग मोहभंग (डी. लाल), जीवन दण्ड (इन्द्रजीत भाटिया), दरिन्दे (हमीदुल्ला), शंबूक की हत्या (नरेन्द्र कोहली), तिलचट्टा, तेन्दुआ (मुद्राराक्षस), पाँचवा सवार (बलराज पंडित) यार यारों के चार (सुशील कुमार सिंह), तीसरा हाथी, वामाचार (रमेश बख्शी), आज नहीं कल (गंगा प्रसाद विमल), काला पहाड़ (सुदर्शन चौपड़ा), इत्यादि उल्लेखनीय नाटक है । स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी नाटक अपनी प्रयोगात्मक स्थिति से निकलकर अगली मंजिलों की ओर तीव्रगति से बढ रहा है । अन्य भाषाओं के श्रेष्ठ नाटकों के भी हिन्दी में अनुवाद किये जा रहे हैं ।

2.4 नाटक के प्रकार

भारतीय साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से काव्य के 2 भेद हैं- रूपक और उपरूपक । रूपक के नाटक, प्रकरण, प्रहसन इत्यादि 10 भेद तथा उपरूपक के नाटिका, नाट्यरासक इत्यादि 18 भेद किये गये हैं । ये भेद शास्त्रीय होने के कारण सिर्फ शास्त्रीय मात्र हैं, वास्तव में इनका विशेषश्महत्व नहीं है । विविध आधारों पर नाटक के निम्नांकित प्रकार हैं-

1. विषय के आधार पर नाटक के 8 प्रकार हैं-

(i) सामाजिक नाटक (ii) ऐतिहासिक नाटक (iii) पौराणिक नाटक (iv) सांस्कृतिक नाटक (v) नैतिक नाटक (vi) आदर्शवादी नाटक (vii) देशभक्ति प्रधान नाटक और (viii) काल्पनिक नाटक ।

2. प्रवृत्ति के आधार पर नाटक के 6 प्रकार हैं-

(i) समस्यामूलक नाटक (ii) यथार्थमूलक नाटक (iii) काल्पनिक नाटक (iv) आदर्श मूलक नाटक (v) चारित्रिक नाटक और (vi) मिश्रित नाटक ।

3. स्वरूप के आधार पर नाटक के अनेक भेद किये गये हैं, -

जैसे-रेडियो नाटक, प्रतीक नाटक, गीतिनाटक, नाट्यरूपक हास्य-व्यंग्यात्मक नाटक, भावनाट्य सुखान्त नाटक, दु:खान्त नाटक, सूचना मूलक (डाक्यूमेंट्री) नाटक इत्यादि ।

इस प्रकार, हिन्दी नाटकों का विविध आधारों पर वर्गीकरण हुआ है किंतु विषय-वस्तु की दृष्टि से नाटक के प्रकारों की चर्चा प्रमुख है । इस आधार पर नाटक के 8 प्रकारों में नाटक के निम्नांकित प्रकार महत्त्वपूर्ण है-

i) **पौराणिक नाटक-** पुराण पर आधारित नाटक पौराणिक नाटक हैं । जैसे- शिवा साधना ययाति देवरानी इत्यादि नाटक ।

ii) **ऐतिहासिक नाटक-** इतिहास पर आधारित वह नाटक जिसमें कल्पना का मिश्रण होता है, उसे ऐतिहासिक नाटक कहते हैं । जैसे-चंद्र गुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, रक्षाबंधन, कोणार्क इत्यादि नाटक ।

iii) **सांस्कृतिक नाटक-** संस्कृति और सभ्यता पर आधारित नाटक सांस्कृतिक नाटक कहलाता है । जैसे -पुण्यपर्व, जय-पराजय, प्रायश्चित इत्यादि नाटक ।

iv) **सामाजिक नाटक**-सामाजिक जीवन के पक्षों अथवा समस्याओं इत्यादि पर आधारित नाटक को सामाजिक नाटक कहते हैं । जैसे- राखी की लाज, अंगूर की बेटी, छठा बेटा, अंधा कुआँ इत्यादि नाटक ।

v) **गीत नाट्य-** वह नाटक, जिसमें कथा की प्रस्तुति गीतों के माध्यम से होती है, गीत नाट्य है । स्वर्ण विहान, स्नेह या स्वर्ग, अंधा युग, एक कंठ विषपायी, मत्स्यगंधा इत्यादि नाटक गीत नाट्य के सुंदर उदाहरण हैं ।

नाटक के आधुनिक भेदों में निम्नांकित 3 नाटकों की चर्चा होती है-

1 रेडियो नाटक 2. गीत नाट्य और 3. एकांकी नाटक ।

1. रेडियो नाटक

रेडियो द्वारा प्रसारणार्थ लिखित नाटक रेडियो नाटक' है । चूंकि यह नाटक मात्र श्रव्य होता है, अत: इसे 'श्रव्यनाटक' भी कहते हैं । धनि की प्रधानता के आधार पर इसे 'ध्वनि नाटक' भी कहा जाता है । यह पूरी तरह यंत्राश्रित विधा है, जिसका लेखन दृश्यमान मंच को ध्यान में न रखकर रेडियो को ध्यान में रखकर किया जाता है । रेडियो नाटक के तत्त्व वही हैं, जो दृश्य नाटक के तत्त्व होते हैं । अंतर इनमें केवल ध्वनि एवं संगीत को लेकर है, जो रेडियो नाटक का सर्वप्रमुख तत्त्व है जिसके बिना रेडियो नाटक की प्रस्तुति संभव नहीं । इस प्रकार, रेडियो नाटक का आधार या प्राणतत्त्व ध्वनि है । रेडियो नाटक का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन अर्थात रस का आनंद और जीवनसंदर्भ में किसी समस्या का निराकरण करना होता है ।

रेडियो नाटककारों में डॉ0 राम कुमार वर्मा (औरंगजेब की आखिरी रात, झीनी-झीनी चदरिया) उपेन्द्र नाथ अश्क (सुबह-शाम, लक्ष्मी का स्वागत) भगवती चरण वर्मा (राख और चिनगारी), लक्ष्मीनारायण मिश्र (ताजमहल के आशु जगदीश चंद्र माथुर (कोणार्क, भोर का तारा) इत्यादि प्रसिद्ध नाटककार हैं ।

2. गीत नाट्य

गीत नाटक वह है, जिसमें सारी कथा गीतों के माध्यम से प्रस्तुत की जाती है । नाटक और गीत नाटक में मुख्य अंतर संवादों को लेकर है । नाटक के संवाद जहाँ गद्य में होते हैं, वही गीत-नाट्य के संवाद पद्य में या लयात्मक कविता के रूप में होते हैं । वस्तुत: गीत नाटकों की भाषा गीतात्मक होती है । गीति नाट्य के अंग हैं 1. प्रस्तावना 2.कथा 3 सवादाभिनय मगीत और 5.नर्त्तन । '

गीतिनाट्य का जन्म 1954 ई. में यूनानी दुःखान्त नाटकों के फलस्वरूप हुआ । हिंन्दी में गीति नाट्य-परंपरा का श्री गणेश जयशंकर प्रसाद के करुणालय से हुआ । यह हिन्दी गीति नाट्य की प्रथम रचना है ।

हिन्दी के कुछ प्रमुख गीति-नाट्य को हम इस प्रकार देख सकते हैं-

1. अनघ (मैथिलीशरण गुप्त) 2. अंधायुग (धर्मवीर भारती)
3. एक कंठ विषपायी (दुष्यन्त कुमार) 4. स्वर्णश्री (गिरिजा कुमार माथुर)
5. स्वर्ण विहान (हरिकृष्ण प्रेमी) 6. उर्वशी (रामधारी सिंह दिनकर) इत्यादि ।

एकांकी नाटक

एक अंक का नाटक 'एकांकी नाटक' कहलाता है । यह नाट्य-साहित्य का वह नाट्य प्रधान रूप है, जिसमें जीवन के किसी एक पक्ष, एक भाव, एक प्रसंग एक चरित्र अथवा एक कार्य की सशक्त एवं कलात्मक व्यंजना होती है । अंग्रेजी में इसे च्छम् ।-अ ब ।-ए के नाम से जाना जाता है । प्रसिद्ध नाटककार जयशंकर प्रसाद विरचित एक घूंट' (1929 ई.) को हिन्दी के प्रथम एकांकी होने का श्रेय प्राप्त है ।

डॉ0 रामकुमार वर्मा, विष्णु प्रभाकर, सेठ गोविन्द दास, पं0 उदयशंकर भट्ट, हमीदुल्ला इत्यादि हिन्दी के प्रसिद्ध एकांकीकार हैं । सारांश हिन्दी साहित्य की गद्य विधाओं में नाटक महत्वपूर्ण गद्य विधा है । नाटक में मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं एवं भावों का अनुकरण होता है । भारतेन्दु युग से लेकर प्रसादोत्तर युग के नाटकों एवं नाट्य प्रवृत्तियों के विश्लेषण से हिन्दी नाटक के विकास की विस्तृत जानकारी विद्यार्थियों को प्राप्त होती है ।

2.5 सारांश

हिन्दी साहित्य की गद्य विधाओं में नाटक महत्वपूर्ण गद्य विधा है । नटह में मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं एवं भावों का अनुकरण होता है ।भारतेन्दु युग से लेकर प्रसादोत्तर युग के नाटकों एवं नाट्य प्रवृत्तियों के विश्लेषण से हिन्दी नाटक के विकास की विस्तृत जानकारी विद्यार्थियों को प्राप्त होती है।

2.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. नाटक की परिभाषा देते हुए नाटक के तत्त्वों का उल्लेख करें ।
2. नाटक से आप क्या समझते हैं? नाटक के विविध प्रकारों का उल्लेख करें ।
3. हिन्दी नाट्य साहित्य के विकास में भारतेन्दु तथा द्विवेदी युगीन नाटकों का मूल्यांकन कीजिए ।
4. हिन्दी नाटकों के विकास में जयशंकर प्रसाद के योगदान पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
5. हिन्दी नाटक के विकास पर एक लेख लिखिए ।

2.7 संदर्भ गन्थ

1. धीरेंद्र वर्मा (सम्पा.) हिन्दी साहित्यकोश- भाग- 1, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण- 1965 (वसंत पंचमी)
2. डॉ0 नित्यानंद तिवारी, साहित्य का स्वरूप, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1985
3. डॉ0 बैजनाथ सिंहल, हिन्दी विधाएँ-स्वरूपात्मक अध्ययन, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, प्रथम संस्करण- 1988
4. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य सहचर,
5. डॉ. दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास
6. डॉ. नगेन्द्र (सं.) हिन्दी साहित्य का इतिहास
7. डॉ. राम चन्द्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य

इकाई-3 प्रसाद का नाट्य साहित्य

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 परीक्षाकाल अथवा प्रारंभिक काल के नाटक

- 3.2.1 सज्जन
- 3.2.2 प्रायश्चित
- 3.2.3 कल्याणी-परिणय
- 3.2.4 करूणालय

3.3 प्रयोगकाल के नाटक

- 3.3.1 राज्यश्री
- 3.3.2 विशाख
- 3.3.3 जनमेजय का नागयज्ञ

3.4 अन्तर्वर्ती काल के नाटक

- 3.4.1 कामना
- 3.4.2 एक घूँट

3.5 प्रौढ़ रचनाकाल के नाटक

- 3.5.1 स्कन्दगुप्त
- 3.5.2 चन्द्रगुप्त
- 3.5.3 ध्रुवस्वामिनी

3.6 प्रसाद की नाट्यकला की विशेषताएँ

- 3.6.1 ऐतिहासिकता
- 3.6.2 कल्पना का योग
- 3.6.3 संस्कृति-प्रेम
- 3.6.4 देश-प्रेम
- 3.6.5 कवयात्मकता
- 3.6.6 संवाद
- 3.6.7 स्वगत कथन
- 3.6.8 चरित्र चित्रण
- 3.6.9 स्त्री पात्रों की विशिष्टता
- 3.6.10 मनोविज्ञान तथा दार्शनिकता
- 3.6.11 देशकाल

3.6.12 भाषा-शैली
3.6.13 अभिनेयता
3.6.14 प्रसादन्त भावना
3.6.15 समन्वय भावना
3.7 सारांश
3.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप:

- जयशंकर प्रसाद के नाट्य साहित्य से परिचित हो सकेंगे ।
- प्रसाद के नाट्य लेखन के क्रमिक विकास से परिचित हो सकेंगे ।
- प्रसाद की नाट्य कृतियों में प्रयोगशीलता और प्रौढ़ता के आयामों का परिचय प्राप्त करते हुए प्रसाद के नाट्य लेखन को गहराई से समझ सकेंगे ।
- प्रसाद के समग्र नाट्य साहित्य में निहित ऐतिहासिकता और कल्पनाशीलता के तत्वों को बोध समझ सकेंगे ।
- प्रसाद के नाट्यलेखन में भारत के सांस्कृतिक वैभव के बिन्दुओं को उभारकर प्रसाद के नाट्य लेखन की दृष्टि को समझ सकेंगे ।

3.1 प्रस्तावना

हिन्दी नाटक क्षेत्र में प्रसाद एक ऐसे प्रकाश-पूंज के रूप में उदय हुए, जिसकी ज्योति-किरणें प्रखर से प्रखरतर होकर समग्र युग को आलोकित कर गई । उन्होंने 1910 से नाटक लिखना आरम्भ किया और 1933 तक तेरह नाटक लिखे हैं । डी. जगन्नाथ शर्मा ने सारे नाटक-रचनाकाल को ' परीक्षाकाल ' और ' 'आरम्भ-काल' ' नाम से दो युगों में विभाजित किया है और डी. रामसेवक पाण्डेय ने प्रारम्भिक काल, प्रयोगकाल अन्तर्वर्तीकाल और प्रौढ़ रचनाकाल नाम से चार युगों में बाँटा है । 'सज्जन', 'प्रायश्चित, 'कल्याणी परिणय' और करूणालय'उनकी परीक्षाकाल अथवा 'प्रारम्भिक काल' की रचनायें हैं |

3.2 परीक्षाकाल अथवा प्रारम्भिक काल के नाटक

3.2.1 सज्जन

प्रसाद का पहला नाटक है । लगभग बीस पृष्ठ की इस रचना का कथानक महाभारत की एक घटना-विशेष पर आधारित है ।

द्वैतवन में कष्टमय जीवन यापन करते हुए असहाय पाण्डवों को नष्ट करने के उद्देश्य से दुर्योधन एवं दुःशासन आदि शिकार खेलने के बहाने वहाँ गये । वन-रक्षक गन्धर्व

चित्रसेन द्वारा रोके जाने पर उससे उनका भीषण युद्ध हुआ और दुर्योधन आदि बन्दी बना लिये गये । वन के दूसरे भाग में वास करने वाले पाण्डवों को सूचना मिली तो युधिष्ठिर ने दुर्योधन आदि को मुक्त कराने के लिए अर्जुन को भेजा । अर्जुन ने वहाँ पहुँचकर गन्धर्व-सेना से युद्ध आरम्भ किया, चित्रसेन ने बीच में ही अपने मित्र अर्जुन को पहचान लिया और सेना को युद्ध बन्द करने के आदेश दिया । सब लोग युधिष्ठिर के पास पहुँचे और उनके आदेश से दुर्योधन आदि को बन्धन मुक्त कर दिया गया । दुर्योधन युधिष्ठिर की इस सज्जनता को देख बहुत लज्जित हुआ ।

यह नाटक संस्कृत नाट्य-परम्परा के अनुकूल है । पहले नान्दी रूप में शंकर की वन्दना है और उसके बाद प्रस्तावना है । तीन स्थलों पर संवाद पद्यात्मक हैं । अन्त में भरत-वाक्य है ।

3.2.2 प्रायश्चित

इस नाटक के कथानक का सम्बन्ध भारत पर मुसलमानों के आक्रमण से है । पृथ्वीराज के प्रति जयचन्द की ईर्ष्या, प्रतिशोध के लिये मुहम्मद गौरी को आमंत्रित करने की भूल और उसके दुषरिणामस्वरूप प्रायश्चित रूप में जयचन्द द्वारा सिंहासन त्यागकर संन्यास लेने तथा गंगा में कूद कर आत्महत्या कर लेने की घटना इसमें है । "प्रायश्चित " "सज्जन" सें बिल्कुल उल्टा है । इसमें नान्दी, प्रस्तावना तथा भरत वाक्य कुछ भी नहीं है । पद्यात्मक संवाद भी नहीं है । पात्रों की सामाजिक स्थिति के विचार में लेखक ने भाषा को पात्रानुकूल बनाने का प्रयास किया है । इसलिये इसमें उर्दू शब्दों की अधिकता हो गई है । यह नाटक प्रसाद का प्रयोग-प्रयास ही माना जाता है ।

3.2.3 कल्याणी-परिणय

यह नाटक सिक्खस द्वारा भारत पर आक्रमण, चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त द्वारा उस पर विजय प्राप्ति और उसकी पुत्री से चन्द्रगुप्त के विवाह-सम्बन्धी घटना से सम्बद्ध है । बाद में यह नाटक 'चन्द्रगुप्त' नाटक का एक अंश बन गया । दोनों की भाषा, शब्दावली, घटना और चरित्रांकन आदि मिलते-जुलते हैं ।

इस नाटक से नान्दी एवं भरतवाक्य आदि का विधान करके प्राचीन संस्कृत परिपाटी का पालन किया गया है । संवादों में सर्वत्र पद्य का प्रयोग किया गया है । नाटकत्व और चरित्र-विकास को इसमें स्थान नहीं मिल पाया ।

3.2.4 करूणालय

गीत-नाट्य है । कथानक वैदिक साहित्य से लिया गया है । नौका-विहार करते हुए राजा हरिश्चन्द्र की नाव सहसा रूक गई, उन्हें आकाशवाणी द्वारा पुत्रबलि का स्मरण कराया गया । रोहित अपने जीवन को अपनी सम्पत्ति मानता है । अपने बदले बलि किये जा सकने वाले व्यक्ति की खोज में महर्षि अजीगर्त के आश्रम में पहुँचा । अकाल-पीड़ित ऋषि को सौ गायें देकर उनके मध्यम-पुत्र शुन: सेफ को नरमेघ के लिये

खरीद लाया । यज्ञ की तैयारी हुई । वशिष्ठ का पुत्र बलि देने को आगे बढ़ा, परन्तु करूणा-विगलित. होकर शस्त्र फेंक दिया । इसी समय विश्वामित्र वहाँ पहुँचे और यह हस्योद्घाटन हुआ कि शुन: सेफ एक राजकीय दासी से उत्पन्न विश्वामित्र का पुत्र है । विश्वामित्र ने पत्नी और पुत्र दोनों को अपना लिया ।

नाटक पाँच दृश्यों में विभक्त है । नान्दी, प्रस्तावना तथा भरत वाक्य का विधान नहीं है । देशकाल और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अच्छी रचना है, परन्तु इसमें नाटकीय अंश कम और कहानी तत्त्व अधिक है ।

उपर्युक्त चारों नाटक प्रसाद की प्रारम्भिक कृतियाँ हैं । लेखक ने विभिन्न कालों से कथावस्तु का चयन करके भिन्न शिल्पों का प्रयोग किया । नाटककार की कला स्थिर न होकर दिशा खोजती-सी प्रतीत होती है।

3.3 प्रयोगकाल के नाटक

प्रसाद के नाटकों के विकास-क्रम का दूसरा सोपान 'राज्यश्री' है । 'विशाख- 'अजातशत्रु' और 'जनमेजय का नागयज्ञ' उसके बाद की सीढ़ियाँ हैं । डॉ. जगन्नाथ शर्मा ने इन्हें आरम्भ काल और डॉ. रामसेवक पाण्डेय ने प्रयोगकाल की रचना कहना उपयुक्त समझा है ।

3.3.1 राज्यश्री

मालव शासक देवगुप्त राज्यश्री के सौन्दर्य पर मोहित था । उसे पाने के लिए उसने कान्यकुब्ज पर आक्रमण की योजना बनाई और राज्यश्री के पति कान्यकुब्ज के राजा ग्रहवर्मा की हत्या करके राज्यश्री को बन्दी बना लिया । राज्यश्री का भाई राज्यवर्धन बहन की सहायता के लिए गया । कलने मालव सेना को नष्ट किया, परन्तु गौड़ाधिप नरेन्द्रगुप्त के कुचक्र का शिकार होकर मारा गया । कान्यकुब्ज पर नरेन्द्रगुप्त का अधिकार हो गया । थानेथर के सेनापति चंडि का ध्यान अपनी ओर से हटाने के लिए उसने राज्यश्री को नगर के कारागार से मुक्त कर दिया । इस समय तक हर्षवर्धन ने राज्य भार सम्माल लिया था । जब वह अपनी विशाल सेना लेकर कान्यकुब्ज की ओर जा रहा था तो मार्ग में सेनापति चंडि ने सूचना दी कि राज्यश्री विरक्त होकर विंध्य पर्वत की ओर चली गई है । नरेन्द्रगुप्त से युद्ध स्थगित करके हर्षवर्धन अपने कुछ साथियों के साथ राज्यश्री की खोज के लिए चल पड़ा । जिस समय वह उसके समीप पहुँचा उस समय वह चिता जलाकर उसमें कूदने जा रही थी । हर्ष ने उसे रोका । उसे समझा-बुझा कर अपने साथ लेकर लौटा । तब तक नरेन्द्रगुप्त कान्यकुब्ज छोड़कर भाग चुका था । राज्यश्री' प्रसाद का पहला ऐतिहासिक नाटक है । इस नाटक के दो संस्करण प्रकाशित हुए । पहले अंक में तीन संस्करण थे और वर्तमान संस्करण में चार, इसके अतिरिक्त पहले अंक में दो तथा दूसरे में एक दृश्य और जोड़ दिया गया । नाटक में रचना-कौशल का अभाव है । घटनाएँ अकारण फैल गई हैं । काल्पनिक घटनाएँ अलग से जोड़ी गई सी प्रतीत होती हैं । चरित्रों में भी अपेक्षित उत्कर्ष नहीं है । केवल

राज्यश्री का चरित्र थोड़ा प्रभावशाली बन पड़ा है । घटनाओं की तीव्रता के अन्धड़ में पात्र जम नहीं पाए । पहले संस्करण में नान्दी पाठ, प्रशस्ति-वाक्य और एक जगह पद्यात्मक संवाद भी है । डी. जगन्नाथ शर्मा के शब्दों में ' 'इस काल की रचना-चातुरी में इस प्रकार की दुर्बलताएँ और भयाकुल स्वभाव नितान्त प्रकृत ज्ञात होता है । '

3.3.2 विशाख

कथानक कल्हण की "राजतरंगिणी" से लिया गया है । तक्षशिला के गुरूकुल से शिक्षा समाप्त कर आया विशाख भावी जीवन की कल्पनाओं में डूबा एक वृक्ष के नीचे बैठा था, उसी समय चन्द्रलेखा और इरावती को उसने देखा । वह चन्द्रलेखा के सौन्दर्य पर मुग्ध हुआ । उसकी सहायता के लिए तत्पर हुआ, परन्तु बुद्धविहार के कर्मचारियों ने सुश्रवा नाग के स्थान पर चन्द्रलेखा को बन्दी बना लिया । विशाख ने राजा नरदेव से बौद्धों के अत्याचारों का निवेदन कर चन्द्रलेखा. को मुक्त करा लिया, परन्तु नरदेव स्वयं चन्द्रलेखा के रूप पर आसक्त हो गया । विशाख ने धनोपार्जन की इच्छा से बाहर जाने की योजना बनाई । चन्द्रलेखा अकेली थी, नरदेव उसके घर पहुँचा । उसकी कलुषित भावना को पहचान कर चन्द्रलेखा ने उसे अपने घर से चले जाने को कहा । नरदेव ने प्रलोभन एवं भय आदि के द्वारा चन्द्रलेखा को प्राप्त करना चाहा । महारानी ने उसे समझाना चाहा, परन्तु वह असफल रहने पर नदी में कूदकर आत्महत्या कर लेती है । नरदेव ने बलपूर्वक चन्द्रलेखा को प्राप्त करना चाहा, विरोध करने पर विशाख चन्द्रलेखा सहित बन्दि बना लिया गया । उत्तेजित नागों ने इस अन्याय का विरोध किया । विशाख को निर्वासन और फिर विशाख तथा चन्द्रलेखा दोनों के लिए मृत्युदण्ड की आज्ञा से उत्तेजित नागों ने राजभवन में आग लगा दी । योगी प्रेमानन्द ने राजा की और चन्द्रलेखा ने राजकुमार की रक्षा की । अन्त में प्रेमानन्द के उपदेश से नरदेव पश्चाताप अनुभव करता है ।

'विशाख से प्रसाद के नाट्य-साहित्य की व्यवस्थित भूमिका आरम्भ होती है । नाटक तीन अंकों में विभाजित है । वस्तु में उतार-चढ़ाव अधिक नहीं है । पात्रों के चरित्र-चित्रण में यद्यपि गम्भीरता नहीं है, परन्तु चरित्र-चित्रण के सिद्धांत अधिक स्पष्ट हुए हैं, चन्द्रलेखा का चरित्र बहुत प्रभावशाली है । समग्र रूप से प्रसाद का पहला सफल नाटक कहा जा सकता है ।

3.3.3 अजातशत्रु

मगध सम्राट बिम्बसार की बड़ी रानी वासवी है और छोटी रानी छलना है जो अजातशत्रु की माँ है । माँ और देवदत्त की प्रेरणा से राजकुमार अजातशत्रु राज्य अधिकार पाने के लिए तत्पर है । महात्मा बुद्ध के उपदेश के बाद गृह कलह की स्थिति से बचने के लिए सम्राट राजकुमार को सत्ता सौंप देता है । देवदत्त की सहायता से राज्य संचालन करता हुआ कुमार पिता बिम्बसार और बड़ी रानी वासवी को बंदी अवस्था में रखता है । वासवी अपने भाई कौशल नरेश की सहायता सें काशी का राजत्व पाने का प्रयत्न

करती है । राज्य प्राप्ति की महत्वाकांक्षा के प्रयत्न में कौशल का राजकुमार विरूद्धक पिता द्वारा निर्वासित कर दिया जाता है । कौशाम्बी में मागन्धी के षड्यन्त्र के कारण वासवी की पुत्री पद्मावती राजा उदयन द्वारा अपमानित होती है, परन्तु शीघ्र ही मागन्धी का षड्यन्त्र प्रकट हो जाता है और वह अपने महल में आग लगाकर भाग निकलती है । अपने बाहुबल से राज्य-प्राप्ति की आकांक्षा रखने वाला निर्वासित कुमार विरूद्धक अजातशत्रु से सहयोग की प्रार्थना करता है । देवदत्त' की प्रेरणा के अजात सहायता के, लिये तैयार हो जाता है । विरूद्धक काशी की वारवनिता श्यामा (मागन्धी) के सम्पर्क में आता है । वह छल से कौशल के सेनापति की हत्या कर देता है । अजात काशी पर अधिकार कर लेता है । श्यामा विरूद्धक को बन्दीगह से मुक्त कराती है, परन्तु विरूद्धक गला घोंट कर उसकी हत्या का प्रयत्न करता है, उसे मृत समझ उसके आभूषण लेकर चला जाता है । महात्मा बुद्ध श्यामा की सेवा करके उसे जीवनदान देते हैं । विरूद्धक और अजात का कौशल और कौशाम्बी की सम्मिलित शक्ति से युद्ध होता है । विरूद्धक घायल और अजात बन्दी बना लिया जाता है । वासवी अजात को मुक्ता कराने कौशल पहुँची और विरूद्धक मल्लिका की सेवा से स्वस्थ हुआ । श्यामा भी मल्लिका की कुटी में पहुँचती है, विरूद्धक उससे क्षमा याचना करता है । वासवी के कारण अजात मुक्त हुआ । मल्लिका के कारण विरूद्धक को पुन: युवराज पद प्राप्त हुआ, मागन्धी को संघ में शरण मिली । कौशल की राजकुमारी वाज्रिरा से अजात का विवाह हुआ और जब उसे पुत्र प्राप्त हुआ तो क्षमा याचना के लिए बिम्बसार के पास पहुँचा । यहीं नाटक समाप्त होता मगध, कौशाम्बी और कौशल से सम्बद्ध होने के कारपा इस नाटक का कथानक जटिल है, घटनाओं की भी अधिकता है । कथा का समापन तीन अंकों में हुआ है । पहले दो अंकों में संघर्ष का विस्तार है और तीसरे में उसका समाहार है, जिसे समेटना लेखक के लिए कठिन सा हो गया है । फिर भी तीनों स्थानों से संबन्धित घटनाओं को लेखक ने कुशलता से परस्पर सम्बद्ध कर दिया है । चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस नाटक का. विशेष महत्व है । वासवी, बिम्बसार आदि के चरित्रों में बड़ा मार्मिक अन्तर्द्वन्द्व है, परन्तु अजातशत्रु में नायकत्व की कोई विशेषता नहीं है । स्वगत-कथन इसमें भी है, परन्तु पहले से कम । यद्यपि नाट्य-कला की दृष्टि से 'अजातशत्रु' भी बहुत सन्तुलित और कलापूर्ण नाटक नहीं है, तथापि इस नाटक के विषय में यह कथन सच ही है कि अजातशत्रु प्रसाद जी का पहला नाटक है, जिसमें उनकी नाट्य-कला का पैटर्न तैयार हो जाता है और अग्रिम नाटकों के लिये एक प्रसादीय टेकनीक' सामने आ जाती है

3.3.4 जनमेजय का नागयज्ञ

इस नाटक की कथा ऐतरेय ब्राह्मण-कथ और महाभारत से ली गई है । पाण्डवों के पश्चात् परीक्षित कुरू-प्रदेश के राजा हुए । खाण्डव-वन में अर्जुन द्वारा सताई गई नाग जाति ने परीक्षित को मारकर प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया । परीक्षित के पुत्र

जनमेजय ने पुन: राज्य और शक्ति का संगठन किया । उत्तक की प्रेरणा से जनमेजय ने नागयज्ञ का आयोजन किया । संघर्ष में तक्षक और उसकी पुत्री मणिमाला बन्दी हुए। अन्त में जनमेजय और मणिमाला के विवाह सम्बन्ध के साथ संघर्ष का शमन हुआ। पौराणिकता के साथ कहानी में कल्पना का योग है । नाटक पात्र-बहुल है । कथानक सुगठित नहीं है ।

शास्त्रीय दृष्टि से भी नाटक के शिल्प में दुर्बलताएँ है । प्रवचन और दार्शनिक उक्तियों भी बहुत हैं । मंत्र-शक्ति द्वारा खाण्डव-बन का दृश्य उपस्थित करना नितान्त अस्वाभाविक है । दृश्य के अन्तर्गत दृश्य की योजना तथा अनावश्यक पात्रों की सृष्टि आदि के कारण प्रस्तुत नाटक में नाटकीयता बहुत कम रह गई है । अभिनेय तो यह है ही नहीं । ही, देशकाल का अच्छा चित्रण इसमें हुआ है ।

3.4 अन्तर्वर्ती काल के नाटक

डॉ. रामसेवक पाण्डेय ने 'कामना' और 'एक घूंट' नाटक को प्रसाद की नाट्य-कला के विकास के अन्तर्वर्ती काल के अन्तर्गत लिया है, यद्यपि रचनाक्रम की दृष्टि से 'एक घूंट' स्कन्दगुप्त के बाद की रचना है, जो प्रसाद की प्रौढ़ नाट्य-कृतियों का युग कहा जाता है ।

3.4.1 कामना

कामना मे विभिन्न मानवीय-मनोवृतियों को पात्र रूप में प्रस्तुत किया गया है और इस प्रकार इन मनोवप्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है । प्रतीकात्मकता के कारण पात्रों का चरित्र-विकास नहीं हो पाया । उनकी संख्या भी अधिक है । लम्बे स्वगत-कथन इस नाटक में भी हैं । भाषा सर्वत्र काव्यमय है । गुलाबराय जी के अनुसार ' 'विचार गम्भीरता ', ' 'भाषा में माधुर्य और कल्पना में कोमलता ' आदि के कारण ' 'कामना का स्थान प्रसाद साहित्य में और भी ऊँचा होना चाहिए । '

3.4.2 एक घूँट

"राक घूंट" प्रसाद की एक और प्रतीकात्मक नाट्यकृति है, जो रचना-क्रम से 1928 की कृति होने के नाते उनके प्रौढ़ रचनाकाल के अन्तर्गत आती है ।

इस नाटक में वन-लता तथा कुंज आदि का मानवीकरण करके जीवन और उसके लक्ष्य के विषय में गम्भीर विचार प्रकट किये हैं । सम्पूर्ण नाटक में व्यंग्य और आक्षेप-ध्वनित हैं । नाटक का आरम्भ और अन्त नाटकीय है । कथा का एक प्रकार से इसमें अभाव ही है । पात्रों के चरित्र में एकांगिता है । इसमें एक ही अंक और आरम्भ से अन्त तक एक ही दृश्य है । यद्यपि डॉ. जगन्नाथ शर्मा के अनुसार ' 'बाहय रूप से अभिनयात्मक होने पर भी यह नाटक मालूम नहीं पड़ता' ' तथापि 'एक घूंट' हिन्दी का पहला एकांकी नाटक माना जाता है ।

3.5 प्रौढ़ रचनाकाल के नाटक

स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद की प्रौढ़ नाट्य कृतियाँ मानी जाती हैं। ऐतिहासिक नाटकों के काल-क्रम में अजातशत्रु के बाद 'स्कंद गुप्त' और फिर 'चन्द्रगुप्त तथा 'ध्रुवस्वामिनी रचे गये ।

3.5.1 स्कन्दगुप्त

पुष्यमित्रों और हूणों के आक्रमण ने गुप्त साम्राज्य के लिये संकट उपस्थित कर दिया । वृद्ध सम्राट कुमारगुप्त की छोटी पत्नी महाबलाधिकृत भटार्क के साथ मिलकर अपने पुत्र पुरगुप्त के लिये सिंहासन प्राप्ति के लिये सम्राट तथा स्कन्दगुप्त के विरूद्ध षड्यन्त्र रच रही थी । स्कन्दगुप्त अपने अधिकार के प्रति उदासीन थे, परन्तु मालव पर आक्रमण के समय उस एकाकी वीर ने मालव की रक्षा की । हूणों से देश की रक्षा के लिये मालव में ही अपना अभिषेक किया, उसने सेना संगठित की आक्रमण का सामना किया, परन्तु भटार्क की नीचता के कारण हूणों का बढ़ाव नहीं रोका जा सका, सेना विच्छिन हो गई । आर्य पर्णदत्त तथा देवसेना की प्रेरणा से स्कन्द ने गुप्त साम्राज्य के बचे बचाये वीरों को पुन: एकत्र कर हूणों को पराजित किया और पुरगुप्त को रक्त का टीका लगाकर युवराज बनाया । इस प्रकार बादय आक्रमणों और आन्तरिक कलह का शमन हुआ ।

इस नाटक में प्रसाद की नाट्यकला का विकसित एवं उन्नत रूप दिखाई देता है । सारी वस्तु का विभाजन पाँच अंकों में हुआ है । कार्य-अवस्थाओं का स्पष्ट बोध होता है । इसी प्रकार अर्थ-प्रकृतियों तथा सन्धियों का भी पूर्ण निर्वाह हुआ है । वीर रस की प्रधानता के साथ शान्त रस में नाटक का पर्यवसान हुआ है । स्कन्दगुप्त में भारतीय धीरोदात्त नायक के सभी गुण विद्यमान हैं, परन्तु वह केवल आदर्श देवता नहीं, बल्कि मानवीय अन्तर्द्न्द्व से पूर्ण है । देवसेना, पर्णरत्त, बन्दुवर्मा, विजया आदि के चरित्र जीवन-द्वन्हों के अन्तराल में चलते हुए दिखाई देते हैं । समग्र रूप से इसमें पाश्चात्य एवं भारतीय नाट्य शास्त्र के विहित सिद्धांतों का व्यावहारिक प्रयोग बड़ा अच्छा हुआ है।

3.5.2 चन्द्रगुप्त

"प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में 'चन्द्रगुप्त' तीसरा नाटक है । सिकन्दर का भारत आक्रमण, नन्दवंश का समूल विनाश, सिन्यूकस की पराजय, चन्द्रगुप्त का कार्नेलिया के साथ परिणय इस नाटक की प्रमुख घटनायें हैं, जिन्हें लेकर इस नाटक का कथानक निर्मित हुआ है । इन तीनों घटनाओं के मूल में चन्द्रगुप्त है, जिसे प्रेरणा और निर्देशन चाणक्य से मिलता है । "

'इस नाटक की विषय-वस्तु महाकाव्य के उपयुक्त है । प्रसाद जैसा कवि व्यक्ति ही इतनी बड़ी घटनावली को आधार मानकर, जिसमें मगध से गान्धार तक की घटनायें समाविष्ट हैं, नाटक का निर्माण कर सकता है । "

प्रस्तुत नाटक की वस्तु में इतिहास के साथ कल्पना का सुन्दर योग है । सम्पूर्ण कथा को चार अंकों में बाँधने के प्रयास में लेखक ने विशेष कौशल का प्रदर्शन किया है । ' नाटकीय समष्टि-प्रभाव का जितना सुन्दर और सुसंगत आयोजन इस नाटक में हो सका है । उतना लेखक की अन्य किसी रचना में नहीं । ' (डॉ. शर्मा) नाटक की मुख्य कथा के साथ प्रासंगिक कथाओं का समापन कुशलता से कराया गया है । नायक चन्द्रगुप्त धीरोदात्त नायक के गुणों से युका है । चाणक्य के चरित्र का वृद्धिक्रम बड़ी सुन्दरता से दिखाया गया है । अन्य सभी पात्रों की अपनी वैयक्तिकता है, जिसने नाटकीय सरंचना को कलात्मकता प्रदान की है । नाटक में प्रधान रस वीर है, पोषक श्रृंगार और नियामक रस शान्त है । कथोपकथन प्राय: छोटे और नाटकीय प्रभाव डालने में समर्थ हैं । इनके सहारे ही कथा की धारा प्रवाहित होती है । इस नाटक के कथोपकथनों में अन्य अनेक विशेषतायें हैं । इस नाटक के काल विस्तार पर कुछ विद्वानों ने आपत्ति प्रकट की है । फिर भी तत्कालीन राजनीति, धर्म, समाज व्यवस्था आदि का पूरा परिचय नाटक से मिल जाता है । " राष्ट्र भावना का प्राचुर्य इस नाटक में विशेष रूप से प्रतिपादित है..... अभिनय व्यापार के विचार से इस नाटक का वृत्तगुंफन विशेष चमत्कार युक्त है । "

अत: प्रसाद के नाटकों के विकास-क्रम को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि 'चन्द्रगुप्त' का उनके नाटकों में विशिष्ट स्थान है तथा यह उनका सर्वोत्तम नाटक है ।

3.5.3 ध्रुवस्वामिनी

प्रसाद का अन्तिम नाटक है । ऐतिहासिक कथानक होते हुए भी इसे समस्या नाटक कहना उपयुक्त होगा, क्योंकि गुप्तवंश की एक इतिहास प्रसिद्ध घटना को लेकर ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से विवाह-विच्छेद की व्यवस्था का प्रतिपादन किया है । वस्तु और शिल्प की दृष्टि से यह भिन्न प्रकार का नाटक है । इसमें नवीन शिल्प का प्रयोग है । "प्रसाद के नाटकों की स्वाभाविक तथा सामान्य नाट्यकला का उदाहरण न होकर यह नाटक एक नवीन शिल्प तथा युगीन विचारधारा को प्रस्तुत करता है ।"

3.6 प्रसाद की नाट्यकला की विशेषताएँ

प्रसाद पहले कवि ही नहीं, बल्कि महाकवि थे । धर्म, वेद, पुराण तथा दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन से उनकी प्रतिभा में और अधिक बल आया । इसी प्रकार इतिहास के सूक्ष्म अध्ययन और मनन ने उन्हें

भारतीय संस्कृति का मर्मज्ञ और निष्ठ पुजारी बना दिया । भाषा तो पहले ही उनके संकेत पर नाचती थी । अत: भाषा, भाव, विचार, 'अन्वेषण तथा अध्ययन आदि सभी साज-सज्जाओं के साथ प्रसाद ने नाटक-क्षेत्र में प्रवेश किया और हिन्दी नाटक-साहित्य के यौवन को अपने हाथों से सजाया।

3.6.1 ऐतिहासिकता

स्वयं प्रसाद के शब्दों में "इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है... मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है|"

अपने उपर्युक्त विचारों को क्रियात्मक रूप देने के लिए प्रसाद ने इतिहास को ही अपने नाटकों का विषय बनाया । कामना और 'एक घूंट' के अतिरिक्त उनके सभी नाटक ऐतिहासिक हैं । 'विशाख इस माला का प्रथम पुष्प है और 'ध्रुवस्वामिनी अन्तिम ।

'विशाख, 'अजातशत्रु' और जनमेजय का नागयज्ञ' - तीनों नाटकों में प्रसाद की एक ही निश्चित विचारधारा प्रतिहिंसा पर करूणा की विजय का नाटकबद्ध विकास है । अर्थात् इन तीनों नाटकों में उन्होंने करूणा का महत्व प्रदर्षित किया है और उत्तरोत्तर अपने इस कार्य में अधिक स्पष्ट तथा उन्नत होते गये हैं । इन नाटकों में नाटककार ने अतीत के ऐतिहासिक वातावरण में वर्तमान की बड़ी सुन्दर झांकी प्रस्तुत की है । कहीं-कहीं तो आज के आनूकूल भारत की आत्मा ही प्रचीनता से विद्रोह करती दिखाई देती है । कहा जा सकता है कि वर्तमान को ऐतिहासिकता की पृष्ठभूमि में रखकर उन्होंने भविष्य के लिये मार्ग प्रशस्त किया है ।

'स्कन्दगुप्त- और 'चन्द्रगुप्त' यद्यपि इतिहास के दो अन्तरयुत पृष्ठों पर निर्मित हैं तथापि इनमें भी एक ही प्रकार की महान प्रतिहिंसा और महान त्याग के सम्मिश्रण तथा अखण्ड भारती की भावना प्रतिध्वनित है । इनके अतिरिक्त, सज्जन' 'कल्याणी, 'परिणय', करुणालय, 'प्रायश्चित' तथा राज्यश्री आदि उनके अन्य ऐतिहासिक नाटक है । वस्तुत: नाटकों में ऐतिहासिकता का इतना सुन्दर निर्वाह कर सकने वाला कोई अन्य नाटककार हिन्दी साहित्य के इतिहास में दिखाई नहीं देता । ऐतिहासिक दृष्टि से उनमें कोई त्रुटि नहीं है । निःसन्देह यौवन की मस्ती में मस्त इस नाटककार ने इतिहास के रूखे पृष्ठों में अपनी भाव गरिमा के सहारे सरसता और सजीवता की वह मन्दाकिनी प्रवाहित की है कि मन झूम-झूम उठता है, अतीत के चलचित्र आंखों के सामने नाचने लगते हैं । परन्तु फिर भी प्रसाद ने इस इतिहास प्रेम और इतिहास के विस्तृत ज्ञान ने उनके नाटकों में थोड़ी शिथिलता ला दी है, बल्कि कहीं-कहीं तो वस्तु-संकलन पर भी इसका प्रभाव पड़ा है । ऐतिहासिकता के कारण नाटक-पात्र बहुल हो गये हैं, जिनसे उनके कथानक भी बोझिल से लगने लगते हैं । परन्तु स्कन्दगुप्त' इन देशों से प्राय: मुक्त कहा जा सकता है क्योंकि इस नाटक में ऐसा एक भी दृश्य नहीं है जो केवल इतिहास की दृष्टि से लिखा गया हो ।

3.6.2 कल्पना का योग

प्रसाद ऐतिहासिक, नाटककार अवश्य थे, परन्तु नाटक क्योंकि विशुद्ध इतिहास ही नहीं होता, इसलिए आवश्यकता तथा परिस्थिति के अनुसार उन्होंने इतिहास में समुचित

परिवर्तन भी किये हैं। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि 'पात्रों की ऐतिहासिकता के विरूद्ध चरित्र की सृष्टि, जहाँ तक सम्भव हो सका है, न होने दी गई है । फिर भी कल्पना का अवलम्बन लेना ही पड़ा है, केवल घटना की परम्परा ठीक करने के लिए ही । ' उदाहरण के लिए जैसे 'अजातशह में मागधी और श्यामा, विरूद्धक और शैलेन्द्र (भिन्न व्यक्ति होते हुए भी) का एकीकरण कर दिया है । इस प्रकार की कल्पना प्रसाद ने प्राय: अपन सभी नाटकों मे की है । इस कल्पना जा प्रयोग नाटककार ने स्त्री पात्रों के लिए अधिक किया है । कल्पना का योग नाटकीय चमत्कार उत्पन्न करने तथा नाटकीय प्रसंगों की उपलब्धि के लिए ही हुआ है, और वह भी ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुए । अत: यह योग सर्वथा अभीष्ट और ग्राह्य हैं ।

3.6.3 संस्कृति प्रेम

प्रसाद ने अपने नाटकों में इतिहास के साथ-साथ भारतीय संस्कृति के आदर्श रूप को चित्रित करने का भी पूरा प्रयास किया है, परन्तु ऐसा करने के प्रयत्न में किसी अन्य देशीय संस्कृति की अनुचित विगर्हणा उन्होंने कहीं भी नहीं की है । इतिहास से संस्कृति का समन्वय प्रसाद के नाटकों की प्रमुख विशेषता है । प्रसाद के प्रत्येक नाटक का प्रमुख पात्र अथवा नायक उस युग की सांस्कृतिक समस्याओं का केन्द्र हैं । वह अपने युग की सांस्कृतिक स्थिति और विकास का प्रतिनिधि है । अत: कहा जा सकता है कि प्रसाद के नाटक केवल इतिहास का ही चित्रण करने वाले नाटक नहीं है उनका सांस्कृतिक पक्ष भी है ।

3.6.4 देश-प्रेम

बीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीयता की जो लहर भारतीय जीवन में आई उसने यहाँ के साहित्य को भी अछूता नहीं छोड़ा । प्रसाद ने अपने नाटकों के द्वारा देश-प्रेम का वह संजीवन-रस हमारी नसों में प्रवाहित किया, जिसके प्रभाव से हम भी सोचने लगे कि - "हम भी तो वीर पुत्र हैं, हम भी आर्य संतान हैं, फिर हम क्यों न स्वतन्त्रता के पुण्य पथ पर आगे बढ़ चलें ।"इसी प्रकार राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत प्रसाद का यह गीत कितना सुन्दर है -

हिमाद्रि तुंगश्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती, स्वयं प्रभा समुज्जला स्वतन्त्रता पुकारती ।।
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो, प्रशस्त पुण्य पंथ है - बढ़े चलो, बढ़े चलो ।।

3.6.5 काव्यात्मकता

प्रसाद पहले कवि और बाद में नाटककार बने । इसलिये उनके नाटकों में काव्यात्मकता का प्राधान्य रहा । नाटकों में गीतों की भरमार और संवादों में गद्य गीतों-सा ढंग इसका स्पष्ट प्रमाण है । परन्तु प्रसाद के नाटकों में आये हुए गीतों की एक यह

विशेषता, है कि वे मानवी अनुभूति तो हैं ही, साथ ही परिस्थिति विशेष में उन्हें (गीतों को) गाने वाले पात्रों के चरित्र की विशेषताओं का परिचय भी उनसे मिल जाता है ।

इतना सब होते हुए भी प्रसाद की इस काव्यप्रियता ने उनके नाटकों में कहीं कहीं तो बहुत ही अस्वाभाविकता ला दी है । यथा 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अंक के चतुर्थ दृश्य में मालविका तीन बार गाती है, और उसके गीत भी इतने लम्बे-लम्बे हैं कि एक-एक गीत छः-सात मिनट ले लेता है । इसी प्रकार स्कन्दगुप्त' की देवसेना और 'अजातशत्रु' की मागधी सात-सात बार गाती हैं । कुछ स्थलों पर तो ये गीत अवश्य ही सामयिक से लगते हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश सर्वथा अव्यवहार्य, असंबद्ध और अनावश्यक है|

3.6.6 संवाद

प्रसाद की यह काव्य-प्रियता केवल गीतों तक ही सीमित नहीं रही, अपितु उनके संवादों में भी गद्य-गीतों सा आस्वाद है । यद्यपि उनके नाटकों में अनेक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ नाटक के पात्र साधारण बातचीत करते हैं, तथापि जहाँ कहीं भी हृदय की भाबुकता ने उनके कवित्व की चुटकी ली है, वहीं वह (कवित्व) पात्रों की वाणी में छलछला उठा है । अपनी इस क्रिया से उसने (कवित्व ने) संवादों को कहीं-कहीं लम्बा चाहे बना दिया हो, परन्तु साथ ही उनमें जिस काव्य-सौष्ठव और सरसता की स्थापना हो गई है, वह वस्तुतः बहुत सुन्दर और दुर्लभ हैं ।

प्रसाद ने संवादों की दिशा में अत्यन्त कुशलता से काम लिया है । उनके पात्रों की बातचीत अत्यन्त सुन्दर, स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी है । प्रसाद के पात्रों के कथोपकथन कहीं-कहीं लम्बे अवश्य हैं तथापि उनमें एक मनोवैज्ञानिकता है, जिसने उन लम्बे संवादों को भी परिस्थिति एवं पात्र के स्वाभावानुकूल बना दिया है । उनके संवादों में गतिशीलता और पात्रानुकूलता है ।

3.6.7 स्वगत कथन

स्वगत का प्रयोग भी प्रसाद के नाटकों में हुआ है जो आजकल अस्वाभाविक और अवांछनीय है । यद्यपि स्वयं प्रसाद ने नाटक में स्थगत के प्रयोग को प्राकृतिक और बुद्धिसंगत नहीं माना, तथापि उनके नाटकों में स्वगत की भरमार भी हैं उनको कोई नाटक ऐसा नहीं है जिसमें स्वगत-कथनों की अच्छी खासी संख्या न हो । वस्तुतः प्रसाद के नाटकों में यह खटकने वाली बात है ।

3.6.8 चरित्र चित्रण

प्रसाद के नाटक चरित्र-प्रधान हैं । उनके नाटकीय पात्र मानव भी हैं, देव भी हैं, दानव भी । उनके पात्र बाह्य संघर्ष और अन्तर्द्वद्व दोनों से प्रभावित हैं । चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रसाद पूर्णतः सफल है । प्रसाद ने अपने प्रत्येक नाटक में एक ऐसा विशिष्ट

पात्र अवश्य रखा है, जो विषमता में समता लाने का निरन्तर प्रयास करता है । जैसे दिवाकर, गौतम, मल्लिका, मिहिर देव तथा मालविका आदि पात्र ।

3.6.9 स्त्री पात्रों की विशिष्टता

प्रसाद ने अपने स्त्री पात्रों का निर्माण विशेष सावधानी और कुशलता से किया है । उनके स्त्री पात्रों का चरित्र विशिष्ट है । नारी के स्वरूप की आदर्श कल्पना तो उन्होंने की ही है, परन्तु साथ ही उसके आकर्षक और विकर्षक रमणीक और भयावह रूप की कल्पना भी प्रस्तुत की है । नारी-चरित्रों की रचना करते हुए प्रसाद की अनुभूति और कल्पना को अधिक खुला क्षेत्र मिला है । इसीलिए नारी मनोविज्ञान और नारी चरित्र के उद्घाटन में उन्हें विशेष सफलता मिली हैं प्रसाद के स्त्री पात्र निःसन्देह मानवता के बहुत ही उच्चासन पर विराजमान हैं ।

3.6.10 मनोविज्ञान तथा दार्शनिकता

प्रसाद के नाटकों में मनोविज्ञान का बड़ा सुन्दर निरूपण हुआ है । आरम्भिक नाटकों की अपेक्षा उनके प्रौढ़ नाटकों में यह विशेषता विशेष रूप से विकसित हुई है । उनके 'कामना' नाटक का तो आधार ही मानवीय मनोवृत्तियाँ हैं । अपनी दार्शनिक भावना को उन्होंने नाटकों में भी नहीं छोड़ा है । उनके सब नाटकों पर बौद्धिक उपक्रम और दार्शनिकता की छाप स्पष्ट लक्षित होती है । नाटककार 'प्रसाद' के सभी नाटकों में समस्त पात्र नियति (भाग्य) की दुहाई देते हैं, मानो वे भाग्य के हाथ के खिलौने हैं । परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं की वे भाग्य के भरोसे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं, बल्कि नियति के साथ ही साथ वे कर्म में भी विश्वास करते हैं । नियति और कर्मयोग का बढ़ा सुन्दर समन्वय इस कथन में है "अदृष्ट तो मेरा सहारा है । नियति की डोर पकड़ कर मैं निर्भय कर्मकूप में कूद सकता हूँ क्योंकि विश्वास है कि जो होना है वह तो होवेगा, फिर कायर क्यों बनूँ -कर्म से विरक्त क्यों रहूँ । ' स्पष्ट है कि प्रसाद के नाटकों में सभी नायक जीवन के उक्त आदर्श को ही अपना लक्ष्य मान कर चले हैं ।

3.6.11 देशकाल

प्रसाद के नाटकों का देशकाल विस्तृत और व्यापक है । देशकाल के चित्रण का कार्य उनके नाटकों में पात्रों द्वारा सम्पन्न हुआ है । प्रत्येक नाटक में देश के तत्कालीन सम्पूर्ण राष्ट्रीय वातावरण का निर्माण करते हुए युग की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक विकास धाराओं का चित्रण भी उन्होंने किया हैं प्रसाद के सभी पात्र देश और काल की भूमि पर 'दृढ़ रूप से खड़े दिखाई देते हैं ।

3.6.12 भाषा शैली

प्रसाद की भाषा-शैली अत्यन्त विवादग्रस्त विषय है । भाषा के. विषय में प्रसाद का अपना मत यह था कि ' भिन्न-भिन्न देश और वर्ग वालों से उनके देश और वर्ग के

अनुसार भाषा का प्रयोग करा के नाटक को भाषाओं का अजायबघर बनाना पड़ता है । " अत: प्रसाद ने सर्वत्र एक ही भाषा हिन्दी का प्रयोग किया है । यद्यपि प्रसाद की भाषा में कवित्व और आलंकारिता का आधिक्य अवश्य है तथापि वह प्रसंग एवं रस के अनुकूल और व्यावहारिक हैं । मुहावरों का अभाव अवश्य है, परन्तु इससे भाषा में शिथिलता कहीं नहीं आई है । उनकी भाषा में चमत्कार तथा काव्यात्मकता है ।

3.6.13 अभिनेयता

वस्तु की प्रलम्बिता, विस्तृत कथोपकथन, गीतों की अधिकता, काव्यात्मकता की प्रधानता तथा रंगमंच की दृष्टि से दृश्यों का दोषपूर्ण विभाजन आदि कुछ ऐसी बातें हैं, जो प्रसाद के नाटकों को रंगमंच से दूर ले जाती हैं । परन्तु ये दोश ऐसे नहीं कि जिनका अभिनय के समय परिहार न किया जा सके । इसके साथ ही क्रिया-व्यापार का वेग, समय-समय पर कौतूहल वर्धक तथा आकर्षक घटनाओं की अवतारणा तथा प्रत्येक नाटक के प्रथम एवं अन्तिम दृश्य का विशेष रूप से रोचक होना आदि कुछ ऐसी विशेषतायें प्रसाद के नाटकों में प्राप्त हैं, जो उन्हें रंगमंच के सर्वथा उपयुक्त और अनुकूल बना देती हैं । प्रसाद के शब्दों में ' 'नाटकों के अभिनय के लिये परिष्कृत बुद्धि वाले सुयोग्य अभिनेता चाहिए । शिक्षित सहृदय सामाजिक तथा आदर्श रंगमंच का उचित समन्वय होना चाहिए । दो पर्दे कहीं टांग कर चार आने वाली टिकट द्वारा, अशिक्षित अभिनेताओं से खेले गये असाहित्यिक नाटकों की श्रेणी में मेरे नाटक (प्रसाद के) नहीं आ सकते । "

निसन्देह प्रसाद के नाटकों का स्तर इतना ऊँचा है कि उनका अभिनय कठिन तो है परन्तु असम्भव नहीं, उनके स्कन्दगुप्त, 'कामना' तथा ध्रुवस्वामिनी' आदि नाटकों का सफल अभिनय हुआ भी है ।

3.6.14 प्रसादान्त भावना

विचारधारा की आदर्शप्रियता के कारण भारतीय परम्परा नाटक को सुखान्त रखने की पक्षपाती रही है, परन्तु इसके विपरीत अंग्रेजी धारणा सदा दु:खान्तवादिता की ओर झुकी रही है । प्रसाद ने इसमें दार्शनिकता का पुट देकर अपरी कल्पना तथा नाट्य-कुशलता द्वारा ऐसे वातावरण की सृष्टि की है जिसमें अपराध करने वाला स्वयं अच्छे-बुरे कामों का ज्ञान प्राप्त करके पश्चाताप करता है, और यदि प्रायश्चित के रूप में उसे मृत्यु का भी सामना करना पड़े तो उससे उसे भी एक सन्तोष और हर्ष ही मिलता है । प्रसाद के नाटक निःसन्देह दुःखान्त (ट्रेजेडी) नहीं हैं, परन्तु उन्हें पूर्णत: सुखान्त (कॉमेडी) भी नहीं कहा जा सकता । एक प्रकार से उन्हें करुणापूर्ण सुखाना (ट्रेजिक-कॉमेडी) अथवा प्रसादान्त कहा जा सकता है ।

3.6.15 समन्वय भावना

प्रसाद ने भारतीय एवं पश्चिमी नाटक तत्त्वों के सम्मिश्रण से एक नवीन और मौलिक शैली का आविष्कार किया है । एक ओर तो उनके नाटकों में प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र के समस्त अंगों का परिपाक हुआ है, दूसरी ओर उन्होंने पश्चिमी नाट्य-सिद्धान्तों का समावेश अपने नाटकों में किया है । जैसे प्रस्तावना, वर्जित विषय दिखाने वाले दृश्यों का, निशेध प्रवेशकों को विष्कम्भक आदि तत्त्वों की, (जो कि भारतीय नाट्य-विधान के अंग हैं) प्रसाद ने सदा उपेक्षा की है । अंक और दृश्य विभाजन के विषय में उन्होंने परम्परा से प्राप्त शैली को ही अपना लिया, परन्तु उसके औचित्य के विषय में अपना कोई निश्चित मत स्थिर नहीं कर सके । राज्यश्री' में दृश्य का प्रयोग न करके केवल संख्या का प्रयोग किया है; परन्तु 'जनमेयजय का नागयज्ञ', 'अजातशत्रु' और 'कामना' में दृश्य विभाजन की शैली को अपनाया है तो 'स्कन्दगुप्त' में कोई अंक-संख्या भी नहीं लिखी । इसके अतिरिक्त संघर्ष, सक्रियता, समष्टि प्रभाव और द्वन्द्वमूलक चरित्र वैचित्र्य आदि विदेशी नाट्य-प्रदृत्तियों का चित्रण प्रसाद ने अपने नाटकों मे बड़ी कुशलता से किया है; परन्तु साथ ही वस्तु, पात्र और रस तथा कार्य की अवस्था आदि भारतीय नाट्य-तत्त्वों का भी उन्होंने पूर्ण ध्यान रखा है । वस्तुतः प्रसाद की इस समन्वयवादिता ने ही उन्हें हिन्दी नाट्य-जगत के नवयुग का नेता बना दिया ।

3.7 सारांश

प्रिय छात्रों, प्रस्तुत पाठ में आपको हिन्दी के यशस्वी नाटककार जयशंकर प्रसाद की नाट्य रचनाओं से परिचित कराया गया है । प्रसाद का समग्र नाट्य लेखन कृतित्व की दृष्टि से मुख्य और गौण दो कोटियों में रखा जा सकता है । गौण रचनायें वे हैं जो आकार-प्रकार और कलेवर की दृष्टि से लघु रचनायें कही जा सकती है जिनमें सज्जन, करूणालय एक घूँट, प्रायश्चित आदि को रखा जा सकता है । दूसरी कोटि में प्रसाद की प्रमुख नाट्य रचनायें हैं जो आकार-प्रकार कलेवर और दृष्टिफलक के आधार पर प्रमुख रचनायें कही जा सकती है, इस कोटि में राज्यश्री, ध्रुवस्वामिनी, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि की गणना आलोचकों ने की है । इस पाठ में प्रसाद के नाट्य लेखन की आलोचनात्मक दृष्टि से भी चर्चा की गई है, साथ ही नाट्य लेखन के घटकों को भी यथास्थान चर्चा में लाया गया है ।

3.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्रसाद के नाट्य कला के क्रमिक विकास का समीक्षात्मक परिचय दीजिए ।
2. प्रसाद के नाट्य साहित्य का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत करके 'चन्द्रगुप्त' का स्थान निर्धारित कीजिए ।
3. प्रसाद की नाट्यकला की प्रमुख विशेषताओं का उद्घाटन कीजिए ।
4. प्रसाद के प्रौढ़ रचनाकाल के नाटकों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए ।

3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ. रामसेवक पाण्डेय; प्रसाद की नाट्यकला
2. डॉ.जगदीशचन्द्र जोशी; प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक
3. (सं. डॉ. इन्द्रनाथ मदान); जयशंकर प्रसाद.
4. जॉ. रामप्रसाद मिश्र; प्रसाद: आलोचनात्मक सर्वेक्षण
5. डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा; प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन
6. आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी; जयशंकर प्रसाद
7. डॉ. सोमनाथ गुप्त; हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास
8. डॉ. शिवनाथ; हिन्दी नाटकों का विकास
9. जगदीश नारायण दीक्षित; प्रसाद के नाटकीय पात्र
10. डॉ. दशरथ ओझा; हिन्दी नाटक उद्भव और विकास

इकाई-4 चन्द्रगुप्त : कथावस्तु पात्र संरचना: व प्रतिपाद्य

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 कथावस्तु की समीक्षा मिश्र कथानक

4.2.1 ऐतिहासिक घटनाएँ

4.2.2 काल्पनिक घटनाएँ

4.2.3 परिवर्तित घटनाएँ

4.3 प्रासंगिक कथा, कार्यावस्थायें, अर्थ-प्रकृतियाँ और संधियाँ

4.4 संयोजन आक्षेप

4.5 आकर्षक आरंभ और अंक विभाजन

4.5.1 अंक संख्या और सूव्यांश

4.6 चतुर्थ अंक का औचित्य

4.7 पात्र संरचना

4.7.1 चरित्र शिल्प

4.7.2 पात्रों का द्वन्द्व

4.7.3 प्रत्यक्ष चित्रण की विधि

4.7.4 सजीव चरित्र सृष्टि

4.8 प्रतिपाद्य

4.9 सारांश

4.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययनोपरांत आप -

- चन्द्रगुप्त' नाटक की कथावस्तु, पात्र योजना और प्रतिपाद्य से अवगत हो सकेंगे ।
- प्रसाद की नाट्यकला की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों के प्रति अपना ध्यान आकर्षित कर सकेंगे।
- भारत के सांस्कृतिक गौरव और जीवन के उदात्त मूल्यों के प्रति जागरूक हो सकेंगे ।
- नाटक में रचनाकार के उद्देश्य किस रूप में फलीभूत हुए हैं, इसकी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

4.1 प्रस्तावना

1931 में प्रकाशित चन्द्रगुप्त प्रसाद की बृहत्तम नाट्य सृष्टि है । प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में 'चन्द्रगुप्त' तीसरा नाटक है । "सिकन्दर का भारत पर आक्रमण, नन्दवंश का समूल विनाश, सिक्खस की पराजय और चन्द्रगुप्त का कार्नेलिया के साथ परिणय इस नाटक की प्रमुख घटनायें हैं, जिन्हें लेकर इस नाटक का कथानक निर्मित हुआ है । इन तीनों घटनाओं के मूल में चन्द्रगुप्त है, जिसे प्रेरणा और निर्देशन चाणक्य से मिलता है । इस नाटक की विषयवस्तु महाकाव्य के उपयुक्त है । प्रसाद जैसा कवि-व्यक्ति ही इतनी बड़ी घटनावली को आधार मानकर, जिसमें मगध से गाधार तक की घटनायें समाविष्ट ई नाटक का निर्माण कर सकता है |" (डॉ. रामसेवक पाण्डेय - प्रसाद की नाट्य कला पृ. 83) प्रस्तुत नाटक की वस्तु में इतिहास के साथ कल्पना का सुन्दर योग है । सम्पूर्ण कथा को चार अंकों में बाँके के प्रयास में लेखक ने विशेष कौशल का प्रदर्शन किया है ।

4.2 कथावस्तु की समीक्षा: मिश्र कथानक

चन्द्रगुप्त नाटक का मूल-आधार ऐतिहासिक है, परन्तु उसमें अनेक ऐसे प्रसंग भी हैं जो लेखक की अपनी कल्पना से प्रसूत हैं अथवा अनेक ऐतिहासिक प्रसंगों को लेखक ने अपनी भावना के अनुसार बदल लिया है । अत: आधार की दृष्टि से चन्द्रगुप्त नाटक का कथानक मिश्र कोटि का कहा जायेगा । नाटक में ऐतिहासिक, काल्पनिक एवं परिवर्तित घटनाओं का विवरण इस प्रकार निश्चित किया जा सकता है -

4.2.1 ऐतिहासिक घटनाएँ

1. भारत पर सिकन्दर का आक्रमण, आम्भीक द्वारा उसकी सहायता, सर्वेश्वर (पुरू या पोरस) के साथ उसका भयंकर युद्ध विशुद्ध ऐतिहासिक घटना है ।
2. एक अनुभवी क्षत्रिय सेनापति के सेनापतित्व में क्षुद्रक और मालव सेनाओं की सम्मिलित शक्ति से सिकन्दर का युद्ध इस युद्ध में सिकन्दर का घायल होकर गिरना आदि भी इतिहास प्रसिद्ध घटनायें हैं ।
3. सिकन्दर का दांड्यायन (दंडमिस) से मइलना, उसकी सेनाओं में असन्तोष तथा उसका जलमार्ग से लौटना आदि भी इतिहास सम्मत है ।
4. मगध सम्बन्धी घटनाओं मे नन्द के अत्याचार, चाणक्य की प्रतिज्ञा, चाणक्य-चन्द्रगुप्त मिलन, नन्दवंश-नाश के लिये पर्वतेशवर की सहायता लेना, नन्द की मृत्यु और चन्द्रगुप्त का सम्राट पद प्राप्त करना इतिहास-प्रसिद्ध है ।
5. चन्द्रगुप्त की दक्षिण विजय, सिक्खस का भारत पर आक्रमण, उसकी पराजय, चन्द्रगुप्त और सित्थूकस सन्धि तथा सित्थूकस की पुत्री से चन्द्रगुप्त का विवाह भी इतिहास द्वारा प्रमाणित है ।

4.2.2 काल्पनिक घटनाएँ

1. तक्षशिला के गुरुकुल मे चाणक्य-चन्द्रगुप्त और सिहरण का मेल और आम्भीक के साथ उनका विवाद काल्पनिक घटना है ।
2. नन्द-सुवासिनी-राक्षस और चाणक्य के प्रेम एवं आकर्षण सम्बन्धी घटना-चक्र, चाणक्य का बन्दी बनना तथा चन्द्रगुप्त द्वारा उसका उद्धार भी लेखक के अपने मस्तिष्क की उपज है ।
3. दाड्यायन की भविष्यवाणी, सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त का पूर्व-परिचय, पर्वतेश्वर द्वारा कल्याणी से विवाह करने से इंकार, चन्द्रगुप्त द्वारा कार्नेलिया की रक्षा, मालव दुर्ग में मालविका और अलका द्वारा सिकन्दर का प्रतिरोध, कल्याणी द्वारा पवर्तेश्वर की हत्या, राक्षस द्वारा कार्नेलिया को पढ़ाया जाना आदि घटनाओं की सृष्टि प्रसाद ने अपनी ओर से की है ।

4.2.3 परिवर्तित घटनाएँ

1. नन्द की सभा में चाणक्य के अपमान का कारण इतिहास प्रसिद्ध श्राद्ध वाली घटना का उल्लेख न करकेप्रसाद ने चन्द्रगुप्त नाटक मे राजनीतिक विवाद को उसके अपमान का कारण बनाया है ।
2. पुरू और पर्वतेश्वर का एकीकरण भी ऐतिहासिक सचाई में परिवर्तन है ।
3. चाणक्य के चरित्र में थोड़ा परन्तु राक्षस के चरित्र में बहुत अधिक परिवर्तन कर दिया गया है ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त' का कथा-पट इतिहास एवं कल्पना के ताने बाने से बुना गया

4.3 प्रासंगिक कथा. कार्यावस्थाये अर्थ-प्रकृतियाँ और संधियाँ

नाटक के मूल उद्देश्य अथवा फल-नन्द कुल का नाश और मौर्य-साम्राज्य की स्थापना-का कथन पहले अंक के पहले और पांचवे दृश्य में है । अत: यह कार्य विकास की ' प्रारम्भ' ' नामक अवस्था कही जायेगी । पहले दृश्य में चाणक्य द्वारा आर्यावर्त्त के सर्वनाश की चेतावनी और चन्द्रगुप्त की शपथ के रूप में "बीज" प्रकृति और "मुख" सन्धि का क्रम आरम्भ होता है । नन्द की सभा में चाणक्य के अपमान की घटना के बाद ' 'प्रयत्न' ' की अवस्था आरम्भ होती है और बीज अंकुरित होकर "बिन्दु" का रूप लेने लगता है तथा ' 'प्रतिमुख' ' सन्धि का उदय होता है । नाटक में चन्द्रगुप्त-चाणक्य और सिंहरण के प्रयत्न-विस्तार के साथ तीसरे अंक तक बिन्दु अर्थ-प्रकृति और प्रतिमुख सन्धि की अनुकूलता-प्रतिकूलता फैली दिखाई देती है । चन्द्रगुप्त द्वार मगध का शासन प्राप्त कर लेने पर ' 'प्रत्याशा' ' होने लगती है । यहाँ सिंहरण और अलका का कथांश ' पताका ' अर्थ-प्रकृति के रूप में मूल कथा के साथ ' 'गर्भ' ' संधि द्वारा जोड़ा गया है । चाणक्य द्वारा अपने बुद्धि कौशल रो सारे आन्तरिक विष्णो को समाप्त

करके आम्भीक को अपने पक्ष में कर लेने के साथ फल-प्राप्ति ' 'नियत' ' सी हो जाती है । इस बीच फिलिप्स, कार्नेलिया, कल्याणी-पर्वतेश्वर तथा मालविका प्रसंग आदि अन्य प्रकार अर्थ-प्रकृतियाँ भी बिखरी दिखाई देती हैं जो "विमर्श" सन्धि के अनुसार क्षणिक अवरोध अथवा सन्देहों को जन्म देती हैं; परन्तु सिन्यूकस की पराजय और चन्द्रगुप्त के साथ उसकी सन्धि की घटना के साथ वस्तु "कार्य" की उस अवस्था को पहुंच जाती है, जां "निर्वहण" सन्धि के संयोग से "फल की प्राप्ति" होती है ।

4.4 संयोजन आक्षेप

इस नाटक का कथानक अपने भीतर पच्चीस वर्षा के इतिहास को लिये है । इसलिये इसमें घटना-बहुलता है । घटनाओं के इस आधिक्य के कारण चन्द्रगुप्त नाटक कुछ आलोचकों को ' 'काल-कोठरी' ' जैसा प्रतीत होने लगता है । "कई अनावश्यक प्रसंगों से यह कथानक बहुत बढ़ा दिया गया है जिसके कारण कथानक में जटिलता आ गई है और उसकी रोचकता भी कम हो गई है । उपकथाओं की भरमार इतनी अधिक है कि मुख्य कथानक का रूप ही हमारी समझ में नहीं आता । सिहरण-अलका का प्रेम, पर्वतेश्वर-कल्याणी कथानक और कल्याणी-चन्द्रगुप्त प्रणय, ये तीनों घटनायें मुख्य कथानक के विकास में किसी प्रकार की सहायता नहीं देतीं ।... कथानक बढ़ जाने के कारण नाटककार से कई अन्य भूलें भी हुई हैं । विशेषत: उपघटनाओं के चित्रण और उपकथानक से सम्बन्ध रखने वाले दृश्यों में । ' उदाहरण के लिए सिल्यूक्स पर चन्द्रगुप्त से षड्यन्त्र करने का आरोप लगाया गया और सिकन्दर न्याय करने बैठा, परन्तु जब चन्द्रगुप्त तलवार चलाता हुआ शिविर से बाहर निकल गया तो उल्टा सिल्यूकस सिकन्दर को पाठ पढ़ाने लगता है और सिकन्दर "अच्छा जाओ ' कहकर बात समाप्त कर देता है । इसी प्रकार मालविका के साथ प्रेमालाप मे मग्न चन्द्रगुप्त को चाणक्य मना करता है, परन्तु चन्द्रगुप्त ' चलिये मैं अभी आया ' कहकर फिर प्रेमालाप मे मग्न हो जाता है ।

2. 'चतुर्थ अंक..... नाटक में अलग से जुड़ा हुआ परिच्छेद सा मालूम होता है. ... चतुर्थ अंक में हमारे लिये कुछ भी आकर्षण नहीं रह जाता और इस अंक की घटनायें फिर से आरम्भ होती हुई मालूम होती हैं?'

3. "इस नाटक में आकस्मिक घटनाओं के प्रति नाटककार का मोह कुछ अधिक दिखाई पड़ता है । " उदाहरण के लिये -

   (क) कल्याणी को सिंह से बचाने के लिए चन्द्रगुप्त सहसा उपस्थित होता है ।

   (ख) पुल के मानचित्र वाले प्रसंग मे अलका की रक्षा के लिए सहसा सिहरण उपस्थित हो जाता है ।

   (ग) मूर्च्छित चन्द्रगुप्त को सिंह से बचाने के लिए अकस्मात् सिल्यूक्स आ जाता है ।

   (घ) अकस्मात् ही चन्द्रगुप्त चाणक्य को बन्दीग्रह से मुक्त करा लेता है ।

इस प्रकार के दृश्यों से कथानक मे अस्वाभाविकता आ गई है और इतने विस्तृत काल के भीतर घटने वाले कार्य व्यापार को एक सूत्रता में बांधने के कारण कथानक मे शिथिलता आ गई है ।

दूसरी ओर डॉ. धनंजय के मतानुसार "चन्द्रगुप्त प्रसाद का अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक, सुगठित ऐतिहासिक वातावरण सम्पन्न नाटक है । "

प्रसाद की दृष्टि नाटकीयता के साथ उद्देश्य की व्याख्या पर भी रही है । अत: इस दृष्टि से विचार करने पर-

1. 'नाटक की मुख्य कथा के साथ प्रासंगिक कथाओं का समापन कुशलता से कराया गया है..... तमाम घटनायें जिनकी नाटक में सार्थकता नहीं सिद्ध की जा सकती, उनके लिये हम अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि नाटकीय उद्देश्य को वे पूरा करती हैं। उदाहरण के लिये अलका का भाई के विरोध में खड़ा होना, सिंहरण की ओर उसका झुकाव, कल्याणी और चन्द्रगुप्त के प्रसंग, सिल्यूक्स और कार्नेलिया के प्रसंग तथा चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का परिणय नाटककार की अपनी उद्भावनायें हैं और सभी एक साथ मिलकर कथानक के विकास में सहायक बनती हैं । ये घटनायें संग्रहित हैं । ऐतिहासिक घटनाओं के साथ जिन काल्पनिक घटनाओं को उन्होंने रखा है, वे सार्थक हैं।'

   नाटक मे हर घटना का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता । बहुत सी घटनायें ऊपरी तौर पर जोड़ी गई या वाहियात सी लगती हैं, पर वैसी होती नहीं, उन के पीछे कोई न कोई अर्थ होता है । प्रसाद के इस नाटक में भी तमाम निरर्थक घटना-प्रसंग लगते है, पर वे वास्तव में किसी न किसी मंतव्य को व्यक्त करते हैं ।

2. 'सभी गौण कथानक प्रधान कथानक के चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं । वे प्रधान कथानक के अंग हो कर आते हैं और उसके प्रवाह को गतिशील बना कर अन्तत: उसी मे समा कर एकाकार हो जाते हैं ।'

4.5 आकर्षक आरम्भ और अंक-विभाजन

'प्रथम दृश्य' ' में ऐसी विशेषताओं का रहना आवश्यक है, जिनकी ओर सामाजिक सहसा आकृष्ट हो जाये । " इस दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' नाटक का आरम्भ बड़ा भव्य है । इस नाटक में दो विशेषतायें ऐसी हैं जो दर्शक अथवा पाठक का मन अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं-

1. तक्षशिला की प्राकृतिक शोभा और सांस्कृतिक महत्ता ।
2. चाणक्य के गम्भीरतापूर्ण संवादों के बाद सिंहरण और चन्दगप्त के ओजस्वी कथन और तलवार की लपक-झपक सामाजिक को एकदम अपनी ओर आकृष्ट करती है और यही प्रमुख नाटकीय भावों मैत्री, प्रेम, विरोध-के स्वरूप देखने को मिल जाते हैं ।

   विशेष विचार - अंको के विभाजन और विषय-विस्तार में प्रसाद के नाटकीय कौशल का परिचय मिलता है । किस अंक को कहीं से आरम्भ करके कही समाप्त करने से

सामाजिक पर अपेक्षित और अधिकाधिक प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है, इसका विशेष विचार उनमें दिखाई पड़ता है । इस दृष्टि से निम्नलिखित विशेषताएँ 'चन्द्रगुप्त' के अंक विभाजन में देखी जा सकती हैं :-

1. अंक के आरम्भ में प्रधान विषय का उद्घाटन ।
2. आवश्यक उतार-चढ़ाव के साथ कथा का विकास ।
3. चमत्कारपूर्ण और प्रभावशाली अन्त ।

प्रथम अंक के आकर्षक आरम्भ के बाद दाड्यायन की भविष्यवाणी के साथ पहले अंक की समाप्ति, दूसरे अंक के आरम्भ में कामासक्त फिलिप्स द्वारा कार्नेलिया पर बल प्रयोग के कौतूहल पूर्ण आरम्भ के बाद अन्त में चन्द्रगुप्त के उत्कर्ष की स्थापना और तीसरे अंक के आरम्भ में राक्षस को नन्द-विरोधी बनाकर एक नई जिज्ञासा को जन्म देकर चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के साथ लेखक ने उसे समाप्त किया है । चौथा अंक भी कल्याणी द्वारा पहले पर्वतेश्वर की हत्या और फिर आत्महत्या के स्तब्धकारी वातावरण से आरंभ होता है और समस्त विध्नों की समाप्ति तथा चन्द्रगुप्त -कल्याणी परिणय के साथ समाप्त होता है । यह सब प्रसाद के उपर्युक्त विशेष विचार और कौशल का प्रतीक है ।

4.5.1 अंक संख्या और सूच्यांश

'चन्द्रगुप्त ' नाटक में चार अंक और चवालीस दृश्य इस क्रम से है:-

(क) पहले अंक में ग्यारह दृश्य ।

(ख) दूसरे अंक में दस दृश्य ।

(ग) तीसरे अंक में नौ दृश्य ।

(घ) चौथे अंक में चौदह दृश्य ।

इस दिशा में आलोचकों ने दो आक्षेप किये है :-

(क) चार अंको की योजना के विचार से दृश्यों की अधिकता है और

(ख) अंकों के ' गोपुच्छ सदृश ' नियम के अनुसार अंको का आकार उत्तरोत्तर छोटा होना चाहिए था,

वास्तव में इस नाटक को पाँच अंकों का बनाना चाहते थे, परन्तु इसका रूप स्थिर नहीं हो पाया था और रचना छप गई । निःसन्देह नाटक में दृश्यों की संख्या अधिक और निरर्थक है । प्रसाद ने स्वयं नाटक के दूसरे संस्करण में कुछ परिवर्तन करके दृश्यों की संख्या कुछ कम की है । फिर भी नाटक में कई दृश्य ऐसे हैं जो हटाये जा सकते हैं अथवा मिलाये जा सकते हैं । उन्हें सूच्य रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है । जैसे-

पहले अंक का - तीसरा दृश्य

दूसरे अंक का - पाँचवां, छठा, सातवीं और आठवीं दृश्य ।

तीसरे अंक का - पहला दृश्य ।

चौथे' अंक का - दूसरा, चौथा, सातवाँ और चौदहवीं दृश्य ।

"वस्तुत: इन दृश्यों को सूच्य बना देने से नाटक में विशेष गठन उत्पन्न हो जाता है ।" डॉ. जगन्नाथ शर्मा के अनुसार चाणक्य के क्रुद्ध होकर चले जाने और सिंहरण द्वारा उसका अनुसरण करने की घटना के साथ चौथे अंक को समाप्त किया जा सकता था और सिल्यूक्स अभियान संबन्धी व्यापार से पाँचवीं अंक पूर्ण हो सकता था ।

4.6 चतुर्थ अंक का औचित्य

'चन्द्रगुप्त' नाटक के चौथे अंक को लेकर प्रसाद साहित्य के अध्येताओं में बड़ा विवाद है । ब्रजरत्नदास के अनुसार "सिकन्दर तथा सिल्यूक्स - दोनों ही पर चन्द्रगुप्त को विजेता दिखाने का लोभ नाटककार छोड़ नहीं सके और यही कारण है कि अभिनय की दृष्टि से बहुत बड़ा नाटक हो जाने पर, उसे बहुत कुछ संक्षेप करने पर भी चार अंक और चवालीस दृश्य देने पड़े हैं । ' राजेश्वर प्रसाद अर्गल को तो यह "नाटक में अलग से जुडा हुआ परिच्छेद सा मालूम होता है '; परन्तु साथ ही वे मानते हैं कि ' वह विषय के अनुकूल अवश्य है । ' वास्तव में चौथे अंक से ' नाटक के सौन्दर्य में वृद्धि हुई है । नाटकीय भाव-सृष्टि के लिये इस अंक का महत्व है । इसे नाटक से निकाल दिया जाये तो नाटक का प्रभाव क्षीण हो जायेगा । जितनी प्रभावात्मकता इस अंक से बनती है, उतनी शेष अंको से नहीं ।' '

'तात्पर्य यह कि ऐतिहासिक वातावरण में कथानाक को सुगुंफित कर प्रसाद ने नाटकीय योजना की उत्कृष्टता का परिचय दिया है ।

4.7 पात्र संरचना

पात्रों की योजना में जयशंकर प्रसाद को पर्याप्त सफलता मिली है । डॉ. जगदीशचन्द्र जोशी ने प्रसाद के पात्रों का वर्गीकरण करते हुए उन्हें दो भागों में बाँटा है - काल्पनिक और ऐतिहासिक । ऐतिहासिक पात्र भी दो प्रकार के हैं - (1) जिनके नाम और चरित्र इतिहास में उपलब्ध हैं, और (2) जिनका उल्लेख भर इतिहास में मिलता है ।

इसी प्रकार काल्पनिक पात्रों के भी दो प्रकार हैं :-

(1) पूर्णत: काल्पनिक और (2) सांकेतिक नायक चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिकन्दर, सिल्यूक्स और आम्भीक आदि ऐतिहासिक पात्र हैं इनके चरित्रों में विशेष परिवर्तन नहीं है । इस नाटक में चन्द्रगुप्त का चाणक्य से अलग स्वतन्त्र व्यक्तित्व और सौन्दर्य प्रियता ज्ञात इतिहास से विशेष है । इसी प्रकार चाणक्य की संवेदनशीलता अतिरिक्त उद्भावना है, परन्तु इनसे इतिहास की कोई क्षति नहीं हुई और चरित्र अति मानवीय बन गये हैं । सिकन्दर, नन्दा, सिल्यूक्स तथा आम्भीक को उनके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही रखा गया है ।

प्रसाद के नाटकों में कुछ चरित्र ऐसे भी हैं, जिनके ऐतिहासिक स्वरूप में अपनी नवीन कल्पना द्वारा उन्होंने महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया है । उदाहरण के लिये पर्वतेश्वर

और पर्वतक का एकीकरण करके पर्वतेश्वर शुरू) के चरित्र को इतना लांछित कर दिया है कि वह किसी भी प्रकार गले से नीचे नहीं उतरता । कुछ इसी प्रकार का परिवर्तन राक्षस के चरित्र में भी है ।

प्रसाद के नाटकों में कुछ ऐसे पात्र भी है, जिनका उल्लेख भर ही इतिहास में मिलता है।'चन्द्रगुप्त' नाटक में कार्नेलिया और कल्याणी ऐसे ही चरित्र है, जिनके नाम ऐतिहासिक नहीं, प्रसाद के अपने हैं, परन्तु उनका उल्लेख इतिहास में अवश्य है । इन चरित्रों की किसी प्रकार की विशिष्टताओं का इतिहास को पता नहीं । नन्द पुत्री का चन्द्रगुप्त से प्रेम और सिल्यूक्स की पुत्री से चन्द्रगुप्त का विवाह ऐतिहासिक प्रसंग अवश्य है, परन्तु इतिहास में उनका उल्लेख या तो नाम रहित हुआ है, अथवा भिन्न नामों से । इसका जो भी चारित्रिक विकास हुआ है, प्रसाद की अपनी कल्पना का परिणाम है, परन्तु वह इतिहास के साथ घुला-मिला है ।

4.7.1 चरित्र-शिल्प

प्रसाद के काल्पनिक पात्र गौरवशाली और महान् हैं । इन चरित्रों को प्रसाद ने इतिहास के अनुरूप बनाया है । वास्तव में इनके बिना ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों के बीच के शून्य और रिक्त स्थान को भरा नहीं जा सकता था । इसलिये इनकी उद्भावना हुई है । इस दृष्टि से सिंहरण अलका, मालविका और सुवासिनी के पात्र सुनियोजित हैं । देश-भक्ति और अपने प्रणय की मर्यादा की रक्षा करते हुए इन्होंने अपने कर्तव्य का पूर्ण निर्वाह किया है । चरित्र-शिल्प के अन्दर चरित्र-चित्रण की वे सभी विधियों आ जाती हैं, . जिससे कथावस्तु गतिशील होती है । सफल नाटककार चरित्रों के स्वाभाविक संस्कार और परिस्थितियों में सन्तुलन स्थापित करता है; पात्रों के मूल संस्कारों को अनुकूल परिस्थितियों में विकसित होने का अवसर देता है, जिससे उनमें आने वाले परिवर्तन आकस्मिक न जान पड़े । उदाहरण के लिये शान्त और सरल जीवन व्यतीत करने के संस्कार चाणक्य में आरम्भ से ही हैं । वह राज्य की भलाई-बुराई से दूर रह कर अपनी वृत्ति प्राप्त करके ही सन्तुष्ट रहना चाहता है, परिस्थितियों से विवश होकर उसे राजनीति में प्रवेश करना पड़ा, परन्तु अपने उद्देश्य की पूर्ति के तुरन्त बाद वह राजनीतिक रंगमंच से अलग होकर काषाय ग्रहण कर लेता है । आरम्भ में जिस संस्कार की सूचना मिलती है, अन्त में वह अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है । इसी प्रकार चन्द्रगुप्त और सिहरण आरम्भ से ही शस्त्र-व्यवसायी हैं और उनका चारित्रिक विकास निरन्तर इसी दिशा में हुआ है ।

4.7.2 पात्रों का द्वन्द्

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में द्वन्द्व को बहुत महत्व दिया गया है, और जिस समय प्रसाद ने नाटक क्षेत्र में प्रवेश किया उस समय ' 'पश्चिमी नाटकों की अभिनय कला अपनी जीवन शक्ति का जादू डाल रही थी । ' इसलिये उनके नाटकों में यूरोपीय ढंग का

संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व भी देखने को मिलता है । डॉ. दशरथ ओझा के शब्दों में ' 'प्रसाद के नाटकों में घटनायें पूर्व निर्दिष्ट पथ पर नहीं चलती, प्रत्युत परिस्थिति और प्रकृति के अनुसार स्वाभाविक मार्ग बनाती चलती हैं । उनमें आरोहावरोह होता है । अत: धारा कभी वेगवती हो जाती है और कभी मन्धर गति वाली । घटनाओं में कहीं युद्ध का कोलाहल है तो कहीं शान्ति, कहीं संकीर्णता, क्रोध, ईर्ष्या और हत्या है तो कहीं औदार्य, क्षमा, प्रेम और सेवा' ' ।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में संघर्ष का आरम्भ नाटक के प्रथम दृश्य में ही हो जाता है । "शीघ्र ही भयानक विस्फोट होगा" तथा "एक अग्निमय गन्धक का स्रोत आर्यावर्त्त के लौह-अस्त्रागार में घुस कर विस्फोट करेगा ' इत्यादि कथन तथा अलका द्वारा भाई के विरोध में खड़े हो जाने की घटना के साथ संघर्ष का सूत्रपात होता है और इसके बाद नाटक में अनेक अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं एवम् संघर्ष का विकास होता है । बीच में चाणक्य का क्रोध, नंद, पर्वतेश्वर, मालविका, फिलिप्स आदि की हत्या, राक्षस का द्वेष, कल्याणी का प्रतिशोध संघर्षमूलक घटनायें हैं तो दूसरी ओर सिकन्दर-पर्वतेश्वर की मित्रता, क्षुद्रको और मालवों का सहयोग, आम्भीक का हृदय-परिवर्तन, चाणक्य की सुवासिनी विषयक उदारता, अन्त में सिल्यूक्स-चन्द्रगुप्त-सन्धि तथा चन्द्रगुप्त-कार्नेलिया परिणय जैसा अनुकूल एवं शान्तिकार परिस्थितियाँ भी नाटक में हैं । ' 'घटनाओं को एक बिन्दु पर लाकर परिणाम निकालना, संघर्षों का विनियोग, एक स्तर से दूसरे स्तर पर ले जा कर चरित्रों का अन्तर्द्वन्द्व प्रदर्शित करना, स्थितियों को अपने लक्ष्य के अनुसार घटित कराना' ' आदि सभी कार्यो में नाटककार ने अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है ।

अन्तर्द्वन्ह का सम्बन्ध अधिकतर पात्रों से होता है । मनुष्य के मन में सत्-असत् प्रवृत्तियों का संघर्ष होता है, परिस्थितियों के प्रति अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रिया होती हैं । इससे कथा में द्वन्द्व का सृजन होता है । ' चन्द्रगुप्त में ये दोनों ही द्वन्द्व साथ-साथ चलते हैं । यद्यपि कथा में संघर्ष का सूत्रपात आरम्भ में ही हो जाता है, परन्तु उसका वास्तविक आरोपण चाणक्य के उस अन्तर्द्वन्द्व द्वारा होता है, जहाँ मन ही मन उबलता हुआ कहता है - "पिता का पता नहीं, झोपड़ी भी नहीं रह गई, सुवासिनी अभिनेत्री हो गई -सम्भवत: पेट की जाला से । एक साथ दो-दो कुटुम्बों का सर्वनाश और कुसुमपुर फूलों की सेज में ऊँघ रहा है । मगध! मगध! सावधान! सहना असम्भव है! तुझे उलट दंगा, नया बनाऊँगा; नहीं तो नाश ही करूँगा ... ... मुझे राष्ट्र की भलाई बुराई से क्या?' 'नंद सभा में चाणक्य के अपमान की घटना ने उसके मन में जिस भयंकर प्रतिशोध की भावना को जन्म दिया उसी का परिणाम है नन्दवंश के उन्मूलन की प्रतिज्ञा । बन्दी बना लिये जाने पर चाणक्य के मन का द्वन्द्व द्रष्टव्य है - ' 'परन्तु मन में इतने संकल्प और विकल्प? एक बार निकल पाता, तो दिखा देता कि इन दुर्बल हाथों में साम्राज्य पलटने की शक्ति है और ब्राह्मण के कोमल हृदय में

कर्त्तव्य के लिये प्रलय की आँधी चला देने की कठोरता है । क्या रोने लगूँ? इस निशूर यंत्रणा की कठोरता से बिलबिलाकर दया की भिक्षा माँग - नहीं चाणक्य! ऐसा न करना ..... । ' यहाँ चाणक्य ने प्रतिज्ञा की थी कि क्षमा किसी को नहीं करूँगा, परन्तु उसने सिकन्दर, सित्थूकस, मौर्य सेनापति और राक्षस सबको क्षमा किया । मगध का साम्राज्य स्थापित हो जाने पर सुवासिनी को लेकर उस विजन-बालुका-सिन्धु में फिर सुधा की एक लहर दौड़ी थी, परन्तु उन सबको भूलकर वह कहता है "..... और, मैं, अभ्यास करके तुमसे उदासीन हो सकता हूँ..... मानव हृदय में भाव-सृष्टि तो सबको त्याग करनी चाहिए । ' कोमलता और कठोरता, दण्ड और क्षमा के द्वन्द्व का कितना महिमा-मण्डित उदाहरण है यह ।

सत् असत् प्रवृत्तियों की दृष्टि से विचार करने पर चन्द्रगुप्त सत् प्रवृत्तियों से प्रेरित एक ऐसा चरित्र है जो अपने आचरण और व्यक्तित्व की निर्मलता द्वारा दुष्टों को भी घात-प्रतिघात के गर्त से निकाल कर पावन मानव भूमि पर. ला खड़ा करता है, यद्यपि एक-दो जगह नाटककार ने कुछ मनोवैज्ञानिक झटके उसे भी दिये हैं ।

आम्भीक असत् प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाला वह पात्र है जो अनुकूल परिस्थितियों में ऊधम मचाता है, अपने कुसंस्कारों से विवश होकर जघन्य कुकर्म कर डालता है, परन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना नहीं कर पाता और अन्त में उसके चरित्र में विषम परिवर्तन हो जाता है ।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में पात्र एक ही मार्ग पर चलते हुए भी अपने मन के द्वन्दु के कारण लड़खड़ाते से चलते हैं । वृद्ध गान्धार नरेश अपनी व्यथा-गाथा अपने शब्दों में ही इस प्रकार व्यक्त करते हैं ' बूढ़ा हो चला, परन्तु मन बूढ़ा न हुआ.... आम्भीक उसका पथ कुटिल है..... पर उन्नति के शिखर पर नाक के सीध चढ़ने में बड़ी कठिनता है । '

पर्वतेश्वर के मन में भी एक तीव्र अंधड़ है, "आह कैसा अपमान! सो भी एक स्त्री के द्वारा और सिकन्दर, के संकेत से । प्रतिशोध! रक्तपिशाची प्रतिहिंसा अपने दाँतों से नसों को नोच रही है । मरूँ या मार डालूँ । मारना तो असम्भव है । तो फिर जी कर क्या करूँगा '

कल्याणी के हृदय का करूण-क्रन्दन उसके अपने ही शब्दों में स्पष्ट सुनाई देता है - "मगध की राजकुमारी आज अपने ही उपवन में बन्दिनी है । मैं वही तो हूँ जिसके संकेत पर मगध का राज्य चल सकता था । वही शरीर है, वही रूप है, वही हृदय है, पर छिन गया अधिकार और मनुष्य का मानदण्ड ऐश्वर्य । तब तुलना में सब से छोटी हूँ जीवन लज्जा की रंगभूमि बन रहा है । तो जब नन्द कुल का कोई न रहा, तब तक बच कर क्या करेगी । " उसके द्वन्दु में चन्द्रगुप्त की छवि भी अटकी हुई है । इसीलिए तो वह मरने का निश्चय करके भी सोचती है, ' 'नहीं, जीवन इतना सस्ता नहीं- अहा, देखो वह मधुर आलोक वाला चन्द्र ।"

मालविका का चरित्र तो आदि से अन्त तक अन्तर्द्वन्द्व का उदाहरण है । सुवासिनी के मन में भी चाणक्य को लेकर बहुत हलचल है, यहां तक कि पुत्री को बन्दिनी के रूप में देखकर नन्द जैसे व्यक्ति का हृदय भी चीख उठता है ।

इस प्रकार चन्द्रगुप्त नाटक के सभी पात्रों में आशा-निराशा, प्रेम-घृणा, युद्ध-शांन्ति, कर्त्तव्य-भावना आदि का एक तुमुल संघर्ष दिखाई देता है, परन्तु अन्त में जाकर यह सारा द्वन्द - अन्त: और बाहय - शान्त भी हो जाता है । पात्रों के साथ दर्शक अथवा पाठक भी एक करूण-शान्ति-जल की शीतलता अनुभव है ।

नाटक के प्रत्येक पात्र को अपनी योग्यता और नाटकीय मर्यादा के अनुसार रंगमच पर आने और कथोपकथन के उचित अवसर मिलने चाहिये । चन्द्रगुप्त में चाणक्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण पात्र है, अत: उसको बहुत स्थान भी मिला है । कार्नेलिया और मालविका, दो ऐसे पात्र हैं, जिन्हें अधिक अवसर मिलने चाहिए थे, परन्तु नहीं मिल पाये । कार्नेलिया की तो स्थिति ही ऐसी है कि कथा की प्रकृति को देखते हुए उसे बीच में कहीं लाया नहीं जा सकता थी, परन्तु मालविका के मूक-बलिदान और त्याग को देखते हुए उसके चरित्र को विकसित होने के लिये अधिक अवसर मिलने चाहिये थे,परन्तु ऐसा नहीं हुआ ।

4.7.3 प्रत्यक्ष चित्रण की विधि

शिल्प की दृष्टि से नाटक में चरित्र के प्रत्यक्ष चित्रण की विधि अधिक श्रेष्ठ समझी जाती है । प्रसाद ने इस नियम का पालन किया है । अधिकतर पात्र अपने क्रिया-कलाप और कथन आदि से ही अपनी चरित्रगत विशेषताओं का उद्घाटन करते हैं । "किसी अनुपस्थित पात्र का परिचय कराने के लिये दूसरे पात्रों का प्रयोग प्रसाद जी ने बहुत कम किया है । "

4.7.4 सजीव चरित्र सृष्टि

'चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रसाद जी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके पात्र नाटककार के विचारों की छायामात्र नहीं रह गये है । उन्हें स्वतन्त्र व्यक्तिव प्राप्त है ।..... ..इसलिये उनकी चरित्र-सृष्टि सजीव हो उठी है । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार ' प्रसाद का सरल पक्ष चरित्र निमार्ण का है । उन्होंने इस क्षेत्र में अपनी अद्वितीय साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया है । उनकी चरित्र-सृष्टि में स्थिर व चल दोनों प्रकार के प्रतिनिधि है । स्थिर चरित्रों के गुणों का उभार बदलती हुई परिस्थितियों और प्रक्रियाओं के फलस्वरूप होता है, किन्तु चल-चरित्रों में सीधे घातु-प्रतिघात की आवश्यकता होती है । "

नाटककार के चरित्र-कौशल का सबसे पड़ा प्रमाण मानवीय पात्रों का चरित्र-चित्रण है । ऐसे पात्रों के चरित्र-चित्रण के अन्तर्द्वन्द्व और सबल-निर्बल पक्षों को उभार कर उनमें

सन्तुलन तथा सामंजस्य स्थापित करने में नाटककार की कुशलता है । ' 'प्रसाद मानवीय चरित्र के चित्रण में हिन्दी साहित्य के अप्रतिम कलाकार है । "

नाटक में रसानुकूल पात्र-योजना की दृष्टि से विचार करने पर चन्द्रगुप्त, सिहरण, अलका, कार्नेलिया आदि पात्र इस नाटक के अंगी एवं पोषक रस-वीर और श्रृंगार का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा चाणक्य नियामक रस शान्त का ।'

4.8 प्रतिपाद्य

चन्द्रगुप्त का प्रकाशन सन् 1931 में हुआ । इससे पूर्व प्रथम महायुद्ध होकर चुका था, जिसमें विश्व संस्कृति के विनाश का दृश्य उपस्थित हो गया था । उसकी लपट भारत तक भी पहुँची थी । भारत में ब्रिटिश शासक अपना पंजा कसते जा रहे थे, परन्तु बंग-भंग की घटना के बाद स्वराज की माँग की लहर भी देश में दौड़ गई थी । अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रति लोगों में सम्मान-भाव जाग उठा था । साहित्य में भी अतीत गौरव और जागरण के स्वर मुखरित होने लगे थे । ऐसे समय में प्रसाद ने प्राचीन इतिहास की उन विभूतियों को रंगमंच पर ला खड़ा किया जो वर्तमान को प्रेरणा दे सकती थीं । मौर्य-कालीन कथानक को लेकर प्रसाद ने अपने युग को साकार कर दिया । सिकन्दर के माध्यम से जहाँ उन्होंने ब्रिटिश सत्ता का अंकन किया, वहाँ ब्राहाण-बौद्ध संघर्ष के द्वारा तत्कालीन साम्प्रदायिकता और खण्डित राष्ट्रीयता का चित्र उपस्थित किया । चाणक्य उस समय के बौद्धिक नेतृत्व (Intellectual Leadership) गांधी आदि का प्रतीक कहा जा सकता है और सिंहरण अलका क्रान्तिकारी देश-दीवानों के । डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का कथन वास्तव में बड़ा सटीक है - ' 'चन्द्रगुप्त में जिस प्रकार राष्ट्रीय जागरण का चित्रण उन्होंने किया और उसका जैसा विस्तार संगठित हुआ है, उसके मूल में आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप झलकता है । आर्य-पताका लेकर जो अलका देश प्रेम की अलख जगाती फिरती है, उसमें आधुग्नइकता का सच्चा रूप दिखाई पड़ता है । चाणक्य, सिंहरण और चन्द्रगुप्त के बीच जिस राष्ट्रीय भावना की चर्चा होती है, उसका भी यही रूप है । पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी जो इतना अधिक देशव्रत का संकल्प लिये दिखाई पड़ती है तथा पुरुषों की चिरसंगनी बन कर उनके उद्योग में योग दे रही हैं उसके मूल में भी वर्तमान युग की प्रवृत्ति ही है । बौद्ध-वैदिक धर्मों की ओट में जो नन्द की मूर्ख प्रजा नचाई जा रही है, वह हिन्दू-मुसिल्म भेद-भाव का अच्छा चित्रण है ।''

समग्र राष्ट्र को एक सुगठित तथा लोकप्रिय शासन के अधीन रखने की भावना का विकसित रूप चन्द्रगुप्त में प्राप्त है । धर्म और सम्प्रदायों की संकुचित मनोवृतियों का त्याग कर उदारता अपनाने से ही राष्ट्र स्वतन्त्र रह (हो) सकेगा तथा अपने गौरव और सांस्कृतिक सौष्ठव की रक्षा में समर्थ ' हो सकेगा । चन्द्रगुप्त' के रचनाकाल में भारत को इस प्रकार के विचारों और भावों के जन जन में प्रचार की परम आवश्यकता थी । समस्त देश में स्वतन्त्रता की लपटें. फैल चुकी थीं । विदेशी शासकों की ओर से सतत्

चेष्टा हो रही थी कि देश संगठित न होने पावे । वे भिन्न सम्प्रदायों में 'विभाजन नीति को प्रोत्साहन दे रहे थे । सभी धर्म-सम्प्रदाय अपने सीमित अधिकारों की रक्षा के प्रयत्न में लीन थे । ऐसे वातावरण में चाणक्य का यह वाक्य - "सच है बौद्ध अमात्य, परन्तु यवन आक्रमणकारी बौद्ध ब्राह्मण का भेद न रखेंगे बहुत ही उपयोगी और राष्ट्र-प्रेम के लिये आवश्यक था । '

'गांधी ने विदेशी बहिष्कार के समय कहा था कि हमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद से घृणा हो सकती है, ब्रिटेन या अंग्रेजों से नहीं । उन्हें हम प्रेम से जीतेंगे और इस संघर्ष में हमारा अस्त्र होगा अंहिसा । यह उक्ति स्वत: ही हमारा ध्यान चाणक्य की उस महान राजनीतिक विजय की ओर आकृष्ट करती है जिसमें सिकन्दर भारत छोड़कर गया अवश्य, परन्तु भारत से मैत्री का हाथ बढ़ाकर, सिल्यूक्स हारकर यूनान लौटा सही किंतु भारत को कार्नेलिया के स्नेह बन्धन में बाँधकर । ..... ''भारतीय युद्ध करना जानते हैं, द्वेष नहीं ' इन शब्दों में प्रसाद ने भारत के राजनीतिक भविष्य को देख लिया था ।

'चन्द्रगुप्त' में अखण्ड राष्ट्रीयता का दिव्य सन्देश है । ' तुम मालव हो और यह मागध यही तुम्हारे मान का अवसान है न? मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा । क्या तुम नहीं देखते कि आगामी दिवसों में आर्यावर्त्त के सब स्वतन्त्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे?' ' चाणक्य का यह कथन देश की अखण्ड राष्ट्रीयता का उद्घोष है । चाणक्य सारे जीवन अखण्ड और निर्विघ्न आर्य साम्राज्य की स्थापना के भगीरथ-प्रयत्नों में लगा रहा । निःसन्देह प्रादेशिक प्रेम की अधिकता और संकीर्णता से राष्ट्र की रक्षा नहीं हो सकती ।

राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता सदा ही रहती है । 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य के प्रयत्नों से यह एकता की भावना समस्त राष्ट्र में व्याप्त हो गई । क्षुद्रक, मालव, यौधेय गणतन्त्रों को मिलाकर दक्षिण में स्वर्णगिरि तक चन्द्रगुप्त ने एक आर्य साम्राज्य की स्थापना की । सिंहरण अलका से कहता है - ' मेरा देश मालव नहीं, गांधार भी है । यही क्या समग्र आर्यावर्त्त है । ' और ' 'जिस देश में ऐसे वीर युवक हों; उसका पतन असम्मव है । सिंहरण से प्रभावित अलका ' 'मैं भी आर्यावर्त्त की बालिका हूँ ' की भाषा बोलने लगती है; बल्कि बाद में तो वह बड़े विश्वास के साथ देश की एकता का सन्देश देती हुई कहती है - ' राज्य किसी का नहीं है वह सुशासन का है -भाई, तक्षशिला तुम्हारी नहीं, और हमारी भी नहीं है । तक्षशिला आर्यावर्त्त का एक भू-भाग है, वह आर्यावर्त्त की होकर रहे, इसके लिए मर मिटो । "चन्द्रगुप्त' में राष्ट्रीय एकता का प्रतिपादन करने. वाले इस प्रकार के अनेक सन्देश हैं ' ।

'चन्द्रगुप्त के प्रमुख पात्रों का चरित्रांकन भी इस अखंड एक राष्ट्रीय भावना के आधार पर ही हुआ है । चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण अलका और मालविका के इसके प्रमाण हैं । ये चरित्र अपने आप में राष्ट्रीय एकता के प्रतीक हैं ।

'प्रसाद की राष्ट्र भावना आग्रह-विहीन है । उसमें न अनुकरण की प्रवृति है और न कहीं आबद्धता है । मुक्त हृदय से अलका जैसे चरित्रों का निर्माण किया, जो प्रत्येक अवस्था में अपना कर्त्तव्य पूरा करती है । मालव युद्ध में वह धनुष चढ़ाकर तीर मारती है और यवन सैनिकों के मार्ग में विध्न पैदा करती है । वह तक्षशिला के नागरिकों में राट्रीयता का मंत्र फूँकती है । वह नागरिकों के स्वर में स्वर मिलाकर गाती है-

हिमाद्रि तुंग मृग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्जवला, स्वतन्त्रता पुकारती
"अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है - बढ़े चलो, बढ़े चलो।"

वस्तुत: अलका के स्वर में समस्त भारत की वाणी गूँज रही है ।

पात्रों के मुख से भारत की स्तुति और उसके प्रति प्रेम भाव की अभिव्यक्ति करा कर भी प्रसाद ने राष्ट्रीय भावना को ही प्रकट किया है । अलका कहती है -- ' 'मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं, मेरी नदियाँ और मेरे जंगल हैं । इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं । मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं से बने है ।

कार्नेलिया एक ओर तो ' यही के श्यामल कुंज, घने जंगल । " इत्यादि पंक्तियों में भारत की प्रशंसा करती है और दूसरी ओर इस गीत द्वारा उसका स्तुति गान करती है-

"अरूण यह मधुमय देश हमारा ।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा । "

"प्रसाद की राष्ट्रीयता में क्षमा और उदारता को बहुत महत्व दिया गया है । उनकी राष्ट्रीयता साधारण प्रचलित अर्थ से अधिक व्यापक और प्रशस्त है । राष्ट्रीय आदर्श में धर्म और क्षमा के भाव अन्तर्निहित हैं । शत्रु पर शस्त्र द्वारा विजय प्राप्त कर लेने मात्र से ही राष्ट्रीय आदर्श की रक्षा नहीं होती है । शत्रु के हृदय को उदारता और त्याग से जीतना प्रसाद की राष्ट्रीयता का लक्ष्य है । सब के अधिकारों की रक्षा का भाव राष्ट्रीय आदर्श की सीमा के अन्दर है । भारतवर्ष केवल अपने सुख और शान्ति से ही सन्तुष्ट नहीं वरन् उसके राष्ट्रीय आदर्श में सभी राष्ट्रों की स्वाधीनता और उनके सुख तथा समृद्धि की कामना है । प्रसाद ने इस उदात्त आदर्श को विविध स्थलों पर व्यक्त किया है । "

इस सारे विवेचन के प्रकाश में कहा जा सकता है कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन चन्द्रगुप्त पर चरितार्थ होता है कि ' उनके (प्रसाद के) पात्र मृत अतीत के दिग्दर्शक नहीं हैं । वर्तमान के लिए भी वे सन्देश लाए हैं । " इसके अतिरिक्त डॉ. दशरथ ओझा ने भी चन्द्रगुप्त के विषय में ठीक ही कहा है कि ' प्रसाद जी जिस प्रवृत्ति और उद्देश्य को लेकर नाटक-निर्माण में तल्लीन हुए थे, उसका चरम उत्कर्ष चन्द्रगुप्त नाटक में प्रकट होता है । "

4.9 सारांश

चन्द्रगुप्त नाटक प्रसाद की नाट्य कृतियों में एक महत्वपूर्ण रचना है । इस रचना में न केवल विस्तार का आयाम है अपितु गहराई, नाट्य कौशल तथा कथानक के तार्किक विन्यास के भी दर्शन होते हैं । प्रसाद जी ने भारतीय इतिहास के अतीत में जाकर पर्याप्त अनुसंधान के द्वारा नाटक की कथावस्तु को उभारा है । उसमें इतिहास और कल्पना का समन्वय कर नाटक की प्राण प्रतिष्ठा की है । प्रसाद जी मानव मनोविज्ञान के गहरे जानकार थे, यही कारण है कि उनके नाटकों की पात्र योजना विविधता, अनेकरूपता एवं अन्तर विरोधों से युक्त है साथ ही रचनाकार की दृष्टि से प्रमुख पात्र एवं गौण पात्रों के वर्गीकरण के आधार पर रचना के अन्तर्गत उनकी स्थिति को भी रेखांकित करते हैं । ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रसाद का नाट्यविधान और खास 'तौर से उनकी चरित्र योजना बहुरंगी कही जा सकती है ।

प्रसाद मूलत: एक सांस्कृतिक चेतना के रचनाकार थे, उन्होंने सांस्कृतिक मूल्यों को उभारकर अपनी नाट्य रचनाओं में सांस्कृतिक गौरव की सृष्टि की है । चन्द्रगुप्त नाटक में भी प्रसाद जी द्वारा निर्मित भारत एक सांस्कृतिक गौरव के दर्शन होते हैं । संक्षेप में, प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त नाटक का यह प्रतिपाद्य है ।

4.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'चन्द्रगुप्त नाटक की कथावस्तु को ध्यान में रखते हुए सिद्ध कीजिए कि उसकी सब घटनाएँ संग्रहित हैं और यह प्रसाद का 'अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक तथा सुगठित नाटक है ।
2. 'कई अनावश्यक प्रसंगों से यह कथानक बहुत बढ़ा दिया गया है, जिसके कारण कथानक में जटिलता आ गई है । चन्द्रगुप्त नाटक के कथानक के संदर्भ में इस कथन की परीक्षा कीजिए ।
3. चन्द्रगुप्त नाटक में बहिर्द्वन्ह और अन्तर्द्वन्द्व के समन्वय का परिचय देकर उसके चरित्र शिल्प पर प्रकाश डालिए ।
4. 'प्रसाद के नाटकों में एक अतीत जीवित बोल रहा है और वर्तमान के प्रति उसमें एक सन्देश है । 'चन्द्रगुप्त से उदाहरण देकर इस कथन की परीक्षा कीजिए ।
5. 'प्रसाद जिस प्रवृत्ति और उद्देश्य को लेकर नाटक-निर्माण में तल्लीन हुए थे उसका चरम उत्कर्ष 'चन्द्रगुप्त नाटक में प्रकट होता है । सप्रमाण विवेचन कीजिए ।

4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ. रामसेवक पाण्डेय; प्रसाद की नाट्यकला
2. डी. जगदीशचन्द्र जोशी; प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक
3. (सं. डी. इन्द्रनाथ मदान); जयशंकर प्रसाद
4. डी. रामप्रसाद मिश्र; प्रसाद. आलोचनात्मक सर्वेक्षण

5. डी. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा; प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन
6. आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी; जयशंकर .प्रसाद
7. डी. सोमनाथ गुप्त; हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास
8. डी. शिवनाथ; हिन्दी नाटकों का विकास
9. जगदीश नारायण दीक्षित; प्रसाद के नाटकीय पात्र
10. डी. दशरथ ओझा; हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास

इकाई-5 धरमवीर भारती की नाट्य दृष्टि और नाट्य साहित्य

इकाई की रूपरेखा -

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 नाटक और रंगमंच

5.3 गीति नाट्य की परिभाषा

5.4 गीति नाट्य परम्परा

5.5 अंधायुग: यथार्थवाद और अस्तित्ववदि

5.6 अंधायुग

- 5.6.1 अंधायुग की कथावस्तु
- 5.6.2 चरित्रांकन
- 5.6.3 प्रतीक विधान
- 5.6.4 संवाद
- 5.6.5 भाषा
- 5.6.6 मूल्यांकन

5.7 भारती कृत महत्वपूर्ण एकांकी

- 5.7.1 नदी प्यासी थी
- 5.7.2 नीली झील
- 5.7.3 आवाज का नीलाम
- 5.7.4 संगमरमर की एक रात
- 5.7.5 सृष्टि का आखिरी आदमी

5.8 सारांश

5.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

5.10 सन्दर्भ ग्रंथ

5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप नई नाटक के मर्म को समझ सकेंगे ।

- स्वातन्त्रयोतर नाटक दृष्टि को समझने में सहायता मिल सकेगी ।
- नाटक तथा रंगमंच के अंत: सम्बन्ध की बारीकी से अवगत हो सकेंगे ।
- गीत नाट्य परम्परा के विषय में पड़ताल कर पाएंगे ।
- यह स्पष्ट कर सकेंगे कि रंगमंचीय दृष्टि से 'अंधायुग क्यों अनेक नाट्यों में सर्वश्रेष्ठ है।

- भारती की सम्पूर्ण नाट्य कला से परिचित हो पाएंगे ।

5.1 प्रस्तावना

नए रचनाकारों में भारती जी के साहित्य को गंभीरतापूर्वक पढ़ा गया है । भारती जी का साहित्य इस बात की गवाही देता है कि उसने भारतीय इतिहास-दर्शन की मूल चेतना के परिवर्तित होते हुए आयामों की तलाश के लिए प्रयास किया है और अपने रचना-संस्कारों से मानव मूल्यों को गढ़ने की कोशिश की है । बीसवीं शताब्दी के बुद्धिवाद को आधार बनाकर पश्चिम के सांस्कृतिक मूल्यों का अध्ययन करने वाले कलाकार भारती जी का वैचारिक समाजशास्त्र अन्तर्राष्ट्रीय उदाहरणों से सम्बद्ध है । उनके साहित्य में उपलब्ध रचना मूल्य मानवीय इतिहास का निचोड़ है, उसके निष्कर्षो ने सूत्र स्व और 'सर्व' की पृष्ठभूमि निर्मित किया है और उसके बाद उसकी जीवनचेतना को पश्चिम और भारतीय दृष्टिकोणों से सन्धि-बिन्दुओं के मध्य फ्लैश की भाँति चित्रबद्ध करता जाता है । इसी को हम रचनाओं में व्यक्त आधुनिक जीवन की एवं नवीन शिल्प चेतना के प्रति भारती की प्रयोगबद्धता कह सकते हैं जिसमें भारती का नयापन और उनका 'आधुनिक मिजाज' सही रूप में आकार ग्रहण कर सका है । यही बात भारती के नाट्य साहित्य में मिलती हैं विशेषकर उनके 'अंधायुग' में । 'अंधायुग' को पढ़कर हम नई कविता के मर्म को समझ सकते हैं, गीत नाट्य को समझ सकते हैं, पद्य संवादो की शक्ति को समझ सकते हैं, संवादो के उतार चढ़ाव को समझ सकते हैं, नाटक में चारित्रिक वैशिष्ट्य को समझ सकते हैं । हम ग्रीक कोरस, लोकनाट्य परम्परा तथा आधुनिक नाट्य को समझ सकते है ।

धर्मवीर भारती ने अपने नाट्यजीवन को शुरूआत गुलरी जी की कहानी उसने कहा था में वजीरा सिंह की भूमिका से की थी । यूँ तो भारती जी ने पाँच एकांकी लिखे गुजराती नाटक 'स्टीलफ्रेम' का अनुवाद किया लेकिर मूलत: और मुख्यत: आपकी प्रतिष्ठा इस क्षेत्र में 'अंधायुग' के कारण ही है । इस नाट्यकृति के आतंक से हिन्दी का पद्य नाटक ही नहीं स्वयं भारती जी भी इतने आतंकित हो गए कि इस क्षेत्र में दुबारा कलम चलाने का साहस नहीं जुटा पाए । एक नाटक और लिखा था उन्होंने, पर उसे प्रकाशित नहीं किया ।

5.2 नाटक और रंगमंच

यहाँ नाटक की स्थिति कहानी या उपन्यास जैसी साहित्यिक विधाओं से भिन्न है । केवल संवाद ही उनके बीच की विभाजक रेखा नहीं है । कहानी या उपन्यास में जब कोई संवाद आता है तो वह एक पूर्व-कथन के रूप में आता है । नाटक का संवाद प्रेक्षक की समवेदना के लिए होता है और वह जीवन की तात्कालिक अभिव्यक्ति से जुड़ा होता है । साहित्य और रंगमंच दोनों भिन्न उपादानों का प्रयोग करते है और भिन्न कोटि के सत्याभासों पर निर्भर करते हैं । रंग भी साहित्य की भाँति शब्द का प्रयोग करता है किन्तु यह श्रव्य तत्व के साथ दृश्य का भी उपयोग करता है । साहित्य

का आस्वाद दिमाग की आँखों से सम्भव है; किन्तु रंगतत्व का साक्षात्कार चर्म चक्षुओं से ही पूर्णता प्राप्त करता है ।

इस पूर्णता में नाटककार की ही भाँति अभिनेता, दृश्य सज्जाकर, परिचालक आदि सभी का अपना-अपना योगदान होता है । अभिनेता नाटककार से शब्द और चरित्र लेता है किन्तु भाव-मुद्रा, गति, वेशभूषा, अंग-विन्यास तथा स्वरोच्चार के द्वारा वह लिखित नाटक के परे भी भावना और अर्थ के कई बंद द्वार खोलता है । चरित्र को देश और काल की भूमि पर साकार कर वह नाटककार की तुलना में ऑखों और अन्य इन्द्रियों के लिए आस्वाद कई आयाम भी उपस्थित करता है । अभि कल्पक / दृश्य-सज्जाकर देश और काल का आविष्कार कर नाट्य व्यापार को टीकाने का उत्पादन प्रस्तुत करता है और साथ्ज्ञ ही दृश्यबंध, प्रकाश, ध्वनि, वेशभूषा और रूप सज्जा के द्वारा नाट्य व्यापार के लिए एक दृश्य और श्रव्य माध्यम की योजना भी करता है । इस सारी योजना के लिए एक विलक्षण सर्जनात्मक प्रतिभा अपेक्षित होती है । कभी - कभी रंगकर्मी रंगमंच पर ऐसी सृष्टि करने में भी समर्थ भी होता है जो व्यवहारिक रूप से स्वयं नाटककार के लिए सम्भव नहीं होती और इन सबसे ऊपर परिचालक का दाय होता है । वह सारी नाट्य सृष्टि का स्वामी ही नहीं, अवधारक भी होता है । इसमें कोई संदेह नहीं की सारी रंगीयता नाटक के रचना-विधान में निहित होती है? फिर भी परिचालक अपने दृश्य-माध्यम से नाट्य-कृति के नये आयामों को उभारता है । वह नाटककार के मूल इरादों की खोज कर नाट्यकृति की व्याख्या ही नहीं करता, उसको लेकर एक पूर्ण सृष्टि भी करता है ।

नाटक के लिए रंगमंच की सबसे बड़ी देन यह है कि रंगमंच उसे दृश्यत्व प्रदान करता है । वह एक ऐसे स्थल भौतिक स्वरूप की सृष्टि करता है जिसमें जीवंतता, गति और भंगिमाएँ होती हैं । मंच नाटक का भौतिक, मानसिक और भावात्मक रूपान्तरण करता है । इसकी एक बड़ी देन नाटक के लिए यह भी होती है कि वह नाटक के रिक्त स्थलों की पूर्ति में भी सहायक होता है । कॉक्च्यू के शब्दों में 'रंगकर्मी' मंच पर जीवन ही प्रस्तुत नहीं करता, मंच को भी जीवन से युक्त बनाता है । ' इस प्रकार रंगकर्मी भी लेखक के सह सर्जक पूरक बन जाते हैं ।

5.3 गीत- नाट्य की परिभाषा

कोई भी कला, जब अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बना लेती है और मान्यता प्राप्त कर लेती है, तब उसे परिभाषित किया जाता है उसके सिद्धान्त बनाये जाते हैं । गीत-नाट्य ने भी जब साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया और पर्याप्त गीत-नाट्यों का सृजन हुआ, तब आलोचकों का ध्यान भी इसके शिल्प की ओर गया; किन्तु गीत नाट्य की जितनी भी परिभाषाएँ दी गई हैं, वे या तो अधूरी हैं अथवा एकांगी हैं हाँ पाश्चात्य विद्वानों की कुछ परिभाषाएँ अवश्य महत्वपूर्ण हैं कुछ समीक्षकों ने गीत-नाट्य के

सम्बन्ध में तो विस्तार से वर्णन किया है, किन्तु वे गीत-नाट्य की परिभाषा देने से या तो कतरा गए हैं अथवा उन्होंने परिभाषा देना आवश्यक ही नहीं समझा ।

गीत-नाट्य की परिभाषा

सर्वप्रथम कुछ प्रमुख समीक्षकों और लेखकों द्वारा दी गई परिभाषाओं को देखा जाए ।

1. नगेन्द्र- 'गीत-नाट्य रूपक का ही एक भेद है, जिसका प्राणतत्व है- भावना अथवा मन का संघर्ष और माध्यम है- कविता । "
2. उदयशंकर भट्ट- 'कविता बद्ध नाटकों का इतिहास में गीत-नाट्य की संज्ञा दी गई है। इन नाटकों में मानव के हृदय में संचारी भाव का अभिव्यक्ति करण होता है । क्रिया इनमें है, पर सामान्य नाटकों के भाँति नहीं । इनमें क्रिया मानसिक है । इसी से भावों का उत्थान-पतन होता है । जहाँ गीत-पद्य में स्वरस भावों का संचालन होता है, उसे गीत-नाट्य कहते हैं । '
3. निर्मला जैन- कुछ ऐसी विधाओं का सृजन भी इस युग के काव्य में हुआ, जिनमें इन उभय-शैलियों (नाट्य ओर गीत शैलियों) का प्रभाव नहीं, योग परिलक्षित होता है । इनके साथ वर्तमान वैज्ञानिक युग की चिर प्रगतिशील बौद्धिक प्रवृतियों ने भी इन विधाओं को प्रभावित किया है; अत: ऐसी रचनाओं का समुदाय आधुनिक काल में उपलब्ध है, जिन्हे गीत-नाट्य पद्य-नट्य तथा काव्य रूपक आदि नामों से पुकारा जाता है । गीत-नाट्य शब्द उन सभी नाट्य-विद्याओं के लिए प्रयोग में प्रचलित हो गया है, जिनका माध्यम पद्य और विधि नाटकीय हैं । "
4. शकुन्तला दुबे- शकुन्तला दुबे ने अपेक्षाकृत गीत-नाट्य की सुन्दर परिभाषा की है । उनके अनुसार

(अ) 'गीत-नाट्य ऐसा काव्य - रूप है, जिसकी मूल भावना एवं शैली आत्माभिव्यंजक होती है और नाटकीय कथोपकथन के आधार पर पात्रों की भावाभिव्यंजना एवं कथा-सूत्र को आगे बढ़ाया जाता है।

(ब) जब कवि दृश्य-काव्य का सहारा लेकर गीतात्मक रूप में अपनी अनुभूति को संजोता है, तब -उस बाह्य अभिव्यंजना को गीत-नाट्य की संज्ञा दी जाती है ।

(क) गीत-नाट्य उस रचना को कहते हैं, जिसमें नाटकीय कथोपकथनात्मक शैली मे अन्यान्य पात्रों के माध्यम द्वारा कवि-हृदय की रागात्मक भावना बहुमुखी होकर अभिव्यंजित होती है । दृश्य-काव्य की भाँति बीच-बीच में गीतों की योजना और नाटकीय दृश्य-विधान जहाँ एक और उसमें होता है, वहाँ दूसरी ओर गीतात्मकता तथा भाव-प्रधानता उसके विशिष्ट गुण है ।

5. शिवनन्दन प्रसाद- काव्य की पारम्परिक त्रिविध विद्याओं (गीत, महाकाव्य एवं नाटक) के विशेषाकृत नवीन संरचना में काव्य - दृश्य को प्रस्तुत करने वाली काव्य की विद्या गीत-नाट्य हैं

5.4 गीत-नाट्य परम्परा

नाटकीय सम्प्रेषण के लिए काव्य (पद्य) को माध्यम बनाकर प्रयोग करने वाला पहला हिन्दी काव्य-नाटक धर्मवीर भारतीय का 'अंधायुग (1944) है । यूं तो हिन्दी काव्य-नाट्य के गीत-नाट्य की शुरूआत जयशंकर प्रसाद के 'करूणालय से ही हो जाती है और प्रसाद के पश्चात इस क्षेत्र में आने वाले अनेक रचनाकार हुए जिनमें उदयशंकर भट्ट, सुमित्रानंदन पंत और गिरजाकुमार माथुर प्रमुख हैं किन्तु भारती का 'अंधायुग इन सभी काव्य-नाटकों की परम्परा से हटकर हिन्दी - नाट्य को प्रयोग की नयी दिशाएँ और आयाम देता है । इससे पूर्व हिन्दी में जो भी गीत- नाट्य लिखे गये थे वे एकांकी गीत-नाट्य थे । 'अंधायुग हिन्दी की एकांकी गीत - नाट्य न होकर पहला पूर्ण गीत-नाट्य है । साथ ही पहले के काव्य-नाटकों में काव्यत्व तो था लेकिन नटियात्मकता बहुत कम । ये सभी नाटक मुख्यत: संवादात्मक आलेख है, नाटकीयता सिर्फ इतनी है कि उनमें दृश्य-विधान के संकेत और संवाद हैं वरना वे किसी भी अन्य काव्य-पुस्तक की तरह पाठ्य मात्र है । किन्तु काव्य को रंगमंच में अनूदित करने का श्रेय भारतीय नाटककारों को ही है । 'अंधायुग रंगमंच के लिए लिखा गया है । यह अब न केवल इसके सफल प्रदर्शनों से प्रमाणित भी हो चुका है, साथ ही इसमें हर स्तर पर हिन्दी नाटक को नया मोड़ देने की कोशिश है । भाव-बोध, रंग-परिकल्पना, दोनों ही स्तरों पर यह पारंपरिक काव्य-नाटक ही नहीं, नाटक मात्र के प्रचलित विधान को तोड़कर नयी दिशाएँ खोजता है । अब तक के काव्य-नाटक जिस यथार्थवादी रंगमंच को पृष्ठभूमि में रखकर लिखे गये थे, 'अंधायुग' ने उसकी सीमाओं से बाहर जाकर एक नितांत नवीन रंगमंच की तलाश की । और इस तलाश के लिए उन्होंने प्रचलित सभी रंग-शैलियों को परखा और अपने काव्य नाटक की अपेक्षाओं के अनुरूप उनका उपयोग किया । एक और स्तर पर भी इस नाटक के काव्य और नाटक के गहन आंतरिक सम्बन्धों का उद्घाटन किया । इस नाटक के माध्यम से भारती ने हिन्दी में वही कार्य करना चाहा जो इंग्लैंड में इलियट ने किया । अर्थात यथार्थवादी नाट्य-परम्परा ने नाटक से जिस काव्य को बहिष्कृत कर दिया था उसकी फिर से प्रतिष्ठा । नाटक में काव्य' की प्रतिष्ठा तो प्रसाद और राकेश ने भी की थी लेकिन काव्य (पद्य) के ही माध्यम से 'नाट्य' की तलाश का यह नवीन प्रयोग समकालीन युग में सर्वप्रथम भारती ने ही किया । इसलिए भारती की तलाश यहाँ दोहरा महत्व रखती है । एक और उन्होंने 'अंधायुग के माध्यम में एक नया नाट्य-रूप खोजने की कोशिश की, वही दूसरी ओर कविता के छंद में नाटकीय लय पैदा करने का प्रयत्न किया । 'अंधायुग' हिन्दी में एकदम नये भावबोध को लेकर पैदा हुआ । यह भावबोध विभाजन के बाद का है, द्वितीय महायुद्ध के बाद के विघटन का ।

5.5 अंधायुग: यथार्थवाद और अस्तित्ववाद

'अंधायुग' में महाभारत के अठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभासतीर्थ में कृष्ण की मृत्यु के क्षण तक की प्रख्यात कथा अंकित की गई है; किन्तु कुछ प्रसंग उत्पाद्य भी है । लेखक ने स्वकल्पित पात्र एवं घटनाओं का भी वर्णन किया है । वहीं विष्णु पुराण से भी सहायता ली गई है । इस पर इलियट की :वेस्टलैण्ड' कविता का भी प्रभाव पड़ा है 'वेस्टलैण्ड' में महायुद्धोत्तर योरोप की ध्वंसयुगीन निराशा और विध्वंस को प्रतीकात्मक पद्धति पर चित्रित किया गया है । जिस प्रकार वेस्टलैण्ड' का टाइरेशियस अंधा है, उसी प्रकार अंधायुग के धृतराष्ट्र । यहाँ वेस्टलैण्ड' के आर्य दृष्टा का काम 'व्यास' करते हैं जिसमें अंध आस्थाहीन मानव संस्कृति की आलोचना की गई है । ही अंधायुग में भारती आस्थावादी है ईलियट नहीं । मानव समाज का विरु चित्रण यथार्थवादी लेखकों के अति निकट है । यथार्थवादी लेखकों ने असुन्दर तथा कुण्ठा, मनोदौर्बल्य और आत्महत्या मयी निराशा का खुलकर चित्रण किया है । सार्त्र के लमोचे नामक नाटक में इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते है । 'अंधायुग में सार्त्र के अस्तित्ववाद की स्पष्ट झलक दिखाई देती है । जिस प्रकार सार्त्र ने रक्त-रंजित दीवालों और शोकपूर्ण नारियों का चित्रण किया है, उसी प्रकार 'अंधायुग में भी जघन्यता का वर्णन है ।

5.6 अंधायुग

'अंधायुग' की कथावस्तु उस मर्यादाहीन युग से सम्बन्धित है, जिसमें कुण्ठा, निराशा, विकृति, कुरूपता और अंधापन अपने पूर्ण अंगों के साथ अवतरित हुए हैं । भारती जी का प्रधान उद्देश्य इसी विकृति का चित्रण करना रहा है । वे लिखते है:-

"युद्धोपरांत
यह अंधायुग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृतियॉ आत्माएँ सब विकृत हैं
है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है, दोनों ही पक्षों में
(सिर्फ कृष्ण में है साहस सुलझाने का)
वह है भविष्य का रक्षक, वह है अनासक्त
शेष अधिकतर है- अंधे
पथ भ्रष्ट, आत्महारा विगलित
अपने ही अन्तर की अंध गुफाओं के वासी
यह कथा ज्योति की है अंधों के माध्यम से । '

लेखक ने ऐतिहासिक तथ्यों, जीवन-दर्शन और चिन्तन 'को अपने ढंग से संजोया, सम्भाला है । महाभारतकालीन दयनीय स्थिति के अतिरिक्त युद्ध की भीषण समस्याओं को भी उठाया है । इसमें युद्ध के कारणों पर प्रकाश नहीं डाला गया क्योंकि यह कथा

युद्ध के बाद की है अत: युद्ध के परिणामों और तज्जनित स्थितियों वृतियों और प्रतिक्रियाओं का यथार्थ चित्रण हुआ है । नन्द दुलारे वाजपेयी के विचार से कवि की विचारधारा वास्तविकता और सत्य से परे है । उसे सच्चाई और औचित्य कहीं नजर नहीं आता । कवि का दृष्टिकोण सर्वत्र निषेधात्मक है ।

युद्ध के परिणामों पर प्रकाश डालते हुए लेखक ने वर्तमान आणविक आयुधों को प्रदर्शित किया है-

'ज्ञात है तुम्हें परिणाम इस ब्रह्मास्त्र का,
यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नर पशु,
तो आगे आने वाली सदियों तक
पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी,
शिशु होंगे पैदा विकलांग और कुष्टग्रस्त
सारी मनुष्य जाति बोनी हो जायेगी ।

"युद्ध जनित क्रन्दन, हाहाकार, चीख पुकार, विकृति आदि का वर्णन व्यापक रूप से किया गया है । युद्ध के पूर्व जो कौरव नगरी अपने सौन्दर्य और गौरव के लिए प्रसिद्ध थी, जहाँ राग और रस अनवरत अपना आँचल फैलाये-नर-नारियों को तृष्णा की भूमि से तृप्ति के स्वर्ग की और ले जाते थे, वहीं युद्धोपरान्त गिद्ध मंडरा रहे है । सम्राटों की अधिपीत दुर्योधन असहाय सा विचार रहा है । पैर कट गये है, वस्त्र कट गये है, रक्त प्रवाहित हो रहा है और दो खूंखार गिद्ध उसको खाने के लोलुप दृष्टि से देख रहे है, भेड़िये जीभ लपलपा कर घूम रहे है-

"कोटर से झांक रहे थे
दो खूंखार गिद्ध
इस झाड़ी से उस झाड़ी में थे
घूम रहे
गीदड़ और भेड़िये
जीभें निकाले
लोलुप नेत्रों से देखते हुए अपलक
राजा दुर्योधन को । "

वीरता और शोर्य के प्रतिक दुर्योधन को खा जाने के लिए गीदड़ और भेड़िया देखें इससे बड़ी विडम्बना और दुख की क्या बात हो सकती है ।

'अंधायुग की समस्या युद्ध की समस्या है । इसमें तो कुछ सुन्दर और शुभ था वह नष्ट हो गया । यदि कुछ शेष था तो सन्नाटा, सूनापन, उदासी । कौरव नगरी के रत्न जड़ित कणों पर कौरव वधुएँ मन्थर गति से चलती थी । वे अब निस्सहाय विधवा होकर निराशा का जीवन व्यतीत कर रहीं हैं । कोसों तक मैदान सड़ी-गली लाशों से पट गया । जिधर देखो धुँधा, लपट, लोथे, घायल घोड़े, टूटे रथ, रक्त भेद, मज्जा, मुण्ड ही दिखाई देते थे-

'धूँधा, लपट, लोथे, घायल घोड़े, टूटे रथ,
रक्त, भेद, मज्जा, मुण्ड
खंडित कवन्धों में,
द्वी पसलियों में,
विचरण करता था अश्वत्थामा । "

सारी मानवता भूखी नंगी हो गयी है । आत्मघात नपुंसक, ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति उभरकर सामने आई है और संस्कृति नष्ट हो गई है ।

कवि ने युद्ध की भयानकता को बढ़ाने के लिए भयानक वातावरण की सृष्टि की है ।

"जाने किसकी लोथों पर जा उतरेगा
यह नर भक्षी गिद्धों का भूखा बादल । "

युद्ध के पश्चात के वातावरण का भयानक वर्णन प्रहरियों ने अनेक कपोल कल्पित कथाओं के रूप में किया है, जैसे कंकड़ पत्थर की वर्षा, सूरज में मुण्डहीन को कबन्धों का हिलना, द्वारका में आधी रात को काला पीला वेष धारण किये काल का घूमना, उसका सहसा अंधड़ में गायब हो जाना, बाणों का असर न होना आदि । इसी प्रकार वन-दावाग्नि के समान धूमकेतुओं का घिरना धधकते हुए बरगद के गिरने से गांधारी और धृतराष्ट की मृत्यु, जलती शाखा के गिरने से संजय का झुलस जाना आदि दृश्य भी भयंकरता लाने में सहायक हुए है ।

5.6.1 अंधायुग की कथावस्तु

प्रस्तुत गीत-नाट्य में महाभारत के अठारहवें दिन की सन्ध्या से प्रभासतीर्थ में कृष्ण-मृत्यु के क्षण तक की कथा को रूपायित किया गया है । नाटककार ने इस कथानक की आधुनिक युगबोध के संदर्भ में प्रस्तुत किया है । कथावस्तु के विषय में नाटककार का कथन है, 'अधिकतर कथावस्तु 'प्रख्यात' है, केवल कुछ ही तत्व 'उत्पाद्य' है - कुछ स्वकल्पित पात्र और कुछ स्वकल्पित घटनाएँ । प्राचीन पद्धति भी इसकी अनुमति देती है । स्थापना और समापन भी पुरानी परम्परा को नये परिवेश में प्रस्तुत करते हैं । दो प्रहरी, जो घटनाओं और स्थितियों पर अपनी व्याख्याएं देते चलते हैं, बहुत कुछ ग्रीक कोरस के निम्न वर्ग के पात्रों की भांति है, किन्तु उनका अपना प्रतीकात्मक महत्व भी है । "

कौरवों और पाण्डवों का महायुद्ध सत्रह दिनों तक लगातार चलता रहा । युद्धोपरान्त कौरव पक्ष के प्राय: सभी वीर योद्धा मारे गए हैं । चारों और गहरी उदासी छाई हुई है । कौरव पक्ष में अश्वत्थामा, दुर्योधन कृपाचार्य एवं कृतवर्मा ही बचे हैं । धृतराष्ट्र और गांधारी समाचार के लिए संजय की व्याकुल होकर प्रतीक्षा कर रहे हैं । संजय नहीं आये हैं । धृतराष्ट्र का मन आशंका से भर जाता है । विदुर, धृतराष्ट को समझाते हुए कहते हैं 'जो आशंका व्याप्त हुई है वह वर्षों पहले होनी चाहिए थी, जिस समय भीष्म, गुरूद्रोण और कृष्ण ने इसी अन्तःपुर में कहा था-

'मर्यादा मत तोड़ो तोड़ी हुई मर्यादा
कुचले हुए अजगर सी
गुंजलिका में कौरव वंश को लपेट कर
सुखी लकड़ी का सा तोड़ डालेगी । "

विदुर धृतराष्ट्र को यह भी बतलाते हैं कि अब आशंका का समय समाप्त हो गया । गांधारी ही पुत्रशोक में विह्वल हैं । उसकी ऑखों पर पतिव्रत पालन हेतु निरन्तर लगी रहने वाली पट्टी पर लेखक ने अपनी ओर से यह कारण आरोपित किया है कि झूठी नैतिकता, मर्यादा से बचने के लिए उन्होंने अपनी ऑखों पर पट्टी चढ़ा रखी है । उनको भी विश्वास है कि जिधर धर्म होगा उधर ही विजय होगी किन्तु अन्धी प्रवृत्तियों ने मर्यादा तोड़ दी है । वह मर्यादा भंग करने के लिए कौरवों को नहीं, पाण्डवों को उत्तरदायी मानती हैं । वह कृष्ण के प्रति अनास्था व्यक्त करते हुए कहती है -

"उसने जब चाहा
मर्यादा को अपने ही हित में बदल लिया
वंचक है । "

इसी समय वृद्ध याचक आकर अपने विज्ञान को मिथ्या होने की बात बताता है, जो एक बार आकर कौरव पक्ष के विजय की भविष्यवाणी कर गया था । वह भी इस झूठे भविष्य से संशयग्रस्त है । विदुर धृतराष्ट को धीरज बँधाते हैं कि संजय शुभ संदेश लायेंगे । संजय भी मोह निशा से घिर कर जाने कहाँ-कहाँ भटक रहे हैं जिन्हें व्यास ने दिव्यदृष्टि दी है । जिसको यह वरदान मिला है कि वह तटस्थ रहेगा, धृतराष्ट्र से सब सत्य कहेगा, जो संशयग्रस्त नहीं होगा, जिसे ब्रह्मास्त्रों का भय नहीं रहेगा ।

संशयग्रस्त होकर संजय वनपथ में भटक रहे हैं । उन्हें सत्य कहना है और वह भी दुर्योधन की पराजय का । वह सोच रहे हैं कि दुर्योधन की पराजय का समाचार कैसे गांधारी से कहेंगे । तभी कृतवर्मा उन्हें पुकारता है, संजय दुर्योधन के आत्मसमर्पण की दयनीय दशा बताते हैं । उसी समय टूटे हुए धनुष के साथ विक्षिप्तावस्था में अश्वत्थामा आता है । युधिष्ठिर के अर्ध सत्य ने उसको विक्षिप्त और बर्बर बना दिया है । जिस अर्ध सत्य के कारण गुरुद्रोण ने शस्त्र रख दिया और धृष्टद्युम्न ने उसके अपराजेय पिता की हत्या कर दी । अश्वत्थामा संजय का गला दबोच लेता है । कृतवर्मा उसे छुड़ाते हैं । कृपाचार्य उसे कहते हैं कि संजय शत्रु नहीं है वे तटस्थ नहीं हैं, साथ ही अवध्य हैं, किन्तु विक्षिप्त अश्वत्थामा के लिए अब वध अब नीति नहीं है । मनोग्रन्थि का क्षण है । वह द्रोणाचार्य को इस संदर्भ में कहता है -

'मातुल!
मैं क्या करुं
वध मेरे लिए नहीं रहीं नीति
वह है अब मेरे लिए मनोग्रन्थि । "

प्रतिशोध के लिए व्याकुल अश्वत्थामा झूठी भविष्यवाणी के लिए वृद्ध याचक का गला दबोच कर हत्या कर देता है । वह इतना विक्षिप्त और संशयग्रस्त है कि अपने द्वारा की गई हत्याओं को भी भूल जाता अठारहवें दिन सेना विकलांग सैनिकों, विधवाओं, चिकित्सकों खण्डित रथ और टूटे छकड़ों के साथ लौट आई है । संजय युद्ध की कथा सुना रहे हैं धृतराष्ट्र पराजित अंगभंग सैनिकों को छू-छू कर देखते हैं । वह इस भयानक युद्ध की कल्पना करते हैं । उसी समय वही युयुत्सा आता है जो धृतराष्ट्र का पुत्र होते हुए भी पाण्डवों के साथ है । वह दुर्योधन की उच्छृंखलता के कारण पाण्डव पक्ष में मिल गया था । उसका कहीं भी स्वागत नहीं होता वह अपने ही समाज में सर्वत्र अपमानित होता है । गांधारी उस पर व्यंग्य करते हुए कहती है -

'बेटा, भुजाएँ ये. तुम्हारी
पराक्रम भरी
थकीं तो नहीं
अपने बंधुओं का
बंध करते करते ?"

इस अपमान और व्यंग्य से उसका मन गहरी पीड़ा से भर जाता है । उसी समय अचानक तीव्र स्वर उभरने लगता है और संजय द्वारा यह ज्ञात होता है कि भीम ने दुर्योधन को अधर्म-वार करके मार डाला । बलराम कृष्ण पर नाराज होते हैं । वह इसको अधर्म और अनुचित मानते हैं । कृपाचार्य और अश्वत्थामा भी उसकी निन्दा करते हैं । बलराम तो कृष्ण को मर्यादाहीन और कूटबुद्धि घोषित करते हैं । अश्वत्थामा इस अन्याय पर क्रोध होकर पिता और दुर्योधन की मृत्यु का बदला लेने के लिए संकल्प करता है । वह प्रतिहिंसा में पाण्डव वंश को निर्मूल करने का प्रण कृतवर्मा से करता है । तदन्तर मुमुर्ष दुर्योधन द्वारा अश्वत्थामा सेनापति बनाया जाता है । रात के समय कृतवर्मा सो जाते हैं और अश्कत्थामा पहरा देता है । पीपल की छाया में केवल अश्वत्थामा जाग रहा है गहरा सूनसान है । वहीं उलूक द्वारा वधोल्लासस का ताण्डव नृत्य अश्वत्थामा को दिखाई पड़ता है कि किस प्रकार सोये हुए कौवे पर उलूक टूट पड़ता है और उसे मार डालता है । अश्वत्थामा इस दृश्य से प्रेरणा ग्रहण करता है और 'मिल गया.. मातुल मिल गया' कह कर चिल्लाता है तथा सोये हुए पाण्डव शिविर में पाण्डवों की हत्या करने और उतरा के गर्भस्थ भ्रूण को नष्ट करने के लिए चल देता है । इस युद्ध में कृष्ण की नीति से क्षुब्ध होकर युयुत्स, विदुर और संजय शोक प्रकट करते हैं । युयुत्स अपने को गलत धुरी में लगे पहिए के समान मानता है । संजय अपने को कर्मलोक से बहिष्कृत दो बड़े पहियों के बीच लगे निरर्थक शोभा चक्र के समान मानता है, जो असमर्थ और कर्महीन होता है । कृष्ण का अनुगामी भक्त और नीतिज्ञ विदुर अब अपने स्वर को संशयग्रस्त मानता है । अपने प्रभु को वह निकम्मी धुरी के समान मानता है जिसके सारे पहिये उतर गए हैं । याचक वृद्ध प्रेत, कृष्ण का रथ रोकना चाहता है किन्तु सारे समय के प्रवाह की मर्यादा बंध जाने के भय से ऐसा

नहीं करता । अश्वत्थामा पाण्डवों की हत्या करने के लिए पाण्डव-शिविर में जाता है किन्तु शिविर द्वार पर भगवान शिव स्वयं पहरा दे रहे हैं ।

संजय इस सारे दृश्यों को गांधारी को बता रहे है । गांधारी को शंका होती है कि अन्यायी कृष्ण अश्वत्थामा को जीवित नहीं छोड़ेगा, अत: वह उसे देखने की कामना करती हैं । वह अश्वत्थामा को देखकर वज्रतुल्य बना देती हैं । इसी क्षण संजय की दिव्यदृष्टि भी समाप्त हो जाती है । अश्वत्थामा दुर्योधन की मृत्यु का बदला नहीं ले सका है । धृतराष्ट्र-गांधारी कौरव वधुएँ सब वन को जाती हैं । गांधारी युयुत्स को कहीं छिप कर प्राण बचाने के लिए कहती हैं । इसी बीच अश्वत्थामा की मनोदशा के परिवर्तन की सूचना संजय, गांधारी और धृतराष्ट्र को देते हैं । वह बतलाते हैं कि अश्कत्थामा भय की प्रतिमूर्ति बन गया है । गांधारी कहती है कि वह कृष्ण से डरता है किन्तु कृष्ण भी उसे मार नहीं पायेंगे । मैंने उसे देखकर बज्र बना दिया । अकस्मात एक तीर आकर अश्वत्थामा के गले में घुस जाता है और साथ ही उसकी मानसिक प्रवृत्ति फिर बदल जाती है । वह पाण्डवों के विनाश के लिए ब्रह्मास्त्र छोड़ता है जिसके विनाशकारी प्रभाव को ध्यान में रखते हुए व्यास उसे वापस करने के लिए कहते हैं । किन्तु अश्वत्थामा उसे वापस नहीं करता । उत्तर में अश्वत्थामा कहता है कि -

'अच्छा तो सुन लो व्यास
सुन लो कृष्ण - यह अचूक अस्त्र अश्वत्थामा का
निश्चित गिरे जाकर
उत्तरा के गर्भ पर
वापस नहीं होगा । "

ब्रह्मास्त्र के प्रत्युत्तर में अर्जुन भी ब्रह्मास्त्र छोड़ता है । व्यास उससे भी ब्रह्मास्त्र वापस लेने का अनुरोध करते हैं । अपने ब्रह्मास्त्र को जब अश्वत्थामा उत्तरा के गर्भ पर प्रेरित करता है । तब कृष्ण उत्तरा के गर्भ की रक्षा कर लेते हैं । अश्वत्थामा को आ हत्या की चेष्टा में कोढ़ी बनने का शाप देते हैं । गांधारी दुर्योधन के कंकाल को देखकर अपने मातृहृदय की विकलता से तथा अन्यायपूर्ण शाप जो अश्वत्थामा को मिला है उससे व्यग्र हो इस अत्याचार को सहन नहीं कर पाती । वह पूर्व कर्मों द्वारा संचित पुण्यों की गुहार कर कृष्ण को शाप देते हुए कहती है -

'यदि मेरी सेवा में बल है
संचित तप में धम है
तो सुनो कृष्ण
प्रभु हो या परात्पर हो
कुछ भी हो
सारा तुम्हारा वंश
इसी तरह पागल कुत्तों की तरह
एक दूसरे को परस्पर फाड़ खायेगा
तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षों बाद किसी घने जंगल में

साधारण व्याघ के हाथों मारे जाओगे
प्रभु हो
पर मारे जाओगे पशुओं की तरह । "

कृष्ण इस शाप को सविनय स्वीकार करते हैं । महाभारत के इस भीषण ताण्डव की समीक्षा करते हुए वे कहते हैं -

'अट्ठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूँ करोडों बार ।

'वस्तुनिष्ठ का सही ज्ञान हो जाने पर गांधारी को अपने इस शाप का दुःख होता है और वह पश्चाताप प्रकट करती है ।

अन्त में युधिष्ठिर का अभिषेक होता है । वे राजा बनाए जाते हैं किन्तु उनमें भी गहरा मानसिक अन्तर्द्वन्द्व है । वह आशंकाग्रस्त हैं । युयुत्स अपने जीवन से निराश होकर आत्महत्या कर लेता है । कुन्ती, गांधारी, धृतराष्ट्र, संजय के साथ वानप्रस्थ ग्रहण करके अग्निकुण्ड में चले जाते हैं किन्तु संजय बच जाते हैं । उनके पैर भी जल जाते हैं जिससे अपाहिज हो जाते हैं ।

अन्तिम दृश्य में प्रभास वन क्षेत्र में महासागर के किनारे पीपल के पेड़ के नीचे भगवान कृष्ण बैठे हैं । एक व्याध (जरा) उनको लक्ष्य करके तीर मारता है । संजय उसको रोकने का प्रयास करते हैं किन्तु असफल हो जाते हैं । कुछ क्षण बाद कृष्ण की मृत्यु हो जाती है । बधिक याचक का प्रेत आता है जो वृद्ध याचक है, गांधारी के शाप को सत्य बनाने के लिए. जिसने जरा का रूप ग्रहण किया है । वह कृष्ण द्वारा दिए गए मानव मन की मर्यादा, प्रतिष्ठा को बनाए रखने के संदेश को बतलाता है । स्वर्ग सिधारते कृष्ण के अन्तिम कथन को बताते हुए वह कहता है कि प्रभु ने अन्तिम बार कहा -

लेकिन शेष मेरा दायित्व लेंगे
बाकि सभी.. ...
मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा
हर मानव-मन के उस -वृत में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेगा पिछले वंशों पर ।
मर्यादा युक्त आचरण में नित नूतन सृजन में
निर्भयता के
साहस के
ममता के
रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार-बार ।

5.6.2 चरित्रांकन

अंधायुग में कुल मिलाकर छोटे बड़े सोलह पात्र हैं । इनमें से गांधारी को छोड़कर शेष समस्त पुरुष है । गांधारी के अतिरिक्त यद्यपि प्रत्यक्ष रुप से कुन्ती, उत्तरा, कौरव विधवाओं और पाण्डव शिविर में विद्यमान स्त्रियों का उल्लेख किया गया है । किन्तु इनकी चरित्र रेखाओं को नहीं उतारा गया । यद्यपि कौरव विधवाओं को जाते हुए प्रदर्शित किया है, किन्तु इनमें से किसी के भी संवाद नहीं है ।

पुरुष पात्रों में वृद्ध याचक, गूंगे, सैनिक और प्रहरियों को छोड़कर शेष समस्त पात्र पौराणिक ऐतिहासिक हैं । वृद्ध याचक को लेखक ने 'जरा' नामक व्याध के साथ सम्बन्धित कर दिया है और उसे वृद्ध याचक की प्रेत-काया मान लिया है । वास्तव में गूँगे सैनिक प्रहरियों और याचक का व्यक्तित्व कल्पित तथा प्रतिकात्मक है जिनका बड़ी ही पटुता से नाटक में समावेश किया गया है पौराणिक ऐतिहासिक पात्रों को महत्व की दृष्टि से दो भागों में बाँटा जा सकता है - 1 प्रधान पात्र 2. अप्रधान पात्र । प्रधान पात्रों में अश्वत्थामा, कृष्ण, धृतराष्ट्र, युयुत्सु विदुर, संजय और गांधारी के नाम आते हैं और अप्रधान पात्रों में कृपाचार्य, कृतवर्मा, बलराम, युधिष्ठिर आदि आते हैं ।

पात्रों के चरित्र को उभारने, उन्हें अभिव्यक्ति देने और उनकी मनोवृत्ति का विश्लेषण करने के लिए लेखक ने चार पद्धतियाँ अपनाई हैं-

1- पात्र विशेष की स्वयं की उक्तियों द्वारा चरित्र की अभिव्यंजना: पात्रों के स्वयं के कथोपकथनों द्वारा उनके चरित्र पर प्रकाश पड़ता है- यथा धृतराष्ट्र की विवशता का मान उनके उस कथन से होता है-

'समझ नहीं सकते हो विदुर तुम
मैं था जन्माध
कैसे कर सकता था
गृहण में
बाहरी यथार्थ या सामाजिक मर्यादा को? "

2- दूसरे पात्र द्वारा प्रकाश: पात्रों के आपसी वार्तालाप में दूसरे पात्रों के चरित्र पर भी प्रकाश डाला है । यथा-अश्वत्थामा के प्रति गांधारी का यह कथन-

"किन्तु वीर है
उसने वह किया है
जो मेरे सौ पुत्र नहीं कर पाये द्रोण नहीं कर पाये
भीष्म नहीं कर पाये । '

3- कवि द्वारा अपनी ओर से चरित्र विश्लेषण: साधारणतः नाटक में इस पद्धति का प्रयोग नहीं होता, क्योंकि लेखक को स्वयं कुछ भी कहने का अवसर नहीं मिलता: किन्तु 'अंधायुग' में कथा गायन के कारण यह सम्भव हो सकता है यथा-

'थे भीम बुद्धि से मंद, प्रकृति से अभिमानी

अर्जुन थे असमय वृद्ध नकुल थे अज्ञानी । '

4- रंग निर्देश के माध्यम से: दो एक स्थान पर रंग निर्देश के माध्यम से भी पात्रों के चरित्र और मनोदशाओं को उभारा गया है । यथा-युयुत्स के इस वर्णन मे- युयुत्स अर्ध विक्षिप्त की सी करूणोत्पादक चेष्टाएँ करता हुआ दूसरी और निकल जाता है।

अश्वत्थामा: 'अंधायुग' का सबसे महत्वपूर्ण, क्रियाशील और मुखर पात्र है । महाभारत युद्ध में बचे वीरों में वह सबसे अधिक भावुक, प्रबुद्ध और स्वाभिमानी है । वह आधुनिक मानव की परिस्थितियों का जीवंत प्रतीक है, जो अपने शरीर पर अगणित घाव लिए युग युगान्तर तक जीने के लिए अभिशप्त है । उसके सर्वप्रथम दर्शन द्वितीय अंक में होते हैं । वह दुर्योधन और पिता की मृत्यु से विक्षिप्त सा हो गया है । युद्ध में युधिष्ठिर के अर्धसत्य और भीम के नियमोल्लंघन से उसका हृदय टूट गया है परिणाम स्वरूप वह बर्बर बन जाता है । 'महाभारत' की समस्त अनैतिकता उसमें पूजीभूत हो गई है । वह सामान्य मानसिक स्थिति में न रहकर बहुत कुछ असामान्य हो गया है । भारती जी ने उसके घनीभूत क्षणों को काव्यतत्वों से सन्निविष्टकर अभिव्यक्ति दी है । वह सोचता है कि जब दो ही मार्ग हैं, कि या तो आत्मघात कर लूँ या फिर वध केवल वध - को जीवन का उद्देश्य मानकर क्रूर हत्याएँ करना प्रारम्भ करूँ । वह द्वितीय को अपना लक्ष्य चुनता है ओर प्रतिशोध की उत्कृष्ट इच्छा उसे हिंसक, क्रूर और निर्दय बना देती है । वध उसके लिए नीति न रहकर मनोग्रन्थि बन जाती है । वह पागल बन जाता है । जहाँ भी उसे अवसर मिलता है, वह हत्या पर उतारू हो जाता है । वध उसका धर्म है, प्रतिहिंसा उसकी सहचरी है घृणा उसका तर्क है । महाभारत की सारी. अनीति, अमर्यादा पशुता, बर्बरता का वह प्रतीक बन जाता है । वह एक स्वाभिमान सेवक है । दुर्योधन के प्रति उसकी अनन्य निष्ठा है । उसकी पराजय पर वह अपना धनुष तोड़ देता है और अपने को नपुंसक तक कह देता है । इसी अनन्यता के कारण मरणासन्न दुर्योधन को वचन देता है कि वह उसका प्रतिशोध लेगा । वह स्पष्ट वक्ता है । वह कृष्ण के कपटपूर्ण व्यवहार की स्पष्ट आलोचना करता है-

"पूरे पाण्डव वंश को
निर्मूल किए बिना शायद
युद्ध लिंप्सा
नहीं शान्त होगी कृष्ण की ।"

गांधारी

अंधायुग में अश्वत्थामा के बाद दूसरा महत्वपूर्ण व्यक्तित्व गांधारी का है । महाभारत में उसे ऐसी पतिवृता स्त्री के रूप में चित्रित किया गया है, जो पति के समान स्वयं भी आँखों पर पट्टी बाँधकर दृष्टि सुख से वंचित कर लेती है । फलस्वरूप उसमें वह शक्ति आ गई है कि जिस पुरूष को वह आँखे खोलकर देख ले उसकी काया पत्थर की हो जाये । 'अंधायुग' में उसे उस शक्ति से परिपूर्ण माना है । किन्तु उन्होंने उक्त कथा में एक परिवर्तन किया है । जहाँ महाभारत में उसने दुर्योधन की काया को पत्थर बनाया

है वहीं अंधायुग में अश्वत्थामा को अमर बना दिया है । वह महाभारत की सबसे दुःखी नारी है । दुःखी भी क्यों न हो । जिसके. सौ पुत्र एक-एक कर सत्रह दिन में मार डाले जायें उसकी हृदय की पीड़ा भी वही जान सकती है । वह स्वयं कहती है-

'सत्रह दिन के अन्दर
मेरे सब पुत्र एक-एक कर मारे गए ।
अपने इन हाथों में
मैंने उन फूलों सी बंधुओं की कलाइयों से
चूडियाँ उतारी है
अपने इस आंचल से
सिंदूर की रेखाएँ पोंछी है ।"

गांधारी संतुलन खो बैठती है । उसमें क्रूरता और प्रतिशोध कीं भावना पर कर लेती । वह समस्त कार्यो के लिए कृष्ण को उत्तरदायी मानती है और उन्हें वंचक कहती है क्योंकि उन्होंने मर्यादा को अपने हित के अनुसार बदला है, तोड़ा मरोड़ा है । वह हृदयहीन हो जाती है । धृष्टद्युम्न की हत्या और पाण्डव नारियों के क्रंदन से भी उसका हृदय नहीं पसीजता । अपने पुत्र दुर्योधन के कंकाल को देखकर वह संतुलन खो बैठती है और कृष्ण को शाप देती है कि -

-तो सुनो कृष्ण
प्रभु हो या परात्पर हो
कुछ भी हो
सारा तुम्हारा वंश
इसी तरह पागल कुत्तों की तरह
एक दूसरे को परस्पर फाड़ खायेगा ।
तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षो बाद
किसी घने जंगल में
साधारण व्याध के हाथों मारे जाआगे । "

वास्तव में गांधारी धैर्य, विवेक और वस्तुस्थिति के विश्लेषण करने की क्षमता खो बैठती है ।इतना सब कुछ होते हुए भी गांधारी में नारी सुलभ दया, ममता और स्नेह की क्षीण रेखा देखने को मिलती है । कृष्ण को शाप देने के पश्चात उसके मन में द्वन्द्व और पश्चाताप की भावना इसी बात का घोतक है । वह इसके किए निराशा, कदुता और पुत्रहीनता को उत्तरदायी बताती है-

"कर देते शाप यह मेरा तुम अस्वीकार
तो क्या मुझे दुख होता
मैं थी निराशा में कटु थी
पुत्रहीना थी ।"

गांधारी तेजस्वी नारी है । कृष्ण उसे माँ के रूप में देखते हैं और उसका आदर करते है। युयुत्स उसकी तेजस्विता के सम्मुख उसके सामने आने में हिचकता है । वास्वत में

गांधारी स्वाभिमानी नारी है और जब उसके स्वाभिमान को ठेस लगती है, तभी वह आक्रोश से भर जाती है । महाभारत की पतिपरायण नारी को जो वाणी दी है, वह वास्वत में स्तुत्य है ।

5.6.3 प्रतीक विधान

प्रतीक विधान की दृष्टि से भी अंधायुग श्रेष्ठ है । उसके सभी पात्र किसी न किसी विचारधारा या मनोविकारों का प्रतिनिधित्व करते हैं । धृतराष्ट्र उन राजाओं और शासकों का प्रतिनिधित्व करते है जो सम्पूर्ण विश्व पर अपना एकाधिकार चाहते हैं, जो स्वजनों के प्रति पक्षपात और अंधी शक्ति उपासना के प्रतीक है । गांधारी मानवता के उस वर्ग की प्रतीक है जो युद्ध से घबरा गई है । फलस्वरूप वह 'कटु निराशा और उद्दत अनास्था का मार्ग पकड़ लेती है । कृष्ण ज्योति के प्रतीक है । ज्योति और अंधकार का द्वन्दु उनके भीतर है । इसी प्रकार संजय कर्म लोक से बहिष्कृत निरपेक्ष सत्य का प्रतीक है ।

5.6.4 संवाद

संवाद कौशल की दृष्टि से 'अंधायुग अदभूत हैं । वे न तो काव्य हैं और न मात्र नाटकीयता से ओतप्रोत । उनमें काव्यत्व और नाटकीयता का समन्वय है । अंधायुग के संवाद मुक्त छन्दों में लिखे गये हैं । अन्तराल में वृत्तगंधी संवादों का प्रयोग हुआ है । उनका रेटारिक नाटकीयता से अधिक वर्णात्मकता पर बल देता है । उनमें प्रयोजनीयता, प्रतीकात्मक अर्थो के सम्प्रेषण की क्षमात एवं व्यंग्य क्षमता है । कहीं-कहीं संवाद क्षिप्र गति से चले हैं, और उनके माध्यम से लेखक ने वातावरण और युगजनीन परिस्थितियों का मनन किया है जैसे प्रहरियों की बातचीत में । कथोपकथनों की विशेषता परिस्थिति और विषय के अनुसार बदलती हुई लय में है । एक रसता से बचने के लिए भारतीजी ने छन्द परिवर्तन भी किये हैं । मनोवैज्ञानिक भावों को चित्रित ' करने में भी एक ही व्यक्ति के संवाद और उनकी लय बदलती गई है । अश्वत्थामा और युयुत्स के कथनों की लय परिवर्तित है । संजय के वार्तालाप में भी मार्मिकता और नाटकीयता के अनुसार 'टोन बदलती रहती है ।

'अंधायुग' के संवाद, नाटकीयता, अभिनेयत्व और रेडियो सभी दृष्टियों से सुन्दर है । उनको जहाँ पात्रों के माध्यम से मंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है, वहीं रेडियो के माध्यम से प्रस्तुति प्रधान बनाया जा सकता हे । इन दोनों प्रयोगों में 'अंधायुग' के संवाद खरे उतरे हैं । संवाद कहीं-कहीं बोलचाल के अति निकट पहुँच गये हैं । उन्हें पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि हम कविता पढ़ रहे हैं । स्वाभाविकता, भावभिव्यंजना और दुत गति की दृष्टि से संवाद बहुत सुन्दर है ।

5.6.5 भाषा

प्रस्तुत नाटक की भाषा काव्यात्मक है, जिसमें लय और टोन का समन्वय सफलतापूर्वक किया जा सकता है ।

भाषा में बोधगम्यता एवं प्रांजलता है । कथा को गति देने में भाषा पूर्णरूपेण समर्थ है। वह काव्यात्मक है । नाटक में कहीं-कहीं गद्यात्मक कथनों का गहरा प्रभाव है । नाटक की भाषा शुद्ध खड़ीबोली है, साथ ही बोल-चाल की भाषा के निकट है । नाटक में उचित परिवेश-निर्माणार्थ संस्कृत शब्दों का प्रयोग है, किन्तु कहीं-कहीं 'जख्म' (पु.97), जैसे उर्दू शब्दों का प्रयोग तत्कालीन पात्रों के अनुकूल नहीं है । गीत-नाट्यों में अब तक अतुकान्त छन्दों का प्रयोग होता रहा था किन्तु 'अंधायुग में मुक्तवृत्त छन्दों का प्रयोग किया गया है । नाटक में प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग किया गया है, यथा-सूना गलियारा, अर्धसत्य, वैयाक्तिक मूल्य इत्यादि । इस नाटक का वस्तु संगठन और रंगविधान की सम्पूर्ण प्रणाली कथा शैली पर आधारित है । इसमें गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस' की तरह कथा-पद्धति का प्रयोग किया गया है जिसमें श्रोता-वक्ता के द्वारा कथा को विकास प्रदान किया गया है । नाटक में कथा गायन का प्रयोग है । कथा गायन के द्वारा नाटक के हर अंक के प्रारम्भ और अन्त का संकेत किया गया है। नाटक में लोक नाट्यशैली का समन्वय है । वस्तुत: नाटक पर प्रबन्धकाव्य शिल्प का अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है ।

रंगमंच फोर्म की दृष्टि से 'अंधायुग पर एक और यदि पर्दो वाले पारसी रंगमंच का असर है तो दूसरी ओर पांच अंकों में परम्परित पाँचों कार्यावस्थाओं की योजना के कारण संस्कृत के नाट्य शास्त्र का प्रभाव भी स्पष्ट दिख पड़ता है । कथा गायन' में शास्त्रीय नाटक के सूत्राधार', लोक-नाटक की गायक मंडली तथा ब्रेख्त के नैरेटर के साथ-साथ ग्रीक कोरस की झलक भी साफतौर से देखी जा सकती है । 'अंधायुग में भारतीजी ने लोकनाट्य शैली का सहारा लिया है । उद्घोषक वक्ता, छोटे-छोटे अंकों में विभाजन आदि लोकनाट्य शैली से प्रभावित है, लेकिन 'अंधायुग पूर्णत: लोकनाट्यों पर आधारित नहीं है । उसका शिल्प गीत-नाट्य शैली पर आधारित है ।

5.6.6 मूल्यांकन

नाटकीयता और अभिनेयता की दृष्टि से भी 'अंधायुग' पूर्ण सफल है । उसमें समस्त नाटकीय स्थितियों तथा शिल्प का प्रयोग किया गया है । लेखक ने इसे अभिनेय बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है । भारतीजी के ही शब्दों में - "यह काव्य रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था । मैंने इस बात को ध्यान में रखा है कि मंच विधान को थोड़ा बदलकर यह खुले मंच वाले लोकनाट्य में भी परिवर्तन किया जा सकता है । अधिक कल्पनाशील निर्देशक इसके रंगमंच को प्रतीकात्मक भी बना सकते है।

दृश्य परिवर्तन के साथ कथा गायन की योजना है जो यूनानी नाटकों से प्रेरणा लेती है। इसके माध्यम से अंक परिवर्तन की सूचना दी गई है । इसके साथ ही मंच पर

अभिनीत घटनाओं की सूचना देना, वातावरण की उपयुक्तता, मार्मिकता बनाये रखना, कथा सूत्रों को जोड़े रखना और नाटकीयता तथा संगीत माधुरी से आकर्षक वातावरण प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है ।

अंधायुग का सफल प्रदर्शन कई बार विभिन्न स्थानों पर हुआ है । मुम्बई के थियेटर यूनिट' ने इसका सफल प्रदर्शन किया । इसके बाद दिल्ली में भी इसका प्रदर्शन हुआ । अलवर की नाट्य संस्था ने भी इसका सफल प्रदर्शन किया जिनकी दर्शकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की । रेडियों पर भी इसका प्रदर्शन हुआ जिसमें वाल्यूम, अण्डर टोन, ओवर टोन, ओवर लैपिंग टोन्स स्वरों के कंपन आदि प्रयोग किया गया । इस प्रकार अंधायुग एक सफल अभिनय मंचीय गीतिनाट्य ठहराता है ।

5.7 भारती कृत महत्वपूर्ण एकांकी

5.7.1 नदी प्यासी थी

नदी प्यासी थी भावुकतापूर्ण प्रणय-त्रिकोण पर आधारित तीन दृश्यों का अपेक्षाकृत एक लम्बा एकांकी है । यह संभवतः नीली झील के बाद भारती की सर्वाधिक मंचित प्रसारित होने वाली नाट्यकृति है । जगत में जब प्यासी नदी उफनती है तो अपनी बाढ़ में सब कुछ तहस नहस करके बहा ले जाये बिना तृप्त नहीं होती और जीवन में मानवीय धरातल पर जब किसी के मन की नदी का बाँध टूटता है तो उसकी भयावह बाढ़ भी तमाम मूल्यों, मान्यताओं, आस्थाओं, संस्कारों और विश्वासों को तोड़कर अपने साथ बहा ले जाती है । वस्तु-संरचना की दृष्टि से यह रचना एकांकी की अपेक्षा तघु-नाटकं के अधिक निकट, है । एकांकी सी संक्षिप्तता, क्षिप्रता, तीव्रता, कसावट और संघन बुनावट का अभाव है । एकांकी के आरंभ, संघर्ष और चरमसीमा पर अंत की दृष्टि से यह नाटक दूसरे दृश्य के अंत में समाप्त हो जाना चाहिए था परन्तु एकांकी तीसरे दृश्य में भी चलता है और राजेश के चरित्र के पूर्ण विकास नायक-नायिका के मिलन-संकेत सम्बन्धों के चुस्त-दुरूस्त समीकरण और नाटककार के संदेश के बाद डी. कृष्णा की अतिनाटकीय आत्महत्या के साथ समाप्त होकर एक संपूर्ण नाटक का रूप ग्रहण कर लेता है । वस्तु-संरचना में अनेक नाटकीय मोड़ और उतार-चडाव आते हैं लेकिन नाटककार ने उसे गणित के फार्मूले की तरह सुनिश्चित और सुस्थिर किया है । प्रेम की असफलता को जीवन की महानतम घटना और प्रेमी की आत्महत्या को ग्लोरिफाई करके उसे उच्चतम बलिदान सिद्ध करना उस युग विशेष के साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति ओर उस काल के साहित्यकार की विशिष्ट मानसिकता थी जिससे भारती की यह रचना बुरी तरह आक्रान्त है ।

चरित्र सृष्टि की दृष्टि से राजेश- जिसे पात्र परिचय में राजेश शर्मा' बतया गया है परंतु पदमा जिसकी अटैची पर राजेश वर्मा' लिखा पढ़ती है- के चरित्र का संपूर्ण विकास और वैविध्य नाटक में देखने को मिलता है । राजेश एक लेखक है जो अपने कॉलेज के दिनों में खुशमिजाज और संयमी व्यक्ति था । लेकिन अपनी प्रेमिका कामनी के विवाह

से वह बिखर जाता है । उसके मन की नदी के बाँध के टूटते ही जीवन में भयानक बाढ़ आती है जो तमाम विश्वास, संस्कार और संघर्ष के इरादे बहा ले जाती है पीछे छूट जाता है सिफ निराशा, अंधकार, अनास्था और धृणा का कीचड़ । इसलिए अस्तित्ववादियों की तरह उसे एक ही विकल्प सूझता है- आत्महत्या । उत्तेजना के कारण उसे हार्ट अटैक हो जाता है ।

डी. कृष्णस्वरूप कक्कड़ जिसे नाटक में एक स्थान पर 'सारस्वत' भी कहा गया है, वह पदमा से प्रेम करता है और बाढ़ रिलीफ कमेटी का सेक्रेट्री भी है । वह पदमा से विवाह करे अपना जीवन सँवारना चाहता है, वह पदमा के जैसा भावुक तो है ही लेकिन उसके जैसा इंटलेल्युअल नहीं है । उसकी महानता इसमें है कि उसका हृदय बहुत बड़ा है । पदमा भी उसे चाहता है, घर के लोगों को भी उसके विवाह से कोई आपत्ति नही हैं परंतु राजेश के बीच में आ जाने से सब गड़बड़ा जाता है । अन्त मे अपनी प्रेमिका द्वारा अपमानित होकर जीवन को निरर्थक समझकर वह आत्महत्या कर लेता है । डाक्टर का पात्र वर्ग पात्र भी भाँति सीधा सपाट है । शंकर का पात्र एक अच्छे दोस्त की सरल सहज रेखाओं से निर्मित हैं और शीला घर के काम-काज, चाय-नाश्ता, दूध, खना, धोबी और जवान बहन की शादी की समस्या में उलझी एक सामान्य सी ग्रहणी का चित्र प्रस्तुत करती है । चरित्रांकन की दृष्टि से ये दोनों चरित्र एकदम सपाट तथा वस्तु विन्यास की दृष्टि से पूरक चरित्र हैं ।

प्रतीक :

इस नाटक में प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग किया गया है । विशेषता यह है कि यहाँ नाटक के कथ्य और परिवेश के अभिन्न अंग के रूप में आ गये शब्दों और बिम्बों को ही प्रतीकात्व प्रदान कर दिया गया है । ट्रेन, नदी, बाढ़, बाँध, मन्दिर, बलि का बकरा, लहरें, बहिष्कार, नरभक्षी पेड़, छाया, अधमरा लड़का, सियार गुलाब, कमल इत्यादि इसी प्रकार अपना प्रतीकत्व ग्रहण करते हैं । इन प्रतीकों, बिम्बों, गीत की कड़ियों और संगीत के स्वरों से नाटक की भाषा को समृद्ध किया गया है ।

गीत :

लोक-गीत, अंध विश्वास, धर्मभय और कर्मकांड का संयोजन नाटक को एक सामान्य भारतीय मन के बहुत निकट ले जाता है । नदी की पूजा के लिए बलि चढ़ाये जाने वाले बकरे के बध गीत का नाटकीय उपयोग भारती ने यहाँ किया है । पहले दृश्य में इस गीत की पंक्तियाँ राजेश के मन की बाढ़ और कस्बे की नदी की बाढ़ में तादात्म्य स्थापित करती है । इसी दृश्य में थोड़ी देर बाद-

हे देवई मैया तोहार हम बालक, राखहु हमरा धेयान ।
तौका चढउबै नरियर बातासा चढउबै पाठा जवान । ।

संवाद और भाषा :

इस प्रकार देखा जाय तो इस नाटक की भाषा शब्द, मुद्रा, क्रिया, प्रतीक, बिम्ब, गीत, और संगीत के संयोग से निर्मित है । बोलचाल की भाषा का सृजनात्मक उपयोग यहाँ

किया गया है । भाषा में पात्र स्थिति के अनुकूल तनाव को वहन करते हैं । उर्दू शब्दों के अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग से भाषा में एक गति और तेजी सी पैदा हो गई जामिन रीडिंग, रिपोर्ट, न्यूराटिक, एनालाइज जैसे अंग्रेजी के शब्द रोगी राजेश के सन्दर्भ में ड स्वरूप कक्कड़ द्वारा बुलवाये गये है । इनके अतिरिक्त डियर, स्टेशन, रिलीफ, फिलॉस्फी,ब्रिटिश, डामर, जीनियस, और पर्स जैसे दैनिक व्यवहार में आने वाले अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी प्रसंग और संदर्भ के अनुकूल सार्थक ढंग से हुआ है । सम्पूर्ण नाटक में केवल यह एक वाक्य ही ऐसा है जिसे स्पष्टत: शिथिल-संवाद माना जा सकता है । कृष्णा: (उठकर) "कभी नहीं, मेरा काम जिलाना है, मैं डाक्टर हूँ मैं जहर नहीं दे सकता हूँ मैं दवा देता हूँ । "

कुल मिलाकर नाटक का कथ्य भाग्य या परिस्थिति के सामने व्यक्ति की विवषता और नियति-परवशता का संकेत देता है, जहाँ सब कुछ पूर्व निर्धारित है और व्यक्ति स्वातंत्र्य तथा मानवीय संकल्प-संघर्ष का कोई अर्थ नहीं है । कथ्य का यह गलत मोड़ शायद अन्त को आकस्मिक, नाट्य-विडम्बनापूर्ण और चमत्कारिक बनाने के लिए लाया गया है । भारती मूलत: कवि हैं, रोमानी और भावुक कवि । सम्भवत: इसीलिए नदी प्यासी थी की मूल संवेदना उनकी कविताओं ओर गुनाहों का देवता की भावुक मानसिकता से अलग नहीं हो पाती । फिर भी दृश्य-बंध की एकता और सरलता, वस्तु-संरचना की नाटकीयता, पात्रों के स्पष्ट चरित्रांकन, भाषा की सहजला और उसे अभिनेय बनाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । रंगमंच, रेडियो तथा टी0वी0 से समय-समय पर हुए इस नाटक के अनेक सफल प्रदर्शन-प्रसारण इसकी श्रेष्ठता के स्पष्ट प्रमाण हैं

5.7.2 नीली झील :

वस्तु-संरचना की दृष्टि से नीली झील में घटनाओं के संघर्ष अथवा कथा के कुतूहल की अपेक्षा 'दृश्यत्व' की जिज्ञासा अधिक महत्वपूर्ण है । हमारे आज का यथार्थ यही अयथार्थ रूप में प्रस्तुत है । दृश्यबंध की कृत्रिमता दर्शक और मंच के बीच एक सार्थक अलगाव उत्पन्न करती है- बहुत कुछ ब्रेख्त के नाटकों की तरह- जिससे हम नाटक में डूब जाने की अपेक्षा का दृष्टा की तरह स्थितियों का सावधान होकर देखें, विचारें और उन्हें विश्लेतियो का सावधान होकर देखें, विचारे और उन्हें विश्लेषित करें । विश्लेषण के चरम क्षणों में 'आगंतुक' को अकस्मात हम अपने बीच पाकर जैसे स्वयं अपने सामने पड़ जाते हैं ।

वस्तु विन्यास और रंग योजना:

वस्तु-विन्यास और रंग योजना की दृष्टि से भी तान्त्रिक का अध्ययन उपयोगी और मनोरंजक हो सकता है : 'झील के रंग की पोशाक, माथे पर रक्त चन्दन, बाल भौंह तक सब श्वेत है । इस प्रकार स्पष्ट है कि तान्त्रिक में नीले(पीले, लाल) रक्त चन्दन तथा श्वेत रंगों का प्रयोग हुआ है । 'रंग किसी व्यक्ति और व्यवहार के अध्ययन का

महत्वपूर्ण किन्तु सूक्ष्म साधन है । 'नीला रंग खास तौर से स्वच्छ पानी जैसे हल्का नीला रंग-निष्ठा, आस्था, आत्म निर्भरता, उच्चतर मूल्यों के लिए संसार के त्याग, स्वर्गिक गहन निस्वार्थ और आध्यात्मिक चेतना का प्रतीक है । रक्त चन्दन का रंग - अहंकार, बौद्धिकता, अज्ञान पर ज्ञान की विजय और दूसरों को प्रभावित एवं मंत्रमुग्ध करने की क्षमता का घोतक है । 'हिमश्वेत' की सफेदी- पवित्रता, सात्विकता, स्वच्छन्दता, मैत्री और शान्ति का संदेश देती है । इस प्रकार वृद्ध तान्त्रिक . के रूपाकार में नाटककार ने जिन तीन रंगों का प्रयोग किया है वे रंग उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रस्तुत करने में पूर्णत: समर्थ है । सामान्यत: तान्त्रिक के साथ जो काला और गहरा लाल रंग परम्परा से जुड़ा हुआ है, यहाँ उन दोनों रंगो का पूर्णत: बहिष्कार केवल संयोग मात्र नहीं हैं । नीली झील के इस तान्त्रिक के साथ वास्तव में काले रंग की संगति बैठ ही नहीं सकता थी । इसलिए तान्त्रिक के वेष-विन्यास की रंग योजना में परम्परा के विरुद्ध जाने का खतरा उठाकर भी भारती ने अपने नाटक के मूल संवेदनाख चरित्र-सृष्टि, और प्रीतवन्विति के प्रति अपनी लेखकीय जिम्मेदारी को पूरी ईमानदारी निष्ठा से निभाया है

5.7.3 आवाज का नीलाम:

आवाज का नीलाम अपने यथार्थवादी दृश्यबंध, युक्त वस्तु संरचना, स्पष्ट और प्रखर, चरित्रांकन प्रभावपूर्ण संवाद और हमारे जीवन के एक महत्वपूर्ण बुनियादी सवाल के नाटकीय प्रस्तुतीकरण के माध्यम से ऐसा ही एक त्रासद षड्यंत्र-क्षण से हमारा साक्षात्कार कराता है । जीवनभर के संघर्ष के फलस्वरूप उपलब्ध और सब कुछ लुटाकर अर्जित की गई स्वतंत्रता किस प्रकार कागज के चंद टुकड़ो के बदले हँसते हँसते खरीद ली जाती है और बेचने वाला कैसे खरीदना का अहसान मानकर उसे चुपचाप बेच देता है- पाठक / दर्शक के लिए सचमुच यह एक तिलमिला देने वाला अनुभव है।

संवादों और क्रिया कलापों द्वारा ही नहीं दृश्य-सज्जा के माध्यम से भी भारती अत्यन्त प्रतीकात्मक रूप में एकांकी के केन्द्रीय पात्र 'आवाज' के सम्पादक- दिवाकर के चरित्र की और उसकी मनःस्थिति का संकेत दे देते हैं । कमरे की सज्जा-कागज बिखरे हैं, पेपरवेट एश-ट्रे पर रखा है, पिन कुशन खाली है, सिगरेट की राख पिन कुशन पर इकट्ठा है, एक ओर दिवाकर की अस्तव्यस्तता प्रदर्षित करती है तो दूसरी ओर वह भी संकेत देती है कि उसका बल (पेपरवेट) इस समय केवल राख (एश ट्रे) के बनाये रखने में लगा हुआ है । जिन महत्वपूर्ण कागजों (मूल्यों) को चेतना और अवधान के केन्द्रीकरण (पिन) द्वारा एकत्र करके बाँधना है, वह पिन कुशन खाली है और पिनें मेज पर बिखरी पड़ी है । तिपाई पर रखा हुआ टेलिफोन दिवाकर के आन्तरिक यथार्थ को उसके बाहर की दुनिया के यथार्थ से जाड़ने का माध्यम है । पीछे की दीवार पर लगा सुभाष का भव्य चित्र जो गर्द और मैल से धुँधला पड़ गया है- एक ओर सफाई के प्रति दिवाकर की उपेक्षा का संकेत देता है उसकी व्यस्तता का संकेत देता है । गौर से देखा

जाए तो अब दिवाकर को स्वातन्त्रय संग्राम के लोगों पर भी ज्यादा आस्था नहीं रही है क्योंकि कुछ अनुयायी जनता से विश्वासघत करके गाँधी टोपी लगाकर तथा खाद्य पहनकर देश के नेता बन बैठे थे ।

5.7.4 संगमरमर पर एक रात:

संगमरमर पर एक रात मुगल इतिहास की रहस्यमयी साम्राज्ञी नूरजहाँ के नाटकीय जीवन की उस ऐतिहासिक रात के चरम अंतर्द्वंद पूर्ण निर्णायक क्षणों की दृश्यगाथा है जब उसने जहाँगीर के प्रेम-निवेदन को स्वीकार कर मेहरूत्रिसा से नूरमहल' बनना स्वीकार किया । ऐतिहासिक घटनाओं की तथ्यात्मकता की दृष्टि से सन् 1577 में मलिक मसूद के काफिले के साथ फारस से हिन्दुस्तान आते हुए मिर्जा गियास बेग की पत्नी के कंधार में एक बच्ची को जन्म दिया, जिसका नाम मेहरूत्रिसा रखा गया । लगभग 17 वर्ष की उम्र में उसका विवाह अली-कली इस्ताजलु नामक साहसी और वीर व्यक्ति से हो गया । शेर को खाली हाथों से मारकर उसे शहजादा सलीम ने 'शेरअफगन' का खिताब दिया । परन्तु शेर अफगान के विद्रोही व्यवहार और षडयंत्रों की सूचना पाकर जहाँगीर ने बंगाली के गवर्नर कुखद्दीन खान को उसे राजदरबार में पेश करने का हुक्म दिया । 1607 में कुतुबुद्दीन वर्धमान गया जहाँ उसने चालाकी से अकेले शेर अफगान को घेरकर मारने का प्रयास किया परन्तु स्वयं उसके ही हाथों मारा गया । अम्बाखान भी नहीं बचा परन्तु उसने ओर उसके साथियों ने शेर अफगान के टुकड़े-टुकड़े कर दिये । महरूत्रिसा को उसकी बेटी लाडली के साथ शाही दरबार में लाया गया, जहाँ वह सुल्तान सलीमा बेगम के संरक्षण में चार साल तक रही । मार्च 1811 में जहागरी ने उसे बसन्तकालीन मीनाबाजर में देखा और उससे प्रेम करने लगा । उसी वर्ष मई के अन्त में उसने मेहरूत्रिसा से विवाह भी कर लिया ।वस्त-संरचना की दृष्टि से अपने अन्य अपने अन्य एकाकियो की ही भाँति भारती ने इसमे भी 'आकस्मिकता' का प्रयोग किया है । 'लाडली और शहजादे परवेज के प्रेम-प्रसंग के बाद मेहरून्निसा और जहाँगीर का विवाह तथा लडली और शहजादे का सम्बन्ध-विच्छेद अन्त को अत्यन्त कूतुहलतापूर्ण और नाटकीय बना देता हैं ।

प्रस्तुत: एकांकी नायिका प्रधान है और इसकी नायिका अनिंद्य सुन्दरी है । मेहरून्निसा पति की हत्या के बाद पिछले चार साल से जो कठोर, ठंडा और ठोस जीवन जीती आ रही है, उसकी तुलना शायद नंगे संगमरमर से ही हो सकती है । नाटककार ने जिस रात को अपने एकांकी का मूल कथ्य बनाया है वह रात संगमरमर पर उस तरह बितायी गई जिन्दगी का आखिरी रात है; इसलिए नायिका की सूनी, एकरस, बर्फीली, सख्त और उदास जिन्दगी के अन्तिम क्षणों को प्रस्तुत करने वाले इस एकांकी का सर्वथा सटीक शर्षिक संगमरमर की एक रात ही हो सकता है ।

5.7.5 सृष्टि का आखिरी आदमी :

सृष्टि का आखिरी आदमी भारती की अकेली नाट्यकृति है जो उन्होंने मूलत: रेडियों की दृष्टि से लिखी हैं नाटककार ने इसे स्वयं 'रेडियों-छन्द', नाट्यघट' की संज्ञा दी है । इसमें सम्पूर्ण रेडियो नाट्य शिल्प का सार्थक और सफल प्रयोग हुआ है ।

सृष्टि का आखिरी आदमी की संवाद योजना में प्रवाह, गति, नाटकीयता, तनाव और विस्फोट है । शब्दों और वाक्यों के गठन में कुछ ऐसा प्रभाव है कि भाषा, परिस्थिति और पात्र के अनुसार परिवर्तित होती रहती है । इसे संवादों की मूल विशेषता संवाद-संक्षिप्त या पात्रानुकूल शब्दों के चुनाव की अपेक्षा पात्रों के अनुकूल लय-विधान में हैं । प्रत्येक पात्र का बोलने का लहजा दूसरे से भिन्न है और यह बात अभिनेता के गले पर आश्रित न होकर वाक्यों के गठन में छन्द विधान और लय विधान में विद्यमान हैं । घटनास्थल, वातावरण, कार्य कलाप आदि का प्रस्तुतीकरण तथा पात्रों की भाव भंगिमा और अनुभावों आदि का संकेत भी कथोपकथन के माध्यम से ही दिया गया है।

नाटक का एक महत्वपूर्ण पात्र है- उद्घोषक । 'रेडियों फीचर' या रूपक की तो आधारभूत विशेषता ही उद्घोषक या ऐसा ही कोई पात्र होता है- जैसे नेरेटर, सूत्रधार, प्रवक्ता, वाचक, पुरूष स्वर, स्त्री स्वर, कथाकार, आयोजक आदि । परन्तु आवश्यकता पड़ने पर नाटक में भी इसे रखा जा सकता है ।

प्रस्तुत एकांकी ध्वनि-प्रभाव की दृष्टि से एक समृद्ध एवं प्रभावशाली रचना है । मनःस्थिति और परिस्थिति के अनुसार विभिन्न ध्वनि प्रयोगों का इसमें सुन्दर प्रयोग दिखाई देता है । अनेक स्थानों पर गोलियों की धाँय-धाँय, सैनिक. मार्च, घोड़ों की आवाज, इमारतें टूटना आदि भयानक शोर भी सुनाई देते है । कुल मिलाकर 'सृष्टि का आखिरी आदमी एक सम्पूर्ण एवं सफल रेडियों-नाटक है ।

5.8 सारांश

धर्मवीर भारती की नाट्य दृष्टि तथा उनके महत्वपूर्ण नाटक 'अंधायुग' से लेकर 'नदी प्यासी थी, नीली झील, आवाज का नीलाम, संगमरमर की एक रात, सृष्टि का आखिरी आदमी का अध्ययन व विवेचन से स्पष्ट है कि धर्मवीर भारती की नाट्य दृष्टि अत्यन्त व्यापक थी । उनके सभी नाटक मंचन की दृष्टि से पूर्ण सफल रहे है ।

5.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. धर्मवीर भारती के नाटकों के आधार पर उनकी नाट्य दृष्टि की विवेचना कीजिए ।
2. हिन्दी गीतिनाट्य परम्परा में अंधायुग का स्थान निर्धारित कीजिए ।
3. अंधायुग की आधुनिकता की चर्चा कीजिए ।
4. गीतनाट्य की दृष्टि से अंधायुग का मूल्यांकन कीजिए ।
5. अंधायुग की रंगमंचीयता पर विचार कीजिए ।
6. एकांकी कला के आधार पर नदी प्यासी थी' की आलोचना कीजिए ।

7. एकाकी कला के आधार पर 'नीली झील' की विवेचना कीजिए ।
8. एकांकी कला के आधार पर 'आवाज का नीलाम एकांकी को विवेचना कीजिए ।
9. एकांकी कला के आधार पर 'संगमरमर का एक रात को विश्लेषित कीजिए ।

5.10 सन्दर्भ गन्थ

1. डॉ. सुष्मा बेदी; हिन्दी नाट्य : प्रयोग के संदर्भ में
2. डॉ. रामजन्म शर्मा; स्वातन्त्रोत्तर हिन्दी नाट्य
3. गोविन्द चातक; रंगमंच: कला और दृष्टि
4. डॉ. सुरेश गौतम; अंधायुग की रचना मानसिकता
5. जयदेव तनेजा; अंधायुग और भारती के अन्य नाट्य प्रयोग
6. डॉ. दिनेश चन्द वर्मा; समकालीन हिन्दी नाटक और नाटकार
7. ले. शान्ति मलिक;हिन्दी नाटकों की शिल्पलिपि का विकास

इकाई-6 अंधायुग में कथावस्तु और चरित्र चित्रण

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 कवि-परिचय

6.2.1 भारती का व्यक्तित्व और कृतित्व

6.2.2 प्रमुख कृतियाँ. परिचयात्मक विश्लेषण

6.3 'अंधायुग' की कथावस्तु

6.3.1 कथानक परिचय

6.3.2 कथानक और आधुनिक बोध

6.4 'अंधायुग' में चरित्र-चित्रण

6.4.1 प्रमुख पात्रों का चरित्र-विश्लेषण.

6.4.1.1 अश्वत्थामा

6.4.1.2 गांधारी

6.4.1.3 धृतराष्ट्र

6.4.1.4 विदुर

6.4.1.5 संजय

6.4.1.6 अन्य पात्र

6.5 सारांश

6.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

6.0 उद्देश्य

धर्मवीर भारती का बहु चर्चित काव्य-नाटक जिसे गीतनाट्यात्मक प्रबन्ध कहना अधिक उपयुक्त लगता है, एक विशिष्ट और प्रभावी रचना है । प्रस्तुत इकाई के अध्ययनोपरान्त आप:

- 'अंधायुग के कथानक से भली-भाँति परिचित हो सकेंगे ।
- महाभारत के प्रसिद्ध आख्यान में कवि द्वारा संयोजित आधुनिक बोध की स्थिति से परिचित हो सकेंगे ।
- 'अंधायुग में आये पात्रों के व्यक्तित्व और चरित्र से अवगत होकर कवि की मौलिकता से अवगत हो सकेंगे ।
- 'अंधायुग कृति की प्रस्तुति में कवि ने जो शिल्प अपनाया है, उसकी स्थिति से परिचित होकर इसके महत्व से अवगत हो सकेंगे ।

6.1 प्रस्तावना

नयी कविता जिस आधुनिक बोध को काव्य की धरती पर उतारती रही है तथा जिन नये अनजाने संदर्भों को उद्घाटित करती हुई पुराने प्रसंगों को नये बोध के अनुरूप जाँचती-परखती रही है, उनके समर्थ कवियों में धर्मवीर भारती का नाम विशेषोल्लेख्य है। सामान्यत: भारती का व्यक्तित्व कई रंगों में देखा जा सकता है, किन्तु वे अधिकतर नये बोध के सजग शिल्पी हैं । उनकी कविताएँ और चाहे जो भी स्पष्ट करें, यह निश्चित है कि उनमें मूलतः रोमानी दृष्टि का प्रसार अधिक है । अनेक कविताओं को पढ़ने से लगता है कि वे रोमानी तारल्य जो छायावाद का ही संस्करण है, उर्दू की नजाकत और नफासत के कवि हैं । उनकी प्रसिद्ध काव्य-कृतियों में 'ठण्डा लोहा, 'सात गीत वर्ष', 'कनुप्रिया', 'अंधायुग' और सपना अभी भी का विशेष महत्व है । 'कनुप्रिया' रागात्मक प्रबन्ध है जिसमें प्रभाव डालने की अदभूत क्षमता है । कनुप्रिया की ही भाँति 'अंधायुग' भी गीतिनाट्यात्मक प्रबन्ध है । अन्तर इतना ही है कि कनुप्रिया राग-सम्बन्धों की वैचारिक पृष्ठभूमि पर खड़ी है और 'अंधायुग पौराणिक आख्यान के सहारे समसामयिक जीवन के संकट का प्रतिबोधक है । दोनों की समस्याएँ तत्वतः भिन्न नहीं हैं-भिन्न हैं तो केवल बिन्दु तक पहुँचने का माध्यम । कनुप्रिया केवल काव्य है, किन्तु 'अंधायुग एक साथ ही नाटक भी है और काव्य भी । अतः उसे गीतिनाट्य की शैली में लिखा गया प्रबन्ध काव्य कहना अधिक समीचीन जान पड़ता है ।

6.2 कवि परिचय

6.2.1 भारती का व्यक्तित्व और कृतित्व

धर्मवीर भारती का जन्म सन् 1926 में इलाहाबाद में हुआ । सन् 1947 में प्रयाग विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए. किया । 'सिद्ध साहित्य' पर शोध प्रबन्ध लिखकर वहीं से डीफिल की उपाधि प्राप्त की । पहले प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक रहे, फिर सन् 1961 में 'धर्मयुग के सम्पादक बने । बी.ए. से ही लेखन-कार्य प्रारम्भ कर दिया था । पत्रकारिता की ओर झुकाव होने से संगम, निकष' और 'आलोचना' में सम्पादन-सहयोग किया । परिमल के संस्थापक-सदस्यों में से हैं । इनकी प्रायः सभी मौलिक रचनाएँ उनके पत्रकार जीवन के पूर्व की हैं और प्रयाग में लिखी गयी हैं । बंगला देश से सम्बद्ध रिपोर्ताजों से भी चर्चित रहे हैं । भारत सरकार ने इन्हें पदमश्री की उपाधि से किया है । इनकी प्रमुख प्रकाशित काव्य-कृतियाँ ये हैं- 'दूसरा सप्तक' में संकलित कविताएँ, ठंडा लोहा' 'अंधा युग सात गीत वर्ष, 'कनुप्रिया, 'सपना अभी भी । उपन्यास- 'गुनाहों का देवता, 'सूरज का सातवां घोड़ा । कहानियाँ- चाँद और टूटे हुए लोग, 'बंद गली का आखिरी मकान' । निबंध एवं समीक्षा-प्रगतिवाद एक समीक्षा, ठेले पर हिमालय, सिद्ध साहित्य, मानव मूल्य और साहित्य, कहनी-अनकहनी, पश्यन्ती । नाटक- 'नदी प्यासी थी' । अनुवाद-देशान्तर, आस्कर, वाइल्ड की कहानियाँ।

नयी कविता के कवियों में धर्मवीर भारती सर्वाधिक रोमैंटिक मनोभाव के कवि हैं । भारती की रचनाओं में प्रेम के विविध रूपों का जीवन्त और आवेगमय चित्रण मिलता है । इनकी यथार्थ जीवन दृष्टि से प्रेरित रचनाएँ भी रोमानी अनुभूतियों से मुक्त नहीं हैं, लेकिन इनका रोमांस, छायावादी रोमांस से भिन्न, जीवन की सहज अनिवार्यता के रूप में अंगीकृत हुआ है । एक ओर कवि इतिहास, पुराण, मध्ययुग और रोमैंटिक युग के स्वप्नों, कल्पनाओं, आकांक्षाओं, मधु क्रीड़ाओं और रंगीनियों के आकर्षण को रखता है और दूसरी ओर वह अपने युग के यथार्थ, भ्रम, संशय, कुण्ठाओं, असंगतियों और विभीषिकाओं को भी देखता है । इन दोनों की प्रतिक्रियाओं से भारती के काव्य का प्रधान स्वर अवसादजन्य रोमानी आत्म-पीड़ा से संघटित होता है । 'अंधायुग उनके इस मूल भाव से अलग नहीं है । भारती के तीखे विद्रोह में आत्म-मंथन की गम्भीरता के स्थान पर रोमानी आवेश भी इसी कारण से परिलक्षित होता है । वेदनाओं और क्रीड़ाओं के माध्यम से प्रमष्णु गाथा के माराजक कथानक में मानव-मूल्यों और मर्यादाओं की अभिव्यक्ति इसी स्तर पर हुई है ।

6.2.2 प्रमुख कृतियाँ : परिचयात्मक विश्लेषण

धर्मवीर भारती की प्रमुख काव्य-कृतियों में पहला स्थान **'ठण्डा लोहा'** का है । 'ठण्डा लोहा' की कविताओं में जो उद्दाम आकर्षण, रूपासक्ति और निर्दोष प्यार मिलता है, वह 'गुनाहों के देवता के चन्दर का प्रारम्भिक रूप है-जब तक वह सैक्स' से प्राय: अपरिचित है । भारती का यह पात्र एक ओर तो शुद्ध प्रेम को भोगता है और दूसरी ओर पम्मी के आकर्षण में वासना के अमृत बिन्दुओं का पान कर कृतकृत्य हो जाता है । यही दो छोर हैं जो भारती के काव्य में मिलते हैं । चन्दर का यह कथन 'पम्मी ने ..... मेरे मन की सारी कटुता, सारा विष खींच लिया, मुझे लगा आज बहुत दिनों बाद मैं फिर पिशाच नहीं आदमी हूँ । यह वासना का ही दान है । तुम कैसे कहोगी कि वासना आदमी को नीचे ही ले जाती है । ' यह वासना की ओर बढ़ने का ही प्रयास है । वासना को सहज रूप में स्वीकार करके तथा उसे व्यक्तित्व की अनिवार्यता मानकर जैसे वह सन्तुष्ट हो जाता है । यह सन्तुष्टि ठण्डा लोहा की कविताओं में मस्ती का गीत बनकर प्रकट होती है ।

ठण्डा लोहा' की कविताओं में स्वर-वैविध्य है, किन्तु फिर भी सभी में किशोरावस्था की रूपासक्ति, प्रणयजन्य मादक अनुभूतियाँ, निराशा की तीव्रता और भावाकुल तन्मयता की घनीभूत स्थितियों का अभिव्यंजन है । इनकी संघर्ष चेतना और यथार्थ जीवन से द्रवित होने की वृत्ति भी रोमांटिक भावनाओं की छाया में पढ़ी जा सकती है । कुछेक रचनाओं में जीवन की कदुतम अनुभूतियों को भी रोमानी दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। संघर्षक्रान्त मध्यवर्गीय मानव की विविध मनःस्थितियों का रूपांकन इसका प्रमाण है। ठण्डा लोहा की प्रथम रचना ही इसका प्रमाण है-

मेरे और तुम्हारे सारे भोले निश्छल विश्वासों को

आज कुचलने कौन खड़ा है?
ठण्डा लोहा ।
फूलों से, सपनों से, आँसू और प्यार से
कौन बड़ा है?
ठण्डा लोहा!

ठण्डा लोहा उन मध्यवर्गीय कुण्ठाओं का प्रतीक है जो जीवन में मनहूसियत और निराशा को जन्म देती हैं । 'ठण्डा लोहा की कविता 'कवि और अनजान पगध्वनियाँ' में भारती के नये चिन्तन की पाठिका को अभिव्यक्ति मिली है । यह वह कविता है जिस तक आने मे कवि को अनेक रोमानी गलियों व गलियारों से गुजरना पड़ा है । इन गलियों में कहीं रूप ने कवि का मन बाँध लिया है तो कभी खिड़की से झाँकती मस्ती ने आँख-मिचौनी का खेल खेला और कभी किसी की तलाश में कवि की आंखे फटी की फटी रह गयी हैं । 'अनजान पगधनियों में नयी आहट है, नयी खटखट है, जो कवि के मन में जन्म लेने वाली मोती-सी उपमाओं पर विवेक की चादर तान देती है । इसी क्रम में 'फूल, मोमबत्तियाँ, सपने' और 'कलाकार से कविताओं को पढ़ा जा सकता है । इनकी भाव-भूमि भी बदली हुई है, किन्तु यह भूमि पहली के बाद ही आती है-तात्पर्य यह है कि यहाँ आने पर भी पहली किशोर भावना का महत्व कतई कम नहीं होता, क्योंकि उन्हीं से गुजरकर तो कवि यह भूमि पा सका है ।

'सात गीत वर्ष' की भूमि ठण्डा लोहा से आगे की मंजिल का रास्ता बताती है । इस संग्रह में कवि आस्था और विश्वास का दीप जलाकर सभी पराजितों को आशा और विश्वास की छाँह में जीवन बिताने के लिए न्यौतता प्रतीत होता है । उसका विश्वास है कि आज के अधूरे व्यक्तित्व कल पूर्ण बनेंगे और हमारी टूटती जिन्दगी नये ढंग से गठित होगी । सही बात यह है कि सात गीत वर्ष' का भारती न तो पलायन में विश्वास करता है और न निराश होकर जीवन से मुँह मोड़ता है वरन् वह तो स्थिति की जटिलता और जीवन की असलियत को सही रूप में देखने और भोगने के पक्ष में है । यह भोगना बेमानी नहीं है, उसके पीछे एक आशा है, एक आस्था है । सही मानियों में भारती अज्ञेय की ही भाँति जीवन के प्रति आस्थावान हैं । अज्ञेय इसी आस्था के सहारे मिट्टी के मानव को भी देवता बन जाने तक की स्थिति के कायल हैं तो भारती भी कमल' पंथ' और 'सूर्य की आस्था' पर जीवित हैं-

रात :

पर मैं जी रहा हूँ निडर
जैसे कमल
जैसे पंथ
जैसे सूर्य
क्योंकि कल भी हम खिलेंगे
हम चलेंगे

हम उगेंगे ।
और वे सब साथ होंगे
आज जिनको रात ने भटका दिया है!

संग्रह की कुछेक कविताओं में मानव की शक्ति, सीमा और महिमा का भी गुणगान मिलता है । भारती भाग्यवादी नहीं, कर्मवादी हैं-आस्थामय कर्मवादी । वे जानते हैं कि मनुष्य तक पहुँचने की धुन है तो वह व्यक्ति की ही शक्ति है, उसकी ही पौरुषमयी चेतना है । सफलता तक पहुँचने में वह हारता भी है, टूटता भी है, किन्तु इसी हारने, टूटने, खीझने और बिखरने से वह बनता भी है, सँवरता भी है और यह सब वह अपने पौरुष से करता है या कर सकता है । भारती लोकहित के ध्यान में डूबा हुआ युग के प्रति जागरूक है । वह व्यक्तिगत हितों को सामाजिकता की चादर उढाकर जनहित की आग जलाता है और युग-पथ पर जन-जन के साथ आगे बढ़ता हुआ, समाजोन्मुखता का सामूहिक गीत गाता हुआ, मानवता के पथ पर बढ़ना चाहता है । कवि की आत्म-चेतना का प्रवाह समष्टि की सीमाओं से घिरकर समाप्त नहीं हो गया है, वरन् वह तो जीवन के प्रत्येक क्षण में चैतन्य है, अपने अस्तित्व को सही तरीके से प्रमाणित करता हैं-

मैं रथ का टूटा पहिया हूँ
लेकिन मुझे फैंकों मत
क्या जाने कब इस
दुरूह चक्रव्यूह में, अक्षौहिणी सेनाओं को
अकेले चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय ।

इस संकलन में कहीं व्यंग्य है तो कहीं व्रहन्नला के माध्यम से आज के क्लीवी शौर्य का पोस्टमार्टम भी है । कहीं जीवन की रिक्तता है, तो कहीं घुटन का धुआँ भी है, किन्तु इन सबके ऊपर यादों की मीनार खड़ी है, फूलों की गंध भरा आँगन है और हैं प्रकृति के ताजे-ताजे, अनाघ्रात और अचुम्बित चित्र जिन्हें देखकर लगता है कि कवि नये स्वरारों को साधते हुए भी अपने प्रारम्भिक मनोभाव को पूरी तरह भुला नहीं पाया है । रोमानी सौंदर्यबोध के संदर्भ में 'नवम्बर की दोपहर, 'ए वन' रचना है जो अपने हल्के और गुनगुने स्पर्शों से मन को तरोताजा कर जाती है, किन्तु यह ताजगी रह नहीं पाती है, क्योंकि जीवन की जटिलताएँ सारी मदहोशी को-फूलों के बंधन को ढीला कर देती हैं और भावाकुल तन्मयता के क्षणों में कई प्रश्नचिह्न मुँहबाये खड़े हो जाते हैं । यही वह बिन्दु है जहाँ कवि दो स्तरों पर एक साथ जीना चाहता है । प्रयास तो कई बार हुआ है कि कोई ऐसा मूल्य स्तर खोजा जा सके जिस पर ये दोनों ही स्थितियाँ अपनी सार्थकता पा सकें पर इस खोज को कठिन पाकर दूसरे आसान समाधान ढूँढ लिये गये हैं-मसलन इन दोनों के बीच एक अमिट पार्थक्य रेखा खींच देना और फिर दूसरे बिन्दु से खड़े होकर उस बिन्दु को और उस बिन्दु से खड़े होकर इस बिन्दु को

मिथ्या भ्रम घोषित करना.. या दूसरी पद्धति यह रही है कि पहले वह स्थिति जी लेना, उसकी तन्मयता को सर्वोपरि मानना और बाद में दूसरी स्थिति का सामना करना, उसका समाधान खोज लैने के प्रयास में पहली को बिल्कुल भूल जाना । कहने की आवश्यकता नहीं कि भारती दोनों मनस्थितियो में जिए हैं और पूरी तरह डूबकर बिना दोनों के मिलाए । राग सम्बन्धों की वैचारिक परिणति **'कनुप्रिया'** में भी यही स्तर दिखाई देता है ।

'कनुप्रिया' में एक ओर राधा की भावाकुल तन्मयता और दूसरी ओर उसके द्वारा अनजाने में ही उठाये गये प्रश्न हैं । वस्तुतः राधा ने भावाकुल जीवन जिया है, यही उसके अस्तित्व के अनुरूप भी है, किन्तु उसके प्रणय को भारती ने एक वैचारिक पृष्ठभूमि भी दी है । इस पृष्ठभूमि के पीछे एक अनिवार्य तथ्य काम करता दिखाई दे रहा है और वह है जीवन के बदलते हुए मानदण्ड । बीसवीं सदी में हमारी मान्यताओं में कितना हेर-फेर हुआ है, कितना कुछ बदला, बना और बिगड़ा है, ऐसी स्थिति में यदि 'कनुप्रिया' की भावाकुल तन्मयता कुछ नये वैचारिक संदर्भों का उद्घाटन करें तो कोई आश्चर्य नहीं है ।

'कनुप्रिया' प्रबन्ध है-रागात्मक प्रबन्ध जिसमें प्रभाव डालने की अदभूत क्षमता है । कुछ आलोचकों ने न जाने किस आशंका से, न जाने कौन-से विश्वास से इसे गद्य काव्य भी नहीं माना है । यह प्रबन्ध पाँच खण्डों में विभक्त है-पूर्वराग, मंजरी परिणय, सृष्टि संकल्प, इतिहास और समापन । ये खण्ड इस बात की सूचना देते हैं कि कनुप्रिया की भावाकुल तन्मयता के ही विविध संदर्भ हैं और उन सभी में एक सूत्र प्रारम्भ से समापन तक गुँथता चला गया है । यह सही है कि राधा प्रारम्भ से ही प्रश्न की भूमि तैयार करती है और धीरे-धीरे उसी को विकसित करती गयी है, किन्तु यह भी सही है कि वह दो बिन्दुओं पर एक साथ उपस्थित है । कवि स्वयं इन दोनों विरोधी बिन्दुओं को पूरक बनाने की धुन में लगा रहा है । यही वह स्थल है, जहाँ से प्रबन्ध के एक पक्ष का जीवन शुरू होता है । अतः अन्विति, समस्या या संदर्भ विशेष, चरित्रांकन और प्रभावात्मक योजना की दृष्टि से 'कनुप्रिया प्रबन्ध बन गयी है ।

'सपना अभी भी' अन्तिम काव्य-संग्रह है । इसमें भारती की अनुभूतियाँ तो वे ही हैं, पर अधिक प्रौढ़ और परिपक्व हो गयी हैं । उनकी कविताओं में पहले जो आसक्ति का जल था, वह अब निथर गया है, आस्था और जिजीविषा का जो सौंदर्य था, वह मानवीय करुणा से जुड़कर अधिक विश्वसनीय और ईमानदार बन गया है, यथार्थ के ग्रहण के प्रति जो औपचारिकता थी, वह अनुभूत सत्य और अभिव्यक्ति गत ईमानदारी में बदल गयी है । अब वे पूर्वापेक्षा इस संग्रह में अधिक सहज दिखाई देते हैं । रोजमर्रा की शब्दावली में उन्होंने अधिक व्यंजनाएँ दी हैं । प्रेम, रूप का आकर्षण, एक दर्द, एक टीस और बहुत कुछ पा लेने के बाद भी एक तरह की और कुछ पा लेने की चाह भारती की कविताओं में प्रारम्भ से ही रही है । वे शरीर से मन की ओर भी बढ़े हैं, किन्तु उस जादुई सौंदर्यासव के पान के बाद । उन्होंने यदि प्रकृति के मादक चित्र

दिये हैं, प्रेम की तीव्र और गहरी अनुभूतियों को शब्द बद्ध किया है, तो तन के रिश्ते की अहमियत बताकर उसे मन के शिखरों तक भी ले गये हैं । यह सब उन्होंने तब लिखा, जब वे यौवन की माँग को पूरा कर रहे थे और उन्हें घाटी रतिश्रान्ता नायिका दिखाई देती थी । ऐसा नहीं है कि आलोच्य संग्रह में उनका आकर्षण इन सबके प्रति कम हो गया है, पर यह अवश्य है कि अब उसकी अभिव्यक्ति में सोच की मुद्रा आ गयी है । वे अपने अनुभवों को परिपक्व रूप में देने में सफल हुए हैं । कन कन तुम्हें जीकर, उसी ने रचा है, सागर पर सूर्यास्त, 'चैती-तीन दुकड़े', 'शब्द तुमने रचे 'अनाम और अलस्सुबह का प्यार' आदि कविताएँ इसका प्रमाण हैं ।

संग्रह की कई कविताओं में प्यार के नम और गुदगुदे स्पर्श हैं तो कई ऐसे भी हैं जिनमें अकेलेपन का बोध गहराई से व्यक्त हुआ है । बम्बई जैसे महानगर की चमक-दमक और आँखों पर मोटी परत जमा देने वाली रोशनी कितनी भी हो, किन्तु कवि का मन 'उस अलस्सुबह के प्यार की महक पाकर ही सारा दिन बिता देता है । संग्रह की कविताओं को पढ़ने से लगता है कि ऐसा पूरी तरह नहीं है कि कवि प्यार के नशे में आम आदमी की तकलीफ, उसकी बेचैनी और उसकी समस्याओं से बेखबर है । उसकी सचेतन दृष्टि के गोलक में देश की राजनीति, समय-समय पर हुए आंदोलन, सरकार की रीति-नीति और उसमें पिसते हुए तकलीफ भोगते हुए जन के प्रति करुणा का भाव भी है । आलोच्य संग्रह की 'पुराना किला, सोनारू के नाम,, 'मुनादी, 'परिणति', 'धीरे धीरे अन्दरूनी मौत', 'दरबार में एक नवागन्तुक', 'गणतंत्र दिवस', 'प्रार्थना, 'क्या फायदा, 'अन्तरात्मा. एक खाली शाम की बातचीत आदि ऐसी ही कविताएँ हैं ।

ये वे कविताएँ हैं जिनमें कवि व्यक्ति-चेतना की अपेक्षा समष्टि-चेतना के अधिक करीब है । इस संग्रह में कवि का शिल्प भी बदला हुआ है । उसकी भाषा सहज हो गयी है, वह पूर्वापेक्षा अधिक सम्प्रेषणीय हुई है और उसके कथनों में वक्रता व व्यंजना का समावेश अधिक हो गया है । कविताओं में जो वैचारिकता है, वह आरोपित नहीं लगती है । संग्रह से गुजरते हुए कवि के बिम्ब मन को बाँधते हैं । अप्रस्तुत योजना जीवन से जुड़ी हुई, यथार्थ और सटीक है । सपाट से दिखने वाले कथनों में भी गहरी व्यंजना है।

'अंधा युग' धर्मवीर भारती का गीतिनाट्य शैली में लिखा गया प्रबन्ध काव्य है । भारती ने महाभारत की कथा का आधार लेकर अपने मूल मन्तव्य को इस कृति में सम्प्रेषित किया है । यह सर्जना महाभारतोपजीवी होते हुए भी नवीन जीवनबोध और नये मूल्यबोध से संसिक्त है । आधुनिक जीवन की कटुता, विषाद और भटकन से उत्पन्न विसंगति का आलेखन इस कृति के माध्यम से बखूबी हुआ है । कथा में किंचित फेरबदल भी किया गया है, किन्तु वह फेरबदल जीवन गत स्थितियों के कलात्मक प्रतिबोधन के लिए है ।

6.3 अंधा युग की कथावस्तु

'अंधा युग' पौराणिक विषय के सहारे लिखा गया है-ठीक कनुप्रिया की तरह । भारती आधुनिक संवेदनाओं के कवि हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारती ने महाभारत के उत्तरार्द्ध की कथा को लेकर समसामयिक बोध को प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत किया है । इस गीतिनाट्यात्मक प्रबंध की कथावस्तु का घटनाकाल महाभारत के अठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभास तीर्थ में कृष्ण की मृत्यु तक के क्षण का है । कवि ने इसका प्रारम्भ महाविनाश के संकेतों से किया है । कृतिकार का अभीष्ट प्रारम्भ से ही यह बताना रहा है कि महाभारत का युद्ध अनीति, अमर्यादा, कुण्ठा, निराशा, अर्द्धसत्य व अदूरदर्शिता से भरपूर था । एक मानी में सारा समाज ही वैयक्तिक स्वार्थों, निराशा और कुण्ठा से ग्रस्त होने के कारण अन्धा हो गया था । कहीं भी कुछ भी ऐसा नहीं था जो जल्दी देखने की अपेक्षा सही देखता । कृष्ण की युद्धनीतिजन्य कुटिलता, युधिष्ठिर की 'अश्वत्थामा हतोकृ आदि अर्द्धसत्य की सूचक पंक्ति, भीम व दुर्योधन की युद्धजन्य कुटिल नीति व कौरव और पाण्डव दोनों का बढ़ता हुआ स्वार्थ इस बात का सूचक था कि इस वातावरण में ज्योति-किरणस को पहचानने के लिए किसी के पास भी दृष्टि नहीं थी । यह रूपांकन केवल चित्रण नहीं है वरन् इस बात की भी सूचना है कि आधुनिक युग की भयंकर व कँपा देने वाली जटिलताएँ भी वैसी ही हैं-विश्वास छूट गया है, स्वार्थ और अंधापन दिनों दिन बढ़ता जा रहा है । सभी अपनी-अपनी धुन में हैं, किसी को किसी की जरूरत नहीं रह गई है । कोई पीछे नहीं देखता, आगे देखने की तो बात ही दूर है । कवि की अपील यह रही है कि वह आज के घटाटोप में भटकते हुए मानव को भविष्य के प्रति सावधान कर दे । इस बिन्दु से अंधायुग अंधों की कहानी होकर भी प्रकाश की कहानी बन गया है । उसमें आशा और विश्वास की किरणों का प्रसार है । कवि ने इसकी स्वयं सूचना दे दी है-

> युद्धोपरान्त
> यह अंधायुग अवतरित हुआ
> जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं
> .....
> यह कथा उन्हीं अंधों की है
> या कथा ज्योति की है अंधों के माध्यम से ।

इस प्रकार 'अंधा युग' निराशा, कुण्ठा की अभिव्यंजनाओ से युक्त होकर भी प्रकाश की कथा है, उसकी विषयवस्तु विवेक, मर्यादा और अर्द्धसत्य को लेकर चलती है, किन्तु सत्य की तलाश में, प्रकाश की आशा में । सच ही भारती को एक अनुकूल स्थल मिल गया है । एक ओर वे महाभारत के युद्धाना के दृश्यों को देखते हैं और दूसरी ओर द्वितीय विश्वयुद्ध की भयकरताओं के पश्चात् आया युग उनके सामने है जिसमें महाभारतीय अनाचार, अमर्यादा और अनैतिकता का पल्लवन है । चारों ओर रक्तपात ही रक्तपात- 'अंधता' ही 'अंधता', स्वार्थ और अमर्यादा का ही बोलबाला है । अतः: कवि

भविष्य के खतरों से सावधान रहने का संदेश देता है । 'अंधायुग कवि के सामने एक जीवन-संकट बन गया है, जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियों, सभी विकृत हैं और कवि इस संकट की पुनरावृत्ति तीसरे महायुद्ध के रूप में नहीं होने देना चाहता है ।

6.3.1 कथानक परिचय

'अंधायुग का कथानक पाँच अंकों में समाप्त हुआ है । इसमें कौरवों की अन्तिम पराजय से लेकर कृष्ण की मृत्यु तक की कथा सिमटी हुई है । प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कथा में संगठन है, कहीं भी कोई तार टूटता नहीं दिखाई देता है । प्रत्येक घटना-स्थिति और अनुभूति मूल चेतना से सम्पृक्त है । अंकों के शीर्षक प्रतीकात्मक स्तर पर खुलते हैं । कौरव नगरी, पशु का उदय, अश्वत्थामा का अर्द्धसत्य, पंख पहिए और पट्टियाँ, विजय एक क्रमिक आत्महत्या तथा कृष्ण का अवसान स्वयं रचनाकार के ही शब्दों में कथा विकास तथा मानवीय मर्यादा की सापेक्ष स्थिति के सूचक हैं । स्थापना से समापन तक सभी कुछ गुँथा हुआ है, कोई भी दृश्य, प्रसंग या मनःस्थिति मूल चेतना से कटी हुई नहीं है । सम्पूर्ण कथानक बुना हुआ है, दुर्योधन की पराजय, भीम और दुर्योधन का मल्ल-युद्ध, युधिष्ठिर के अधूरे सत्य से उत्पन्न अश्वत्थामा की मनोग्रंथि का जन्म, अश्वत्थामा में हिंसा की जागृति, उसके समस्त अकरणीय कर्म तथा शारीरिक कौरूप्य, युयुत्सु के की ग्रंथि और आत्महत्या के रूप में उससे मुक्ति पाना,कृष्ण-गांधारी वार्ता और कृष्ण की मृत्यु आदि सभी घटनाओं में प्रभाव डालने की पर्याप्त क्षमता है तथा ये सभी परस्पर अनुस्यूत हैं । इन सभी को मिलाने और अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने के लिए रचनाकार ने कथा-गायन की पद्धति को अपनाया है ।

प्रथम अंक में धृतराष्ट्र, विदुर, गांधारी, याचक और दो प्रहरी आते हैं । अंकारम्भ में कथा-गायन की नियोजना है जो लोकनाट्य परम्परा से ली गयी है । कथागायन की पद्धति को अपनाकर कृतिकार ने कई कार्य सिद्ध कर लिए हैं । यथा अनभिनीत घटनाओं की सूचना, वातावरण की सहज मार्मिकता और कथा की प्रतीकात्मक ग्रंथियों को खोलना आदि । प्रथम अंक के कथागायन को ही लीजिए, उसमें कथारम्भ की पृष्ठभूमि का परिचय दिया गया है और बताया गया है कि महाभारत के युद्ध में दोनों ही ओर के प्रतिनिधियों ने विवेक से काम नहीं लिया, दोनों ही पक्ष अमर्यादित रहे । लगता है जैसे भारती यह बताना चाहते हैं कि जब-जब युद्ध होते हैं, तब-तब अमर्यादा बढ़ती है और जब-जब अमर्यादा बढ़ती है तब-तब अशांति बढ़ती है और युद्ध की तैयारियाँ होने लगती हैं-

टुकड़े-टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा
उसको दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है
.....

अंधों से शोभित था युग का सिंहासन
दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा
दोनों ही पक्षों में जीता अंधापन ।
.....
यह महायुद्ध के अन्तिम दिन की संध्या
है छाई चारों ओर उदासी गहरी
कौरव के महलों का सूना गलियारा
हैं घूम रहे केवल दो बूढ़े प्रहरी

यह कथागायन कथा की पृष्ठभूमि से परिचय कराता है, वातावरण की मार्मिकता को प्रभावी बनाता है और कथा को गतिशीलता प्रदान करता हुआ कृति के संदर्भगत औचित्य पर प्रकाश डालता है । इस अंक के मध्य में भी कथागायन की पद्धति की संयोजना है । विदुर और प्रहरी के वार्तालाप के अनन्तर संजय से संवाद सुनने के लिए आतुर धृतराष्ट्र और गांधारी की स्थिति की सूचना बड़ी मार्मिकता के साथ इस कथा गायन से दी गयी है । यदि यही कथा गायन न होता तो कथा का विकास रुक जाता या फिर वह रुकता हुआ नीरसता के साथ आगे बढ़ता-

अन्तःपुर में मरघट की-सी खामोशी
कृश-गांधारी बैठी है शीश झुकाये
सिंहासन पर धृतराष्ट्र मौन बैठे हैं
संजय अब तक कुछ भी संवाद न लाये ।

जिस प्रकार इस गीतिनाट्य की कथा का प्रारम्भ हुआ है, उससे तारतम्य बैठाने के लिए भी यही यह पद्धति अनुकूल है । प्रथम अंक का अन्तिम गायन सारी कथा को समेटता दिखाई देता है ।

दूसरे अंक का प्रारम्भिक कथा गायन भी पिछले अंक की कथा को आगे बढ़ाता है । पिछले अंक में धृतराष्ट्र को संजय की प्रतीक्षा में आतुर बताया गया है और यहाँ कथा गायन की पद्धति से सूचित किया गया है कि तटस्थद्रष्टा, सत्यवक्ता संजय भी युद्ध के परिणाम से विक्षुथ होकर वन में भटक गया है तथा उसका सारा सत्य-कथन साहस ही नष्ट हो गया है । जैसे इस अंक के प्रारम्भ का कथागायन आगे और पीछे की कथा को मिलाता है, वैसे ही अंक के अन्त में आया कथागायन सम्पूर्ण वातावरण को कारुणिक बनाता हुआ कथा के आगे के मोड़ को सूचित करता है-

यह रात गर्व में
तने हुए माथों की
यह रात हाथ पर
धरे हुए हाथों की

इस प्रकार स्पष्ट है कि कथागायन अंकों की कथा को समेटता हुआ आगे-पीछे की कथा को जोड़ता भी है और सभी घटनाओं को अन्वित भी करता है । वस्तु संघटना के निमित्त ही दो प्रहरी आयोजित हैं । ये प्रहरी भी कथागायन की भाँति ही कथा को

समेटने और अन्दित करने का कार्यभार लिए कृति में उपस्थित हैं । फिर भी कभी-कभार ये दोनों प्रहरी घटनास्थल का परिचय देते हैं, कथा-स्थितियों और पात्रों की टीका-व्याख्या करते हैं और कभी-कभी पात्रों के प्रश्नों का उत्तर देकर प्रमुख कार्य में सम्मिलित हो जाते हैं । यह अच्छी पद्धति है, किन्तु एक आपत्ति है और वह यह कि इस कार्य को करते हुए भी ये प्रहरी कृति के जीवन्त पात्र बन सकते थे, किन्तु न मालूम रचनाकार ने यह संकट मोल क्यों नहीं लिया और उल्टे इन्हें संजय की तरह तटस्थ और सभी कुछ देखकर भी चुप रहने और यदा-कदा ही टिप्पणी करने का अवसर दिया । किन्तु इस सबके होते हुए भी ये प्रहरी दो कार्य बड़ी कुशलता से कर सके हैं एक तो कथा में स्थिति को बदलने और पात्रों के प्रवेश को बतलाने का और दूसरा सभी कुछ देखते हुए वातावरण की गहनता का अध्ययन करके अपने कार्य पर तत्पर और अपने आप ही कभी अपनी और कभी राज-काज की आलोचना करने का । यद्यपि इनका यह टिप्पणीकरण यदा-कदा ही हो सका है, किन्तु जहाँ हैं वहां । वे थोडे से सजग प्रहरी लगते हैं, फिर भी जीवन्त नहीं । जीवन्त तो वे इसलिए नहीं कि वे केवल शासन चाहते हैं, अंधे आदेश चाहते हैं-हमेशा उन्हें आज्ञा चाहिए ।

दूसरे अंक में ही अश्वत्थामा आत्मघात करने की सोचता है किन्तु शीघ्र ही वह वध करने के लिए संकल्पित होता है । इसी बीच वह संजय को आया जानकर उसका गला दबाने को तत्पर हो जाता है । ठीक समय पर कृतवर्मा और कृपाचार्य अश्वत्थामा को पकड़ लेते हैं, उसे बुरा-भला कहते हैं, किन्तु अश्वत्थामा एक तर्कपूर्ण उत्तर देता है-

मैं क्या करूँ?
मातुल!
मैं क्या करूँ?
वध मेरे लिए नहीं रही नीति
वह है अब मेरे लिए मनोग्रंथि ।

अचानक वृद्ध याचक भी उसी मार्ग से निकलता है । यह भविष्य है जो संकेत करता है कि आज इस पराजय की वेला में यह सिद्ध हो गया कि भविष्य की सारी अनिवार्यता झूठी है, केवल कर्म सत्य है । इस कर्म में ही युग-युग तक का भविष्य निहित है । अश्वत्थामा प्रतिहिंसा से ग्रसित होकर वृद्ध याचक का वध कर देता है ।

'अधायुग के तृतीय अंक में अश्वत्थामा के अर्द्धसत्य से सम्बन्धित अनेक स्थितियों का उद्घाटन हुआ है । इस अंक में संजय हस्तिनापुर पहुँचकर धृतराष्ट्र और गांधारी के समक्ष पराजय की कथा कहते हैं । उसी समय खंडित रथों पर शेष रहे और घायल सैनिक, ब्राह्मण, स्त्रियाँ और चिकित्सक आदि आ पहुँचते हैं । धृतराष्ट्र बावजूद अंधेपन के घायल सैनिकों को अपने हाथ के स्पर्श से पहचानने की कोशिश करते हैं, गूँगे प्यासे सैनिक को पानी पिलवाते हैं और महल में ही विश्राम का आदेश देते हैं । वे अनुभव करते हैं कि युद्ध का परिणाम भयंकर और विनाशक होता है । गांधारी जड़वत् सभी देखती रहती है । युयुत्स घालय है, विदुर उसे देखकर सोचते हैं कि शायद माता गांधारी

उसे देखकर किंचित् संतुष्टि प्राप्त करें, किन्तु ऐसा होता नहीं है । माँ की इस उपेक्षा से युयुत्से के मुख से ये शब्द फूट पड़ते हैं कि "इससे तो अच्छा था कि मैं असत्य से समझौता कर लेता" व उसे कृष्ण से घृणा हो जाती है । इसी समय द्वन्द्व युद्ध में दुर्योधन की पराजय का समाचार मिलता है । अश्वत्थामा जो छदमवेश में दुर्योधन और भीम के द्वन्द्वयुद्ध को देख रहा था, बलराम की कही इस बात को 'अधर्म हुआ और दुर्योधन मारा गया' गाँठ बाँधकर अधर्म से ही युद्ध करने का निर्णय लेता है । उसके निर्णय को बल उस घटना से मिलता है कि वक्ष पर बैठा एक उल्लू सोते हुए कौए को मार देता है । अश्वत्थामा नींद में निहत्थे और सोये हुए पाण्डवों को मारने का निश्चय कर लेता है ।

यहीं पर 'अन्तराल' शीर्षक है जिसमें अश्वत्थामा द्वारा मारा गया वृद्ध याचक (भविष्य) प्रेतात्मा के रूप में प्रकट होता है । वह अपनी प्रेतशक्ति से सारे प्रवाह और कथा की गति रोक देता है । सभी पात्र उसकी मंत्रशक्ति से परिचालित होते दिखलाये गये हैं । युयुत्सु बतलाता है कि मैं रथ के उस पहिये की भाँति हूँ जो पूरे युद्ध के दौरान रथ में लगा रहा, किन्तु अन्त में अनुभव हुआ कि मैं गलत धुरी में लगा हुआ था । संजय कहते हैं कि मैं दो पहियों के बीच लगा हुआ एक निरर्थक शोभा-चक्र रहा, जिसका स्वयं कोई अस्तित्व ही नहीं है । विदुर भी चुप नहीं रह पाते और वे कहते हैं कि मैं कृष्ण का भक्त हूँ नीतिज्ञ हूँ लेकिन इन असाधारण परिस्थितियों में मेरी साधारण नीतियाँ व्यर्थ प्रमाणित हो गयी हैं । प्रेतात्मा इन तीनों का परिचय प्राप्त कर ही रही थी कि इसी बीच कृष्ण और अश्वत्थामा का रथ आता हुआ दिखाई देता है । अहंकारवश वह कृष्ण के रथ को रोकने की चेष्टा करता है, किन्तु रोक नहीं पाता है । इसके पीछे अश्वत्थामा का रथ था जिसकी गति को प्रेतात्मा तो क्या, कृष्ण भी रोक पाने में समर्थ नहीं थे । रथ आगे बढ़ जाता है । कथा की गति को बाँधना प्रेतात्मा के वश में नहीं था । कृष्ण का रथ अंधकार में पीछे छूट जाता है और अश्वत्थामा का रथ पाण्डवों के शिविर में पहुँच जाता है । शिविर के द्वार पर ही अश्वत्थामा के सम्मुख एक विराटकाय दैत्य काली चट्टान के समान अडकर खड़ा हो जाता है ।

'अंधायुग' काव्यनाटक का चौथा अंक प्रमुखत: गांधारी के शाप से सम्बन्धित है । तीसरे अंक में जिस विराटकाय दैत्य की चर्चा की गयी है, वह और कोई नहीं, स्वयं शिव थे । उन्होंने प्रलयमेघ-गर्जन के स्वर में यह कहा कि अश्वत्थामा पहले मुझे जीतो, तब अन्दर जा पाओगे । अश्वत्थामा ने अपने सभी दिव्यास्त्रों का प्रयोग कर लिया, फिर भी वे पराजित ही रहे । पराजित करते हुए अश्वत्थामा ने शिव की वंदना की । शिव प्रसन्न हो गये और उन्होंने कहा कि

अश्वत्थामा! तुम विजयी होगे निश्चय
हो चुका पाण्डवों के पुण्यों का अब क्षय
मैं कृष्ण-प्रेमवश
अब तक उनकी रक्षा करता था

मैं विजय दिलाता
उनमें नया पराक्रम भरता था
पर कर अधर्म वध
द्वार उन्होंने स्वतः मृत्यु के खोले ।

इस अंक में जो कुछ बताया गया है, वह संजय ने अपनी दिव्य शक्ति से गांधारी को बताया है । अश्वत्थामा शंकर की दैवीय असि को लेकर पाण्डवों के शिविर में जा पहुँचता है । वहाँ पहुँचकर पहले वह धृष्टद्युम्न का वध करता है, फिर शिखण्डी के मस्तक के बीचोंबीच एक बाण मारकर उसे हमेशा के लिए सुला देता है । इतने में शिविर के योद्धा, स्त्रियाँ और बालवृन्द जग जाते हैं । कृपाचार्य और कृतवर्मा पाण्डव-शिविर के दोनों मुख्य द्वारों पर खड़े थे । वे भागने वाले निहत्थे प्राणियों पर बाणों की वर्षा करते हैं और अन्त में शिविर में आग लगा देते हैं । इस प्रकार थोड़ी ही देर में अश्वत्थामा पाण्डवों के शिविर को ध्वस्त कर देता है । इस समाचार को सुनकर गांधारी संजय से कहती है कि वीर अश्वत्थामा ने जो कार्य किया है, वह मेरे सौ पुत्र नहीं कर सके और न द्रोण ही कर पाये और न भीष्म ही । मैं उस वीर अश्वत्थामा को देखना चाहती हूँ । हे संजय! तुम अपनी दिव्य दृष्टि से एक बार मुझे उसके दर्शन करा दो । संजय उसकी कुरूपता और भयंकरता का बखान करते हैं और अन्ततः यह कहते हैं कि अपने सारे पुण्यों के बल को एकत्र करके मुझे जो दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई थी, वह तो युद्ध के समापन तक ही के लिए थी । अब मेरे पास कोई ऐसी दृष्टि नहीं है ।

गांधारी अश्वत्थामा को अजेय बनाना चाहती थी, किन्तु इसी बीच महाराज का देहान्त हो जाता है, गांधारी मूर्च्छित हो जाती है, कृपाचार्य भी रोने लगते हैं । अश्वत्थामा पुन: प्रतिज्ञा करता है कि हे कृष्ण! जैसे तुमने गांधारी की कोख पुत्रहीन कर दी है, वैसे ही मैं उत्तरा की कोख को पुत्रहीन कर दूँगा । इस प्रतिज्ञा को सुनकर गांधारी अश्वत्थामा के प्रति अनुरक्त हो जाती है और अपनी आँखों की पट्टी उतार देती है । अंधों का साथ देने में संजय को भी अंधा होना पड़ता है । विदुर को लगता है कि जैसे अब सब कुछ समाप्त होने वाला है । ऐसी स्थिति में वे संजय, युयुत्सु, गांधारी तथा धृतराष्ट्र एवं पुत्रवधुओं को लेकर अन्तिम संस्कार के लिए युद्धभूमि की ओर चलते हैं । मार्ग में उन्हें कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा मिल जाते हैं । अश्वत्थामा अब भय की प्रतिमूर्ति लग रहा था और वल्कल धारण करके तपोवन में जाना चाहता था । उधर कृष्ण पाण्डवों को लेकर अश्वत्थामा को खोज रहे थे । उन्हें अश्वत्थामा मिल जाता है । अर्जुन अश्वत्थामा को देखकर अग्निबाण छोड़ता है । अग्निबाण के उत्तरस्वरूप जोश में आकर अश्वत्थामा ब्रह्मास्त्र छोड़ देता है । महर्षि व्यास के आश्रम में सभी एकत्र होते हैं । व्यास अश्वत्थामा को समझाते हैं कि ब्रह्मास्त्र वापस ले लो । अर्जुन भी अपना ब्रह्मास्त्र छोड़ चुका था, किन्तु अश्वत्थामा अपना ब्रह्मास्त्र वापस नहीं लेता है । वह कहता है कि मैं अशक्त हूँ मुझे तो ब्रह्मास्त्र छोड़ने की आदत है, वापस लेना मैं जानता ही नहीं हूँ । अन्तत: अश्वत्थामा यह कहते हैं कि महर्षि व्यास और कृष्ण, तुम दोनों सुन लो मेरा छोड़ा हुआ ब्रह्मास्त्र उत्तरा के गर्भ पर जाकर गिरेगा और वापस

नहीं होगा । कृष्ण अश्वत्थामा की यह बात सुनकर तनिक भी विचलित नहीं होते और कह देते हैं कि ब्रह्मास्त्र गिरता है तो गिरे, किन्तु जो मुर्दा शिशु उत्पन्न होगा, उसे मैं अपना जीवन देकर जीवित करूँगा । इतना ही नहीं, कृष्ण अश्वत्थामा से मणि छीन लेते हैं और उसे भ्रूण-हत्या का शाप देकर छोड़ देते हैं । अश्वत्थामा को मणिहीन, क्षत-विक्षत देखकर गांधारी का रोम-रोम पीड़ा से कराह उठता है और वह कृष्ण को शाप देती है । वह कहती है-

कृष्ण सुनो यदि मेरी सेवा में बल है
संचित तप में धर्म है
तो सुनो कृष्ण
.....
सारा तुम्हारा वंश
उसी तरह पागल कुत्तों की तरह
एक-दूसरे को परस्पर फाड़ खायेगा,
तुम खुद उसका विनाश करके कई वर्षों बाद किसी घने जंगल में
साधारण व्याघ्र के हाथों मारे जाओगे ।

गांधारी कृष्ण को शाप तो दे देती है और कृष्ण उसे स्वीकार कर लेते हैं । कृष्ण के स्वीकार से गांधारी ममतामय हो जाती है और पश्चाताप करती है ।

'अंधायुग' का पाँचवीं अंक विजय. एक क्रमिक आत्महत्या शीर्षक से प्रस्तुत किया गया है । इस अंक में समय के बीतने के साथ-साथ यह सूचित किया गया है कि ब्रह्मास्त्रों से झुलसी धरती सम्भलने लगी थी, युधिष्ठिर का राज्याभिषेक भी हो गया था, किन्तु कौरव नगरी में वह शोभा और सम्पन्नता नहीं थी जो होनी चाहिए । विजयी होकर भी सबका विश्वास टूट चुका था और शापग्रस्त होने के कारण स्वयं कृष्ण भी शक्तिहीन हो गये थे । अर्जुन असमय में वृद्ध हो गये थे, नकुल अज्ञानी थे और सहदेव अर्द्धविकसित । एकमात्र युधिष्ठिर ही ऐसे थे जिनके मस्तक पर भावी युग की चिन्ताएँ थीं । वे दिन-रात इस विचार में निमग्न रहते कि क्या किया जाये? उन्हें राज्य से किंचित् मात्र भी मोह नहीं रह गया था । एक ओर तो यह सब स्थिति थी, दूसरी ओर जंगल में आग लग गयी थी । वहाँ धृतराष्ट्र, गांधारी तथा पाण्डवों की माता कुन्ती उसी आग में जल मरी थीं । संजय उनके साथ तो थे, किन्तु मरे नहीं । हाँ, धधकता हुआ एक बरगद गिर जाने के कारण वे पदहीन हो गये । ऐसे समाचारों ने युधिष्ठिर को और भी अधिक उदास बना दिया । उन्होंने चक्रवर्ती सम्राट का मुकुट धारण करना भी छोड़ दिया । युयुत्सु भी मर चुके थे । परिणामस्वरूप निराश-हताश युधिष्ठिर ने भी हिमालय के शिखरों में गल जाने का निश्चय कर लिया था ।

काव्य-नाटक के अन्त में एक समापन शीर्षक दिया गया है, जिसमें प्रभु की मृत्यु दिखलाई गयी है । यादव वंश में कलह बढ़ गयी थी और सारे बंधु नशे में डूबे हुए होने के कारण मृत्यु को प्राप्त हो चुके थे । अन्त में कृष्ण वन में एक वृक्ष के नीचे आकर

लेट गये । वहाँ एक शिकारी ने कृष्ण के पैर को मृग का मुंह समझकर बाण छोड़ दिया । इस प्रकार गांधारी का शाप सत्य हुआ और धरती प्रभुनहीन हो गयी और आस्थाहत कलियुग ने अपना प्रथम चरण धरती पर रख दिया । कृष्ण का हत्यारा व्याघ्र था, उसने बताया कि मैं वृद्ध व्याघ्र हूँ और मेरा ही धनुष कृष्ण की मृत्यु का कारण बना है । पहले मैं वृद्ध ज्योतिषी था और अश्वत्थामा ने मेरा वध कर दिया था । प्रेतयोनि से मुक्त करने के लिए कृष्ण ने मुझसे कहा था कि 'हो गयी समाप्त अवधि माता गांधारी के शाप /की उठाओ धनुष फेंको बाण/'' अश्वत्थामा अपने किए हुए पर पश्चाताप करता है और इस प्रकार गीतिनाट्यात्मक प्रबन्ध का कथानक पूर्णता को प्राप्त कर लेता है|

6.3.2 कथानक और आधुनिक बोध

'अंधायुग' की कथावस्तु के सम्बन्ध में दो बातें कही जा सकती हैं एक का सम्बन्ध पौराणिक आख्यान के सहारे विकसित आधुनिक संवेदना से है और दूसरी का सम्बन्ध जीवन की आन्तरिक स्थितियों से है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह कृति आधुनिक बोध को रूपायित करती है । रचनाकार ने आधुनिक जीवन-मूल्यों के विघटन, संक्रमण, क्षोभ और अनेकानेक संत्रस्त विसंगतियों को कहीं बिम्बों के माध्यम से और कहीं प्रतीकों की ओट से उभारा है । मूल्यों की विसंगति का अनुमान और आधुनिक संवेदना का अभिव्यंजन इन पंक्तियों में स्पष्टतः देखा जा सकता है-

यह युग एक अंधा समुद्र है
चारों ओर से पहाड़ों से घिरा हुआ
और दरों से
और गुफाओं से
उमड़ते हुए भयानक तूफान चारों ओर से
उसे मथ रहे हैं
.....
मैंने अपनी प्रेत शक्ति से
सारे प्रवाह को
कथा की गति को बाँध दिया है
और सब पात्र अपने स्थान पर स्थिर
हो गये हैं
क्योंकि मैं चीर-फाड़कर हरेक की आन्तरिक असंगति
समझना चाहता हूँ ।

महाभारतीय परिस्थितियों के संदर्भ से अनेक नयी और समसामयिक समस्याएँ उठाई गयी हैं । महाभारत की युद्धोत्तर घटनाओ और स्थितियों को विगत दो महायुद्धों के अन्त में भी देखा जा सकता है । युद्धान्त में जो बाह्य और आन्तरिक समस्याएँ स्पष्ट से स्पष्टतर होती गयी हैं, वे 'अंधायुग में महाभारतीय युद्ध-संदर्भ से अंकित की गयी हैं

। युद्धोन्माद का परिणाम विघटनकारी होता है । फलत: मानव की सभी वृत्तियाँ विगलित और विश्वास ढीले या पंगु बन जाते हैं । अंधायुग में इन्हें इस प्रकार अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है-

यह अंधायुग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ-परिस्थितियाँ आत्माएँ सभी विकृत हैं
है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है दोनों ही पक्षों में
.....
शेष अधिकतर हैं अंधे
पथभ्रष्ट, आत्महारा विगलित
अपने अन्तर की अंध गुफाओं के वासी ।

यह स्थिति आधुनिक जीवन के संदर्भ में पढ़ी और देखी जा सकती है । वर्तमान जीवन में जो अनास्था और विवशता पनपी है, वह युद्ध की आगत संभावनाओं से और भी गहरी होती जा रही है । अंधायुग में आने वाले तीसरे विश्वयुद्ध की संभावना से भी सतर्क रहने का संकेत है । युद्ध अभिशाप है फिर आज की परिस्थितियों में जबकि परमाणु हाइड्रोजन और न्यूक्लियर अस्त्र-शस्त्र के अन्वेषण ने जीवन को त्रस्त कर रखा है । लगता है कि चतुर्थ अंक में अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र फैंकना इसी अन्वेषण का पर्याय है । व्यास के ये शब्द ब्रह्मास्त्र के सहारे अणु सभ्यता का ही परिचय देते हैं । यदि अन्वेषणों में सफलता मिली तो-

आगे आने वाली सदियों तक
पृथ्वी पर रसमय वनस्पतियाँ नहीं होंगी
शिशु होंगे पैदा विकलांग और कुष्ठग्रस्त
सारी मनुष्य जाति बौनी हो जायेगी ।

दोनों प्रहरियों का वार्तालाप भी भयंकर व विस्फोटकारी अस्त्रों की ओर संकेत करता है । आज जो शस्त्रास्त्र बनाने की होड़ मची हुई है, वह भले ही अभी प्रयोग में न लिये गये हों, किन्तु एक दिन हो सकता है वे अपने ही विरूद्ध काम आवें, क्योंकि ' 'शस्त्र होते हैं तो दूसरों के साथ-साथ अपने भी विरूद्ध (आत्महत्या) काम आवें ।" प्रहरियों की यह वार्ता भी आधुनिक बोध को वाणी देती जान पड़ती है । दूसरी बात अन्तर जीवन की सूक्ष्म अभिव्यंजना से सम्बद्ध है । अंधायुग महाभारतीय युद्ध के बाद की स्थिति का सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत करता है जो बाह्य जीवन की अपेक्षा अन्तर जीवन की तस्वीर है । इसकी सूक्ष्म घटनाओं, परिस्थितियों, वातावरण और पात्रों के मानसिक स्तर का विश्लेषण उनके अन्तर जीवन का ही विश्लेषण है । दूसरे शब्दों में इसमें कथा का वह स्थल चुना गया है जो प्रतिक्रियाओं और परिणामजन्य चिन्तना संशय, द्विविधा, द्वन्द्व व तनाव आदि को रूपायित करता है । इतना ही नहीं, अंधायुग के अधिकांश पात्र ऐतिहासिक होकर भी विशिष्ट मानसिक प्रवृत्तियों और मानसिक ग्रंथियों के प्रतीक हैं । इस प्रकार अंधायुग का कवि महाभारत की कथा को दुहराकर ही संतुष्टि नहीं पा

लेता है, वरन् वह तो उसे मानव-मन की अन्तर्गत् की कृति के रूप में भी प्रस्तुत करने में सफल हुआ है ।

'अंधायुग' की अधिकांश कथावस्तु प्रख्यात है, इतिहाससम्भत है और पुराण- प्रसिद्ध है । भारती ने कुछ पात्रों की कल्पना भी की है । प्रहरी-युग्म और वृद्ध याचक ऐसे ही काल्पनिक पात्र हैं । इस गीतिनाट्यात्मक प्रबन्ध के विषय में धर्मवीर भारती ने अपनी कृति 'मानव मूल्य और साहित्य' में स्पष्ट टिप्पणी की है कि " बाह्य घटनाओं की अपेक्षा साहित्यकार का ध्यान सामाजिक व्यवस्था द्वारा उद्भूत जटिल रागात्मक स्थितियों और उनसे उत्पन्न होने वाली विषमताओं, विकृतियों तथा असंतुलन पर केन्द्रित रहता है और वह उन्हीं का परिहार एवं परिष्कार करता है । कभी वह उसके लिए तात्कालिक नाम, स्थिति और पृष्ठभूमि ग्रहण करता है, कभी वह उसके लिए अप्रस्तुत, प्रतीकों तैर संकेतों का आश्रय लेता है । साहित्यकार अपने स्तर पर, अपने ढंग से संस्कृति की विराट प्रक्रिया में योग देता है । रसानुभूति और सौंदर्यबोध उसके माध्यम हैं और युग, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार जैसी भी जटिलताएँ होती हैं, वैसी ही सूक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष रीति से वह अपना कार्य करता है । "

6.4 'अंधायुग' में चरित्र-चित्रण

कथावस्तु की दृष्टि से 'अंधा युग' जितना विशिष्ट और मार्मिक बन पड़ा है, उतना ही विशिष्ट और प्रभावी चरित्रांकन की दृष्टि से भी है । 'अंधायुग' के पात्र सामान्यतः ऐतिहासिक हैं । उनका व्यक्तित्व इतिहास के आधार-फलक पर प्रस्तुत हुआ है, किन्तु रचनाकार ने समसामयिक दायित्वबोध को स्वीकारते हुए उन्हें विविध, किन्तु विशिष्ट मानसिक प्रवृत्तियों, दृष्टिकोणों और मनोग्रथियो के प्रतीक रूप में भी प्रस्तुत किया है । प्रतीकत्व की स्थापना के कारण पात्रों के व्यक्तित्व का कोई भी ह्रास हुआ हो, ऐसा नहीं दिखाई पड़ता है । रेखांकित करने योग्य तथ्य यह है कि पात्र प्रतीकत्व लेकर भी स्वतन्त्र हैं और विराट मानवीय चेतना के वाहक हैं । भारती ने स्वयं ही पात्रों के प्रतीकत्व को स्वीकार किया है । प्रारम्भ में ही वह यह संकेत कर देता है कि "यह कथा ज्योति की है अंधों के माध्यम से" । अन्त में तो. पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि कृतिकार प्रतीकत्व के सहारे अपनी भावनाओं को निरूपित करना चाहता है-

हम सबके मन में गहरा उतर गया है युग
अँधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है
है दासवृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की
अंधा संशय है, लज्जाजनक पराजय है ।

6.4.1 प्रमुख पात्रों का चरित्र-विश्लेषण

अंधायुग के प्रमुख पात्रों में अश्वत्थामा, गांधारी, संजय, धृतराष्ट्र और वृद्ध याचक और प्रहरी-युग्म को लिया जा सकता है । इनमें भी सर्वाधिक प्रभावी चरित्र अश्वत्थामा का ही है । इनमें से कतिपय प्रमुख पात्रों का चरित्र-विश्लेषण आगे किया जा रहा है ।

6.4.1.1 अश्वत्थामा -

अश्वत्थामा का चरित्र पर्याप्त मनोवैज्ञानिक है । उसे कुंठित और विघटित पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है । कृतिकार अश्वत्थामा के चरित्रांकन में पर्याप्त सजग है तभी तो उसका निराश और मनोग्रंथिमय व्यक्तित्व कृति की प्रमुख घटनाओं से पूरा तालमेल बैठाये रहता है । अश्वत्थामा युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य के कारण निराश हो गया है । अन्दर की सारी चेतना मनोग्रंथि में बदल गयी है । युधिष्ठिर के अन्दर जो भी शुभ और कोमलतम था, वह नष्ट हो गया, उसकी भ्रूणहत्या हो गयी । इसी घटना से वह निराश, हताश होता चला गया है और अनुभव करता है कि मेरा अस्तित्व नपुंसक है, अतः: अब तो आत्मघात ही वरेण्य है, किन्तु उसकी यह निराशा, कुण्ठा उसे बर्बर पशु बना देती है । सच ही भारती ने अश्वत्थामा की मनोग्रंथि का बड़ा सजीव और मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है । अब उसके अस्तित्व का एक ही अर्थ रह गया है-वध, केवल वध । परिणामतः वह विपक्षी को देखकर उस पर छिपकर वार करने को उद्यत हो जाता है, उसकी समस्त चेतना और नीति में वधं ही वध रह गया है-

आता है कोई
शायद पांडव योधा है
आहा!
अकेला, निहत्था है
पीछे से छिपकर
इस पर करूँगा वार
इन भूखे हाथों से धनुष मरोड़ा है
गर्दन मरोड़ूँगा ।

इसी भावना से परिचालित होकर वह संजय का गला दबोचता है, वृद्ध याचक का वध कर देता है और सोते हुए धृष्टद्युम्न की निर्मम हत्या कर देता है । उसके मन की ग्रंथि उसे यह कहने को विवश कर देती है कि तटस्थता का मेरे लिए कोई अर्थ नहीं है। जो मेरे पक्ष में नहीं है, वह मेरा शत्रु है । वृद्ध याचक का वध करके उसका यह कहना कि 'पता नहीं मैंने क्या किया? मातुल मैंने क्या किया? क्या मैंने कुछ किया?' उसकी विक्षिप्त मनस्थिति का प्रतीक है, किन्तु इस स्थिति में उसका यह कथन कितना सहज अनिवार्य लगता है कि क्या मैंने कुछ किया? वस्तुतः वह वध अनजाने में करता है, वह एक धुन में है अथवा तब जबकि वह बर्बर हो जाता है, निरा पशु बन जाता है तभी तो उसकी मन:ग्रंथि सहज और स्वाभाविक है । यही कारण है कि वध के

पश्चात उसकी मांसपेशियों का सम्पूर्ण तनाव खुलकर ढीला हो जाता है । युधिष्ठिर का अर्द्धसत्य उस पर वध भाव को हावी कर देता है । कृतिकार ने अश्वत्थामा के सभी कार्य-व्यापारों को उसकी मानसिक स्थिति के अनुरूप ही प्रस्तुत किया है । वह समस्त कुंठाओं और मनोग्रंथियों को लिए हुए सही रूप में उपस्थित है । अश्वत्थामा इस स्थिति में जो भी करता है, वह सर्वथा उसके अनुकूल है-इस मनस्थिति का दूसरा कोई रूप सम्भव ही नहीं था ।

अश्वत्थामा के मन में जो बर्बरता घिरती आती है, उसका कारण है, वह अकारण नहीं है, वह मर्यादाबुद्धि को इसलिए नहीं मानता कि युद्ध में किसी ने भी तो मर्यादा का पालन नहीं किया, द्रोण की हत्या अधर्म से हुई, दुर्योधन अधर्म से मारा गया, युधिष्ठिर ने सत्य का क्षय किया फिर मैं ही मर्यादा का वाहक क्यों बनूँ? अब तो पाण्डवों पर छिपकर आक्रमण करने के सिवाय कोई दूसरा धर्म ही नहीं रह गया है । जो दूसरा पथ था, वह भी पाण्डवों ने नहीं छोड़ा, मर्यादा भी विगलित हो गयी । यही कारण है कि अश्वत्थामा धृष्टद्युम्न का वध कर देता है, ब्रह्मास्त्र छोड़कर उत्तरा के भविष्य को भी मिटा देना चाहता है । सच्चे अर्थ में उसका चरित्र एक ऐसे वीर का है जो परिस्थितियों के आघात से बर्बर, प्रतिशोधयुक्त, हिंसक और कुंठित हो गया है, जिसके लिए मर्यादा, धर्म सभी झूठे कवच हैं जो मानव की रक्षा नहीं कर सकते और उल्टे उसे निराश और हताश बना देते हैं ।

6.4.1.2 गांधारी

गांधारी का व्यक्तित्व भी अश्वत्थामा की भाँति है । उसमें कुंठा, जिद, बेमानी निर्णय और प्रस्तरीय भावनाओं का निवास है । वे आशा-निराशा और कुंठाओं से घिरी हुई हैं । अपनी आँखों पर पट्टी बाँधे हुए वे अन्धी मनोवृत्तियों की प्रतीक हैं । वे कुछ भी नहीं सुनना चाहती हैं, सिर्फ चाहती हैं कौरवों की विजय । उनकी यही कामना न तो उन्हें किसी तर्क को सुनने देती है और न कोई सही निर्णय ही लेने देती है । उनका अवचेतन मन उनके चेतन पर हावी है, तभी तो वे दुर्योधन का कंकाल देखकर स्वयं कुण्ठित होती हैं और परिणामत: शाप कृष्ण को भोगना पड़ता है, किन्तु जैसे ही कृष्ण शाप को स्वीकार कर लेते हैं, वैसे ही उनकी ममता का बाँध इन शब्दों में टूट पड़ता है, समस्त कुंठा उनके ऑसुओं में बह जाती है-

यह क्या किया तुमने
(फूटकर रोने लगती है)
रोई नहीं मैं अपने
सौ पुत्रों के लिए
लेकिन कृष्ण तुम पर
मेरी ममता अगाध है ।

गांधारी के व्यक्तित्व में आरोपण कहीं नहीं है । वे जो भी कहती, सुनती हैं वह सहज और स्वयं प्रेरित मनोवृत्तियों का जीवन है । उनकी विचारधारा तो यह है कि नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति और कृष्णार्पण सभी हमारी अंध मनोवृत्तियों को तर्कसंगत बनाने के लिए पहनाये गये कवच हैं । माता गांधारी को झूँठे आडम्बरों से घृणा थी, अतः: उन्होंने अपनी आंखों पर पट्टी चढ़ा ली थी । उनका व्यक्तित्व अन्तर्मुखी था । वे वास्तविकता से दूर रहकर अपने द्यई मन की भावनाओं को निर्णय या विश्वास में बदल देती हैं । वे रुग्ण मनोवृत्तियों से युका हैं, ममता, मोह से दूर पश्चात्ताप और द्वन्द्व से घिरी हुई हैं । अपने में सीमित, अपने ही निर्णय को सर्वोपरि मानने वाली तथा प्रस्तरहृदया गांधारी युगीय शब्दावली में 'स्नायविक प्रमाद' एक प्रकार से बाध्य स्नायविक प्रमाद से परिचालित हैं । यह स्थिति ऐसे लक्षण व्यक्त करती है जो आशिक रूप से ज्ञानेन्द्रियों की उत्कट क्षिप्र ग्राहिता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि गांधारी ठीक ऐसा ही चरित्र है जो उत्तेजित होता है, पुत्रों के प्रति अंधी ममता से भरा होने के कारण कौरवों के सभी कार्यकलापों को सही और उचित ठहराता है । इतना ही क्यों, वह अश्वत्थामा के प्रतिशोध भाव को इसी कारण सराहती है कि वह नृशंस और अभद्र भले ही हो किन्तु उसके मन के अनुकूल तो है । इसी परिस्थिति में गांधारी का चरित्र कठोर लगता है । संजय दिव्य दृष्टि से सभी कुछ देखते हुए जब धृष्टद्युम्न-वध की कथा सुनाते हैं तब वह हर्ष और आनन्द से भर उठती है । अश्वत्थामा द्वारा उसकी ऑखों के गोले निकालकर अंधा कर देने वाला कार्य उसकी दृष्टि में उसकी (अश्वत्थामा की) उदारता का प्रमाण है । गांधारी की कठोरता का सबसे बड़ा प्रमाण उस समय मिलता है जब वह अश्वत्थामा के कृत्यों को बड़ी उत्सुकता और प्रसन्नता से सुनती है । वस्तुतः: यह कठोरता उसकी अन्तर्मुखी चेतना से उद्भूत है ।

6.4.1.3 धृतराष्ट्र

धृतराष्ट्र जन्मान्ध हैं । प्रतीकार्थ यह है कि वे जगत के यथार्थ से कटे हुए होने के कारण अपनी वैयक्तिक सीमाओं में ही सद्सद् विवेक का निर्णय करते हैं । इस प्रकार मनोविज्ञान की शब्दावली में वे अन्तर्मुखी संवेदन प्रधान व्यक्ति हैं । अतः: वस्तु जगत उनकी दृष्टि में विशेष महत्वपूर्ण नहीं है, वे जो भी जानते हैं वह उनके वैयक्तिक संवेदन का ज्ञान है । एक शब्द में धृतराष्ट्र बाहरी यथार्थ और सामाजिक मर्यादा को ग्रहण करने में अक्षम हैं । वे आत्मपरक हैं । अतः: उनका वस्तु जगत वही है जो उन्होंने वैयक्तिक संवेदन से जाना समझा है । उनका कहना है-

मेरी सब वृत्तियाँ उसी से परिचालित थीं
मेरा स्नेह, मेरी घृणा, मेरी नीति, मेरा धर्म
बिल्कुल मेरा ही वैयक्तिक था ।
उसमें नैतिकता का कोई बाह्य मापदंड था ही नहीं ।
कौरव जो मेरी मांसलता से उपजे थे

वे ही थे अन्तिम सत्य
मेरी ममता ही वहाँ नीति थी
मर्यादा थी ।

धृतराष्ट्र को अपनी वैयक्तिक अर्न्तमुखता का जैसे ही भान होता है, वैसे ही वे वस्तु जगत की धूमिल चेतना का थोड़ा अनुभव करते हैं । यह अनुभव उन्हें बहुत बाद में होता है- युद्ध के बाद, विनाश के बाद । वे कहते हैं-

आज मुझे भान हुआ
मेरी वैयक्तिक सीमाओं के बाहर भी
सत्य हुआ करता है
सहसा यह भान हुआ कोई बाँध टूट गया है
कोटि कोटि योजन तक दहाड़ता समुद्र
मेरे अन्तर्मन में पैठ गया
सब कुछ वह गया
मेरी निश्चिन्त किन्तु ज्ञानहीन आस्थाएँ ।

इस प्रकार विनाश के बाद पहली बार उन्हें अपने चिन्तन के प्रति आशंका होती है । आशंका का कारण स्पष्ट है । धृतराष्ट्र रुग्ण मनोवृत्ति वाले नहीं हैं । उन्हें अपने दृष्टिकोण की व्यर्थता प्रमाणित हो जाती है तभी वे अंधी मनस्थिति से बाहर निकलकर जगत की ओर बढ़ते हैं । वे अपने वैयक्तिक स्तर से बाहर आकर सत्य खोजने का प्रयास करते हैं । जैसे ही सत्य की खोज शुरू होती है, वैसे ही वे गांधारी को ऊलजलूल कहने से रोकते हैं और यात रहने को कहते हैं । धृतराष्ट्र की यह उक्ति भी ध्यान देने योग्य है । वे संजय से कहते हैं-

छोड़ दो मुझे
जीवन भर मैं वहीं
अन्धेपन के अँधियारे में भटका हूँ
यह है ज्योतिवृत्त
देखकर नहीं यह सत्य ग्रहण कर सका तो आज
मैं अपनी वृद्ध अस्थियों पर
सत्य धारण करूँगा ।

6.4.1.4 विदुर

विदुर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'अन्तर्मुख अनुभवन (फीलिंग) प्रधान चरित्र का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं । सामान्यतः: वे तटस्थ हैं, किन्तु प्रथम अंक में उनका जो चरित्र विश्लेषित हुआ है, वह संजय से कहीं अधिक निर्लिप्त व्यक्तित्व प्रतीत होता है । वे कौरव पक्ष की अनैतिक नीति तथा धृतराष्ट्र के अन्ध निर्णयों के कटु आलोचक हैं पर कहते कुछ नहीं हैं । सब कुछ सहकर, देखकर भी निर्लिप्त और

उदासीन बने रहते हैं । कृष्ण, जो प्रभु हैं, उनके प्रति भी गांधारी की उक्तियों को चुपकर सहन कर लेते हैं और अपने ही प्रभु से कहते हैं-

यह कटु निराशा की
उद्धत अनास्था है
स्वीकार करो
आस्था तुम लेते हो
अनास्था कौन लेगा प्रभु!

विदुर यद्यपि धृतराष्ट्र के सेवक हैं, कौरवों के अनुयायी हैं, पर पाण्डवों के स्नेही भी हैं और कृष्ण के परम भक्त भी हैं । वे दोनों स्थितियों को भोगते हैं, किन्तु फिर भी तटस्थ हैं । यह तटस्थता ही उन्हें विचलित नहीं होने देती है और वे संतुलित बने रहते हैं । अनुभव करना देखना ही उनका काम है, 'एमान' या 'रिएक्शन' से उन्हें कुछ भी लेना-देना नहीं है । यही कारण है कि इतने बड़े महाभारत के युद्ध में वह थोड़ी आलोचना भरे ही कर गये हों, किन्तु उनके चित्त की तटस्थ वृत्ति उनके तीव्र से तीव्र संवेगों को भी अस्वीकार कर देती है । यद्यपि वे एक बार यह अनुभव भी करते हैं कि मेरी नीति साधारण थी और

मेरे प्रभु
उस निकम्मी धुरी की तरह हैं
जिसके सारे पहिए उतर गये हैं
और जो खुद घूम नहीं सकती है

कहकर भी उनका मन संशयातीत बना रहना चाहता है, क्योंकि संशय पाप है जिसे कहना विदुर के वश में नहीं है । युग की जटिलताएँ विदुर के मन में परिवर्तन की ऑधी की तरह घुमड़ने को तैयार होती हैं, किन्तु वह अपनी नैतिकता में कोई आकस्मिक परिवर्तन करने को तैयार नहीं हैं ।

6.4.1.5 संजय

संजय सत्य के वाहक हैं, अवध्य हैं । सत्य कहने के लिए या यथार्थ वर्णन के लिए ही जैसे उनका जन्म हुआ है । वे भी तटस्थ है तभी तो सत्य कथन कर सकते हैं, किन्तु अन्तर्मुख भी हैं । उनका चिन्तन अन्तर्मुख है-आत्मकेन्द्रित है । सत्य कहते हैं किन्तु अपने से ही प्रश्न भी करते हैं कि क्या मैं इसीलिए हूँ? इसके अतिरिक्त क्या मेरा कोई अस्तित्व नहीं है? वे एक ऐसे पात्र हैं जो अपने ही बारे में सोचते हैं और अन्त तक आत्मकेन्द्रित बने रहते हैं, अनुभवन भी उनमें है, किन्तु अपने लिए । उनका स्वयं का यह कथन कितना सत्य है- "मैं कर्म लोक से बहिष्कृत हूँ. ... . दो पहियों के बीच लगा हुआ निरर्थक शोभा चक्र हूँ जो धरती का स्पर्श भी नहीं कर सकता हूँ ।" वास्तव में उनकी तटस्थता यथार्थ से भी असम्पृक्त है । वे कौरव विनाश की सूचना

देने से एकबारगी घबरा जाते हैं, उनका मन चाहता है कि सत्य कहने से तो अच्छा है मृत्यु आ जाये कितनी सुखमय होगी वह, किन्तु उनके मन से यही आवाज आती है-

सत्य कितना ही कटु हो
कटु से यदि कटुतर हो
कटुतर से कटुतम हो
फिर भी कहूँगा मैं
केवल सत्य केवल सत्य केवल सत्य
है अन्तिम अर्थ

अन्त में संजय का चिन्तन उन्हें एक दूसरे ही स्तर पर ले आता है । वे सोचते हैं कि इस सत्य के कहने में मैं जीवन का अर्थ ही खोता जा रहा हूँ । यह अन्तर्मुखीय चिन्तना है । अन्धायुग की समस्या संजय के इन शब्दों में ही दिखाई देती है-

आज अन्तिम पराजय के अनुभव ने
जैसे प्रकृति ही बदल दी है सत्य की ।

6.4.1.6 अन्य पात्र

'अंधायुग' के उपर्युक्त पात्रों के विवेचनोपरान्त कतिपय पात्र और भी हैं, जिन्हें अन्य पात्र शीर्षक के अन्तर्गत रखा गया है । ऐसे पात्रों में कृष्ण, प्रहरी-युग्म, वृद्ध याचक के नाम उल्लेखनीय हैं । कृणा स्पष्टतः सामने नहीं हैं, किन्तु रहस्यमय अवश्य हैं । एक आलोचक के शब्दों में कृष्ण युग की 'सेल्फ' की धारणा को प्रतिबिम्बित करते हैं । वस्तुतः: वे ही सर्वत्र व्याप्त हैं-सत्य में असत्य में, तभी तो वे सुख-दुख को तथा सारे महाभारत युद्ध के पाप पुण्यों को अपने ऊपर ले लेते हैं । सबकी वेदना का भार उठाने वाले कृष्ण कहते हैं-

अठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं मरा हूँ करोड़ों बार,
अश्वत्थामा के अंगों से
रक्त, स्वेद, पीव बनकर बहूँगा
मैं ही युग युगान्तर तक
जीवन हूँ मैं
तो मृत्यु भी तो मैं ही हूँ माँ
शाप यह तुम्हारा स्वीकार है ।

वस्तुत: 'सेल्फ' आत्म चेतना का केवल मध्यबिन्दु ही नहीं है, वरन् परिधि भी है जो चेतन और अचेतन दोनों को अपने में समेट लेता है । जिस प्रकार अहं चेतना का केन्द्र बिन्दु है, उसी प्रकार यह समग्र चेतना का केन्द्र बिन्दु है । इसकी उपलब्धि अन्तर एवं बहिर्जगत के द्वन्द्वों की परिपूर्ति-कम्पेन्शेशन है । कृष्ण ऐसे ही हैं जो बाह्य और आन्तरिक संघर्षों का मूल्य चुकाते हैं और फिर भी वे अपना समग्र व्यक्तित्व कायम किए हुए हैं । मरता तो उनका पार्थिव शरीर है । अन्त में मानव मर्यादा को जीवित

रखने वाले कृष्ण अपनी स्वतन्त्र भौतिक सत्ता को त्यागकर मानव मन के आन्तरिक वृत में पहुँच जाते हैं, मानव को अपने अनार्वृत में स्थित अतिमानवीय संभावनाओं की चेतना होती है औ रयहीं पर कृष्ण के पार्थिव शरीर की नाटकीयता समाप्त हो जाती है। मानव की अतिमानवीय सम्भाव्यता की चेतना यही वह व्यापक सत्य है जिसकी उपलब्धि भारती ने की है ।

कुछ लोगों की आपत्ति है कि अन्धायुग निराशा और कुंठा का आख्यान है, उसमें अंधकार ही अंधकार है, प्रकाश की एक भी किरण नहीं । वास्तव में यह कथन कितना बेमानी है? जिस युग में अंधापन हो उसे प्रकाश की किरण देने के लिए विवेक, मानवीय मर्यादा व सत्य ही काम में आ सकते हैं । इस प्रकार अंधायुग में संजय व विदुर तथा इन सबके ऊपर विवेक ही प्रकाश किरण दे रहा है । यदि कृति का ऊपरी अंधकार ही देखा तो क्या देखा, यह क्यों नहीं देखा कि भारती अंधायुग की समस्त कदुता को पीने के बाद भी सत्य की प्रकाश किरण पाने के लिए छटपटा रहे हैं । अंधायुग की ये पंक्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं-

जिनके लिए युद्ध किया
उनको यह पाना कि वे सब कुटुम्बी अज्ञानी हैं
जड़ हैं, दुर्विनीत या जर्जर हैं ।
और कृष्ण का यह कथन-
सबका दायित्व लिया मैंने अपने ऊपर
अपना दायित्व मैं सौंप जाता हूँ सबको ।

'अंधायुग' के प्रहरी सामान्य जन के प्रतिनिधि बनकर आये हैं । एक प्रकार से वह सर्वहारा वर्ग से सम्बन्धित हैं । यह एक ऐसा वर्ग है जिसकी विशेषताएँ भी वर्गीय ही होती हैं । यह वर्ग प्रायः दलित, शोषित, कुण्ठित, संत्रस्त और निराश होता है । शासक वर्ग की प्रभुता के भार से दबे हुए इस प्रकार के पात्र प्रायः सभी काव्य-नाटकों में देखने को मिलते हैं । 'अंधायुग' के प्रहरी भी सामान्य जन का प्रतिनिधित्व करते हैं । वे कौरवों के शासन में भी प्रहरी थे और पाण्डवों के शासन में भी उनकी यही स्थिति है । उन्होंने इसको स्वीकार भी किया है । वास्तव में उनका लक्ष्य है-अन्न वस्त्र की प्राप्ति, इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य कुछ काम्य भी नहीं है । उन्होंने कहा भी है- 'ज्ञान और मर्यादा/ उनका हम करें क्या? / उनका हम क्या पीसेगे? / या उनको खायेंगे? / या उनको ओढेंगे? / या उन्हें बिछाएँगे? / हमको तो अन्न मिले / निश्चित आदेश मिले / एक सुदृढ़ नायक मिले / अन्धे आदेश मिलें"

6.5 सारांश : मूल्यांकन

समग्र विवेचनोपरान्त स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि सन् 1951 में लिखित और सन् 1954 में प्रकाशित 'अंधायुग' महाभारतोत्तर भूमिका से सम्बन्धित है । इसमें महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं की पृष्ठभूमि पर आज के विकलांग और कुरूप युग

की हासोन्मुख संस्कृति का ईमानदार' चित्र देखने को मिलता है । यह चित्र विश्व के आन्तरिक एवं बाह्य जीवन पर दो-दो महायुद्धों के विनाशक प्रभाव की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति प्रतीत होता है । अंधायुग का कथानक पाँच अंकों में विभक्त है और इसकी महत्ता का प्रमुख कारण युगीन चिन्तन है । इसमें पौराणिक आख्यान के माध्यम से कृतिकार ने अनेक सामाजिक प्रश्नों को उठाया है और समाज के विभिन्न वर्गो की विभिन्न परिस्थितियों द्वारा निर्मित मानसिकताओं का बड़ी कुशलता से अंकन किया गया है । इस गीतिनाट्यात्मक प्रबन्ध का मूल प्रश्न सांस्कृतिक है जो सम्पूर्ण मानव समाज की समस्या से सम्बद्ध है । कथानक और चरित्र दोनों ही कृतिकार के उद्देश्य को सफल बनाते हैं ।

6.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अंधायुग के कथानक को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए ।
2. "अंधायुग के पात्रों में सर्वाधिक प्रभावी चरित्र अश्वत्थामा का है ।" इस कथन को विश्लेषित करते हुए अश्वत्थामा का चरित्रांकन कीजिए ।
3. "अंधायुग के पात्र प्रतीकात्मक और मनोवैज्ञानिक रंगत लिए हुए हैं । " उपयुक्त उदाहरणों सहित इस कथन की समीक्षा कीजिए ।
4. 'अंधायुग' में निरूपित आधुनिक बोध को स्पष्ट कीजिए और बताइये कि क्या यह गीतिनादयात्मक प्रबन्ध युद्धोत्तर स्थितियों को समकालीन संदर्भ में प्रस्तुत करने में समूर्थ हुआ है?

6.7 संदर्भ ग्रंथ

1. जयदेव तनेजा; समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र-सृष्टि
2. डॉ. नगेन्द्र; आधुनिक हिन्दी नाटक
3. नेमिचन्द्र जैन; स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक
4. श्रीकृष्ण सिंघल; हिन्दी गीतिनाट्य
5. हुकुमचन्द राजपाल; हिन्दी कविता की नाट्यमुखी भूमिका
6. डॉ. हरिचरण शर्मा; धर्मवीर भारती का काव्य. सृष्टि और दृष्टि
7. डॉ. हरिचरण शर्मा; नयी कविता नये धरातल

इकाई-7 गीतिनाट्य के रूप में अंधायुग

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 गीतिनाट्य: अभिप्राय और स्वरूप विश्लेषण

7.3 गीतिनाट्य के रूप में अंधायुग.

7.3.1 प्रख्यात कथानक और समसामयिकता

7.3.2 चरित्रों की प्रतिकात्मकता

7.3.3 मानव मनोभावों की अभिव्यंजना

7.3.4 द्वन्द्व और आत्मसंघर्ष

7.3.5 कथोपकथनों की स्वाभाविकता और नाटकीयता

7.3.6 अभिनेयता

7.3.7 शिल्प का आकर्षक प्रयोग

7.4 सारांश

7.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

7.6 संदर्भ ग्रंथ

7.0 उद्देश्य

धर्मवीर भारती का बहुचर्चित काव्य-नाटक जिसे गीतिनाट्यात्मक प्रबन्ध कहना अधिक उपयुक्त लगता है, एक विशिष्ट और प्रभावी रचना है । प्रस्तुत इकाई के अध्ययनोपरान्त आप.

- गीतिनाट्य और काव्य-नाटक में उपयुक्त नाम का चयन कर सकेंगे ।
- गीतिनाट्य के स्वरूप और उसके लक्षणों से अवगत हो सकेंगे ।
- 'अंधायुग' के गीतिनाट्यात्मक स्वरूप को भली-भाँति हृदयंगम कर सकेंगे ।

7.1 प्रस्तावना

नयी कविता जिस आधुनिक बोध को काव्य की धरती पर उतारती रही है तथा जिन नये अनजाने संदर्भों को उद्घाटित करती हुई पुराने प्रसंगों को नये बोध के अनुरूप जाँचती-परखती रही है, उनके समर्थ कवियों में धर्मवीर भारती का नाम विशेषोल्लेख्य है। सामान्यतः भारती का व्यक्तित्व कई रंगों में देखा जा सकता है, किन्तु वे अधिकतर नये बोध के सजग शिल्पी हैं । उनकी कविताएँ और चाहे जो भी स्पष्ट करें, यह निश्चित है कि उनमें मूलतः रोमानी दृष्टि का प्रसार अधिक है । अनेक कविताओं को पढ़ने से लगता है कि वे रोमानी तारल्य जो का ही संस्करण है, उर्दू की नजाकत और नफासत के कवि हैं । उनकी प्रसिद्ध काव्य-कृतियों में 'ठण्डा लोहा, 'सात गीत वर्ष',

'कनुप्रिया', 'अंधायुग' और सपना अभी भी का विशेष महत्व है । 'कनुप्रिया' रागात्मक प्रबन्ध है जिसमें प्रभाव डालने की अद्भुत क्षमता है । कनुप्रिया की ही भाँति 'अंधायुग' भी गीतिनाट्यात्मक प्रबन्ध है । अन्तर इतना ही है कि कनुप्रिया राग-सम्बन्धों की वैचारिक पृष्ठभूमि पर खड़ी है और 'अंधायुग पौराणिक आख्यान के सहारे समसामयिक जीवन के संकट का प्रतिबोधक है । दोनों की समस्याएँ तत्वतः भिन्न नहीं हैं-भिन्न हैं तो केवल बिन्दु तक पहुँचने का माध्यम । कनुप्रिया केवल काव्य है, किन्तु 'अंधायुग एक साथ ही नाटक भी है और काव्य भी । अतः: उसे गीतिनाट्य की शैली में लिखा गया प्रबन्ध काव्य कहना अधिक समीचीन जान पड़ता है ।

7.2 गीतिनाट्य: अभिप्राय और स्वरूप विश्लेषण

हिन्दी में गीतिनाट्य के निमित्त पद्य-नाटक, पद्य-रूपक, काव्य-नाटक, काव्य - रूपक आदि नाम भी प्रचलित हैं, किन्तु इन नामों से बहुत सी भ्रांतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । पद्य-नाटक अथवा पद्य-रूपक काव्य-तत्त्व से विरहित भी हो सकते हैं और उनका काव्य विरहित होना ही गीतिनाट्य से भिन्नता का द्योतक है । काव्य-नाटक शब्द भी अस्वीकार्य है क्योंकि काव्य शब्द की अतिव्याप्ति उसे सही रूप प्रदान करने में सक्षम नहीं होती है । अतः: गीतिनाट्य शब्द ही अधिक सार्थक और सही है । यह गीतिनाट्य दृश्य काव्य से भिन्न तो है ही, नाट्य-कविता से भी भिन्न है । अंग्रेजी साहित्य में टी.एस.इलियट ने गीतिनाट्य के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है । उनके गीतिनाट्यों के संदर्भ से एक बात बेझिझक होकर कही जा सकती है कि गीतिनाट्य एक ओर तो गीति है और दूसरी ओर नाट्य भी । "ऐसी स्थिति में इन दोनों तत्त्वों की एकसूत्रता और एकतानता को लेकर विचार किया जा सकता है । गीति का निरपेक्ष गीति होना नाट्य के लिए घातक सिद्ध होता है । इसलिए उसे नाट्यात्मक होना अनिवार्य है । गीति तत्व और नाटक को एक आवयविक पूर्णता में ही देखना समीचीन और संगत जान पड़ता है । " (बच्चन सिंह)

गीतिनाट्य के संदर्भ से यह प्रश्न उठाया गया है कि उसमें गीति पहले है या नाटक । मेरी समझ में यह प्रश्न निराधार है क्योंकि गीतिनाट्य में इन दोनों का सही समाहार होता है । अतः: वह तो एक साथ ही गीति भी होता है और नाटक भी, क्योंकि इसमें कविता कोरी कविता न रहकर नाटकीय कविता बनकर आती है । अतः: ये दोनों तत्त्व गीति और नाटक मिलकर एक ऐसा नया रस तैयार करते हैं कि वह दोनों का सम्मिलित आनन्द प्रदान करता है । हार्ली ग्रेनविल बार्कर ने ठीक ही कहा है कि "What we may justifiably call a new poetic drama freed from mere formula equally and integrally valid boath as drama and a poetry.

कहने की आवश्यकता नहीं कि नाटक में कविता के लिए केवल माधुर्यपूर्ण और रससिक्त होना पर्याप्त नहीं है, वरन् उसके अन्तर में नाटकीय तत्वों की वेगवती धारा का प्रवाह होना आवश्यक है । अतः: कविता केवल अलंकरण बनकर नाटक के मूल

मन्तव्य की सही अभिव्यक्ति नहीं कर सकती है । यदि नाटक में कविता केवल अलंकरण बनकर रह जाती है तो वह कविता भले ही हो, किन्तु नाटकीय कविता नहीं हो सकती है । इलियट ने 'सलेक्टेड प्रोज' में इसी तथ्य को स्वीकार किया है । कविता की नाट्यता पर बल देने का एक बड़ा कारण यह है स्कइ गीतिनाट्य में नाट्य तत्त्व प्रमुख होता है । इस प्रकार गीतिनाट्य काव्यत्व और नाट्य का मिलन बिन्दु है । इसमें काव्यत्व का समाहार अनुभूतियो को विस्तार देता है मानव-जीवन के भावमय संदर्भ सही व्याख्या पा जाते हैं और नाट्यता के कारण कथानक का सृजन होता है, संदर्भ और अन्तर्द्वन्द्व व चरित्रों का विधान मनोवैज्ञानिक रीति पर होता है । एक शब्द में काव्यत्व नाटक की आत्मा को विस्तार देता है और नाट्य तत्त्व शरीर को-सूक्ष्म को भी और स्थूल को भी ।

गीतिनाट्य में नाटकीयता का मूल्य भी अविस्मरणीय है । काव्यत्व के माध्यम से विश्लेषित और व्याख्यायित जीवन-संदर्भों में 'सडन चेंज' (आकस्मिक परिवर्तन) 'अनवांटेड' और असम्मावित द्वन्द्व, कौतूहलपूर्ण स्थिति परिवर्तन और 'टेन्दान' आदि के लिए नाट्यता अपेक्षित होती है । एक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि नाटकीयता की पृष्ठभूमि में द्वन्ह या संघर्ष सदैव रहता है । 'निकल' ने तो यहाँ तक कहा है कि सभी नाटक द्वंन्द्व से प्रारम्भ होते हैं, किन्तु पीकॉक के अनुसार द्वन्ह का नाटकीयता के संदर्भ से कोई महत्व नहीं होता है । ही, यदि किसी तत्त्व का नाटकीयता से सम्बन्ध बैठता है तो वे सरप्राइज' (आकस्मिकता) और 'टेन्दान' (तनाव) हैं । उनका कथन है-"It is commonly held that conflict makes drama, but surprise ad particularly tension, are the truer symptoms.(The Art of Drama page 160) नाटक में हम जिस द्वन्द्व की बात करते हैं, वह सरप्राइज और टेंशन के कारण ही उद्भूत होता है । मेरी समझ में इन दोनों विद्वानों की बातें बहुत अलग-अलग नहीं हैं । कारण द्वन्द्व के लिए तनाव और आकस्मिकता भूमिका का कार्य करते हैं । अतः यही कहना अधिक उपयुक्त है कि द्वन्द्व-अन्तर द्वन्द्व ही नाटकीयता के लिए अपेक्षित रहता है । अतः अब यह बात आसानी से कही जा सकती है कि गीतिनाट्य के रचयिता को उस बिन्दु की तलाश होती है जिस पर नाटकीयता और काव्यत्व का संगम हो सके । इस विवेचन से यह प्रश्न भी स्वयं ही तिरोहित हो सकता है कि गीतिनाट्य में काव्य पहले है या नाटक? यही कहना सार्थक है कि गीतिनाट्य एक साथ ही ऐसी कृति है जो काव्य के धरातल पर खड़ा है, किन्तु उसकी आन्तरिक अनिवार्यता नाटक है । गीतिनाट्य के सम्बन्ध में कतिपय उल्लेखनीय तथ्य इस प्रकार स्पष्ट किए जा सकते हैं-

(1) गीतिनाट्य का प्रधान आधार मानव का अन्तर जीवन है और यही कारण है कि उसमें मनुष्य के तीव्र मनोभाव अभिव्यंजित होते हैं । यह अभिव्यंजना काव्यत्व के सहारे ही होती है । एवरक्राम्बी का स्पष्ट मत है कि गीतिनाट्य बहिर्जीवन की अपेक्षा अन्तर्जगत की मनोभूमि पर अवलम्बित होता है । इसका अर्थ यह नहीं कि गीतिनाट्य में

बहिर्जीवन छूट जाता है बल्कि यह है कि वह अन्तर्जीवन के सहारे ही अभिव्यक्त होता है । कारण आन्तरिक जीवन की भावनाएँ ही बाह्य जगत के कार्यकलापों को संचालित करती हैं इस प्रकार दोनों ही इसमें आकार पाते हैं, किन्तु आज का जटिल और त्रस्त जीवन मनुष्य के सूक्ष्मतर गह्वरों की खोज में बहुत गहरे उतरना चाहता है और यही गहराई गीतिनाट्य की वास्तविक कथावस्तु है|

(2) प्रायः: गीतिनाट्य में अतिशय वैयक्तिकता पाई जाती है क्योंकि यह बाह्य परिवेश की अपेक्षा आन्तरिक वृत्तियों से प्रेरित होता है और इसमें वह आन्तरिक प्रेरणाओं से वैयक्तिकता को आमंत्रित करता है, किन्तु आज अनेक गीतिनाट्य जीवन की निर्मम वास्तविकताओं के व्यंजक बनकर भी आ रहे हैं ।

(3) गीतिनाट्य में ऐसे स्थलों को चुना जाता है जो अपनी धार्मिकता से हृदय की गहराइयों को छू सकें । इसी कारण संभवतः पौराणिक संदर्भ ही गीतिनाट्य में अपनाये जाते हैं, किन्तु कृतिकार को यह स्वतन्त्रता रहती है कि वह उनके माध्यम से समसामयिक जीवन को भी वाणी दे सके । अतीत की कहानी के आवरण से ऐसे शाश्वत मूल्यों को उभारना जो समसामयिक बोध को वाणी देते हुए जीवन के लिए नयी दृष्टि दे सकें किसी भी गीतिनाट्य के लिए गौरव की वस्तु है । अंधायुग और 'एक कंठ विषपायी इसके प्रमाण हैं ।

(4) गीतिनाट्य की कथावस्तु का चयन सामयिक बोध से भी किया जा सकता है । आजकल का जीवन इतना जटिल और मानव इतना संघर्षक्रान्त है कि वह और उसका जीवन किसी भी गीतिनाट्य की शोभा बढ़ा सकता है ।

(5) गीतिनाट्य के पात्रों के व्यक्तित्व-निर्माण में मानवीय गुणों का समावेश होना चाहिए तथा पात्रों की भावभूमि, क्रिया व्यापार आदि में वास्तविकता अपेक्षित होती है । गीतिनाट्य का प्रधान आधार अन्र्तीवन होने के कारण पात्रों के मन का सूक्ष्म विश्लेषण, उसके मनोभावों व मनोग्रंथियों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति या विश्लेषण गीतिनाट्य के लिए सदैव अपेक्षित रहती है । इसके लिए कृतिकार को पात्र की मनस्थिति के अनुकूल भाषा में संभावना को निरूपित करना चाहिए ।

(6) गीतिनाट्य में प्रयुक्त कथोपकथन पद्यबद्ध होते हैं क्योंकि रागात्मक जीवन, उसकी विविध आकांक्षाएँ और अन्तर्जीवन के विविध व्यापार भावावोग की स्थिति में पद्यबद्ध ही हो सकते हैं । टी.एस.इलियट के अनुसार भावावेग के क्षणों में कविता की वाणी ही मानव-हृदय की अभिव्यंजना में सहायक होती है । (ए डायलॉग ऑन ड्रामेटिक पोएट्री) इसी प्रकार एवरक्राम्बी ने भी गीतिनाट्य में "The characters are poetry and were poetry before they began to speak poetry" कहकर इसी तथ्य की ओर संकेत किया है (क्रिटिकल एसेज, पृष्ठ 253-254) । कथोपकथनों का स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक होना आवश्यक है ।कृष्ण सिंहल का कथन है कि "भावात्मक कथोपकथनों में स्वाभाविकता और प्रभावोत्पादकता लाने के लिए गीतिनाट्य के

कथोपकथनों के पद्य की योजना उसके पात्रों की प्रकृति, चारित्रिक विशेषताओं और व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार होनी चाहिए । "

(7) गीतिनाट्य में अभिनेयता अनिवार्यतः बनी रहती है और उसका प्राणभूत तत्व या ध्वनि वैभिन्न्य होता है । रचयिता स्वगत या संवादों की योजना कुछ इस प्रकार करता है कि प्रत्येक पात्र की भावना और उसकी मनोवैज्ञानिक स्थिति स्पष्ट होती चलती है । ध्वनि-वैभिन्न्य का कारण पात्रों की मनस्थिति होती है तथा परिस्थिति- परिवर्तन के साथ भी ध्वनि बदलती जाती है ।

(8) भाषा, छन्द, प्रतीक और बिम्बों की सफल योजना भी गीतिनाट्य के लिए अपेक्षित होती है । भाषा के लिए प्रेषणीयता सदैव अपेक्षित होती है । अतः: भाषा को पात्रों की मनस्थिति और परिस्थिति के अनुकूल भावप्रेषण में सहायक होना चाहिए । इसके लिए भाषा की अतिप्राचीनता और अति लोकप्रचलित स्थिति दोनों ही अतिशयतावादी हैं । वास्तव में इलियट ने शैली की जिस तटस्थता पर बल दिया है, वही गीतिनाट्य की अनिवार्यता है । गीतिनाट्य की भाषा में हम जिस गुण की माँग करते हैं वह बहुत कुछ प्रतीकों और बिम्बों पर निर्भर करता है । विषय की मूर्तता और दीप्ति के लिए बिम्ब सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपकरण हैं । गीतिनाट्य में अन्तर्जीवन की विविध छवियाँ आकार पाती हैं । अतः उनकी सूक्ष्म किन्तु मूर्त प्रेषणीयता के लिए बिम्ब की आवश्यकता बनी रहती है । सही मानियों में बिम्ब के सहारे ही वस्तु की मूर्तता और पोएटिक इन्टेसीफिकेशन भावात्मक घनत्व की सर्जना सम्भव है । भावात्मक घनत्व के लिए जीवनानुभवों से खड़े किये गये बिम्ब ही सफल कहे जा सकते हैं । कारण अनुभूत सत्य को ही सही अर्थों में बिम्बता या मूर्तता प्रदान की जा सकती है ।

(9) बिम्ब यदि मूर्तता का काम करते हैं तो प्रतीक सही भावव्यंजना को संक्षिप्ति प्रदान करते हैं । सही मानियो में प्रतीकों को पात्रों की मनस्थिति या भावनाओं के प्रतिनिधित्व का भार वहन करना चाहिए । इतना ही नहीं, यदि वे युग-जीवन के अनुरूप अभिव्यक्ति को सशक्त नहीं बना पाते हैं तो उनकी स्थिति व्यर्थ ही है । प्रतीक न तो रूपक हैं और न उपमान ही, बल्कि वे इनसे भिन्न हैं । प्रतीक की व्यंजकता में इनकी अपेक्षा व्यापकता होती है । प्रतीक में उपमान का निगरण हो' जाता है । आन्तरिक जीवन की समस्याओं के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर स्तर प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं । प्रतीकों का क्षेत्र विस्तृत है । उनका अर्थ प्रसंगानुसार बदलता और बनता रहता है क्योंकि अकेले प्रतीक शब्द का उतना महत्व नहीं है वह तो संदर्भ से जुड़कर ही विशिष्ट अर्थ की प्रतीति कराता है । गीतिनाट्य में गढ़ व्यंजनाओं को सही रूप में सम्प्रेषित करने का कार्य प्रतीक ही कर सकते हैं ।

(10) गीतनाट्य तुकान्त, अतुकान्त और मुक्त सभी छंदों में लिखा जा सकता है । प्राचीन काल से ही छंदों का प्रयोग होता आयसा है, किन्तु यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि युगानुरूप छन्द भी बदलते हैं । आज हम बदलती हुई परिस्थिति में जी रहे हैं । अतः: मुक्त छन्द ही काव्य और नाट्य-काव्यों में अपनाया जा रहा है, आज के युग की बड़ी

भारी उपलब्धि यह है कि प्रबन्ध मुक्त छन्द के सहारे प्रस्तुत किए जा रहे हैं । गीतिनाट्य की प्रकृति के अनुकूल मुक्त छन्द ही है । कुछ लोगों को यह भ्रम बराबर बना रहता है कि मुक्त छन्द में छंद हीनता का भाव है । वास्तव में मुक्त छंद में छंद तो रहता है, किन्तु उसकी प्रकृति में चुकाता' होती है । वह छंद तो इसलिए है कि उसमें लय बराबर बनी रहती है और उसकी यही लयात्मकता गीतिनाट्य के सर्वथा उपयुक्त है । जहाँ कहीं भी लय-विभिन्न या लय-परिवर्तन होता है वहाँ भावों की परिवर्तित स्थिति का निरूपण रहता है ।

यों तो काव्य-नाटकों की विधा का प्रारम्भिक रूप वैदिक नाटकों में भी मिलता है, किन्तु काव्य-नाटक की विधा जिसे हम गीतिनाट्य भी कहते हैं, उसका प्रादुर्भाव पश्चिम में 19वीं शताब्दी में हुआ । भारतेन्दु ने अपने नाटकों में भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य-तत्त्वों का समावेश किया जिसकी चरम परिणति प्रसाद के नाटकों में मिलती है । जयशंकर प्रसाद के करुणालय की रचना एक प्रकार से गीतिनाट्य का प्रारम्भ कहा जा सकता है । इसके पश्चात् मैथिलीशरण जी का 'अनघ' भी गीतिनाट्य के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु वास्तव में उसे गीतिनाट्य कहना उचित नहीं लगता है । कारण यह है कि इसमें गीति-तत्त्व की सूक्ष्म धारा ही दिखाई देती है, नाट्य तत्त्व प्रायः नहीं है । आगे चलकर उदयशंकर भट्ट की कुछ कृतियाँ गीतिनाट्य के निकट हैं । भट्ट जी के 'मेघदूत', 'शकुन्तला, 'विक्रमोर्वशीय ', 'विश्वामित्र, 'मत्सयगंधां और राधा गीतिनाट्य की श्रेणी में आते हैं । हरिकृष्ण प्रेमी का स्वर्ण विहान मैथिलीशरण गुप्त के 'अनघ' की चेतना के ही निकट है । ही, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की 'पंचवटी प्रसंग' का उल्लेख गीतिनाट्यों की श्रेणी में किया जा सकता है । 'मत्सगंधां में भट्ट जी ने धीवर-कन्या के चरित्र के अन्तर्जगत का सुन्दर चित्रण किया है । यौवन की दुरभि आकांक्षा समस्त संसार को अपने में समा लेने की उत्कट अभिलाषा का अभिव्यंजन मत्सगंधा की प्रेरक भावना कही जा सकती है । भट्ट जी की राधा' कृति में राधा का कृष्ण के प्रति आकर्षण, समर्पण और अन्त में निलय ही उसका मूल कथ्य है । ही, भगवतीचरण वर्मा के काव्य-नाटक तारा' में अन्तर्द्वद्व प्रचुर मात्रा में है । प्रारम्भ से अन्त तक नायिका के मन में परस्पर विरोधी भावनाओं का संघर्ष चलता रहता है ।

काव्य-नाटक की परम्परा में सुमित्रानंदन पंत, रामधारी सिंह दिनकर, गिरिजा कुमार माथुर, धर्मवीर भारती और अज्ञेय के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं । संख्या की दृष्टि से देखें तो सर्वाधिक काव्य-नाटक पंत जी ने लिखे हैं । उनके प्रमुख काव्य-नाटक हैं- रजत शिखर', 'फूलों का देश, उत्तरशती, 'शुभ्र पुरुष', 'शिल्पी', शरत् चेतना', विद्युत बसना', 'अप्सरा' और 'ध्वंस शेष । दिनकर की 'मगध महिमा' भी इसी श्रेणी में परिगणित होती है, किन्तु 'उर्वशी अधिक चर्चित हुई है । गिरिजाकुमार माथुर का 'कल्पान्तर' भी गीतिनाट्य की दृष्टि से पर्याप्त चर्चित कृति है । सिद्धनाथ कुमार के 'सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य-नाटक इस परम्परा में विशिष्ट स्थान रखते हैं । आगे चलकर धर्मवीर भारती का काव्य-नाटक 'अंधायुग, नरेश मेहता का संशय की एक

रात', भारतभूषण अग्रवाल का 'अग्निलीक और दुष्यन्त कुमार का 'एक कंठ विषपायी भी काव्य-नाटकों की परम्परा को आगे बढ़ाने में पर्याप्त सहायक हुए हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि हिन्दी में गीतिनाट्य की विधा अब पर्याप्त विकसित हो चुकी है, किन्तु अभी भी सम्भावनाओं के द्वार खुले हैं ।

7.3 गीतिनाट्य के रूप में अधायुग

हिन्दी में रचित गीतिनाट्य-परम्परा में धर्मवीर भारती कृत 'अंधायुग' का विशिष्ट स्थान है । यह एक सफल गीतिनाट्य है, किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि इस गीतिनाट्य में प्रबन्धन की क्षमता है । यह क्षमता किसी एक कारण से नहीं है । कथावस्तु का संगठित स्वरूप, चरित्रों का अन्तर्बाह्य निरूपण, संवादों की विशिष्टता और प्रभावी स्थिति, मुक्त छंद का सार्थक प्रयोग और भाषा-शिल्प की दृष्टि से अंधायुग गीतिनाट्यात्मक प्रबन्ध की श्रेणी में आता है । अतः: हम भले ही इसे गीतिनाट्य कहकर संतोष कर लें, किन्तु सही अर्थ में यह गीतिनाट्यात्मक प्रबन्ध है ।

7.3.1 प्रख्यात कथानक और समसामयिकता

'अंधायुग महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं की पृष्ठभूमि पर आज के विकलांग एवं कुरूप युग की पतनशील संस्कृति का विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत करता है । कुछ समीक्षकों ने जिनमें मुक्तिबोध प्रमुख हैं, इसे भारतीय परिवेश में उत्पन्न स्थितियों का प्रतिरूप माना है, किन्तु वास्तव में यह विश्व के आन्तरिक और बाह्य जीवन पर दो-दो महायुद्धों के विनाशकारी प्रभाव की प्रभावी अभिव्यक्ति है । महाभारत के प्रख्यात कथानक से प्रेरित होकर भारती ने महाभारत युग की युद्धोत्तर स्थिति और भारत की द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर स्थिति एवं उससे विकसित प्रवृत्तियों को हृदयगम करके इसका कथानक तैयार किया है । इस गीतिनाट्यात्मक प्रबन्ध का प्रमुख स्वर निराशा का है । पूरे काव्य-नाटक में यह स्थिति आद्यन्त विद्यमान है जिसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है । इसके कथानक में जो कथ्य निरूपित हुआ है,वह आज की आणविक विभीषिका से आतंकित और त्रस्त समूची मानव-जाति में घर की हुई मानसिकता का प्रत्यक्ष अंकन है । 'अंधायुग का सर्वाधिक महत्व इसलिए है कि इसमें युगीन चिन्तन है और यह चिन्तन पौराणिक आख्यान से अभिव्यक्ति पाता चला गया है । अनेक सामाजिक प्रश्नों और समाज के , विभिन्न वर्गों की विभिन्न परिस्थितियों द्वारा निर्मित उभरी हुई मानसिकताओं का अंकन अंधायुग में बड़ी खूबी से किया गया है ।
सम्पूर्ण कथावृत्त को पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस गीतिनाट्य का प्रमुख प्रश्न सांस्कृतिक है और यह प्रश्न सम्पूर्ण मानव समाज की समस्या से सम्बद्ध है । युद्ध के कारण और उसके परिणाम आज भी मानव-समाज के सबसे बड़े प्रश्न हैं । इन्हीं प्रश्नों को भारती ने पौराणिक कथानक और पात्रों का सहारा लेकर सांकेतिक और प्रतीकात्मक शैली में अभिव्यक्ति प्रदान की है । इस कथानक के माध्यम से आधुनिक युग की विश्वसनीय और प्रामाणिक स्थिति का अभिव्यंजन कृति में देखा जा सकता है ।

आत्महत्या, संशय विक्षेप, शाप से ग्रस्त तत्कालीन कथावस्तु का आधुनिक स्थितियों में तारतम्य बिठाकर रचनाकार ने महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय कार्य किया है । काव्य-नाटक के पाँचों अंक क्रमशः सम्बद्ध हैं । बीच-बीच में कथागायन की स्थिति को रखकर कथा को क्रमिकता निरन्तरता और गतिशीलता प्रदान की गयी है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि अंधायुग में जो प्रख्यात कथानक आधारस्वरूप ग्रहण किया गया है, उसमें समसामयिक परिवेश के ज्वलन्त प्रश्नों को बड़ी खूबी के साथ अनुस्तृत कर दिया गया है ।

7.3.2 चरित्रों की प्रतीकात्मकता

चरित्रांकन की दृष्टि से विचार करें तो 'अंधायुग' में कुल मिलाकर छोटे-बड़े 16 पात्र हैं। इनमें गांधारी को छोड़कर सभी पुरुष पात्र हैं । अप्रत्यक्ष रूप से कुन्ती, उत्तरा, कौरव की विधवाएँ और पाण्डव शिविरों में विद्यमान स्त्रियों का उल्लेख अवश्य किया गया है, किन्तु आलोव्य कृति में इनकी कोई विशेष भूमिका नहीं है । न तो इनका कोई संवाद है, न इनके चरित्र की ओर कृतिकार ने कोई ध्यान दिया है । कृति का जो उद्देश्य है, उसके आधार पर ऐसा करना. आवश्यक भी नहीं था । पुरुष पात्रों में वृद्ध याचक, गूँगे सैनिक और प्रहरियों को छोड़कर सभी पात्र पौराणिक और ऐतिहासिक हैं । वृद्ध याचक को रचनाकार ने 'जरा' नामक व्याध के साथ सम्बद्ध कर दिया है और उसे वृद्ध याचक की प्रेत-काया मानकर प्रस्तुत किया है । कृष्ण के वध करने वाले का नाम 'जरा' था, ऐसा उल्लेख भागवत में भी मिलता है, किन्तु भारती ने उसे वृद्ध की प्रेत- काया मान लिया है । गूँगे सैनिक, प्रहरियों और याचक के व्यक्तित्व कल्पित अवश्य हैं, किन्तु प्रतीकात्मक हैं । इन्हें बड़ी कुशलता के साथ नाटक में समाविष्ट किया गया है ।

इसके अतिरिक्त जो प्रमुख पात्र है, उनमें अश्वथामा, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, विदुर, कृष्ण और गांधारी के नाम आते हैं । इनके अतिरिक्त अप्रधान पात्रों में कृपाचार्य, कृतवर्मा, बलराम और युधिष्ठिर को लिया जा सकता है । इन सभी पात्रों के चरित्र को उभारने, उनके विचारों को अभिव्यक्ति देने और उनकी मनोवृत्ति का विश्लेषण करने के लिए भारती ने चार पद्धतियों का प्रयोग किया है- (1) पात्र विशेष की स्वयं की उक्तियाँ और उससे व्यक्त चरित्र, (2) दूसरे पात्रों द्वारा चरित्र का उद्घाटन, (3) कवि द्वारा अपनी ओर से चरित्र-विश्लेषण और (4) रंग-निर्देश के माध्यम से चरित्रांकन । धृतराष्ट्र का चरित्र और उसकी विवशता का अंकन उसके कथन से ही हो जाता है । दूसरे पात्रों में अश्वत्थामा के चरित्रांकन के लिए गांधारी का कथन उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है। कवि अपनी ओर से कथा-गायन की पद्धति के माध्यम से चरित्रो पर प्रकाश डालता चलता है । रंग-निर्देश के माध्यम से युयुत्सु का चरित्र सामने आया है । युयुत्सु के वर्णन में यह दिखाया गया है कि वह अर्द्धविक्षिप्त की करुणोत्पादक चेष्टाएँ करता हुआ दूसरी ओर निकल जाता है ।

अश्वत्थामा का चरित्र पूरी तरह मनोवैज्ञानिक है । वह कुण्ठित और एक विघटित पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है । इसका कारण युधिष्ठिर का अर्द्धसत्य बतलाया गया है । उसके अन्दर की सारी चेतना मनोग्रंथि बनकर इस कृति में अभिव्यक्त हुई है । गांधारी का चरित्र अश्वत्थामा की ही तरह है । वह एक कुण्ठित नारी का प्रतीकार्थ लिए हुए है । उसका अवचेतन मन चेतन पर हावी है, तभी तो वह दुर्योधन का कंकाल देखकर स्वयं कुण्ठित हो जाती है । धृतराष्ट्र जो जन्मान्ध हैं, उनका प्रतीकार्थ है कि वे जगत के यथार्थ से कटे हुए होने के कारण अपनी वैयक्तिक सीमाओं में आबद्ध रहते हैं और करणीय और अकरणीय के विवेक का निर्णय नहीं कर पाते हैं । विदुर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'अन्तर्मुख अनुभवन' प्रधान चरित्र है । सामान्यतः: वह तटस्थता का प्रतीक है । वह निर्लिप्त व्यक्तित्व का धनी है । संजय सत्य के वाहक हैं, इसलिए अवध्य हैं । कृष्ण का चरित्र रहस्यमय है, किन्तु उन्हें 'प्रभु' या परात्पर कहकर विशिष्टता प्रदान कर दी है । एक आलोचक के शब्दों में कृष्ण युग की सेल्थ की धारणा का प्रतिबिम्बित करते हैं । वास्तव में वे ही सत्य और असत्य दोनों में व्याप्त हैं, तभी तो महाभारत के युद्ध के पाप-पुण्यों को अपने ऊपर ले लेते हैं । उनका यह कथन द्रष्टव्य है-

अट्ठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं मरा हूँ करोड़ों बार
अश्वत्थामा के अंगों से
रक्त, स्वेद, पीव बनकर बहूँगा
मैं ही युग युगान्तर तक जीवन हूँ मैं
तो मृत्यु भी तो मैं ही हूँ माँ
शाप यह तुम्हारा स्वीकार है ।

इस प्रकार चरित्र-विधान और चरित्रों की प्रतीकात्मकता के कारण अंधायुग एक सफल गीतिनाट्यात्मक प्रबन्ध प्रतीत होता है ।

7.3.3 मानव मनोभावों की अभिव्यंजना

गीतिनाट्य का सर्जक पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने में अपनी रुचि अधिक दिखाता है । इस दृष्टि से यदि भारती के अंधायुग पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट होता है कि इसमें प्रमुख पात्र धृतराष्ट्र, विदुर, संजय, अश्वत्थामा और गांधारी आदि सभी के मनोभावों को बड़ी खूबी के साथ अभिव्यक्ति दी गयी है । जन्मान्ध धृतराष्ट्र जो करणीय अकरणीय के बीच अन्तर करने में समर्थ होते हुए भी विवेकहीनता का परिचय देते हैं और अपनी विवशता व्यक्त करते हैं, उसकी अभिव्यक्ति जो एक प्रकार से उनका आन्तरिक मनोभाव है, इस गीतिनाट्य में बखूबी देखी जा सकेती है । अश्वत्थामा का चरित्र जो पूरी तरह मनोवैज्ञानिक है और प्रतिशोध जिसकी मनोग्रंथि बन गया है, उसके मनोभावों को धर्मवीर भारती ने पूरी यथार्थपरक और विश्वसनीय शब्दावली के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है । गांधारी जो ऑखों पर पट्टी बाँधे रही,

किन्तु कहीं न कहीं उसके मन में अपने पुत्रों के प्रति मोह रहा और उनका वध देखकर और अन्त में दुर्योधन का मृत शरीर देखकर जो भाव उमड़े, वे बड़े भयानक थे और उन्हें भारती ने पूरी ईमानदारी से अभिव्यक्ति दी है । गांधारी का क्रोध कृष्ण को शाप के रूप में झेलना पड़ा ।

कृष्ण यद्यपि अंधायुग में कम स्थान पाए हुए हैं, किन्तु प्रत्येक घटना, प्रत्येक संदर्भ और प्रत्येक स्थिति के मूल में वे कहीं न कहीं अवश्य हैं । यही कारण है कि वे महाभारत युद्ध के सभी कारणों, परिणामों और युद्धोत्तर स्थितियों का भार अपने ऊपर ले लेते हैं । विदुर की स्पष्टवादिता और सत्यवादिता और संजय की तटस्थता की स्थिति को ही नहीं, बल्कि युयुत्सु की मनोगत भावनाओं को भी इस कृति में बेबाक शब्दों में अभिव्यक्ति दी गयी है । अतः: इस दृष्टि से भी अंधायुग एक सफल गीतिनाटयात्मक प्रबन्ध बन गया है।

7.3.4 द्वन्द्व और आत्मसंघर्ष

'अंधायुग' के अन्तर्गत द्वन्द्व और आत्मसंघर्ष दोनों की स्थिति अत्यन्त स्पष्ट है । द्वन्द्व दो प्रकार का होता है-बाह्य और आन्तरिक । अंधायुग में न केवल बाह्य संघर्ष को प्रत्यक्षत: निरूपित किया गया है, अपितु आन्तरिक संघर्ष को अधिक महत्व दिया गया है । अंधायुग में जो संघर्ष और आत्मसंघर्ष विद्यमान है, वह कथावस्तु में तो है ही, चरित्रों के माध्यम से उसे अधिक विश्वसनीयता के साथ प्रस्तुत किया गया है । इसमें जो पात्र प्रमुखता पाये हुए हैं, उनमें से प्रत्येक में आत्मसंघर्ष है । हर कोई अपने भीतर से जूझता दिखाई देता है । इस प्रकार अपने से संघर्ष करता हुआ सर्वाधिक प्रभावी चरित्र अश्वत्थामा का है । उसके आत्मसंघर्ष को अंधायुग में अनेक रूपों और अनेक स्थलों पर अभिव्यक्ति दी गयी है । अश्वत्थामा के चरित्र-विश्लेषण में इसका उल्लेख किया जा चुका है । गांधारी में आत्मसंघर्ष की स्थिति उस स्थान पर दिखाई देती है, जब वह क्रोधाविष्ट होकर कृष्ण को शाप तो दे देती है, किन्तु कृष्ण द्वारा शाप स्वीकार किये जाने पर उसके भीतर की ममता फूट पड़ती है, उसे पश्चाताप होता है, किन्तु उस स्थिति में कुछ भी सम्भव नहीं था । धृतराष्ट्र का आन्तरिक संघर्ष उनकी विवशताजनित मानसिकता में अभिव्यक्त हुआ है । युयुत्सु का आत्मसंघर्ष और उसकी मानसिकता भी अंधायुग में बड़ी ईमानदारी के साथ चित्रित की गयी है ।

7.3.5 कथोपकथनों की स्वाभाविकता और नाटकीयता

गीतिनाट्य में संवादों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है । कथा को गति प्रदान करने, चरित्रांकन के निमित्त संवादों की स्वाभाविकता और सहजता अनिवार्य होती है । गीतिनाट्य में संवाद न तो सपाट गद्य में ही होते हैं और न कविता में ही । गीतिनाट्य में तो संवाद-प्रयोग के दौरान लय और टोन का विशेष ध्यान रखा जाता है। ये प्रायः: मुक्त छन्द में होते हैं । जैसे-जैसे संवेग उदित होते हैं, वैसे-वैसे संवादों की

लय बदलती जाती है । स्पष्टीकरण के लिए अंधायुग में आया संजय का यह संवाद देखिए-

बिजली-सा झपट खींचकर शैया के नीचे
घुटनों से दाब लिया उसको
पंजों से गला दबोच लिया.....

दिव्य दृष्टि द्वारा अश्वत्थामा को गांधारी के सामने लाने के दृश्य में संजय की लय में अचानक परिवर्तन आ जाता है । उदाहरणार्थ-

दीवारों हट जाओ
राह में जो बाधाएँ दृष्टि रोकती हैं
वे माया से सिमट जायें
दूरी मिट जाये

कहने का अभिप्राय यह है कि वांछित दृश्य सामने आने पर लय में परिवर्तन हो जाता है । धर्मवीर भारती ने किसी स्थिति विशेष पर बल देने के निमित्त अथवा पात्रों की मनस्थिति की तीव्रता की अभिव्यंजना के लिए दोहराने की पद्धति का सहारा लिया है । संवाद-प्रयोग में इस पद्धति को अश्वत्थामा की हिंसा की मनोग्रंथि से पीड़ित मानसिकता में देखा जा सकता है-

मैं क्या करूँ?
मातुल मैं क्या करूँ?
किसको पा जाऊँ?
मरोड़ू मैं ।
मैं क्या करूँ, मातुल मैं क्या करूँ?

कहने का अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में एक ही व्यक्ति की टोन बदल जाती है । ऐसी परिस्थितियों के चित्रांकन में भारती ने पूरी सजगता से काम लिया है । उन्होंने ऐसी नाटकीय स्थितियाँ भी उत्पन्न की हैं, जिनसे पात्रों के संवादों की ध्वन्यात्मक लय में स्वतः ही परिवर्तन आता गया है । इससे कथानक को गति प्राप्त हुई है और वह उद्देश्य की ओर बढ़ता गया है । अंधायुग के संवादों की टोन पात्रों की मानसिक स्थिति के अनुरूप ऊँची-नीची होती गयी है । संवादों में स्वरों का कम्पन भी उल्लेखनीय भूमिका रखता है । प्रथम अंक में जब एक प्रहरी जब गृद्धों के पंखों की ध्वनि सुनता है, वैसे ही वह कहता है- जो सारी कौरव-नगरी का आसमान गृद्धों ने घेर लिया इस पर दूसरा प्रहरी कहता है- झुक जाओ, झुक जाओ, ढालों के नीचे छिप जाओ, नरभक्षी हैं, ये गिद्ध भूखे हैं । संवादों में प्रयुक्त शब्दावली ने भी वातावरण के प्रभाव को मार्मिक बना दिया है । आँधी की द्वनि जैसे ही कम होती है, वैसे ही एक प्रहरी इन शब्दों का प्रयोग करता हुआ कहता है- 'मौत जैसे ऊपर से निकल गयी' । ये कुछ ऐसे उदाहरण हैं, जो प्रमाणित करते हैं कि नाटकीय स्थिति में लय में स्वत: ही

परिवर्तन हो जाता है । संवादों की भाषा सहज, स्वाभाविक, प्रसंगानुकूल और सोद्देश्य है।

7.3.6 अभिनेयता

'अंधायुग' का सृजन मूलत: रंगमंच को दृष्टि में रख कर किया गया है । इसका प्रमाण भारती के अंधायुग में दिये गये निर्देश से प्राप्त हो जाता है । उनका कथन है कि ' 'मूलतः यह काव्य रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था । यहाँ उसी मूल रूप में छापा जा रहा है । लिख जाने के बाद उसका रेडियो रूपान्तर भी प्रस्तुत हुआ, जिसके कारण इसके संवादों की लय और भाषा को माँजने में काफी सहायता मिली ।" अंधायुग की अभिनेयता के आगे कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता है । इब्राहीम अलकाजी एवं सत्यदेव दुबे जैसे प्रसिद्ध निर्देशकों द्वारा अंधायुग के सफलतापूर्वक मंचन किये जा चुके हैं । जहाँ तक अंधायुग के मंच-विधान का प्रश्न है, उसे भारती ने बहुत ही सरल बनाने का प्रयास किया है । लेखक ने स्वयं इसके मंचन के लिए पर्याप्त विस्तार से निर्देश दिये हैं- "समस्त कथावस्तु पाँच अंकों में विभाजित है, बीच में अन्तराल के पहले दर्शकों को लम्बा मध्यान्तर देने हेतु दो पर्दे रहेंगे । सामने का पर्दा अंक के प्रारम्भ में उठेगा और अन्त तक उठा रहेगा । उसका और पीछे का पर्दा चित्रित नहीं होना चाहिए । मंच की सजावट कम से कम होनी चाहिए । प्रकाश-व्यवस्था में अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए ।"

'अंधायुग' में प्रकाश तथा ध्वनि-संकेतों का आश्रय भी लिया गया है । प्रकाश-व्यवस्था के माध्यम से अश्वत्थामा के हृदय में प्रतिहिंसा जाग्रत होने के दृश्य को नियंत्रित किया गया है जिसमें उल्लू व कौवे के युद्ध को देखकर वह पाण्डवों पर धोखे से आक्रमण करने का निश्चय करता है । अंधायुग में प्रकाश के स्थान पर ध्वनि-प्रयोग अधिक है । महाभारत-युद्ध की भूमिका का भीषण कोलाहल, सैनिकों की चीत्कारों, कौरव-नगरी पर उड़ते हुए गिद्धों का कोलाहल, दावाग्नि का फैलना जैसे दृश्य ध्वनि-संकेतों के माध्यम से सम्पन्न हुए हैं । काव्यनाटक के अन्त में की सूचना ध्वनि और प्रकाश के माध्यम से दी गयी है । प्रकाश एकदम तीव्र होकर बुझ है तथा वंशी की तान उठकर टूट जाती है । इससे प्रभु के स्वर्गवास की अभिव्यक्ति कर दी गयी है । रंग-संकेतों की दृष्टि से भी 'अंधायुग' पर्याप्त सफल बन पड़ा है । धर्मवीर भारती ने वेशभूषा सम्बन्धी अधिक संकेत न देकर रंग-संकेतों के माध्यम से पात्रों की उद्विग्न मनोदशा की चेष्टाओं, भाव-भंगिमाओं आदि को संकेतित कर दिया है । कहने का अभिप्राय यह है कि 'अंधायुग' पूरी तरह अभिनेय है । इसके अभिनय हो भी चुके हैं जो इसकी सफल अभिनेयता और श्रेष्ठता के प्रमाण हैं!

7.3.7 शिल्प का आकर्षक प्रयोग

'अंधायुग' का शिल्प महत्वपूर्ण है । यह मुक्त छंद में लिखा गया है। साथ ही अन्तराल में छन्द योजना से मुक्त-वृत्त-गंधि गद्य का भी प्रयोग किया गया है जो बोलचाल के निकट है । यथा-

यह क्या है?
मोर पंख?
गांधारी को आश्वासन देकर
हस्तिनापुर से लौटते हुए
कृष्ण के किरीट से लगता है यह पंख गिर पड़ा है ।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'अंधायुग' के अन्तर्गत प्रयुक्त मुक्त छन्द बोलचाल की भाषा की वर्दी में सजकर सामने आता है । कहीं भी ऐसा नहीं लगता है कि कवि ने कृत्रिम भाषा का प्रयोग किया हो । स्थिति परिवर्तन और मानसिक घात- प्रतिघात के साथ ही लय और टोन तथा भाषा भी थोड़ी-बहुत बदलती चलती है । साधारण-सी शब्दावली अर्थगरिमा से युक्त होकर पात्रों की मानसिक द्विविधा और पीड़ा को अभिव्यक्त करने में सफल है । जहाँ जैसे प्रभाव की जरूरत हुई है, वहाँ वैसी ही शैली, वैसी ही कथन-पद्धति प्रयुक्त हुई है । शैली की मौलिकता और भाषा की अर्थवत्ता ने इस गीतिनाट्यात्मक प्रबन्ध को अतिरिक्त प्रभावशाली बना दिया है । भाषा और शैली में जो शक्ति है, उसी के माध्यम से अनेक समस्याओं और प्रश्नों का सही प्रस्तुतीकरण हो सका है । ही, एक बात यह जरूर है कि अंधायुग की भाषा को काव्यात्मक बनने के लिए गद्य के मार्ग से गुजरना पड़ा है । वह साधारण बोलचाल से जहाँ भी काव्यात्मक बनी है, वहीं पर उसका प्रभाव बढ़ भले ही गया हो, कम होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता है । देखिए तो सही, भाषा की सरलता कितनी आत्मीयता लिए हुए है-

प्रहरी एक — अंधे राजा की प्रजा कहाँ तक देखे?
दीख नहीं पड़ता कुछ
हाँ, शायद बादल हैं....

प्रहरी दो — बादल नहीं हैं
ये गिद्ध हैं
लाखों करोड़ों पाँखें खोले ।
x x x x x
झुक जाओ, झुक जाओ
ढालों के नीचे छिप जाओ
नर-भक्षी हैं ये गिद्ध भूखे हैं ।

इसी प्रकार संजय और अश्वत्थामा की मनस्थिति को रूपायित करने वाली इस सरल किन्तु व्यंजक भाषा को देखिए जिसमें कहीं कोई कृत्रिमता व अलंकरण नहीं है । बिल्कुल सपाट और सीधी, किन्तु अभिव्यंजन में सक्षम-

संजय मत छोड़ो
विनती करता हूँ
कर दो बध
जाकर अंधों से सत्य कहने की
मर्मान्तक पीड़ा है जो
उससे जो बध ज्यादा सुखमय है
अश्वत्थामा बध मेरे लिए नहीं रही नीति
वह है मेरे लिए अब तो मनोग्रंथि
किसको पा जाऊँ?
मरोड़ूँ मैं
क्या करूँ?
मातुल मैं क्या करूँ?

शिल्प में बिम्बों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है । अंधायुग के बिम्ब स्थिर, गतिशील, संवेद्य और भावपूर्ण है । जहाँ केवल वर्णन है वहाँ वे स्थिर हैं, किन्तु जहाँ मनस्थितियो का मूर्तन है, वहाँ वे संवेद्य और भावपूर्ण बन गये हैं । उनकी गतिशीलता वहीं देखी जा सकती है, जहाँ कि दृश्य जल्दी-जल्दी परिवर्तित होता दिखाया गया है । बिम्बों की संवेदनशीलता और भावात्मकता ने अंधायुग के विविध संदर्भों को मूर्तित करके प्रेषणीय बना दिया है । अनुभूति की तीव्रता और दृश्यात्मकता के कारण बिम्ब वस्तु को सम्प्रेष्य बनाते हैं । अतः: अंधायुग की अविस्मरणीय उपलब्धियों में उसकी कल्पना-समृद्धि और तज्जन्य बिम्ब विधायिका शक्ति को स्थल-स्थल पर देखा जा सकता है-

पंजों से गला दबोच लिया
आँखों के कोटर से दोनों साबुत गोले
कच्चे आमों की गुठली जैसे उछल गये
खाली गड्ढे में काला लोहू उबल पड़ा ।

वातावरण को चित्रित करने वाले बिम्ब कथा गायन में देखे जा सकते हैं । वे कहीं-कहीं बड़े संश्लिष्ट बन पड़े हैं । प्रथम अंक में तथा समापन में इन्हें देखा जा सकता है । समापन की ये पंक्तियाँ तो एक साथ ही संवेद्य और भावात्मक बिम्बों का प्रस्तुतीकरणस करने में सक्षम हैं-

वह था प्रभास-वन क्षेत्र, महासागर तट पर ।
नभचुम्बी लहरें रह-रह खाती थी पछाड़ ।
था धुला समुद्री फेन समीर झकोरो में ।
वह चली हवा, वह खड़-खड़ छड़ कर उठे ताड़ ।

इसी प्रकार हारी हुई कौरव सेना की अवगति जब अंधे धृतराष्ट्र छू-छूकर करना चाहते हैं या करते हैं तो उनका सारा 'एवशन मूर्तित हो उठता है-

देख नहीं सकता हूँ
पर मैंने छू-छू कर
अंग-भंग सैनिकों को
देखने की कोशिश की
बाँह के पास से हाथ
जब कट जाता है
लगता है जैसे मेरे सिंहासन का
हत्था है ।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि बिम्ब के लिए जिस भावमय भाषा की अपेक्षा होती है, वह इन पंक्तियों में मौजूद है । धृतराष्ट्र की यह अनुभूति बड़ी गहरी है । वेदना का जो धुआँ कंठ में भर गया है, उससे उत्पन्न परेशानी और थकावट का बिम्ब ही यहाँ उभर आया है । अंधायुग के अन्तर्गत भारती ने लोकनाट्य शैली का सहारा लिया है । उद्घोषक, वक्ता, छोटे-छोटे अंकों में विभाजन आदि लोकनाट्य शैली से प्रभावित हैं । इतने पर भी यह स्मरणीय है कि अंधायुग पूरी तरह लोकनाट्य पर आधारित नहीं है । इसका शिल्प गीतिनाट्य शैली पर ही आधृत है । किंचित् परिवर्तनों के साथ इसे रेडियो नाट्य भी बनाया जा सकता है और बनाया भी गया है । इसकी शैली में जो नाटकीयता है, जो व्यंजकता है और जो सांकेतिकता है, उससे इसका कथ्य पूरी तरह प्रभावी रूप में सामने आता गया है ।

गीतिनाट्य में काव्यत्व और संगीतत्व की योजना भी होती है । इस दृष्टि से भी अंधायुग सफल प्रतीत होता है । कृति में स्थान-स्थान पर भारती ने अपनी कविहृदय जनित भावुकता और मार्मिकता को स्थान दिया है । कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है जैसे उत्तरमहाभारतकाल की सम्पूर्ण कसक और वेदना उनके हृदय में समाहित हो गयी है । वैचारिकता और भावुकता एकमेक होकर एक अद्भुत अनुभूति का सृजन करती है । माता गांधारी की वेदना जैसे कवि के हृदय में समा गयी है, तभी तो वह ये पंक्तियाँ लिख सका है-

सत्रह दिन के अन्दर
मेरे सब पुत्र एक-एक कर मारे गये
अपने इन हाथों से
मैंने फूल-सी वधुओं की कलाई से चूड़ियाँ उतारी हैं
अपने इस आँचल से
सेन्दुर की रेखाएँ पोंछी हैं

यह ठीक है कि अंधायुग में गीत नहीं हैं, लेकिन गीति-तत्त्व उसमें आदि से अन्त तक विद्यमान है । गीति-तत्त्व और रागात्मकता की रक्षा के लिए ही 'टोन' का विशेष ध्यान रखा गया है । कथागायन भी संगीतत्त्व से युक्त है । अंधायुग में काव्य-तत्त्व, नाट्य-तत्त्व और संगीत-तत्त्व मिलकर एकमेक हो गये हैं । परिणामस्वरूप पूरे

गीतिनाट्य में प्रभावोत्पादकता की त्रिवेणी लहराती प्रतीत होती है । युगानुकूल अभिव्यक्ति ने अंधायुग के प्राचीन कथासूत्रों को अर्वाचीन सूत्रों में बाँध दिया है । उस काल की विकृतियाँ, अनैतिकता, अमर्यादा, रक्तपात आज की ही तो समस्याएँ हैं । कवि ने लिखा भी है-

उस दिन जो अंधायुग अवतरित हुआ जग पर
बीतता नहीं रह-रहकर दुहराता है

दो प्रहरियों के वार्तालाप द्वारा भी उस युग को आज के युग से जोड़ा गया है । उदाहरणार्थ-

शासक बदले, स्थितियाँ बिल्कुल वैसी हैं
इससे तो पहले ही शासक अच्छे थे, अंधे थे-
लेकिन वे शासन तो करते थे
ये तो सन्त-ज्ञानी हैं ।

7.4 सारांश

समग्र विवेचनोपरान्त कहा जा सकता है कि वस्तु-संगठन, चरित्रांकन, संवाद-प्रयोग, बिम्ब-योजना, प्रतीकात्मकता, नाटकीयता, काव्यत्व, अभिनेयता और भावाभिव्यंजना की दृष्टि से अंधायुग एक सफल और प्रभावी गीतिनाट्य है । इसमें प्रबन्धत्व का गुण है, इसी कारण इसे हमने गीतिनाट्यात्मक प्रबन्ध कहा है । इसकी अपनी अलग विशेषताएँ हैं और ये विशेषताएँ ही इसे प्रभावी कृति के रूप में सामने लाती हैं । नवीन छंद-विधान, कथा-गायन का प्रयोग, प्रसंगानुकूल बदलती हुई लय, रंग-निर्देशों द्वारा नाटकीयता, अन्तराल की योजना, दृश्य-श्रव्य एवं लोकनाट्य का समनव्य आदि के कारण अंधायुग एक विशिष्ट कृति बन गया है ।

7.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. गीतिनाट्य के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए उसके स्वरूप पर प्रकाश डालिए ।
2. गीतिनाट्य-परम्परा का संक्षेप में उल्लेख करते हुए 'अंधायुग' की स्थिति को स्पष्ट कीजिए।
3. 'अंधायुग' के कथानक की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।
4. "अंधायुग' का प्रमुख और प्रभावी पात्र अश्वत्थामा है । " इस कथन के परिप्रेक्ष्य में अश्वत्थामा का चरित्रोदघाटन कीजिए ।
5. 'अंधायुग' के पात्रों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हुए उनकी प्रतिकात्मकता को स्पष्ट कीजिए ।
6. गीतिनाट्य के रूप में 'अंधायुग' की समीक्षा कीजिए ।

7.6 संदर्भ ग्रंथ

1. जयदेव तनेजा; समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र-सृष्टि

2. डी. नगेन्द्र; आधुनिक हिन्दी नाटक
3. नेमिचन्द्र जैन; स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी नाटक
4. श्रीकृष्ण सिंघल; हिन्दी गीतिनाट्य
5. हुकुमचन्द राजपाल; हिन्दी कविता की नाट्यमुखी भूमिका
6. डॉ. हरिचरण शर्मा; धर्मवीर भारती का काव्य : सृष्टि और दृष्टि
7. डी. हरिचरण शर्मा; नयी कविता नये धरातल
8. डी. शिवशंकर कटारे; हिन्दी गीतिनाट्य : सिद्धान्त और समीक्षा
9. डी. सुरेश गौतम एवं डी. वीणा गौतम; अंधायुग की रचना मानसिकता

इकाई-8 मोहन राकेश : नाट्य दृष्टि व उनके नाटक

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 राकेश के नाट्य साहित्य का संक्षिप्त परिचय

8.3 राकेश के नाटकों में समकालीनता

8.4 आषाढ़ का एक दिन का संदर्भ और मोहन राकेश की नाट्य दृष्टि

8.5 लहरों के राजहंस का संदर्भ और मोहन राकेश की नाट्य दृष्टि

8.6 आधे अधूरे का संदर्भ और मोहन राकेश की नाट्य दृष्टि

8.7 पैर तले की जमीन का संदर्भ और मोहन राकेश की नाट्य दृष्टि

8.8 स्त्री चरित्र और मोहन राकेश की नाट्य दृष्टि

8.9 राकेश के नाटकों में अएकेलेपन और अर्थहीनता के संकेत

8.10 सारांश

8.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.12 संदर्भ ग्रन्थ

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त छात्र -

- मोहन राकेश की नाट्य दृष्टि और उनके नाटकों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे ।
- राकेश अपने युग और आस-पास के वातावरण से किस गहराई के साथ जुड़े थे, इससे अवगत हो सकेंगे ।
- राकेश के नाटकों से आधुनिक जीवन में व्याप्त अकेलेपन, अवसाद, घुटन व तनाव की जानकारी मिलेगी ।
- स्त्री-पुरुष के अहम की टकराहट के साथ, परिवार किस प्रकार बिखर जाते हैं, इसका विश्लेषण करने में समर्थ हो सकेंगे ।

8.1 प्रस्तावना

मोहन राकेश, हिन्दी जगत के लिए, एक कभी न भूला सकने वाला नाम है । कथात्मक विधा और नाट्य-विधा दोनों पर ही उनकी गहरी और अद्भुत पकड़ थी । उन्होंने ' 'आषाढ़ का एक दिन'., ' लहरों के राजहंस", "आधे अधूरे' ' जैसे अपने लोकप्रिय नाटक के संक्षिप्त-से जीवन काल में ही दुर्लभ ख्याति अर्जित की थी । उनकी नाट्यकृतियों से साहित्य तो समृद्ध हुआ ही, भारतीय रंगमंच को भी बहुत-कुछ मिला । नेमिचन्द्र जैन के अनुसार, ' 'हिन्दी नाटक के क्षितिज पर मोहन राकेश का उदय उस समय हुआ जब स्वाधीनता के बाद पचास के दशक में सांस्कृतिक पुनर्जागरण का ज्वार देश में जीवन

के हर क्षेत्र को स्पन्दित कर रहा था । उनके नाटकों ने न सिर्फ नाटक का आस्वाद, तेवर और स्तर ही बदल दिया, बल्कि हिन्दी रंगमंच की दिशा को भी प्रभावित किया । " (नेमिचन्द जैन : मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, भूमिका)

8.2 राकेश के नाट्य साहित्य का संक्षिप्त परिचय

राकेश ने अपने जीवन-काल में तीन पूर्णाग नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' ' (1958) 'लहरों के राजहंस (1963) और 'आधे-अधूरे' (1969) लिखे, कुछ एकांकी, ध्वनिनाट्य, बीज नाटक तथा रेडियो नाटक आदि लिखे जो 'अंडे के छिलके, अन्य एकांकी तथा बीज नाटक' और रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि नाटक' नामों से प्रकाशित हैं । उनका एक नाटक 'पैर तले की जमीन' वे अधूरा छोड़ गये थे जिसे उनकी नोटिंग के आधार पर उनके अनन्य मित्र कमलेश्वर ने बाद में पूरा किया ।

8.3 राकेश के नाटकों में समकालीनता

राकेश की इन रचनाओं का अलग-अलग विवेचन करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम उन सामान्य विशेषताओं का विवेचन करें जो राकेश के सम्पूर्ण नाट्य साहित्य में प्राप्त होती हैं और जो उन्हें हिन्दी ही नहीं समस्त भारतीय नाट्य साहित्य में विशिष्ट स्थान का अधिकारी बनाती है ।

"लेखक का वास्तविक कमिटमेंट किसी विशेष विचारधारा से न होकर अपने से, अपने समय से ओर समय के जीवन से होता है ।" (बकलमखुद,पृष्ठ 112)

राकेश की यह उक्ति उनकी दृढ़ मान्यता थी और उनका समस्त साहित्य इसका प्रमाण है । राकेश अपने युग और आस-पास के वातावरण एवं समस्याओं से गहरे जुड़े थे, उसे भोग रहे थे और अपने भोगे हुए सत्य को उन्होंने अपने साहित्य में वाणी दी । वस्तुतः: राकेश का सत्य उनके युग का सत्य था, साहित्यकार का सत्य था, उनके आस-पास के जीवन का सत्य था, स्त्री-पुरुष के विभिन्न संबंधों में दिखलायी पड़ने वाली नयी चेतना, द्वन्द्व, बिखराव, बिलगाव का सत्य था, जिसे उन्होंने अपनी विभिन्न रचनाओं में बार-बार उजागर किया ।

8.4 आषाढ़ का एक दिन का संदर्भ और मोहन राकेश की नाट्य दृष्टि

'आषाढ़ का एक दिन' का कथानक महाकवि कालिदास के जीवन से संबंधित है । यह एक ऐतिहासिक नाटक नहीं है, अतः: इसमें ऐतिहासिक तथ्यों का सही उल्लेख खोजना व्यर्थ है । यों भी कालिदास के सम्बन्ध में कोई भी तथ्य सर्वथा प्रामाणिक नहीं । उनका समय, प्रारंभिक जीवन, शिक्षा-दीक्षा, परवर्ती जीवन सभी के सम्बन्ध में किंवदंतियाँ अधिक प्रचलित हैं । अपनी कल्पना और भावना के माध्यम से राकेश ने कालिदास के जीवन, साहित्य और मनोभाव के साथ ही अपने युग, समकालीन साहित्य एवं साहित्यकार तथा राजाश्रय आदि के प्रश्नों को बड़ी संवेदना एवं सहानुभूति के साथ

चित्रित किया है । 'आषाढ़ का एक दिन' में जब वे राजकीय सम्मान और सृजनात्मक प्रतिभा के द्वंद की बात करते हैं, सुख-सुविधामय जीवन में सृजन से कुंठित होने की बात करते हैं तो अवश्य ही वे अपने युग के उस भय को भी मुखर करते हैं जो साहित्यकारों को राजकीय सम्मान के लोभ में शासकों का चाटुकार बनने को प्रेरित कर सकता है । द्वितीय अंक में राजधानी से कर्मचारियों, रंगिनी-संगिनी तथा राजमहिषी प्रियंगुमंजरी की मनोवृत्ति भी आज के राजकर्मचारियों, कला के छात्रों एवं शासकों की मनोवृत्ति को प्रतिफलित करती है जो कभी व्यर्थ तर्क एवं विवाद में उलझती है, कभी गौण महत्व की चीजों में खो जाती है, कभी सब कुछ खरीदने की क्षमता के अहंकार में डूबी रहती है । तृतीय अंक में पुन: सृजनात्मक प्रतिभा के द्वन्द्व एवं जीवन की वास्तविकता का सामना पर ताने की अक्षमता का चित्रण किया गया है । अवश्य ही ये सारी बातें मुख्यतः: आज के युग की हैं और इन्हें अतीत से जोड़कर समस्या की व्याप्ति को प्रगट करने का सफल प्रयत्न किया गया है । यही कारण है कि ' 'आषाढ़ का एक दिन " आज के पाठक एवं दर्शक के मन को इतना स्पर्श करता है ।

'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास पर्याप्त चर्चा का विषय रहा है । राकेश के यह कहने के बावजूद कि "कालिदास मेरे लिए एक व्यक्ति नहीं, हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है", आषाढ़ के कालिदास को हम केवल 'सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक' नहीं मान सकते । वह इतिहास प्रसिद्ध कालिदास भी है । नाटक में वर्णित कुछ घटनाएँ, उसका नया नामकरण 'मातृगुप्त' आदि से कहीं महत्वपूर्ण है उन ग्रन्थों का उल्लेख जिनकी रचना महाकवि कालिदास ने की थी और जिनका रचनाकार आषाढ़ का कालिदास भी हैं यह अलग बात है कि कालिदास के जीवन के अनेक प्रसंग मल्लिका, अंबिका, विलोम आदि जैसे पात्र राकेश की अपनी कल्पना से प्रसूत हों या किंवदंतियों में प्रचलित हों तथापि कालिदास महाकवि कालिदास हैं, इसमें दुविधा नहीं । सबसे बड़ा आक्षेप कालिदास के संशययुक्त, आत्मकेंद्रित, दुर्बल व्यक्तित्व को लेकर किया जाता हैं यह सही है कि कालिदास के संबंध में प्रामाणिक तथ्य बहुत कम उपलब्ध हैं । ऐसी स्थिति में विशाल एवं विराट के साहित्य की रचना करने वाले महाकवि को मन से इतना दुर्बल और रीढ़ विहीन दिखलाने की क्या आवश्यकता थी? पहले और दूसरे अंक के कालिदास को समझा जा सकता है, उसे क्षमा किया जा सकता है पर तीसरे अंक के वर्तमान के यथार्थ से सर्वथा आँख मूँदकर अतीत में जीने की कामना करने वाले कालिदास या अपना सब कुछ कालिदास के लिए होम कर देने वाली मल्लिका के यथार्थ को जानने पर उसे निष्ठुरता पूर्वक छोड़कर चल देने वाले हृदयहीन कालिदास को नहीं । लगता है प्रेम और समर्पण के उद्दाम स्वरूप का चित्रण करने वाले महाकाव्यों के रचयिता कालिदास इतने संकुचित मन वाले नहीं हो सकते थे । कालिदास के चरित्र की यह दुर्बलता उन्हें मल्लिका के सामने बहुत छोटा बना देती है । नाटक समाप्त होने के बाद कालिदास न जाने कहाँ लुप्त हो गया होता है, आँखों के सामने घूमती रहती है मल्लिका..... रोती-बिलखती मल्लिका..... हारी-टूटी मल्लिका ।

एक और स्थिति की भी बराबर चर्चा हुई है । राजकीय सम्मान की बात तो पुराने युग के साथ मेल खाती है तथापि दूसरे अंक में रंगिनी-संगिनी का कालिदास से जुड़ी हर वस्तु को अत्यंत महत्वपूर्ण मानना, अधिकाधिक वस्तुओं को किसी-न-किसी रूप में संग्रह करके ले जाने की इच्छा तथा अनुस्वार और अनुनासिक जैसे निकम्मे कर्मचारियों का सारा क्रिया-कलाप एवं मनोवृति अपनी आत्मा में आधुनिक हैं । इसी प्रकार प्रियंगुमंजरी की गाँव के वातावरण को राजधानी में पुननिर्मित करने की कामना भी आधुनिक है । लेकिन यह स्वीकार करना पड़ेगा कि राकेश ने इस वर्तमान स्थिति को बड़ी खूबसूरती के साथ उस युग के लिए भी विश्वसनीय बनाकर प्रस्तुत किया है ।

8.5 लहरों के राजहंस का संदर्भ और मोहन राकेश की नाट्य दृष्टि

राकेश की दूसरी नाट्य-कृति 'लहरों के राजहंस' है । इसका प्रकाशन सन् 1963 में हुआ तथापि इसकी पूर्व पीठिका बहुत पहले बन चुकी थी और अपने अन्तिम रूप को प्राप्त करने में इसे अनेक सोपानों से गुजरना पड़ा ।

महाकवि अश्वघोष के 'सौन्दरानन्द' पर मूलत: आधारित 'लहरों के राजहंस' का कथानक गौतमबुद्ध के भाई नन्द एवं उसकी पत्नी सुन्दरी को लेकर है । घटना-स्थल कपिलवस्तु में राजकुमार नन्द के भवन में सुन्दरी का शयनकक्ष है, समय रात्रि । नगर में गौतम बुद्ध पधारे हैं, सारा शहर उनके दर्शनों के लिए उमड़ा है, उनसे दीक्षा ले रहा है । स्वयं देवी यशोधरा कल उनसे दीक्षित होने वाली हैं । नन्द भी उस ओर आकृष्ट है तथापि दुविधा में है । सुन्दरी को त्यागना उसके लिए सम्भव नहीं । सुन्दरी नन्द के मन को समझ रही है, उसे अपने से दूर नहीं जाने देना चाहती । नन्द पर बुद्ध का प्रभाव उसके प्रभाव से अधिक शक्तिशाली प्रमाणित हो, यह उसको किसी तरह स्वीकार नहीं । वह उसी रात कामोत्सव का आयोजन करती है ताकि नन्द ही नहीं वरन् सारी कपिलवस्तु वहाँ जुटे, रात-भर नृत्य एवं आनन्द में डूबी रहे और इस प्रकार निवृत्ति पर प्रवृत्ति की विजय प्रमाणित हो । नन्द इस आयोजन को लेकर बहुत व्यग्र है । उसे अच्छा नहीं लगता कि जब भाई भगवान बुद्ध नगर में हों और अगले दिन भाभी यशोधरा भिक्षुणी बनने वाली हों तब उसके यहाँ कामोत्सव का आयोजन हो पर सुन्दरी नहीं मानती । नन्द भरसक प्रयत्न करता है कि आयोजन सफल हो पर अतिथि नहीं आते । वह स्वयं बुद्ध के पास जाये बिना नहीं रह पाता । वे बलपूर्वक उसके केश- कटवा देते हैं । वह स्वयं इसके लिए तैयार नहीं था क्योंकि उसका मन सम्पूर्ण त्याग एवं वैराग्य के लिए प्रस्तुत नहीं था । लौटते समय वह गुर्राते व्याघ्र से जूझ पड़ता है और क्षत विक्षत हो लौटता है । पर जो लौटता है वह पहले वाला नन्द नहीं है । उसके साथ आते हैं भिक्षु आनन्द ।

बातचीत के माध्यम से नन्द की दुविधा और संशय का परिचय प्राप्त होता है । उसके जाने के बाद लम्बे स्वगत-कथन के द्वारा नन्द विगत घटनाओं का परिचय देता है । प्रवृत्ति और निवृत्ति, भोग और त्याग, सुन्दरी और बुद्ध को लेकर उसके मन में होने वाले द्वंद्व का परिचय भी हमें इसी प्रसंग में प्राप्त होता है । तभी सुन्दरी जगती है ।

मुण्डित केश नन्द को देखकर वह स्तब्ध रह जाती है । उसके लिये केश का न रहना बुद्ध के प्रभाव का प्रतीक है । नन्द स्वयं अत्यन्त विचलित है, दुविधा में है । वह घर छोड़कर चल देता है बुद्ध से कुछ प्रश्न पूछने के लिए जिनका उत्तर उसे चाहिए ।

'लहरों के राजहंस' राकेश के नाटकों में विशेष महत्व रखता 'है । मन की तहों में गहरे पहुँचने का प्रयत्न इस नाटक में किया गया है और उसमें राकेश को बहुत सफलता प्राप्त हुई है । यदि यह नाटक इतना आधुनिक न हो गया होता तो सम्भवत: इसका जबरदस्त प्रभाव पड़ता और वह अधिक ग्राह्य होता । इस नाटक में प्रचुर प्रतीकों का उपयोग किया गया है । सर्वप्रथम 'लहरें- और 'राजहंस' । लहरें प्रेम, वासना एवं सांसारिक सुख का प्रतीक हैं और उन पर तैरते दो राजहंस नन्द और सुन्दरी का । नाटक के अन्त में राजहंस उड़ जाते हैं, नन्द भी कामना-वासना और सुन्दरी से दूर चला जाता है । श्यामांग नन्द के अन्तर्मन का प्रतीक है, उसके संवादों के माध्यम से हमें नन्द के अन्तर में घटित होने वाले ऊहापोह का परिचय मिलता है । बुक के यही से लौटते समय नन्द का गुर्राते सिंह से लड़कर क्षत-विक्षत होना स्वयं अपने द्वंदों, परिस्थितियों एवं अपने आप से लड़ने का प्रतीक है । अपनी ही थकान से मृत मृग स्वयं नन्द का प्रतीक है जो अत्यन्त क्लान्त हो गया है । सरोवर पर बार-बार घिरती छाया बुद्ध के प्रभाव का प्रतीक है । इसी प्रकार और भी अनेक छोटे-छोटे प्रतीकों का बड़ा खूबसूरत प्रयोग लहरों के राजहंस में किया गया है । 'आषाढ़ का एक दिन' यदि काव्य जैसी कोमलता से समन्वित है तो लहरों के राजहंस' में काव्य और बौद्धिकता दोनों का प्रभावी समन्वय किया' गया है ।

'लहरों के राजहंस' में आज का युग ही प्रक्षेपित हुआ है । किन्तु सर्वथा भिन्न धरातल पर । 'डी नेमिचन्द जैन के अनुसार, ' 'इसमें भी सुदूर अतीत के आधार पर आज के मनुष्य की बेचैनी और अन्तद्वन्द संप्रेषित है । हर व्यक्ति को अपनी मुक्ति का पथ स्वयं ही तलाश करना है । दूसरों के द्वारा खोजा गया पथ चाहे जितना श्रद्धास्पद हो (जैसा गौतम बुद्ध का), चाहे जितना आकर्षक और मोहक हो (जैसा सुंदरी का) किसी संवेदनशील व्यक्ति का समाधान नहीं कर सकता । इसलिए नाटक के अंत में नंद न केवल बुद्ध द्वारा बलपूर्वक थोपा गया भिक्षुत्व अस्वीकार कर देता है, बल्कि सुंदरी के आत्मसंतुष्ट और छोटे वृत में आबद्ध किन्तु आकर्षक जीवन को भी त्यागकर चला जाता है । "

इस नाटक में समस्या स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की है, दोनों के अहम् की टकराहट की है, दुविधाग्रस्त व्यक्तित्व की है, एक-दूसरे को अपनी बात समझा सकने की असमर्थता की है । इस नाटक में व्यक्ति का अकेलापन, आंतरिक संघर्ष, संप्रेषण न कर पाने की पीड़ा आदि अधिक घनीभूत होकर आयी हैं । चाहते हुए भी परस्पर एक-दूसरे के अनुकूल अपने को न ढाल पाने की विवशता, समर्पण और समझौते के स्थान पर अपनी इच्छा एवं अहम् को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानने की जिद आधुनिक है, बीसवीं सदी की है।

8.6 आधे-अधूरे का संदर्भ और मोहन राकेश की नाट्य दृष्टि

राकेश की तीसरी महत्वपूर्ण कृति है 'आधे-अधूरे' । स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की जो यात्रा राकेश ने अपनी कहानियों से आरम्भ की थी और जिसका भिन्न-भिन्न स्वरूप उनके नाटकों में मिलता है, उसकी चरम परिणति परिलक्षित होती है 'आधे अधूरे' में । इस नाटक में राकेश को जो कुछ कहना है उन्होंने सीधे-सीधे कहा है, बड़ी शक्ति और निर्भयता के साथ । वस्तुतः 'आधे अधूरे' स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की कहानी होने के साथ ही एक विघटित होते हुए परिवार की भी कहानी है जिसमें परिवार के पाँचों सदस्य - पति, पत्नी, बड़ी बेटी, बेटा व छोटी बेटी- अत्यन्त तीखे एवं कटु हो गये हैं । उनमें परस्पर किसी तरह का लगाव या एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न नहीं लगता, सिवाय सावित्री (पत्नि) और बिन्नी (बड़ी बेटी) के बीच । सब एक-दूसरे को काट खाने को तैयार लगते हैं । नाटक का कथानाक छोटा-सा है । घटनाएँ करीब तीस घंटों में घटित हो जाती हैं पर अपने में न जाने कितना लम्बा समय, कितना कुछ समेटे हुए हैं । नाटक के प्रारम्भिक दृश्य में ही पता चलता है कि गृहस्वामी महेन्द्रनाथ वर्षों से बेकार है, गृहस्वामिनी सावित्री परिवार के भरण-पोषण के लिए नौकरी करती है, बड़ा लड़का अशोक नौकरी की तलाश में है, बड़ी लड़की माँ के मित्र मनोज के साथ घर छोड़कर भाग गयी है और जब-तब वह अपने घर से माँ के पास आती है यह कहती हुई कि "मैं आती हूँ कि एक बार फिर खोजने की कोशिश कर देखूँ कि क्या चीज है वह इस घर में, जिसे लेकर बार-बार मुझे हीन किया जाता है ।"

राकेश ने सारी घटना का संयोजन अत्यन्त कुशलता के साथ किया है । एक ही व्यक्ति द्वारा पाँचों पुरुष भूमिकाओं को करने का विधान करके उन्होंने यह रेखांकित किया है, हर पुरुष में कुछ सामान्य गुण और अवगुण होते हैं । परिस्थितियाँ भिन्न हो सकती हैं पर सब होते हैं एक-से ही । एक जगह सावित्री कहती है - ' सबके-सब.... एक से! बिलकुल एक-से हैं आप लोग । अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा? चेहरा सबका एक ही!" स्थूल चेहरा भी एक-सा होने से यह कथन और भी सार्थक और प्रभावपूर्ण हो जाता है।" नाटक का प्रारम्भ तनाव से होता है और अंत भी तनाव में होता है जो अत्यन्त गहरा और पीड़ादायक है । करीब तीस घण्टों के समय में सारी घटनाओं का ऐसा स्वाभाविक किन्तु द्रुत विकास होता गया है कि कहीं साँस लेने का अवकाश नहीं ।

'आधे अधूरे' सिर्फ एक नाटक ही नहीं है । यह हमारे समाज, परिवार, व्यक्ति और उनके पारस्परिक सम्बन्धों में आये और लगातार आ रहे बदलाव का गम्भीर समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी है । इक्कीसवीं शताब्दी के आरम्भ में परिवार और विवाह जैसी समय-सिद्ध संस्थाओं के विघटन, मानवीय मूल्यों के पतन तथा सर्वग्रासी महत्वाकांक्षा की अन्धी दौड़ से उपजी जिन अर्थ एवं कामज विकृतियों को आज हम सर्वत्र सार्वजनिक तांडव करते देख रहे हैं । ये भूमंडलीकरण, बाजारवाद और पश्चिमी संस्कृति एवं मीडिया के अदम्य आक्रमण के कारण तेजी से उफनी ज़रूर

हैं, लेकिन अचानक पैदा नहीं हो गई हैं । इनके बीज तो स्वतन्त्रता और विभाजन के बाद हुए मोह भंग के साथ ही हमारी धरती में पड़ गए थे । सात के दशक से इनका अंकुरना शुरू हुआ । सत्तर के दशक में ये हमारे जीवन और समाज में कुनमुनाने-कसमसाने लगे थे । पहले-पहले इन परिवर्तनों की दबी-घुटी स्पष्ट अभिव्यक्ति महानगर के उच्चमध्यवर्गीय परिवारों में हुई । भीतर ही भीतर इनका क्रमिक विकास और विस्तार होता रहा । बस, परिवेश और परिस्थितियों की अनुकूलता पाकर आज इनका व्यापक विस्फोट हो गया है ।

अगर हम गहराई और बारीकी से सातवें दशक का गम्भीर अध्ययन करें तो पाएंगे कि पारम्परिक मूल्यों, मर्यादाओं और सम्बन्धों से बदलते समय का सतत संघर्ष तब भी जारी था । परन्तु हम अपनी सभ्यता, संस्कृति और आदर्शवादिता के चलते उस बदलती वास्तविकता को देखने-मानने में असमर्थ थे । ऐसे में मोहन राकेश के अतिसंवेदनशील मन के राडार ने भारतीय मध्यम वर्गीय जीवन में एवं परिवेश तथा पारिवारिक (विशेषतः स्त्री-पुरुष) सम्बन्धों में उथल-पुथल करती समय की दबी-छुपी कारगुजारियों को साफ तौर से पहचान लिया था । यही कारण है कि 1969 में इसके प्रकाशन के समय जिन लोगों को 'आधे अधूरे' का कथ्य कुछ अविश्वसनीय और आयातित-सा लगता था, आज वे उसे एकदम स्वभाविक और सच्चा मानकर सहज स्वीकार लेते हैं । तब इसे एक खास घर की कहानी मानने वालों को अब यह नाटक घर-घर की कहानी लगने लगा है । तब का चौंकाने वाला दृश्य आज का सामान्य यथार्थ बन गया है । इस नाटक की सर्वग्राह्यता और समकालीनता का यही रहस्य है । 'आधे अधूरे' भी स्त्री-पुरुष के अहम् की टकराहट, तनाव, घुटन और बिखराव को प्रकट करता है लेकिन एक और धरातल पर । यही स्त्री-पुरुष ही नहीं टूट-बिखर रहे हैं, उनके साथ पूरा परिवार टूट-बिखर रहा है । इस नाटक में पहली बार राकेश ने समकालीन परिवेश में पात्रों को रखकर समकालीन समस्याओं को चित्रित किया है । बात यहाँ भी टूटते सम्बन्धों की है पर भिन्न रूप में, । आधुनिक परिवेश में अपने जीवन और अपनी समस्याओं का ऐसा निर्मम और कटु साक्षात्कार कम देखने को मिलता है । 'आधे अधूरे' राकेश की श्रेष्ठतम कृति है । इसे हिन्दी नाट्य साहित्य की एक श्रेष्ठ कृति और भारतीय नाट्य साहित्य की एक महत्वपूर्ण कृति होने का गौरव भी प्राप्त है । हिन्दी में इस नाटक का मंचन प्रायः: सभी महत्वपूर्ण रंगमंडलियों ने किया, प्रस्तुति सर्वत्र सफल रही। विभिन्न भारतीय भाषाओं एवं अंग्रेजी में भी इसका अनुवाद और मंचन किया गया है । राकेश को अखिल भारतीय नाट्यकार के रूप में प्रतिष्ठित करने में 'आधे अधूरे' का महत्वपूर्ण योगदान रहा है ।

8.7 पैर तले की जमीन का संदर्भ और मोहन राकेश की नाट्य दृष्टि

'पैर तले की जमीन' भी आधुनिक जीवन की विसंगति, अवसाद एवं घुटन को लेकर लिखा गया नाटक है । इस नाटक की मूल प्रवृत्ति अस्तित्ववादी है, परिवेश घर से

बाहर काश्मीर में एक टूरिस्ट क्लब है । पात्र सब अलग-अलग हैं तथापि नियति ने उस एक दिन के लिए उन्हें एक स्थल पर ला रखा है और अचानक भयंकर बाढ़ के कारण टुरिस्ट क्लब को शहर से जोड़ने वाला पुल टूटने लगता है और उनका सम्पर्क बाहर की दुनिया से कट जाता है । आसन्न मृत्यु की छाया में उन पात्रों की परिवर्तित मनोवृति का बड़ा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं चित्रण राकेश ने किया है । कुछेक घंटों बाद बाढ़ के पानी के कम होने की सूचना मिलती है, टेलीफोन की घंटी बज उठती है, जीवन के बचने का आश्वासन मिलता है, सब पुन: पहले की मन: स्थिति को प्राप्त होते हैं ।

राकेश इस नाटक को अपने जीवनकाल में पूरा नहीं कर सके थे । जिस दिन उनकी मृत्यु हुई थी उस दिन भी वे इस पर काम कर रहे थे, टाइपराइटर पर लगे पृष्ठ पर इसी के संवाद लिखे जा रहे थे । उनकी मृत्यु के बाद, उनकी डायरियों में मिले नोटों के आधार पर उनके अभिन्न मित्र कमलेश्वर ने इसे पूरा किया । पहला अंक स्वयं राकेश लिख गये थे, दूसरा उन्होंने लिखा । यह कहना बड़ा कठिन है कि राकेश जो कार्य कर रहे थे, उसका वे अपनी नवीनतम कृति में क्या उपयोग करते, कैसे करते, पता नहीं!

इसकी विषय-वस्तु अत्यन्त समसामयिक है, तथापि इसमें न कथ्य प्रभावपूर्ण बन पड़ा है न शिल्प । यों देखने पर सब कुछ चुस्त-दुरुस्त लगता है लेकिन इसके पात्रों के साथ हम कहीं अपने को एकाकार नहीं कर पाते । फलस्वरूप नाटक न मन को छू पाता है न मस्तिष्क को । असम्भव या अस्वाभाविक कुछ भी नहीं है, पर आसन्न मृत्यु के समय व्यक्ति की जो मनःस्थिति हो सकती है उसका बड़ा उथला रूप सामने आता है । अयूब का ऐसी स्थिति में भी लड़कियों के पीछे भागना बड़ा अटपटा-सा लगता है । संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'आधे अधूरे' में राकेश जिस धरातल पर पहुँच गये थे, उसका 'पैर तले की जमीन' से कोई मेल नहीं बैठता । इसका कई नाट्य दलों ने मंचन किया है, पर नाटक कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाता ।

8.8 स्त्री चरित्र और राकेश की नाट्य दृष्टि

राकेश के तीनों ही नाटकों में स्त्री पात्र पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं । कई बार यह भी कहा जाता है कि ये नाटक स्त्री प्रधान हैं । स्त्री पात्रों की तुलना में पुरुष पात्र दुर्बल, संशयग्रस्त एवं दुविधाग्रस्त रहे हैं । कालिदास, नन्द एवं महेन्द्रनाथ तीनों की इसके प्रमाण हैं । ये घर और बाहर के बीच दुविधाग्रस्त चक्कर काटते रहते हैं । इनके स्थान पर मल्लिका, सुन्दरी एवं सावित्री अधिक संतुलित एवं व्यवस्थित हैं, उन्हें जो करना है या वे जो चाहती हैं उसके बारे में निश्चित हैं । यद्यपि तीनों पात्रों की स्थिति और मनोवृत्ति में पर्याप्त अन्तर है तथापि चरित्र की यह एकरूपता तीनों में है । मल्लिका जब कालिदास को भेजती है तब वह अपने भविष्य के बारे में निश्चित है, अकेलेपन और त्याग के लिए प्रस्तुत है । सुन्दरी नन्द के आचरण के प्रति उतनी आश्वस्त नहीं लेकिन ही, वह नन्द को अपने आकर्षण में बाँधकर रखना चाहती है, इस बारे में

निश्चित है । सावित्री भी जो कुछ करती है मन में तय करके करती है । वह सफल हो या न हो, यह बात अलग है पर उसमें दुविधा या संशय नहीं । लेकिन अन्ततः तीनों की मानसिक स्थिति भिन्न रहती है । मल्लिका ने अपने 'भाव के कोष्ठ' को कभी भी रिक्त नहीं होने दिया था, कालिदास वहाँ सदैव उपस्थित था और मल्लिका की अन्तिम साँस तक रहा होगा । कालिदास के चले जाने के बावजूद उनकी निकटता का अनुभव उसने सदा किया होगा, उसके लिए कालिदास के मन में जो कोमलता और आकर्षण था, उसकी अनुभूति ने उसे सदा पूर्णता का अनुभव कराया होगा । सुन्दरी नन्द के प्रति कभी आश्वस्त नहीं रह पायी । वह पास से न जाये इस भय ने शायद उसे कभी संपूर्ण भाव से देने और पाने का सुख नहीं अनुभव करने दिया । नन्द चला गया शायद कभी न लौटने के लिए । पर यदि वह लौट आता तो भी क्या सुन्दरी के अहम् की तुष्टि के अतिरिक्त दोनों के परस्पर सम्बन्ध में कोई अन्तर पड़ता? शायद नहीं । दोनों उतने ही दूर रहते जितने सदा थे ।

और 'आधे-अधूरे' की सावित्री जो असंतोष और कडुवाहट का मूर्त रूप है भले ही परिस्थितियों ने उसे ऐसा बनाने में योग दिया हो पर वह है ऐसी ही । हो सकता है उसके और महेन्द्रनाथ के बीच कभी कोई प्रेम सम्बन्ध रहा हो, दोनों ने एक-दूसरे की निकटता की कामना की हो, पता नहीं । नाटक में तो विभिन्न स्थितियों एवं पात्रों के माध्यम से उनके सम्बन्धों की कडुवाहट ही सामने आयी है । अपने पूर्ववर्ती नायकों से भिन्न महेन्द्रनाथ नाटक के अन्त में घर लौट आता है पर क्या उससे कोई अन्तर पड़ने वाला है? दोनों के सम्बन्ध वैसे ही कटु रहने वाले हैं, दोनों वैसे ही घुटते हुए जीवन गुजारने वाले हैं । वैसे तो नाटक के प्रारंभ में काले सूट वाले व्यक्ति के माध्यम से राकेश ने यही कहा है कि " इस परिवार की स्त्री के स्थान पर कोई दूसरी तरह से मुझे झेलती- या वह स्त्री मेरी भूमिका ले लेती है और मैं उसकी भूमिका लेकर उसे झेलता । " पर चूंकि उन्होंने स्त्री को ही केन्द्र में रखा अतः: यह मानना संगत लगता है कि उनके लिए वह तुलना में अधिक महत्वपूर्ण थी ।

8.9 राकेश के नाटकों में अकेलेपन और अर्थहीनता के संकेत

'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और '**आधे-अधूरे'** को एक साथ रखकर देखें तो तीनों का स्त्री-पुरुष सम्बन्ध एक-सा भी लगता है और कई मायनों में अलग भी । इन्हें परस्पर विकास कहना ठीक नहीं तथापि सम्बन्धों का बिखराव और घनीभूत होता गया है, इसमें संदेह नहीं । 'आषाढ़ का एक दिन' की मल्लिका और कालिदास का सम्बन्ध बड़ा मधुर है, प्रिय है, भावनाओं के स्तर पर अत्यन्त घनिष्ठ है । मल्लिका 'भावना' में भावना का वरण' करने की बात करती है, कालिदास की उन्नति हो, इस उद्देश्य से उसे राजधानी भेज देती है, लौटने पर भी उसे अंगीकार करने को तैयार रहती है पर उसका कटु यथार्थ कालिदास को सहाय नहीं हो पाता । वह चला जाता है पर पीड़ा और कसक के साथ । मल्लिका तो विगलित रहती ही है । 'लहरों के राजहंस' में नन्द और सुन्दरी

विवाहित हैं, उनमें तनाव है, अहम् का बोध है, एक-दूसरे की त्रुटि का ज्ञान है, एक-दूसरे को न समझ पाने की स्थिति है, एक-दूसरे के प्रति कटुता और रिक्तता है । तीसरे अंक में नन्द और सुन्दरी दोनों एक-दूसरे पर दोषारोपण करके आत्मतोष पाते हैं । नन्द घर में रह नहीं पाता, सुन्दरी उसे रोक नहीं पाती । 'आषाढ़ का एक दिन' की तरह 'लहरों के राजहंस' के नायक-नायिका भी विलग होते हैं पर तीखी कड़ुवाहट, असंतोष और पराजय के भाव के साथ । लगता है उनकी नियति यही रही कि वे कभी सुख और पूर्णता का अनुभव न करें । 'आधे-अधूरे' और आगे की कड़ी है । इसके नायक-नायिका विवाहित ही नहीं, बाल-बच्चों वाले है । पाँच व्यक्तियों के इस परिवार की स्थिति और भी खराब है । अलगाव, घुटन, पीड़ा, कड़ुवाहट इतनी अधिक है कि उससे किसी की मुक्ति नहीं - न अधेड़ महेन्द्रनाथ की न किशोरी किन्नी की । नाटक के प्रारम्भ से जो खिट-खिट शुरू होती है वह अन्त तक चलती रहती है । ऐसा लगता है जैसे इस परिवार के सभी व्यक्ति अभिशप्त हैं, असंतोष और घुटन में दिन बिताने के लिए । कालिदास और नन्द पता नहीं फिर कभी मल्लिका और सुंदरी के पास लौटे या नहीं, पर महेन्द्रनाथ, सावित्री के पास लौट आया है - वैसे ही जैसे बराबर न लौटने का इरादा करके जाने के बावजूद लौटता रहा है । राकेश ने अपने सभी नाटकों में ऐसी स्थितियाँ खड़ी की हैं, ऐसे पात्र लिये हैं जो असफल प्रेम या असंतुष्ट दाम्पत्य जीवन से गुजरते हैं, जो कभी पूर्णता का अनुभव नहीं करते, आनन्द की प्राप्ति नहीं करते ।

8.10 सारांश

नाटक के क्षेत्र में राकेश का अवदान संख्या में बहुत अधिक न हो, पर गुणात्मकता की दृष्टि से वह श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण है । जयशंकर प्रसाद के नाटकों के संदर्भ में 'साहित्यिक नाटक' एवं 'रंगमंचीय नाटक' कहकर नाट्य-रचना के अपरिहार्य गुण रंगमंचीयता का साहित्यिकता से जो विरोध प्रतिष्ठित किया गया था या हो गया था, राकेश के नाटकों ने उसका उन्मूलन किया । उनके नाटक साहित्यिक भी हैं और रंगमंचीय भी । कथावस्तु, कथानक-संयोजन, दृश्य-विधान, संवाद, भाषा, रंग-विधान आदि सभी दृष्टियों से राकेश की कृतियाँ उच्च स्तर की हैं और रंगमंच के अनुकूल हैं । अल्पायु में उनका निधन न हुआ होता तो हमें अवश्य ही अनेक नयी एवं श्रेष्ठ नाट्यकृतियाँ प्राप्त हुई होती । गोविन्द चातक के शब्दों में - "उन्होंने हिन्दी नाटक को अँधेरे बन्द कमरे से बाहर निकाला और उसे युगों के रोमानी ऐन्द्रजालिक सम्मोहन से उबारकर एक नए दौर के साथ जोड़कर दिखाया । वस्तुतः: मोहन राकेश के नाटक केवल हिन्दी के नाटक नहीं हैं । वे हिन्दी में लिखे अवश्य गए हैं, किन्तु समकालीन भारतीय नाट्य-प्रवृत्तियों के द्योतक हैं । उन्होंने हिन्दी नाटक को पहली बार अखिल भारतीय स्तर ही नहीं प्रदान किया वरन् उनके सदियों के अलग-थलग प्रवाह को विश्व नाटक की एक सामान्य धारा की ओर भी अग्रसर किया ।" (गोविंद चातक: आधुनिक हिन्दी नाटक का अग्रदूत)

8.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. "राकेश के नाटकों से आधुनिक जीवन में व्याप्त अकेलेपन, अवसाद, घुटन और तनाव की जानकारी मिलती है" । इस कथन को राकेश के नाटकों के आधार पर स्पष्ट कीजिए ।
2. "राकेश अपने युग और आस-पास के वातावरण से बहुत गहराई के साथ जुड़े थे' ' । इस कथन का विश्लेषण कीजिए ।
3. "राकेश के नाटकों में स्त्री पात्र पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं ।" राकेश के नाटकों के आधार पर इस कथन की समीक्षा कीजिए ।
4. "स्त्री-पुरुष के अहम की टकराहट के साथ परिवार किस प्रकार बिखर जाते हैं इसका परिचय हमें 'आधे-अधूरे' नाटक को पढ़कर होता है ।"आधे-अधूरे 'नाटक के आधार पर इस कथन की मीमांसा कीजिए ।
5. "राकेश को अखिल भारतीय नाट्यकार के रूप में प्रतिष्ठित करने में 'आधे-अधूरे' का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । " कैसे? स्पष्ट कीजिए ।

8.12 संदर्भ ग्रन्थ

1. गोविन्द चातक, आधुनिक हिन्दी नाटक का अग्रदूत-मोहन राकेश
2. नेमिचन्द्र जैन, मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक
3. गिरीश रस्तोगी, मोहन राकेश और उनके नाटक
4. सुशीला देवी शर्मा, हिन्दी रंग परम्परा और मोहन राकेश ।
5. जयदेव तनेजा, मोहन राकेश : रंग शिल्प और प्रदर्शन

इकाई-9 आधे-अधूरे :- एक विवेचन

इकाई की रूपरेखा :

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 प्रतिपाद्य

9.3 समस्याएँ

9.3.1 मध्यमवर्गीय जीवन की विसंगतियाँ

9.3.2 टूटता-बिखरता घर-परिवार

9.4 आधे-अधूरे नाटक की चरित्र संरचना

9.5 नाटक के आयाम

9.5.1 नाटक की नाट्यधर्मिता

9.6 क्रिया व्यापार

9.7 रंग निर्देश

9.8 सारांश

9.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

9.10 संदर्भ ग्रन्थ

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- मोहन राकेश के प्रसिद्ध नाटक आधे-अधूरे से परिचित हो सकेंगे ।
- आधे-अधूरे की विषयवस्तु, चरित्र योजना और आधुनिक मध्यमवर्गीय जीवन की समस्याओं से अवगत हो सकेंगे ।
- प्रस्तुत नाटक में वर्णित महानगरों के मध्यमवर्गीय जीवन की कठिन परिस्थितियों में उलझे हुए जीवन का परिचय प्राप्त कर सकेंगे ।
- प्रस्तुत नाटक की नाट्यधर्मिता और क्रिया-व्यापारों से छात्र अवगत हो सकेंगे ।
- इस नाटक में टूटते हुए परिवारों की विसंगति, महत्वाकांक्षाओं में भटकते हुए पात्र और बिखरते हुए दाम्पत्य के कारणों से परिचित हो सकेंगे ।
- इस नाटक की तनाव भरी भाषा, उलझे हुए मानवीय सम्बन्ध और नाटक में व्याप्त तनाव से परिचित हो सकेंगे ।

9.1 प्रस्तावना

स्वतन्त्रता के पश्चात् औद्योगिकीकरण के परिणामस्वरूप मध्यम वर्ग को आर्थिक अभाव सहना पड़ा है । अर्थतन्त्र के बढ़ते प्रसार के कारण समाज के जिस वर्ग को आर्थिक हानि अथवा अभाव सहना पड़ा है उसे तनाव एवं यातनापूर्ण स्थितियों से

गुजरना पड़ा है । कुंठित, विवश एवं अवसाद ग्रस्त यह मध्यम वर्ग अन्दर से खोखला, टूटा हुआ और विसंगतियों से भरा हुआ नकली मुखौटा पहने जीने को विवश है। क्योंकि घर में आवश्यक वस्तुएँ भी नहीं आ पाती और न ही सपनों और महत्वाकांक्षाओं को कोई राह मिल पाती है अतः: जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की बलवती इच्छा यथार्थ से टकराकर चूर-चूर हो जाती है।

'आधे-अधूरे नाटक में सामाजिक जीवन के अनेक अर्थों की व्यंजनाएँ हैं । नारी की स्वतन्त्र चेतना, स्वत्व भावना, मुक्ति भावना, विघटनशील जीवन मूल्य, वैवाहिक सम्बन्धों की विडम्बना, अकेलापन और अधूरापन, असहनशीलता और एक अनवरत घुटन-टूटन । परन्तु मुख्य रूप से केन्द्र में है - एक घर की बोझिल हवा और घर में रहने वाले लोगों का अधूरापन । घर में हर तरफ बिखराव, अव्यवस्था और गैर जिम्मेदारी है, सुव्यवस्था देने को कोई तैयार नहीं । घर के लोग या तो इकट्ठे नहीं होते या उनमें सहज संवाद नहीं होता । सभी सदस्य एक-दूसरे पर दोषारोपण करते हुए, एक दूसरे को काटते हुए या व्यंग्य करते हुए दिखाई देते हैं । एक-दूसरे की चिन्ता करते हुए भी जुड़े हुए नहीं दिखते - छोटी लड़की कहती है - स्कूल से आई तो घर पर कोई नहीं था और अब आई हूँ तो तुम भी हो, डैडी भी है, बिन्नी भी है - पर सब लोग ऐसे चुप हैं जैसे... "सभी को इस घर से शिकायत है, लड़कर बाहर निकल जाना चाहते है किन्तु उनकी नियति है - लौट कर यहीं आना - इन्हीं स्थितियों में रहना - जैसे सजा भोग रहे हों । लड़का कहता है - इसे घर कहती हो तुम - बड़ी लड़की शादी के बाद भी दुविधा में है । वह चौंक कर कहती हैं - 'मेरा अपना घर? महेन्द्र स्वयं संशयग्रस्त है - तो मेरा घर नहीं है । यह कह दो नहीं है ' उस घर की स्त्री सावित्री स्वयं उखड़ी सी है - मेरे करने से इस घर का जो कुछ हो सकता था, इस घर का हो चुका आज तक । 'मेरी तरफ से अब यह अन्त है उसका निश्चित अन्त । ' सबको एक अमूर्त प्रतीक्षा है इस घर के सुधरने की किन्तु परस्पर सौहार्द का कण भर भी नहीं । केवल अब, घुटन और निराशा ही चारों ओर व्याप्त है ।

यह नाटक आज के शहरी मध्यवर्गीय जीवन के एकांगी होते परिदृश्य को ही प्रस्तुत करता है । सबसे अलगाव और आत्मकेन्द्रित स्थितियों ने जिस मानसिक असंतोष को जन्म दिया है, उसमें अंतरंगता समाप्त होती जा रही है । अपने अन्दर के खोखलेपन को भरने के लिए हर व्यक्ति घर से निकलकर बाहर भागा जा रहा है । अपने साधनों और सीमाओं से परे सावित्री और उसका परिवार एक सुविधा सम्पन्न, भौतिकवादी जीवन जीना चाहता है किन्तु अपनी ऊर्जा और सामर्थ्य का सही उपयोग न कर पाने के कारण निरन्तर असफलता और निराशा हाथ लगती है और सारी इच्छाएँ दम तोड़ने लगती हैं । जिन 'समर्थ' लोगों का सावित्री सहारा लेना चाहती है अपने लड़के के भविष्य संवारने के लिये, अपना घर सुधारने के लिए, वे उसकी हकीकत जानते हैं और

इसीलिए झूठे आश्वासनों से उसे बहलाना चाहते हैं । वस्तुतः ये आश्वासन और उनका परिणाम ही उसके वजूद से टकराकर उसे यथास्थिति का भान करा देते हैं ।

इस नाटक को द्वन्द्वात्मक स्थितियों का नाटक कहा जा सकता है । परिवेश का द्वन्द्व, इच्छाओं का द्वन्द, सम्बन्धों का द्वन्द्व, आर्थिक समस्याओं का द्वन्द्व आदि अनेक प्रकार के द्वन्द्व हैं । ये द्वन्द्वात्मक स्थितियाँ पाठक को भी एक मानसिक द्वन्द्व से जोड़े रखती हैं । इन सबसे गुजर कर अनेक सवाल सामने आ खड़े होते हैं - क्या सचमुच इन समस्याओं का कोई हल है? क्या परस्पर सम्बन्धों को समीकरण भावात्मक तन्तुओं से जोड़े जा सकते हैं?

क्या पारिवारिक जीवन के पुराने मूल्य फिर से प्राप्त किये जा सकते हैं?

और क्या व्यक्ति के 'पूरेपन की कोई निश्चित परिभाषा हो सकती है?

क्या व्यक्ति की कुंठा, असन्तोष और असहिष्णुता का कोई समाधान अथवा विकल्प सम्भव है?

इन सब प्रश्नों से जूझते हुए अवसर जिस आधुनिक-बोध का जिक्र किया जाता है, वह आधुनिक बोध क्या सिर्फ अहं और आत्मकेन्द्रित भावना को जन्म देता है अथवा क्या सिर्फ नकारात्मकता का ही परिचायक है । यह द्वन्दात्मक स्थिति प्रायः: स्वयं को सही ठहराने और दूसरे को गलत ठहराने में ही अपनी ऊर्जा की खपत कर डालती है । ऐसे भी 'आधे-अधूरे' नाटक केवल एक विशेष परिवार की कहानी न होकर युगबोध को स्वर देने लगती है । स्त्री की शिक्षा और उसका नौकरी पेशा होना एक ओर उसके स्वत्व के लिए आवश्यक है, दूसरी ओर इससे अनेक प्रकार के 'अहं भावों के टकराव की स्थितियाँ भी बन गई है । स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध इनसे सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं ।

9.2 प्रतिपाद्य

'आधे-अधूरे' नाटक की केन्द्रीय पात्र सावित्री नौकरी करके घर चलाती है । क्योंकि उसका पति महेन्द्र व्यापार में सारी पूँजी गँवाकर निष्क्रिय होकर घर बैठ जाता है । आर्थिक सम्पन्नता के दौर का सारा प्यार अब कटुता में बदल जाता है । बिना अर्थोपार्जन के महेन्द्रनाथ की स्थिति घर में 'एक ठप्पा, एक रबड़ के टुकडे' जैसी हो जाती है । नौकरी से घर लौटने पर सावित्री को पूरा घर बिखरा हुआ मिलता है तो वह खीझ उठती है । घर का प्रत्येक सदस्य निहायत गैर जिम्मेदार और मनमानी करने वाला है । ऐसा लगता है, घर को सँवारने या वस्तुओं को व्यवस्थित करने का दायित्व सिर्फ स्त्री का ही है । सावित्री जीवन को भरपूर रूप से और सुन्दर ढंग से जीना चाहती है । पति की अकर्मण्यता के कारण वह अन्य पुरुषों से मित्रता करती है । घर पर उसके पुरुष-मित्रों को देखकर महेन्द्र उस पर व्यंग्य करता है । वह अपने आहत आत्मसम्मान को लेकर कई बार घर से बाहर जाता है किन्तु थोड़े ही समय में लौट भी आता है । सावित्री अपने अधिकारी सिंघानिया को घर बुलाती है, ताकि अपने बेटे अशोक को नौकरी दिलवा सके, किन्तु महेन्द्र को यह सब पसन्द नहीं । सावित्री जब

महेंद्र पर उसके पार्टनर जुनेजा के विश्वासघात का आरोप लगाती है, तब उनकी बड़ी बेटी बिन्नी कुछ असामान्य सी स्थिति में आती है । वह अपने पति मनोज के बारे में बताती है । मनोज कहता है - कोई ऐसी हवा है जो वह अपने घर से लाई है । छोटी बेटी किन्नी बेहद बिगडैल और शिकायती है - स्कूल में नाश्ते के लिए पैसे नहीं, घर आने पर घण्टा-घण्टा दूध ही नहीं होता गरम । ' सभी को सावित्री से अपेक्षाएँ भी हैं और शिकायतें भी । बिन्नी माँ को दिलासा देती है - 'एक तुम्हीं करने वाली हो सब कुछ इस घर में । " किन्तु सावित्री लगातार इस जद्दोजहद से टूट जाती है - 'अब मुझसे नहीं होता बिन्नी । अब मुझसे नहीं सम्भलता । " घर के सभी के बीच एक सामंजस्य पूर्ण संघर्ष की स्थिति बनी रहती है । सभी किसी पूर्णता की खोज में हैं, इसीलिए सबसे दूर भी हैं । लगातार जूझते रहने की अनिवार्यता त्रासद बन जाती है । सावित्री महेन्द्र से जिस सम्पर्क की चाह रखती है, वह वहाँ सम्भव ही नहीं है और एक साथ रहने की विवशता दोनों को कटु से कटुतर बना देती है । वह जिस पुरुष में पूर्णता की तलाश करती है, वह अलग-अलग रूप में अधूरा ही होता है, अतः: उसे कहीं भी सुकून नहीं मिलता । यही कारण है कि यह नाटक अपने अधूरेपन में ही समाप्त हो जाता है ।

नाटक के प्रारम्भ में ही पुरुष एक (महेन्द्रनाथ) दर्शकों को सम्बोधित करते हुए कहता है, “बात इतनी ही है कि विभाजित होकर मैं किसी न किसी अंश में आप में से हर-एक व्यक्ति हूँ और यही कारण है कि नाटक के बाहर हो या अन्दर मेरी कोई भी निश्चित भूमिका नहीं है । ” तथा नाटक के अन्त तक पहुँचते सावित्री कहती है, -मैंने आपसे कहा है न बस सबके सब एक से । बिल्कुल एक से है, आप लोग अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा? चेहरा सब का एक ही । " - आधुनिक जीवन के ठहराव और प्रतीक्षा को एक साथ इस नाटक में सजीव कर दिया गया है । महेन्द्र का मित्र जुनेजा सावित्री और महेन्द्र में समझौता करवाने की सम्भावना व्यक्त करते हुए कहता है - "सचमुच कुछ नहीं हो सकता क्या... एक दिन के लिए हो सकता है पर हमेशा के लिए कुछ भी नहीं । " वस्तुतः भारतीय मध्यमवर्गीय समाज में बाइस वर्ष के वैवाहिक जीवन और तीन युवा सन्तानों के साथ कोई भी वैकल्पिक व्यवस्था सम्भव ही नहीं हो सकती ।

9.3 समस्याएँ

9.3.1 मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियाँ

'आधे-अधूरे' नाटक के पात्र, घर का वातावरण और मानसिकता मध्यवर्गीय विसंगतियों के कटु यथार्थ का चित्रण ही हैं । वर्तमान सन्दर्भ में आर्थिक सम्पन्नता ही पारिवारिक और सामाजिक पहचान मानी जाती है, आर्थिक अभावों की खींचतान तनावपूर्ण स्थितियों को जन्म देती है । रोजमर्रा की छोटी-छोटी सामान्य चीजें जब अव्यवस्थित

होने लगती हैं तो एक खीजभरा वातावरण बनने लगता है । इन छोटी-छोटी बातों की पकड़ इसके कथ्य को विश्वसनीय बना देती है । क्योंकि यह वर्ग ही परम्परा और आधुनिकता के द्वन्द्व में फँसा हुआ, अन्दर से बिखरा, टुटा हुआ मगर दिखावटी मुखौटा पहने जिन्दगी की लड़ाई लड़ता हुआ संघर्षरत है । दैनिक जरूरतें, आशाएँ-आकांक्षाएँ बार-बार उसे एक ही वृत में घुमाती रहती हैं । मोहन राकेश ने इन्हीं विषमताओं की नाटकीय अभिव्यक्ति द्वारा प्रकट किया है ।

'आधे-अधूरे' नाटक का परिवार एक कुंठित परिवार है, जिसमें घर का मुखिया पुरुष व्यापार में सब कुछ गँवा देने के पश्चात् निष्क्रिय और परिवार के लिये बोझ बन गया है । उसकी पत्नी सावित्री नौकरी करके न केवल घर चला रही है बल्कि आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये अपने लड़के अशोक की नौकरी लगवाने के लिये अपने पुरुष मित्रों से अनुरोध भी करती रहती है । यहीं से एक मनोवैज्ञानिक त्रासदी शुरू हो जाती है । घर के अर्थतन्त्र की डोर यदि घर की स्त्री के हाथ में हो और पुरुष 'निकम्मा' हो तो एक विचित्र विद्रूपता जन्म लेती है । ऐसे में पति और पुत्र का अहं भी किसी के माँ अथवा स्त्री के माध्यम से लिये जाने वाले अहसान का सहज विरोध कर बैठता है । जड़ संस्कारों की बौखलाहट यहीं सिर उठाती हैं । घर की विघटनकारी स्थितियों में बड़ी लड़की मनोज के साथ भाग जाती है किन्तु घर से दूर रहकर भी वह खुश नहीं रह पाती क्योंकि इस घर की घुटन उसके स्वभाव का एक हिस्सा बन गई है । छोटी लड़की अनेक विकृतियों की शिकार है और लड़का अशोक कैंची से तस्वीरें काटता रहता है या सबका विरोध करता रहता है । स्वयं महेन्द्र बीच कमरे में वस्तुओं को अव्यवस्थित छोड़ देता है । लेखक ने कपड़ों, अखबारों, कागजों के बिखराव से लेकर बर्तनों के टूटने बिखरने और कैंची की कच-कच तथा अन्य आवाजों के माध्यम से घर के वातावरण को नाटकीय और ंखल बना दिया है । घर की फटेहाल स्थिति का यह दृश्य बिना संवाद के ही बहुत कुछ कह देता है - 'सब रूपों में इस्तेमाल होने वाला वह कमरा, जिसमें घर के व्यतीत स्तर के कई एक टूटते अवशेष - टी-सैट, डाइनिंग टेबल, कवर्ड और ड्रेसिंग टेबल, गद्दे, परदे, मेजपोश और पलंगपोश अगर हैं तो इस तरह घिसे, फटे या सिले हुए कि समझ में नहीं आता कि उनका न होना क्या होने से बेहतर नहीं था... । "

सावित्री इन सबका कारण अपने पति को पाती है और इसी कारण वह एक पूर्ण पुरुष की तलाश में अन्य पुरुषों की ओर आकर्षित होती है । सब कुछ एक साथ पाने की लालसा उसे विश्रृंखल कर देती है । इसीलिए जुनेजा कहता है - तुम्हारे लिये जीने का मतलब रहा है कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कुछ एक साथ पाकर और कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना । वह उतना कुछ भी तुम्हें किसी एक जगह न मिल पाता, इसीलिए जिस किसी के साथ भी जिन्दगी शुरू करती, तुम हमेशा इतनी ही खाली, इतनी ही बेचैन बनी रहती । '

ये स्थितियाँ ऐसे मकड़जाल की तरह हैं जिनसे निकलना असम्भव है, यही नियति भी है और विवशता भी । सिंघानिया और जगमोहन जैसे सुसम्पन्न पुरुष विलासी, स्वार्थी और अवसरवादी हैं । उनसे किसी प्रकार की अपेक्षा ही घृणास्पद है जो अशोक के व्यंग्यों में प्रकट होती रहती है । यह मध्यवर्गीय परिवार की यन्त्रणा आत्मघाती प्रतीत होती है - 'पात्रों और परिस्थितियों की टकराहट जिन्दगी को अनिश्चय की ऐसी वादियों में घुमाती फिरती है कि मजबूर होकर वह वहीं पहुँच जाती है जहाँ से शुरूआत हुई थी, अनिश्चय फिर सामने होता है और यही अनिश्चय नाटक में हर क्षण सोचने को मजबूर करता है । "

9.3.2 टूटता-बिखरता घर-परिवार

समाज की सबसे सशक्त इकाई और व्यक्ति की सर्वोपरि आवश्यकता परिवार है और परिवार के सदस्यों के आर्थिक, सामाजिक, मानसिक सम्बन्ध परस्पर कर्तव्यों और अधिकारों के तारों से जुड़े होते हैं किन्तु इन सम्बन्धों में आती शिथिलता और अवहेलना के कारण पारिवारिक मूल्यों तथा आदर्शों में विकृति आती जा रही है ।

इस नाटक के परिवार की मूल समस्या ही आर्थिक आधार की कमजोरी है, जिससे सारे रिश्ते प्रभावित हैं क्योंकि घर की जरूरतें पूरी करने की जद्दोजहद में नैतिकता, प्यार, सौजन्य सब एक अन्तहीन खोज में बदल चुका है । कोई भी दूसरे को समझने या समझाने को तैयार नहीं है । पत्नी पर आश्रित पति की असहायता ने घर की सारी व्यवस्था बिगाड़ दी है । प्रश्न उठता है कि क्या आज भी सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक रूप से पति का ही 'भर्ता' रूप स्वीकार्य है । पत्नी की कमाई घर की सुविधाओं में इजाफा कर सकती है पर पूरी जिम्मेदारी के साथ घरेलू कार्यों को भी जिम्मेदारी कहीं शोषण ही प्रतीत होता है । फर्क सिर्फ इतना है - पहले की औरत सब कुछ सहकर भी चुप रहती है और आज की औरत अपना अधिकार, अपना सुख भी माँगती है । किन्तु यहाँ सावित्री ने धन को जीवन में अतिरिक्त महत्व दिया है । डॉ. चातक उसके चरित्र का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं - जिस पूरेपन की तलाश उसे अपने अन्दर करनी चाहिए थी, उसकी तलाश वह अपने से बाहर औरों में करती है । इस तलाश में उसे वे सब पुरुष अधूरे दिखाई देते हैं, जिनके सम्पर्क में वह आती है । उनके माध्यम से वह उन रोमानी क्षणों में बँध जाती है जो उसके यथार्थ जीवन के सत्यों को झुठलाते हैं और उन्हें आकर्षक और स्वप्निल बनाते हैं । वह दूसरों के इरादों से शोषित होना इस मोहान्धता में स्वीकार कर लेती है कि वह स्वयं उनका शोषण करने का इरादा रखती है... यह एक विलक्षण बात है कि पुरुषों के साथ अपने सम्बन्धों को वह एडवेंचर के रूप में लेती है और विरोधों के बीच जीती है । "

वैवाहिक सम्बन्धों की अपेक्षाओं और विसंगतियों को मोहन राकेश ने अपने उपन्यास 'अन्तराल' में विश्लेषित करते हुए लिखा है - 'कोई भी सम्बन्ध एक साथ दो-दो अपेक्षाओं की पूर्ति से ही निभ सकता है और ये अपेक्षाएँ भी एक सीमा तक ही पूरी हो

सकती हैं क्योंकि हर व्यक्ति एक भरे-पूरे बाजार की तरह है जिसके सब-कुछ की तुम प्रशंसा कर सकते हो, पर वह सब-कुछ तुम अपने लिए नहीं ले सकते । तुम उसमें से वही लो जिसे लेने की सामर्थ्य तुममें है । इसकी चिन्ता मत करो कि शेष कही जाता है, कौन लेता है ?" मोहन राकेश ने इस तथ्य को बहुत गहराई से महसूस किया था ।

9.4 'आधे-अधूरे' नाटक की चरित्र-संरचना

नाटक की केन्द्रीय पात्र सावित्री की पूर्णता की तलाश किसी सम्पूर्ण मानव के स्वरूप को स्पष्ट नहीं करती, इस के पीछे कोई विशिष्ट बौद्धिक सोच अथवा प्रश्नाकूलता या स्वयं को ऊपर उठाने की जिज्ञासा अथवा किसी प्रकार की गम्भीरता कारगर नहीं है केवल अपनी अतृप्ति और असन्तुष्टि ही संवेगात्मक रूप में उभरती है । उसकी नकारात्मक दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति को अधूरा मानती है । स्वयं सावित्री भी दूसरे लोगों के माध्यम से ही स्वयं को सिद्ध करना चाहती है । स्वयं को भी सही रूप में न पहचान पाने का संकट और दूसरों पर हावी. होने की प्रवृत्ति सावित्री को आक्रामक बना देती है। वस्तुतः इसे नजरिये का दोष भी कहा जा सकता है । दूसरों को मनचाही स्थितियों में स्वीकार कर हम उसे पूर्ण मान लेते हैं । परस्पर सम्बन्धों का सम्मान ही एक दूसरे को पूर्ण बनाता है, किन्तु यही आत्मिक सत्य सावित्री में दृष्टिगत नहीं होता। घर के भरण-पोषण का दायित्व निभाने के बाद भी उसे अपने बेटे से यह सुनने को मिलता है - "मैं पूछता हूँ क्यों करती हो? किसके लिए करती हो " यह विद्रुपात्मक स्थिति है क्योंकि उसके अर्थोपार्जन के अभाव में घर की क्या दशा होगी, इसकी कल्पना सहज है । एक स्वाभाविक प्रत्याशा और कृतज्ञता न पाकर वह तिलमिला कर कहती है - "आज से मैं सिर्फ अपनी जिन्दगी को देखूँगी। तुम लोग अपनी-अपनी जिन्दगी खुद देख लेना ।" लेखक ने सावित्री के चरित्र के संशयों और अन्तर्विरोधों को बहुत गहराई से व्यक्त किया है । क्योंकि वह काल्पनिक सपनों में खोकर अपनी वास्तविक भूमिका ही नहीं पहचान पाती । उसके लिए चारों पुरुषों की असलियत अन्त में निरर्थक प्रतीत होती है । आलोचक इसे नारी की एकांगी दृष्टि कहते हैं ।

चारों पुरुषों में सबसे अधिक दुर्बल और विसंगत पुरुष है महेन्द्र । वह व्यक्तित्वहीन, अकर्मण्य और कुंठित व्यक्ति है । व्यापार में असफल हो जाने पर उसका आत्मविश्वास खो जाता है और वह अव्यवस्थित जीवन जीता है । परजीवी हो जाने पर भी उसे अपमान महसूस नहीं होता । घर की कोई चिन्ता नहीं, किसी भी घटना से वह निर्लिप्त है । घर में होकर भी वह किसी से संपृक्त नहीं । उसे किसी समय अपने दोस्तों से बहुत प्यार था किन्तु आज सिर्फ जुनेजा उसका पक्ष लेता है । उसने अपनी नगण्यता को चुपचाप स्वीकार कर लिया है । वह घर में भी निष्क्रिय है और बाहर भी दयनीय है । जिसमें न कोई इच्छा है न इच्छा शक्ति । वह स्वत्वहीन व्यक्ति है, घर में वह सुरक्षा ढूँढता है, कभी बाहर भी जाता है तो घर लौट आना ही उसकी नियति है । जिसे घर की धुरी होना चाहिए था, वही अधूरा व्यक्ति है ।

महेन्द्र के अधूरेपन के माध्यम से आधुनिकता की मूल्य संक्रान्ति में आर्थिक दबावों और व्यक्ति की कुंठाओं को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया गया है । महेन्द्र और सावित्री के साथ-साथ अशोक, बिन्नी और किन्नी के अधूरे, कुंठित और शिकायती चरित्र भी पूरे परिदृश्य को तनावग्रस्त बना देते हैं । एक आलोचक के मत में यह विश्लेषण बहुत महत्वपूर्ण है - 'सभी पात्रों की स्थिति कौन, किस कोण पर गलत है, अपने संदर्भ में इसे कोई तलाशना और निहारना नहीं चाहता, सभी दूसरों के दर्पण में - वह भी टुटे दर्पण में, अपना विद्रुप देखना चाहते हैं । परिस्थितियों के इस दर्पण में महेन्द्रनाथ और अन्य पुरुष अपने को थका हुआ, टूटा हुआ पाते हैं । "

कुंठाएँ व्यक्ति के मन में कई विकृतियाँ उत्पन्न कर देती हैं । क्योंकि काल, परिवेश और आयु के अनुसार व्यक्ति की क्रिया, मानसिकता और व्यवहार में अन्तर आता जाता है, जब ऐसा नहीं होता, तब सारे व्यवहार और सोच भी उलट-पुलट जाते हैं । महेन्द्रनाथ का परजीवी हो जाना, किन्नी और अशोक की यौन विकृतियों के रूप, सावित्री का असन्तुष्ट होकर अलग-अलग पुरुषों के पास जाना, बिन्नी के मनोज के साथ सम्बन्धों के बीच की घुटन भरी हवा सभी को खीज भरा बना देते हैं । पूरे नाटक में इस भटकाव की पुनरावृत्ति होती रहती है ।

आदर्शवाद का खण्डन आधुनिक बोध का पहला बिन्दु है, अतः: आस्था और विश्वास भी खण्डित हो गए हैं । आत्मकेन्द्रित स्थिति में जीवन की पूर्णता खोजना बेमानी है । पूर्णता की अवधारणा शायद जीवन में अनेक सम्भावनाओं का सृजन करती है । विकासोन्मुख प्रवृत्तियों और कर्मठता के कारण मानसिक और शारीरिक शक्तियों का सकारात्मक समन्वय होता है तभी कार्य क्षमता और संवेदनशीलता की विशेषताएँ किसी के व्यक्तित्व को गुणवत्ता दे सकती हैं ।

9.5 नाटक के आयाम

'आधे-अधूरे' शीर्षक का यथार्थ अनेक अर्थ व्यंजित करता है । आर्थिक अभाव के कारण घर-परिवार टूट रहा है क्योंकि आवश्यकताओं की माँग पूरी न हो पाने के कारण सभी अव्यवस्थित हैं और दोषारोपण में लिप्त हैं । कई बार सदस्यों का हौसला और श्रम आर्थिक अभाव को दूर करने को कृतसंकल्प हो जाते हैं पर यहाँ अधूरे और असन्तुष्ट हैं । भविष्य को लेकर उनमें कोई सकारात्मक सोच भी नहीं है न ही परस्पर सम्बन्धों को सुधारने की ललक । परिवार के रक्त सम्बन्धों में कहीं भी आत्मीयता की अनुभूति नहीं है - बस एक नीरस, शुष्क वातावरण में परस्पर एक-दूसरे को सहने की मजबूरी दिखाई देती है । डॉ. गोविन्द चातक कहते हैं - वह बहुत सामान्य और स्थूल कहानी है जो न जाने कब से घरों में घटती रही है । राकेश ने उसे शैली, शिल्प, भाषा और संवाद की गरिमा अवश्य दी, पर कथ्य को गहराई नहीं दे पाए । केवल उसे महसूस-भर किया है जैसा कि पहले किसी ने महसूस नहीं किया था फिर भी पति-पत्नी के बीच टकराहट के जो मुद्दे हैं वे आयामहीन हैं । उनके बारे में ठीक ही कहा गया है कि

मोहन राकेश उसे किसी गहरे संकट, संवादहीनता, सम्बन्धहीनता या किसी का अहसास नहीं कराते न किन्हीं प्रश्नों की तह में ले जाते हैं । वे मानव मात्र की समस्या को नहीं उभारते । "

इस नाटक की कथावस्तु वस्तुतः समकालीन यथार्थ और स्त्री-पुरुष की बदलती मानसिकता तथा उनकी प्रतिक्रिया स्वरूप परिवार की टूटन का सघन रूप प्रस्तुत करती है । यह एक ऐसी यथास्थिति है जिसमें 'अँधेरा अधिक गहरा होता जाता है । 'भले ही यह समाज के सम्पूर्ण ढाँचे का यथार्थ न हो किन्तु व्यक्ति का यथार्थ तो है । सावित्री यदि चार पुरुषों के बाहरी वैविध्य के बावजूद उन्हें 'एकसमान' कहती है तो उसका अभिप्राय: है कि सभी पुरुषों की मनोवृत्ति स्त्रियों के प्रति एक सी ही होती है - उसका शारीरिक, मानसिक शोषण करना । किन्तु फिर भी व्यक्ति परिस्थितियों और व्यवस्था के नीचे दब ही जाता है । नाटककार के शब्दों में - मैं जो बात बताना चाहता हूँ वह यह है कि अपनी परिस्थिति के लिये व्यक्ति अकेला जिम्मेदार नहीं होता क्योंकि स्थितियाँ कुछ भी होतीं, उसे बार-बार उसी का चुनाव करना पड़ता । जिन्दगी में व्यक्ति कुछ भी चुने, उसमें एक विशेष 'आईरनी' होती है, क्योंकि परिस्थितियाँ फिर वही बन जाती हैं । किन्तु यह तय नहीं हो पाता कि व्यक्ति प्रमुख होता है या परिस्थिति या दोनों?

आर्थिक प्रवंचना ही आधुनिक भावबोध के मूल में है और इससे उबर न पाने की बेबसी हीनता की भावना को जन्म देती है । विशेष रूप से पुरुष की यह बेबसी और हीनता से भरे कथ्य दर्शक की चेतना को झकझोर देते हैं - महेन्द्र का संत्रस्त अहं इन शब्दों में फूट पड़ा है - मैं जानना चाहता हूँ कि मेरी क्या यही हैसियत है, इस घर में कि जो जब जिस वजह से, जो भी कह दे, मैं चुपचाप सुन लिया करूँ? हर वक्त की दुत्कार, हर वक्त की कोच, बस यही कमाई है, मेरी इतने साल की? "

पात्रों की परस्पर टूटन और घुटन भले ही एक दूसरे को कोंचने के लिये विवश करती हो किन्तु 'परिवार' फिर भी उन सबके लिए बेहद महत्वपूर्ण है । सबकी अन्तिम, अनिवार्य और अपरिहार्य शरणस्थली यही परिवार है । यह परिवार और इसके पात्र सामान्य होते हुए भी जीवन्त हैं । स्त्री के हाथ में अर्थसत्ता देकर परिवार की पारम्परिक अवधारणा को भी उलट दिया गया है । यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिन बाह्य स्थितियों ने स्त्री को शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता का मार्ग दिखाया, घर के भीतरी संघर्षों ने भी उसे बाहरी लोगों से सुकून पाने की उम्मीद जगायी किन्तु यह भी सच है कि बाहरी लोगों से चोट खाकर स्त्री घर में ही शरण पाती है - यही दशा पुरुष की भी है । इसीलिए पात्रों के संघातों के बावजूद, परस्पर शिकायत और घृणा के बावजूद 'परिवार' का संस्थागत महत्व बहुत मजबूत है ।

9.5.1 नाटक की नाट्यधर्मिता

मोहन राकेश के सभी नाटक मनोवैज्ञानिक तनाव को गहराने के लिये रंगमंचीय चेतना का भरपूर प्रयोग करते हैं । उनकी भाषा की भास्वरता, संवादों की तीव्रता और सामर्थ्य, आधे-अधूरे और छोटे-छोटे संवादों के माध्यम से 'अनकहे' की प्रभावान्विति और छोटे-छोटे क्रियाकलापों एवं ध्वनियों के माध्यम से मनःस्थितियों की सघनता, रचनाकार की पकड़ को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्ति देती है ।

नाटककार ने इस नाटक में अनेक प्रयोग किए हैं - चार पुरुषों की भूमिका में बार-बार एक ही अभिनेता मंच पर उतारा गया है । इस प्रयोग के मूल में एक आधारभूत विचार छिपा है । ये चार पुरुष अलग-अलग नामों के होते हुए भी पुरुष एक, पुरुष दो, पुरुष तीन, पुरुष चार की संज्ञा से जाने जाते हैं । काले सूट वाले की भूमिका की सार्थकता' यही है कि वह नाटक की केन्द्रीय संवेदना के साथ इस प्रयोग के एकीकरण पर प्रकाश डालता है । उसका कहना है - 'आप शायद सोचते हों कि मैं इस नाटक में कोई एक निश्चित इकाई हूँ..... परन्तु मैं अपने सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कह सकता - उसी तरह जैसे इस नाटक के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकता क्योंकि यह नाटक भी अपने में 'मेरी ही तरह अनिश्चित है । ऐसा इसलिए कि मैं इसमें हूँ और मेरे होने से ही सब कुछ इसमें निर्धारित- या अनिर्धारित ??

इसका तात्पर्य यह है कि यह नाटक किसी एक व्यक्ति की कहानी न होकर किसी भी आदमी की कहानी हो सकता है । काले सूट वाला व्यक्ति ही दर्शकों के सामने अनेक व्यक्तियों के रूप में रह-रह कर प्रकट होता रहेगा ।

इस प्रयोग के पीछे लेखक का शायद यह मन्तव्य हो सकता है कि व्यक्तिगत भिन्नता के भीतर हर आदमी अन्ततः वैसा ही है जैसा कि कोई भी दूसरा हो सकता है । सावित्री कहती भी है - 'मेरी नजर में वह हर आदमी जैसा एक आदमी है । ' एक दार्शनिकता का आभास देते हुए हर व्यक्ति में एक अमूर्त मानव अंश होने के कारण अलगाव या अपरिचय या अकेलेपन की स्थिति बनी रहती है क्योंकि दो टकराने वाले व्यक्ति परस्पर निर्लिप्त और अजनबी ही होते हैं । नाटककार ने इस प्रकार से इसे एक आम आदमी की कथा ही माना है । स्त्री भी कोई भी स्त्री हो सकती थी ।

मोहन राकेश ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों, विशेष रूप से पति-पत्नी सम्बन्धों में उपजी कटुता के कारण परस्पर झेलने की त्रासदी को ही उद्घाटित किया है । वे दोनों इस संत्रास से मुक्त भी होना चाहते हैं । जुनेजा सावित्री से महेन्द्रनाथ को मुक्त करने की बात करता है । 'तुम किसी तरह छुटकारा नहीं दे सकती, उस आदमी को?' इस पर स्त्री उत्तर देती है छुटकारा? मैं? उन्हें? कितनी उल्टी बात है?' स्त्री से यह माँग भी पुरुष मानसिकता की बौखलाहट को व्यक्त करती है ।

चारों पुरुषों की भूमिका एक ही अभिनेता से करवाने के प्रयोग से आम आदमी की अभिव्यक्ति हो पाई है या नहीं । क्योंकि सभी व्यक्ति अपनी अलग पहचान रखते हैं । किन्तु चारों व्यक्तियों की विभिन्न विशेषताएँ भी मिलाकर एक पूर्ण व्यक्ति नहीं बन

सकता । स्त्री की अतिरंजित अपेक्षाएँ किसी भी पुरुष को उसकी सीमाओं के साथ स्वीकार नहीं कर पाती । किन्तु फिर भी परिस्थिति और सामने वाले व्यक्ति को ध्यान में रखकर बात करती है ।

9.6 क्रिया-व्यापार

नाटक में प्रत्येक पात्र का चरित्र केवल संवाद अदायगी में ही नहीं उभरता, बल्कि वाणी की भूमिका पात्रों के समग्र व्यापार, हाव-भाव और नाटकीय भंगिमाओं से भी प्रखर होती है । मोहन राकेश इस कला में सिद्धहस्त हैं । यहाँ तक कि पात्र की घुटन, तनाव और द्वंद्व तक उसके हाव भाव में मुखर हो उठता है । स्त्री अपने भीतरी तनाव को कभी भावावेश में प्रकट करती है तो कभी हल्के व्यंग्य में, कभी सामान को इधर से उधर रखने में और कई बार अवसर के अनुकूल तनाव को नियन्त्रित कर बाहरी तौर पर संयत और सधेपन से । जबकि पुरुष एक की हर चेष्टा में अस्तव्यस्तता दिखलाई देता है । जब वह फाइलों में व्यस्त होने का बहाना करता है तो फाइलें बाहर गिर जाती है। अखबार पढ़ने का बहाना करने पर हाथ में उल्टा अखबार होता है, टोस्ट सेकने पर जल जाते हैं । ये सारे व्यापार उसके कुंठित और निर्लिप्त मानसिकता के कारण हैं जबकि स्त्री की लम्बी घुटन मानसिक हलचल से युक्त छोटे-छोटे टूटे वाक्यों में अभिव्यक्त होती है - 'कब तक और ... साल पर साल... इसका यह हो जाए, उसका वह हो जाए. .. एक दिन... दूसरा दिन!... एक साल... दूसरा साल!.. अब भी और सोचूँ थोड़ा ।... कब तक..... क्यों. .. घर-दफ्तर. ..घर-दफ्तर । सोचो.. सोचो!.. चख-चख. ..किट-किट... चख-चख किट-किट! क्या सोचो ?...कुछ मत सोचो ।.. होने दो जो होता है । ' एक उक्ति खण्ड से दूसरा उक्ति खण्ड क्रिया - व्यापार की कड़ियों से जुड़ा हुआ आवेश स्पष्ट है ।

बड़ी लड़की में भी यह आवेश है । आवेश के अधिक हो जाने पर कई बार संवाद स्थगित हो जाते हैं ।

9.7 रंग-निर्देश

'आधे-अधूरे' नाटक का केन्द्रीय भाव है - तनाव । तनावग्रस्त परिवेश की अभिव्यक्ति के लिए मंच पर जो दिखाई देता है - वह रंग निर्देशों के कारण स्वत: व्यंजित है । आरम्भ में ही परदा उठने पर सबसे पहले चाय पीने के बाद डाइनिंग टेबल पर छोड़ा गया 'अधटूटा टी सैट' दिखता है । कभी फटी किताबें और टूटी कुर्सियाँ, कभी मुडी-तुडी अखबारें, कभी तस्वीरों की कतरनें और कभी कैंची की कच-कच । ये सब चीजें वहाँ रहने वालों की खीझी, थकी हुई, अकेली होती जिन्दगी का परिचय देती हैं । इन रंग-निर्देशों में ध्वनि और प्रकाश का संयोजन, संत्रास की घनीभूत व्यंजना को अभिव्यक्ति देता है । मातमी संगीत घर की उदासी का प्रतीक है । नाटक के अन्त में प्रकाश खण्डित होकर स्त्री और बड़ी लड़की तक सीमित रह जाता है, अतः संगीत, अंधेरा वातावरण को त्रासद बनाने में सहायक होते हैं ।

इस नाटक का मंचीय कौशल ही इसकी सामान्य कथावस्तु को सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक स्तर पर आधुनिक बोध से जोड़ देता है और एक अभिशप्त नियति को जीवन्त बना देता है । आज का युग इस' नाटक के रचनाकाल 1969 से बहुत आगे जा चुका है । आज की नारी की लड़ाई भी अपने नये अधिकारों से "लैस" है फिर भी मनोवैज्ञानिक स्तर पर दाम्पत्य सम्बन्धों की यह टूटन चेतना को झकझोरती अवश्य है।

9.8 सारांश

मोहन राकेश के पूर्ववर्ती दो नाटकों आषाढ़ का एक दिन और लहरों के राजहंस की तुलना में प्रस्तुत नाटक आधे-अधूरे सर्वथा भिन्न धरातल की रचना है । इस नाटक की विषयवस्तु समकालीन जीवन पर केन्द्रित है । महानगरों में मध्यमवर्गीय परिवार महत्वाकांक्षाओं की दौड़ में संघर्ष करते हुए दिखाई पड़ते प्रस्तुत नाटक की नायिका सावित्री के जीवन पर केन्द्रित है । सावित्री को पूर्णता की तलाश है । वह पूर्णता को उसे दर-दर भटकने पर भी प्राप्त न हो सकी । भटकने के परिणामस्वरूप उसका दाम्पत्य तनाव भरा रहता है और उसका परिवार बिखर जाता है । महानगरों में मध्यमवर्गीय जीवन की इसी त्रासदी को उभर कर इस नाटक की रचना की गई है । नाटककार ने रचना के क्रिया-व्यापार और नाट्यधर्मिता का निर्वाह करते हुए इस नाटक को तनाव भरी जिन्दगी के त्रास को वहन करने योग्य भाषा दी है इसलिए यह एक प्रखर नाटक माना जाता है ।

9.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मानवीय सम्बन्धों की अति संवेदनशीलता इस नाटक को समस्या नाटक बनाती है - स्पष्ट कीजिए ।
2. 'आधे-अधूरे' नाटक के वैचारिक पक्ष की विवेचना कीजिए ।
3. 'आधे-अधूरे' नाटक के नाट्य शिल्प पर प्रकाश डालिए ।
4. 'आधे-अधूरे' नाटक का मूल प्रतिपाद्य क्या है? उसके मनोवैज्ञानिक स्वरूप का विश्लेषण कीजिए ।
5. क्या 'आधे-अधूरे' नाटक आधुनिक भाव-बोध का नाटक कहा जा सकता है? स्पष्ट कीजिए ।

9.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. जगदीश शर्मा; मोहन राकेश की रंग-सृष्टि
2. गोविन्द चातक; आधुनिक हिन्दी नाटक का अग्रदूत-मोहन राकेश
3. गिरीश रस्तोगी; मोहन राकेश और उनके नाटक
4. सुशीला देवी शर्मा; हिन्दी रंग परम्परा और मोहन राकेश
5. जयदेव तनेजा; मोहन राकेश. रंग शिल्प और प्रदर्शन

इकाई-10 आधे अधूरे : रंगमंचीय विधान इकाई की रूपरेखा

10.1 उद्देश्य
10.2 प्रस्तावना
10.3 नाट्यकार व नाट्य परिचय
10.4 नाटक व रंगमंच का अन्त: संबंध
10.5 मंचीयता के संभाव्य क्षेत्र
10.6 आधे अधूरे में रंगमंचीयता की तलाश
10.6.1 आधे अधूरे और वस्तु योजना
10.6.2 आधे अधूरे और अभिनेयता
10.6.3 आधे अधूरे और संवाद
10.6.4 आधे अधूरे और भाषा-शैली
10.6.5 आधे अधूरे में रंग संकेत
10.7 आधे अधूरे की प्रस्तुतियाँ व विविध अभिमत
10.8 सारांश
10.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
10.10 संदर्भ ग्रंथ

10.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययनोपरान्त आप -

- 'आधे-अधूरे' नाटक की रंगमंचीय दशा व दिशा का विश्लेषण कर पाएंगे ।
- नाटक के लिए रंगमंच की क्या आवश्यकता है? नाटक व रंगमंच या अभिनेता में परस्पर क्या अन्त: संबंध है? किसी भी नाटक के मंचन की संभावनाएं क्या हो सकती हैं? आधे-अधूरे नाटक के संबंध में इन सवालों का विवेचन कर पाठक व अध्येता इस परिप्रेक्ष्य में आलोच्य नाटक में अभिनेयता संवाद भाषा-शैली और रंग संकेतों की पड़ताल कर इनकी समझ विकसित कर सकेंगे ।

10.2 प्रस्तावना

हिन्दी नाट्य जगत में 'आधे-अधूरे' वस्तुविधान की दृष्टि से ही नहीं अपितु शैल्पिक आवृत्त की दृष्टि से अपने ढंग का अभिनव प्रयोग व ऐतिहासिक महत्व का नाटक है । सन् 1969 में प्रकाशित आलोच्य नाटक कथ्य शिल्प एवं अभिनेयता तीनों दृष्टि से युगान्तरकारी ओर उल्लेखनीय है । पूर्व इकाई में आप 'आधे-अधूरे' के कथ्य, पात्र योजना व मूल संवेदना की पड़ताल विस्तार से कर चुके हैं। प्रस्तुत इकाई में 'आधे-अधूरे के अभिनेयता पक्ष या रंगमंचीय विधान का सम्यक् विवेचन कर इस बात पर विचार किया जाएगा कि इस नाटक की मंचीय संभावनाएं कितनी प्रबल' हैं । कथानक

के साथ-साथ मंचन में भी बिखराव व एकान्विति का अभाव दिखाते हुए भी इसमें स्थान, समय व घटना में परस्पर बेहतर समन्वय प्रस्तुत हुआ है । इस इकाई के अध्ययन के बाद आप महसूस करेंगे और यह चिंतन कर पाएंगे कि स्वातंत्र्योत्तरयुगीन नाटकों में 'आधे-अधूरे' मंचीयता की दृष्टि से भी अनूठे प्रयोगों के बावजूद उत्तम रंग परिकल्पनाओं व संभावनाओं की कृति है । यह नाट्य संसार की महत्वपूर्ण व गंभीर उपलब्धि है जिसकी प्रस्तुति अनेक स्थानों पर समय-समय पर होती रही है ।

10.3 नाट्यकार व नाट्य परिचय

किसी भी साहित्यिक या कलात्मक प्रस्तुति की सम्यक् उपलब्धि महत्ता व गुणवत्ता को कसौटी पर परखने के लिए उसकी पृष्ठभूमि, सृजनकर्ता कलाकार के व्यक्तित्व व कृतित्व परिचय एवं रचना के वस्तुविधान को जानना आवश्यक होता है । अतः: हम संक्षेप में रचनाकार मोहन राकेश व उनकी आलोच्य कृति 'आधे-अधूरे की सामान्य जानकारी प्रस्तुत कर देना उचित समझते हैं ।

10.3.1 नाटककार परिचय

आधे-अधूरे के रचनाकार मोहन राकेश स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य के महत्वपूर्ण कथाकार हैं । 8 जनवरी 1925 को जन्में व 3 दिसम्बर 1972 को दिवंगत हुए राकेश एक कहानीकार, उपन्यासकार व नाटककार के रूप में अधिक जाने जाते है यद्यपि आपने अत्यल्प नाटक लिखे हैं तो भी रंगधर्मिता, गुणवत्ता की दृष्टि से इन्हें महत्वपूर्ण माना जाता है । मोहन राकेश ने 'आषाढ़ का एक दिन', लहरों के राजहंस' और 'आधे-अधूरे' नामक तीन नाटक व 'अण्डे के छिलके' नामक एकांकी लिखा है । 'आधे-अधूरे' राकेश जी की सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है ।

अपने कथा साहित्य के माध्यम से राकेश ने शहरी जीवन के मध्यवर्ग की स्थिति-मनोवृत्ति को मुख्यतः उकेरा है । आज का मध्यमवर्गीय इंसान अपनी ही समस्याओं में उलझा है । व्यक्तिगत अस्मिता की पहचान, व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा, निजी सुख-दुख, बदलते जीवन मूल्य, एकाकीपन, भोगवादी मनोवृत्ति, स्त्री-पुरुष संबंधों में आया बदलाव, भागमभागी जिन्दगी में घुटता पिसता-मचलता मध्यमवर्ग ही राकेश की समस्त रचनाओं के केन्द्र में है । मोहन राकेश ने उक्त विवेचित परिदृश्य को बड़ी ही गहराई, ईमानदारी, सहानुभूति व बेबाकी से प्रस्तुत किया है । 'आधे-अधूरे' का कथावृत्त भी शायद इनसे इतर नहीं

10.5 नाटक परिचय

आधे-अधूरे 1969 में प्रकाशित मोहन राकेश की तीसरी महत्वपूर्ण नाट्य कृति है । उल्लेखनीय है कि राकेश जी की चौथी नाट्य कृति पैर तले की जमीन अधूरी रह गई थी । 'आधे-अधूरे' राकेश का ही नहीं हिन्दी नाट्य संसार का भी महत्वपूर्ण नाटक है । हिन्दी नाटक परंपरा में यह कथ्य, शिल्प एवं अभिनेयता तीनों ही दृष्टि से

युगान्तरकारी एवं उल्लेखनीय रचना है । इसका कथानक शहरी परिवेश के मध्यवर्गीय परिवार के जीवन से सम्बन्धित है । नाटक की प्रमुख चेतना समकालीन यथार्थ पर आधृत है । मध्यवर्गीय जीवन के माध्यम से रचनाकार ने स्त्री-पुरुष संबंधों में आ रहे बदलाव को प्रस्तुत किया है । नाटक के संबंध में इब्राहीम अलकाजी का कथन है "यह नाटक मध्यवर्गीय जीवन की शुष्क, विनाशकारी रिक्तता का प्रखर दस्तावेज है और विकृत मूल्यों, भ्रांतियों एवं दोगली नैतिकता का निर्मम अनावरण जो उस रिक्तता के कारण है ।"

दरअसल नाटक में उच्चमध्यवर्गीय उस समाज की चेतना व परिदृश्य प्रस्तुत है जो आपाधापी, भौतिक चकाचौंध, नौकरी, आडंबर आदि में उलझा है । इसमें वह मानसिकता उजागर हुई है जिसमें व्यक्ति पूर्णता की तलाश में इतस्ततः भटकता है, जबकि सच्चाई यह है कि पूर्णता तो स्वयं उसके भीतर भी नहीं है । दूसरी बात यह कि किसी भी अन्य से पूर्णता की तलाश बेमानी है । पूर्ण तो सिर्फ 'बह्म' है और यदि पूर्णता की संतुष्टि की कामना अपेक्षित भी है तो वह तो स्वयं के भीतर से ही मिलती है इस तरह यह नाटक मध्यमवर्ग के आधे होने उसके अधूरे होने की विसंगति एवं तद्जन्य मानसिकता को उजागर करती है ।

नाटक के मुख्य पात्र व उनका परिचय इस प्रकार है- घर का मुखिया महेन्द्रनाथ जो कि पूर्व फैक्ट्री मालिक अब निठल्ला है, पत्नी सावित्री जो नौकरीपेशा है, उसी की आमदनी से घर खर्च चलता हैं । इनकी तीन संतानें क्रमशः बिन्नी, अशोक व छोटी लड़की किन्नी । पति-पत्नी के रूप में दोनों नारकीय जीवन जी रहे हैं । आपसी तनाव, वितृष्णा, चख-चख व किट-किट से संबंध टूट से गए हैं । सावित्री हर दूसरे-चौथे साल महेन्द्रनाथ को छोड़कर क्रमशः शिवजीत, जगमोहन, सिंघानिया व फिर से जगमोहन को पाना चाहती है, पर असफल रहती है । बड़ी लड़की बिन्नी अपनी माँ के प्रेमी 'मनोज' के साथ भागकर ब्याह कर लेती है, परन्तु वह भी कुछ ही दिनों में उसे छोड़कर लौट आती है। छोटी-बेटी किन्नी लगभग 12 वर्ष की है जो बदतमीज, बदजुबान हैं, यौन संबंधों की बातों में रुचि रखती है । अशोक फिल्म अभिनेत्रियों में शौक रखता हैं । एक नौकरी छोड़कर दूसरी की तलाश में है।

10.4 नाटक व रंगमंच का अन्त:संबंध

नाटक एक ऐसी गद्य विधा है जिसका रंगमंच से अनिवार्यतः संबंध है । नाटक दृश्य विद्या है, इसकी पूर्णता रंगमंच पर सफलतापूर्वक प्रस्तुति में ही निहित होती है । जबतक किसी नाटक को सफलता के साथ मंच पर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता उसे 'नाटक' कहने में आपत्ति होगी । नाटक रंगमंचीय प्रस्तुति के बाद ही (पूर्ण विधा) नाटक कहलाने का अधिकारी है । रंगमंच या अभिनय के बिना नाटक, नाटक न रहकर गद्य विधा का रोचक आलेख मात्र बनकर रह जाएगा । रंगमंच के बिना नाटक का कोई अस्तित्व नहीं है । नाटक को दृश्यकाव्य के अंतर्गत इसीलिए रखा गया है, क्योंकि

जब तक इसे दर्शक अभिनीत होते हुए देख नहीं लें, तब तक उसकी अस्मिता एवं अस्तित्व ही नहीं रह जाता । नाटक की यह विशेषता है कि पाठक इसका रसास्वादन पढ़कर तो लेते ही हैं, साथ ही उसे मंच पर घटित होते हुए भी देखते हैं या देख सकते हैं । रंगमंच की नाटक के लिए अनिवार्यता आदि नाट्याचार्य भरतमुनि से लेकर आज के साहित्याचार्य व सुधि विद्वान भी स्वीकारते हैं ।

नाटक संवाद प्रधान विधा है । जब तक इसे रंगमंच पर घटित होते हुए नहीं प्रस्तुत किया जाता है तब तक इसका प्रयोजन अधूरा रहता है । नाटक की सार्थकता रंगमंच (Stage) की प्रक्रिया से गुजर कर सफल उतर जाने में ही हैं । नाटक साहित्य के सुधि चिंतक व समीक्षक नेमीचंद जैन की अवधारणा इस संबंध में उल्लेखनीय हैं वे लिखते हैं ' नाटक साहित्यिक अभिव्यक्ति की ऐसी विधा है जो केवल साहित्य नहीं, उससे अधिक कुछ और भी हैं, क्योंकि रचना की प्रक्रिया लेखक द्वारा लिखे जाने पर ही समाप्त नहीं होती । उसका पूर्ण प्रस्फुटन और संप्रेषण रंगमंच पर जाकर ही होता है । रंगमंच पर अभिनेताओं द्वारा प्राण प्रतिष्ठा के बिना नाटकों को संपूर्णता प्राप्त नहीं होती है और इसीलिए रंगमंच से अलग करके नाटक का मूल्यांकन या उसके विविध अंगों और पक्षों पर विचार अपूर्ण ही नहीं भ्रामक हैं संसार के नाटक साहित्य रचना के रूप में नहीं देखा. जाता और रंगमंच तथा उसकी आवश्यकताओं के पारखी ही नाटक के असली समालोचक होते है और माने जाते हैं ।

वस्तुतः: नाटक के लिए रंगमंच पर विशेष प्रकार की प्रकाश व्यवस्था, संगीत, दृश्य साधन आदि होते हैं । उन सबके बिना नाटक का प्रभावी मंचन संभव नहीं । इसे संवाद प्रधान कहने के स्थान पर दृश्य प्रधान कहना अधिक सार्थक होगा । क्योंकि यह ध्यातव्य है कि बहुत से नाटक संवादहीन हुए हैं और हो भी सकते हैं ।

रंगमंच वह माध्यम है, वह शक्ति है जो नाटक को नाटक से अधिक कोई एक विशेष चीज बनाती है।

रंगमंच से ही नाटक की पहचान होती है । रंगमंच में कलाकारों के सामूहिक योगदान को किसी भी तरह हल्के रूप में नहीं लिया जा सकता । कलाकारों या रंगकर्मियों के साझा सहयोग से, उनके द्वारा किसी भी नाटक विशेष के मंचन से पूर्व किए गए लम्बे अभ्यास और प्रक्रिया को भी जानना समझना आवश्यक है । क्योंकि यदि किसी भी नाटक के संबंध में रंगकर्मियों या कलाकारों से कहा जाए कि इसका मंचन करो, तो यह एक असंभव सी बात होगी । कलाकार व रंगकर्मी किसी भी नाटक की रंगमंच पर प्रस्तुति से पूर्व किसी योग्य निर्देशक के निर्देशन व सान्निध्य में कई लम्बी, बोझिल, समय व श्रम साध्य प्रक्रियाओं व अनुभवों से गुजरते हैं । उसका अभ्यास व रिहर्सल करते हैं ।

नाटक के मंचन में प्रत्यक्ष कलाकारों के साथ-साथ संगीतकार, ध्वनि पैदा करने वाला, प्रकाश की व्यवस्था करने वाला मंच की सजावट व सम्पूर्ण नाटक को मंच योग्य बनवाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाला निर्देशक आदि की सामूहिक भूमिका महत्वपूर्ण होती है । इन सबके सामूहिक व सार्थक प्रयासों के बल पर ही कोई नाटक

दर्शकों के मन में उतर सकता है, प्रभाव छोड़ सकता है । नाटक में ऐसे बहुत से रंग संकेत होते हैं जो पात्र के कथनों की अपेक्षा संवादों, उसके हाव-भाव या शारीरिक चेष्टाओं, मुद्राओं आदि से अधिक प्रभावी, मार्मिक व व्यापक प्रभाव डालते हैं ।

नेमीचंद जैन नाटक व रंगमंच के परस्पर गहन अन्तर्सम्बन्ध को रेखांकित करते हैं । वे तो यहां तक कहते हैं कि रंगमंचीयता विहीन नाटक, नाटक कहलाने का अधिकारी नहीं है । उनका स्पष्ट मत है कि " अनुभूति के स्तर पर सामूहिक जीवन से संबद्ध होने के साथ-साथ अपनी अभिव्यक्ति की चरम परिणति के स्तर पर भी नाटक सामूहिक क्रिया है । नाटक का प्रदर्शन अभिनेता समूह के द्वारा तथा अन्य रंगकर्मियों के सक्रिय व रचनात्मक सहयोग से ही होता है । अभिनय-प्रदर्शन के बिना नाटक की सार्थकता अथवा सम्पूर्णता नहीं, बल्कि जो अभिनय नहीं, अभिनयोपयुक्त नहीं, उसे नाटक ही नहीं कहा जा सकता ।

कुल मिलाकर यही कहना होगा कि रंगमंच व नाटक का परस्पर गहन एवं अनिवार्य अन्तर्सम्बन्ध है । बिना रंगमंच के बिना अभिनेय हुए नाटक की सार्थकता संदिग्ध ही है । नाटक की अपनी मौलिक पहचान उसके रंगमंच पर नाटक कलाकारों या रंगकर्मियों द्वारा मंचन से ही है । नाटक की सार्थकता, सफलता, महत्ता व उत्कृष्टता रंगमंच पर नाट्य कलाकारों या रंगकर्मियों द्वारा मंचन से ही है । नाटक की सार्थकता, सफलता महत्ता व उत्कृष्टता का प्रश्न और निर्णय के बिना रंगमंच के संपर्क के नहीं हो सकता । यदि नाटक प्राण है तो मंच उसका शरीर । "

10.5 मंचीयता के संभाव्य क्षेत्र

प्रत्येक नाटक कृति के मंचन के लिए आवश्यक नहीं है कि निर्देशक नाटक में प्रस्तुत लेखक के दृश्य संकेतों के अनुरूप ही दृश्यावली व साज सज्जा प्रस्तुत करें । वस्तुतः: वह तो लेखक द्वारा प्रस्तुत संवेदना या वर्ण्यवस्तु की प्रस्तुति हेतु एक साधन होती है । कल्पनाशील, परिश्रमी, धैर्य धनी, एवं समर्पित निर्देशक तो अपनी रंगशीलता की प्रतिभा से लेखक द्वारा प्रस्तुत नाटक में मंचीयता हेतु विविध संभावनाएं तलाशता है । यह समझ विकसित करना बहुत आवश्यक है कि नाट्यरचना की रंगमंचीयता की संभावना सिर्फ लेखक द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोण तक सीमित नहीं रहती है, और न ही रहनी चाहिए, अपितु इसे उसे उपादान मात्र समझकर विविध सृजनात्मक परिकल्पनाशीलता से नवीन, सार्थक व जीवन्त प्रस्तुति की ओर ले जाना चाहिए ।

निर्देशक प्रयोगधर्मी मानसिकता रखकर एक ही नाटक को एकाधिक रंग-शैली में प्रस्तुत कर सकता है । प्रयोगशीलता की मनोवृत्ति से ही वह नवीन नाट्य शैलियों के साथ प्रस्तुति की संभावनाएं तलाशेगा । एक ही नाटक क प्रस्तुति कहीं वह पाश्चात्य शैली से करेगा तो कहीं पारसी थियेटर की शैली से, कहीं परंपरागत शैली अपनाएगा तो कहीं लोकनृत्य और नुक्कड़ नाट्य शैली । नाटक की सफलता विविध शैलियों द्वारा दर्शकों तक रोचक ढंग से विषयवस्तु व संवेदना की प्रस्तुति में ही निहित है । अतः: अभिनेता

की जांच करते समय केवल रंग संकेतों आदि की जांच करने की बजाए कृति को समग्र रूप से देखा जाना चाहिए । देखना यह चाहिए कि नाटककार द्वारा प्रस्तुत कण्टेण्ट और संवेदना को नागलकार द्वारा प्रस्तुत रंग संकेतों को कलाकार 'किस ढंग से दर्शकों तक प्रस्तुत करने में सक्षम है या हो सकते हैं ।

नाट्यकृति की सफलता उसके लेखक द्वारा प्रस्तुत विषय-भाव की संप्रेषणीयता पर निर्भर करती है और यह संप्रेषणीयता दर्शकों तक जितनी प्रभावशीलता से पहुंचेगी, नाट्य कृति भी उतनी ही सफल मानी जायेगी । स्पष्ट है कि विश्लेषण और परख भी उक्त विस्तृत परिप्रेक्ष्य में ही होना चाहिए ।

10.6 आधे अधूरे में रंगमंचीयता की तलाश

पूर्व विवेचन में हम यह स्पष्ट तौर पर समझ चुके हैं कि किसी भी नाटक की अस्मिता सफलता और महत्व उसके रंगमंच पर सफलता व संप्रेषणीयता के साथ मंचित होने या प्रस्तुत होने में ही है । अतः: 'आधे-अधूरे' नाटक का भी मूल्यांकन रंगमंच के संदर्भ में किया जाना आवश्यक है । नाटककार जयशंकर प्रसाद के अधिकांश नाटक यद्यपि श्रेष्ठ हैं, प्रसाद जी स्वयं एक महान् नाटककार के रूप में जाने जाते हैं, तो भी यह सर्वविदित हे कि उनके नाटक रंगमंच की दृष्टि से असफल माने जाते है । स्पष्ट है कि भाव-संवेदना व पठनीयता के साथ-साथ आधे-अधूरे नाटक की पड़ताल मंचीय संभावनाओं के परिप्रेक्ष्य में भी अपेक्षित है ।

किसी भी नाट्य कृति में रंगमंचीयता की तलाश के कुछ बिन्दु तय होते हैं । यह है- नाटक में निहित संवाद योजना, अभिनेतागण पात्रों की साज-सज्जा या वेश-भूषा, मंच सज्जा, भाषा-योजना आदि । आलोच्य नाट्यकृति की सफलता भी दर्शकों तक रूपायित होकर संप्रेषणीय होने में ही निर्भर हैं । अतः: इस नाटक में निहित रंगमंचीयता की तलाश हम निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर करेंगे । ये हैं - अभिनेता, संवाद, भाषा-शैली, एवं रंग संकेत।

10.6.1 आधे अधूरे और वस्तु योजना

नाटक के प्रस्तुतिकरण या मंचन की रंगमंच पर संभावना का पहला बिन्दु उसकी वर्ण्यवस्तु या कथानक है । कथानक इस प्रकार का होना चाहिए, जिसकी मंच पर प्रस्तुति में किन्हीं विशेष समस्याओं का सामना न करना पड़े । नाटककार जयशंकर प्रसाद जी के नाटकों में काफी हद तक वस्तु योजना की समस्या प्रस्तुत होती है । उनके नाटक विशेष की मंचीय प्रस्तुति के संबंध में तो आलोचकों ने यह आरोप भी लगाया है कि उसकी प्रस्तुति पर शेरों का खर्चा है अर्थात् विषयवस्तु की इस तरह माँग है कि मंच पर शेर को प्रस्तुत किया जाना चाहिए । इसके अतिरिक्त उनके नाटकों की प्रस्तुति के विषय में यह धारणा भी है कि वे बहुत खर्चीले हैं लेकिन आधे-अधूरे नाटक के विषय में कोई संदेह नहीं कि इसकी प्रस्तुति में कोई समस्या नहीं है ।

आधे-अधूरे की वस्तु योजना में किसी प्रकार की कोई जटिलता नहीं है । इसमें किसी स्थूल वस्तु का विधान भी नहीं किया गया है । नाटककार मोहन राकेश अपने इस नाटक के जरिए जिन मध्यवर्गीय समाज की विसंगतियों को उजागर करना चाहते हैं, वे निश्चय ही यथार्थ के धरातल पर, वस्तु विधान के माध्यम से सहज ही उजागर होती है । नाटक के आकार के समान ही कथा के आकार की योजना भी की गई है । इसमें कथावस्तु न तो बहुत अधिक विस्तृत है और न ही बिखराव या फैलाव । कथानक में एकसूत्रता व एकान्विति है, जिससे भी प्रस्तुति व मंचन में सुविधा रहती है। इस कृति में संकलनत्रय का निर्वाह भी सहजता के साथ हो जाता है ।

उक्त संदर्भ में हमें जानना-समझना भी जरूरी है कि यद्यपि इसमें परंपरागत घटना प्रधान वस्तु योजना नहीं है, यहाँ घटनाओं की तो मात्र सूचना दी गई है, और कथा विकास भी होता सा नहीं दिखता तो भी स्पष्ट है कि इसकी विषयवस्तु और कथा पात्रों के मन पटल पर विकसित होकर आकार लेती है । घटनाओं की सूचना दी जाकर उसका विकास और प्रवाह चरित्रों के मनोभावों पर हुआ है । नाटक की वस्तु दो भागों में विभाजित है, लेकिन सम्पूर्ण नाटक एक ही स्थान पर घटित होता है । स्थान और घटना परिवर्तन बार-बार नहीं हुआ है । अतः: स्पष्ट है कि वस्तुयोजना की दृष्टि से आलोच्य नाटक रंगमंचीय संभावनाओं के धरातल पर पूरी तरह खरा उतरता है ।

10.6.2 आधे अधूरे और अभिनेता

मंचीय संभावना की तलाश का दूसरा प्रमुख बिन्दु नाटक में प्रस्तुत 'अभिनेता' है । किसी भी नाटक की रंगमंचीय प्रस्तुति के लिए यह आवश्यक है कि एक तो उसमें अभिनेता या पात्रों की संख्या सीमित हो, दूसरी बात यह कि उनकी वेश-भूषा, क्रियाकलाप आदि यथार्थ के धरातल पर व्यावहारिक एवं मानवीय हो । यदि अमानवीय पात्र (यथा देवी-देवता, भूत-प्रेत आदि) कथानक में हों तो उस नाटक की प्रस्तुति अव्यावहारिक एवं मुश्किल होती है । आजकल कम्प्यूटर के प्रयोग से 'स्क्रीन' पर प्रसारित होने वाले धारावाहिक कार्यक्रम तो ऐसे पात्रों पर तैयार किये जा सकते है, मगर रंगमंच पर उनकी प्रस्तुति असंभव ही होती है । कल्पनाधार पर उनकी उपस्थिति तो दर्ज करवाई जा सकती है मगर उनकी विविध क्रियाओं की प्रस्तुति सहज रूप में संभव नहीं ।

उपर्युक्त दृष्टि से भी यह स्पष्ट है कि आधे-अधूरे नाटक की पात्र योजना व्यावहारिक एवं सहज है । इसमें मुख्य रूप से सावित्री का किरदार है । सावित्री केन्द्रीय चरित्र के रूप में है शेष अन्य आठ पात्र उपस्थित हुए है । ये पात्र हैं- सावित्री का पति महेन्द्रनाथ, बड़ी बेटी बिन्नी या बीना, बेटा अशोक व छोटी बेटी किन्नी । इनके अतिरिक्त शिवजीत, जगमोहन व सिंघानिया । यद्यपि पात्र योजना भी बदली हुई नजर आती है लेकिन पात्रों का व्यक्तित्व घटनाओं के माध्यम से न उभरकर उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा एवं हरकतों के माध्यम से उभारा गया है ।

नाटक के चरित्र अपनी विशिष्ट विसंगतियों, खोखलेपन, अभावों और कुण्ठाओं को अपनी झल्लाहट खीझ से अभिव्यक्ति देते हैं । नाटक के सभी पात्रों या अभिनेताओं का चरित्रोदघाटन उनकी विविध शारीरिक(आंगिक, वाचनिक, व काविक) चेष्टाओं के जरिये अधिक होता है ।

रचना की मूल संवेदना, उद्देश्य व मूल भाव के अनुरूप ही हरेक पात्र या चरित्र का आधापन उस अधूरापन बेबाकी व बखूबी से प्रस्तुत हुआ है । दरअसल पात्रों की पहचान उनकी हरकतों से सहज हो जाती है । अतः कोई दो मत नहीं कि इस दृष्टि से नाटक मंचन में सफल एवं उपयुक्त है । कि पात्रों का चरित्रोदघाटन थोड़ी सी सावधानी रहते सहजता से किया जा सकता है । नाटक में प्रस्तुत. अपनी पहचान नाटक संवेदना की मुखरता व संप्रेषणशीलता में कतई समस्या नहीं उत्पन्न होती । यह एक तरह से नाट्यशिल्प का नवीन प्रयोग है । नाटक की हुई विविध प्रस्तुतियों में भी समय-समय यह बात पुष्ट हुई है ।

10.6.3 आधे अधूरे और संवाद

किसी भी नाटक की मंचीय संभावना की तलाश का एक बिन्दु उसमें निहित संवाद योजना होती है। संवाद छोटे, प्रवाही, गत्यात्मक, उद्देश्यपूर्ण, चरित्रोद्घाटक एवं प्रसंगानुसार होने चाहिए । साथ ही वे स्वगत न हों, तो उस नाटक की प्रभावी एवं सफल प्रस्तुति की संभावना प्रबल रहती है । इस दृष्टि दृष्टि भी आलोच्य नाटक 'आधे-अधूरे मंचन की दृष्टि से संभावनापूर्ण एवं सफल है ।

आधे-अधूरे के संवाद चुस्त, चुटीले, प्रायः: संक्षिप्त, अर्थपूर्ण, प्रभावी चरित्र व्यंजक एवं सीधे-सरल हैं संवादों के अर्थ या भाव-बोध में प्रेक्षक या दर्शक को किसी प्रकार की माथापच्ची नहीं करनी पड़ती। प्रसाद जैसे नाटककार के नाटकों में यह एक समस्या है । उनके संवाद जटिल, बड़े उबाऊ, क्लिष्ट भाषा युक्त एवं दार्शनिक अन्दाज से परिपूर्ण है । लेकिन मोहन राकेश के सभी नाटक इस दृष्टि से भी सरल व प्रभावी हैं । संवाद योजना एकदम रंगमंच के उपयुक्त है । उदाहरणार्थ -

स्त्री : वजह का पता तुम्हें होगा या तुम्हारे लड़के को । वह भी तीन-तीन दिन दिखाई नहीं देता घर पर।

पुरुष एक : तुम मेरा मुकाबला उससे करती हो?

स्त्री : नहीं उसका मुकाबला तुम से करती हूँ । जिस तरह तुमने खराब की अपनी जिन्दगी, उसी तरह वह भी.....

संवाद योजना के उक्त एक उदाहरण से सुस्पष्ट हो जाता है कि आधे-अधूरे के संवाद रंगमंच पर प्रस्तुति या अभिनेयता की दृष्टि से एकदम उपयुक्त हैं । नाटक के अंत में अवश्य ही संवाद कुछ लम्बे हो गये है । लेकिन वे भी दर्शकों को बांधे रखते है एवं भावाभिव्यक्ति को सशक्त बनाने में सक्षम हैं । संवादों में कहीं-कहीं हास्य-विनोद और

सर्वत्र व्यंग्य की तीव्रता नाटक के पठन के साथ-साथ उसके मंचन की प्रभष्णुता बढ़ाने में निश्चय ही सहायक सिद्ध हुई है ।

10.6.4 आधे अधूरे और भाषा-शैली

आम तौर पर नाटकों में भाषा-शैली मुख्य तत्व या प्रमुख भूमिका में न होकर सामान्य या गौण भूमिका का निर्वाह करते हैं । लेकिन 'आधे-अधूरे' नाटक के संदर्भ में उक्त बात लागू नहीं होती । यहां तो यह मुखरता से, स्पष्टता से कहना ही पड़ेगा कि इस नाटक को यदि कोई तत्व विशिष्ट बनाता है, नाटक को पहचान दिलाता है तो वह तत्व भाषा-शैली ही है । वस्तुतः इस नाटक की भाषा-शैली सामान्य न होकर हरकत की भाषा है । चुटीली है, करारी है, व्यंग्यपूर्ण एवं तोप के मुकाबिल मारक क्षमतायुक्त है । नाटक की संवेदना व प्रतिपाद्य को; उसमें निहित तनाव, ऊब, खीझ, टूटन, रिश्तों की दरकन को सशक्तता से मूर्त रूप देने का काम तीखी व सशक्त भाषा ने ही किया है । समग्र नाटक में तनाव व संत्रास का वातावरण निर्मित करने का काम नपी-तुली सधी हुई भाषा से ही संभव हुआ है । अतः: आधे-अधूरे नाटक को विशिष्ट पहचान दिलाने में इसकी मजबूत व प्रभावी भाषा का योगदान अन्यतम है । आलोच्य नाटक में यद्यपि आम बोलचाल की दिल्ली शहर के इर्द-गिर्द की भाषा प्रयुक्त हुई है, मगर रोजमर्रा की भाषा द्वारा इतना प्रभविष्णु प्रयोग शायद अन्यत्र नहीं हुआ । इसमें एक-एक शब्द, एक-एक वाक्य नाप-तौलकर इस्तेमाल किया गया है । न कहीं शब्द बदलने की जरूरत है न वाक्य में काट-छांट की आवश्यकता है । भाषा की यह प्रवृत्ति नाटक की ताकत बनकर पैदा हुई है ।

डॉ. जयदेव तनेजा के शब्दों में - ' समस्त हिन्दी नाट्य साहित्य की भाषा का चरम विकास हमें 'आधे-अधूरे में देखने को मिलता है । ' सुविख्यात रंगकर्मी ओम शिवपुरी; जिन्होंने इस नाटक का मंचन भी किया है, कहते हैं - "कहना न होगा कि इस नाटक की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता इसकी भाषा है । इसमें वह सामर्थ्य है जो समकालीन जीवन के तनाव को पकड़ सके । शब्दों का चयन, उनका क्रम, उनका संयोजन सब कुछ ऐसा है, जो बहुत सम्पूर्णता से अभिप्रेत को अभिव्यक्त करता है । लिखित शब्द की यही शक्ति और उच्चारित ध्वनि समूह का यही बल है, जिसके कारण यह नाट्य रचना बंद और खुले, दोनों प्रकार के मंचों पर अपना सम्मोहन बनाये रख सकी । '

समग्रता कहा जा सकता है कि आलोच्य नाटक की भाषा मध्य एवं निम्न मध्यमवर्गीय परिवारों में बोली जाने वाली भाषा का एक समूचे वर्ग की चेतना को रूपायित करने वाली भाषा का उत्कृष्ट एवं जीवन्त उदाहरण है । नाटक की मंचीय प्रस्तुति एवं उसे प्रभावी व सफल बनाने में इसका अहम् रोल नकारा नहीं जा सकता । अतः: मंचन में, अभिनेयता में नाटक की भाषा-शैली का उल्लेखनीय योगदान है ।

10.6.5 आधे अधूरे में रंग संकेत

आधे-अधूरे में निहित रंग संकेत की चर्चा और विश्लेषण से पूर्व हम यह बताना आवश्यक समझते है कि वस्तुतः: रंग संकेत कहते किसे हैं; यह होता क्या है? हरेक नाटक का रचनाकार नाटक को रंगमंच पर दिखाने या प्रस्तुत किये जाने योग्य बनाने के लिए अंक या दृश्य के आरंभ में कोष्ठकों में जो साज सज्जा आदि का स्पष्ट विधान करता है, वस्तुतः: यही रंग संकेत है । अर्थात नाटक को मंच पर दृश्य रूप में परिणत करने हेतु संबंधित निर्देशक पात्रों की वेश-भूषा किस प्रकार रखे, उसकी आंगिक या बाह्य चेष्टाएं कैसी हो, वह किस हाव-भाव के साथ प्रस्तुत हो आदि के लिए लेखक नाटक में यथास्थान कोष्ठकों में जो संकेत करता है वहीं संकेत होता है । अभिनेताओं की क्रिया आदि के प्रस्तुतिकरण हेतु नाटक लेखक ऐसा विधान करता है । निर्देशक को इसमें जहां निर्देशन व नाट्य प्रस्तुतिकरण में सहजता सुविधा होती है वहीं इसे पढ़ने वाले पाठक को भी आसानी होती है ।

'आधे-अधूरे नाटक का कथ्य सामयिक परिवेश एवं युग बोध से संबंधित है । अतः रंग संकेत की दृष्टि से किसी भी प्रकार की कठिनाई महसूस नहीं होती । पात्रों की वेश-भूषा, साज-सज्जा, मंचीय योजना सभी कुछ सहज साधारण है । नाटक के आरंभ में ही जहां पात्र-परिचय प्रस्तुत किया गया है वहीं उनकी वेश-भूषा आदि का परिचय भी दिया गया है । रंगमंच की योजना एवं सज्जा के लिए सम्यक् निर्देश दिये गये है । प्रकाश व्यवस्था कैसी हो, ध्वनि कैसी रहे; यह भी बताया गया है । मंच सज्जा में जैसे आरंभ में सामान का बिखराव एवं टूटा-फूटा होना-परिवार के छन एवं बिखराव का परिचायक है, प्रकाश का क्षीण होना, मातमी संगीत, अंधेरे का गहराना आदि भी परिवार में निराशाजनक स्थिति एवं असमर्थता का प्रतीक बना है ।

इतना ही नहीं पात्रों की क्रियाओं द्वारा भी उनकी मानसिक' दशा का अंदाज सहज ही लग जाता है । पात्रों संबंधी क्रियाओं का संकेत रचनाकार ने सम्यक् निर्दिष्ट किये है । स्त्री (सावित्री) घर में आते ही झुंझलाते और बड़बड़ाते हुए कमरे में बिखरी वस्तुओं को उठाती है यह घर के प्रति उसकी वितृष्णा एवं विवशता को अभिव्यक्त करता है । पुरुष का एक अखबार मोड़कर रस्सी बनाना इधर से उधर टहलना, कुर्सी को हिलाना, फाइलों की धूल झाड़ना, हड़ताल के लिए पूछना आदि अनेक मन की अस्थिरता, निरर्थकता और कुछ भी न कर पाने की अपनी विवशता को सूचित करते हैं । सिंघानिया का टांगे फैलाकर बैठना, जांघ खुजलाना आदि कार्य व्यापार उसके घटिया व्यक्तित्व एवं यौनवृत्ति की ओर इंगित करते है ।

रचनाकार मोहन राकेश ने पात्र के व्यक्तित्व, मंच सज्जा, कार्य-व्यापार, ध्वनि तथा प्रकाश के रंग संकेत नाटक के कथ्य व उसकी चेतना को सघन एवं संप्रेषणशील बनाने में महत्वपूर्ण सहायता करते हैं । ये संकेत मंचन को और अधिक प्रभावी एवं सफल बनाते हैं । देखिए - "प्रकाशवृत का कमरे की आकृतियों और चीजों पर घूमना और

क्लिन हो जाना, स्थान-स्थान पर मौन तथा चुप्पी का प्रयोग, पारस्परिक सम्पर्क सूत्रों के टूटकर भी पूर्णतः न टूट पाने की कथा को व्यंजित करता है '

इसी तरह खण्डहर की आत्मा को व्यक्त करता संगीत कमरे के सूनेपन और उदासी को और भी गंभीर बना देता है ओर अंत का हल्का मातमी संगीत इस परिवार की त्रासदी को और भी करूण व भीषण आलोच्य नाटक शैल्पिक नवीनता के नए आयाम स्थापित करता है । रंग, संकेत या मंचन में भी एक नवीन विशिष्टता है । वह यह कि इसमें एक ही व्यक्ति चरित्र या अभिनेता को पाँच भूमिकाएं करनी थी । इसीलिए नाटक में इन्हें पुरुष एक को काले सूट वाला आदमी कहा गया, फिर कोट उतार कर कमीज पहनने से वहीं महेन्द्रनाथ बन जाता है । सिंघानिया का किरदार अदा करने के लिए उसी अभिनेता को बंद गले का कोट या टोपी पहना दी जाती है । इसी तरह यही अभिनेता जगमोहन बनने के लिए 'हाईनेक' पहनता है तो जुनेजा का रूप धारण करने के लिए लम्बा कोट । वास्तव में यह सिर्फ नवीनता प्रदर्शन हेतु या सिर्फ यों ही नहीं है, इसकी अपनी विशिष्ट व्यंजना एवं सार्थकता है । दरअसल ध्वनि यह है कि आज का आदमी भीतर से एक जैसा है, बस सिर्फ उसका बाहरी आवरण बदल जाता है, भीतर से बस समान हैं, खोखले हैं, लिजलिजें हैं । वहीं विविध चोगे धारण कर समय-समय पर हमारे सामने उपस्थित होता है ।

लेखक का उद्देश्य इनके माध्यम से किसी व्यक्ति विशेष का उद्घाटन करना न होकर आज के समाज की परिस्थिति विशेष तथा आज के समाज में जी रहे लोगों को उपस्थित करना है । ये वस्तुतः: व्यक्तिवाचक न होकर जातिवाचक है । प्रारंभ में काले सूटवाले आदमी की उक्तियों के जरिये लेखक यही तो प्रकाश डालता है- 'बात इतनी ही है कि विभाजित होकर मैं किसी अंश में आप में से हर एक व्यक्ति हूँ और यही कारण है कि नाटक के बाहर हो या अन्दर मेरी कोई भी एक निश्चित भूमिका नहीं है । ' यहां एक ही अभिनेता द्वारा विविध पांच भूमिकाएं करवाने का एक उद्देश्य यह भी है कि हर पुरुष में कुछ सामान्य गुण और अवगुण होते हैं । परिस्थितियां भिन्न हो सकती हैं, पर सब होते एक जैसे ही हैं । सावित्री भी एक स्थान पर कहती हैं- ' सबके सब..... एक से! बिल्कुल एक से है । आप लोग! अलग-अलग मुखौटे पर चेहरा? चेहरा सबका एक ही । "

उक्त विस्तृत विवेचन उपरान्त स्पष्ट हो जाता है कि 'आधे-अधूरे' रंग संकेत की दृष्टि से अत्यन्त सशक्त एवं प्रभावी है । इसमें परम्परा से हटकर अनेक नूतन संकेतों की सृष्टि की गई हैं अतः: इसीलिए यह नवीन शैल्पिक धरातल की उद्भावना करने वाला नाटक है ।

10.7 आधे अधूरे की प्रस्तुतियाँ व विविध अभिमत

किसी भी रचना की महत्ता, गुणवत्ता, उपयोगिता एवं सफलता एवं उसके स्तर के मूल्यांकन के लिए कुछ न कुछ प्रमाण आवश्यक है । यदि हम केवल यह कहते रहें कि प्रस्तुत रचना में यह अच्छा है, इसमें यह खास है, यह विशिष्ट और परंपरा से हटकर

है, नवीन प्रयोग है, आदि-आदि, तो शायद इसका उतना प्रभाव नहीं पड़ता जब तक कि हम उन सबके लिए कोई तथ्य या प्रमाण न दें । अतः: हमें यह कहना पड़ेगा कि हाथ कंगन को आरसी क्या । अर्थात् 'आधे-अधूरे' नाट्य रचना कितनी श्रेष्ठ बन पड़ी है, इसे बताने के लिए उसकी हुई प्रस्तुतियों एवं ख्यातनाम रंगकर्मियों या नाट्यचार्यों के अभिमत को प्रस्तुत करना भी आवश्यक है ।

सन् 1969 ई. में प्रकाशित होने के बाद आधे-अधूरे नाटक की विविध प्रस्तुतियां नए-नए आयामों से हुई है । अनेक निर्देशकों या रंगकर्मियों ने अपने परिश्रम से जयपुर के जवाहर कला केन्द्र (जेकेके), रविन्द्रमंच, लखनऊ, दिल्ली, इलाहाबाद आदि स्थानों पर इसका सफलता के साथ मंचन किया है और दर्शकों ने इसे सराहा भी है । इस नाटक का पहला मंचन 1969 ई. के फरवरी महीने में दिल्ली की प्रसिद्ध नाट्य संस्था 'दिशान्तर' ने किया । उसके बाद इस नाटक को बंद और खुले रंगमंचों पर कई बार संस्थाओं द्वारा मंचित किया गया है । इसका प्रथम निर्देशन मशहूर रंगकर्मी ओम शिवपुरी ने किया । वे स्वयं एक प्रसिद्ध सिने अभिनेता एवं रंगकर्मी हैं । वे स्वयं लिखते हैं - पक निर्देशक की दृष्टि से 'आधे-अधूरे' मुझे समकालीन जिन्दगी का पहला सार्थक हिन्दी नाटक लगता है । इसके पात्र स्थितियां एवं मन स्थितियाँ यथार्थपरक तथा विश्वसनीय हैं । इसका गठन सुदृढ़ एवं रंगोपयुक्त है । पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान रंग प्रभावों की दृष्टि से भली-भांति संयोजित हैं ।पूरे नाटक की अवधारणा के पीछे सूक्ष्म रंग चेतना निहित है । "

'नाटकरंग' पत्रिका के 28वें अंक में 'आधे-अधूरे' नाटक के प्रभावी रंग संकेत एवं सफल नाट्यकृति होने के बारे में समग्र टिप्पणी करते हुए शकुन्तला यादव लिखती हैं - ' 'नाटक की भाषा साधारण बोलचाल की भाषा है, लेकिन अभिनेताओं द्वारा इसके प्रयोग में सतर्कता अपेक्षित है । स्वर के उतार चढ़ाव, लय, कम्पन आदि को ध्यान रखना आवश्यक होगा, तभी शब्द अपने पूरे अर्थों में संप्रेषित हो सकेंगे । मोहन राकेश की भाषा में एक बड़ी विशेषता व्याकरण चिह्नों की है- कोमा, अर्ध विराम, प्रश्न चिह्न, डेस आदि का प्रयोग बड़ी खूबसूरती एवं कलात्मकता से नाटककार करता है । इनके आधार पर स्वर के माध्यम से उन्हें अभिनेयता देकर, उनमें गर्भित सार्थकता को व्यंजित करने की जिम्मेदारी कलाकार या अभिनेता की हो जाती हैं नाटककार ने इस प्रकार नाटक में प्रयुक्त हर शब्द के प्रति ईमानदारी और रंग-चेतना दर्शायी है ।"

उपर्युक्त विवेचन से यह सहज में स्पष्ट हो जाता है कि 'आधे-अधूरे' नाटक रंगचेतना व अभिनेयता या मंचन की दृष्टि से ही नहीं सम्पूर्ण नाट्यत्व की दृष्टि से सफल, उल्लेख व बेजोड़ रचना है । विविध मंचों पर इसका अनेक बार हुआ सफल मंचन इसकी सार्थकता, सफलता व विशिष्टता को प्रमाणित करता है ।

10.8 सारांश

मोहन राकेश कृत 'आधे-अधूरे' समकालीन मध्यमवर्गीय चेतना का यथार्थ प्रस्तुत करने वाला, जीवन के त्रासद, कुण्ठित, तनावग्रस्त, एकाकीपन, मुक्त भोग की लालसा एवं जीवन के आधेपन अधूरेपन की पीड़ा को जीवन्त एवं प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करने वाला अत्यन्त प्रभावी एवं सफल नाटक है । रंगमंच एवं अभिनेयता की दृष्टि से भी यह एक सफल रचना है । अनेक बार हुआ इसका मंचन सफलता का साक्षात् प्रमाण है । नाट्यकार ने जिस शिल्प एवं तकनीक को अपनाया है, वह एक प्रकार से सर्वथा नवीन है । इसमें परंपरागत अंक व दृश्य आदि की प्रचलित शब्दावली से अलग हटकर 'अंतराल' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो स्वयं नयेपन का द्योतक तो है ही सार्थक भी है । परंपरागत विषयवस्तु के स्थान पर घटनाओं के स्थान पर चरित्रों की मानसिकता को वस्तु-आधार बनाया गया है । स्थल-कार्य व काल की एकता (संकलनत्रय) का सफल निर्वहन हुआ है ।

कुल मिलाकर प्रस्तुत नाटक नाट्यशिल्प या रंगमंच की तमाम जरूरतों को पूरा करता है । इसकी अनूठी विशेषता यह भी है कि समूचा दृश्य-विधान एक ही सैट पर किया गया है । सारा नाटक एक ही सैट पर एक ही दृश्य में चरमोत्कर्ष पाता है, केवल अंधकार और थोड़े से अंतराल को ही दृश्य परिवर्तन माना गया है । इस पर तारतम्यता भी बरकरार रहती है । सभी जरूरी रंग संकेत यथास्थान दिये गये है । अभिनेयता हेतु किसी विशिष्ट सज्जा और तैयारी की आवश्यकता भी नहीं पड़ती । इस तरह तमाम नवीनताओं के बावजूद मंचन में थोड़ी सी तैयारी से बेहतर प्रस्तुतियां की जा सकती हैं। अनेक बार अनेक स्थानों पर हुई इसकी सफल प्रस्तुति अभिनेयता या रंगमंच की सफलता का जीवन्त प्रमाण है । कुल मिलाकर रंगमंचीय विधान की दृष्टि से यह एक सफल व बेहतरीन सृजनात्मक नाट्यकृति है ।

10.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. बिना रंगमंच के नाटक विधा पूर्ण कहला पाएगी? पक्ष-विपक्ष में उत्तर दीजिए ।
2. नाटक व रंगमंच में परस्पर क्या संबंध है? दोनों में निहित अन्तर्सम्बन्ध का विवेचन कीजिए ।
3. किसी भी नाटक की मंचीय प्रस्तुति के लिए क्या-क्या आवश्यक है? अपने अनुभव व परिवेशगत पड़ताल के आधार पर उत्तर दीजिए ।
4. नाटक की रंगमंच पर प्रस्तुति की क्या-क्या और किस दिशा में संभावनाएं हो सकती है? समझाइए ।
5. 'एक कल्पनाशील, सक्रिय, परिश्रमी एवं योग्य निर्देशक लेखक की रंग परिकल्पना से इतर भी नाट्य प्रस्तुति करवा सकता है । ' इस कथन को प्रमाणित कीजिए ।
6. 'आधे-अधूरे' नाटक में शिल्पगत नवीन आयामों का विवेचन कीजिए ।

7. 'आधे-अधूरे' अभिनेयता की दृष्टि से श्रेष्ठ रचना है । ' कथन का विश्लेषण सप्रमाण कीजिए ।
8. 'आधे-अधूरे' रंगमंच की दृष्टि से आपकी नजर में कैसी रचना है?
9. "समस्त हिन्दी नाट्य साहित्य की भाषा का चरम विकास हमें 'आधे-अधूरे' में देखने को मिलता है ।" उक्त कथन का विवेचना कीजिए ।

10.10 संदर्भ ग्रंथ

1. नेमीचंद जैन; हिन्दी रंगमंच का विकास
2. प्रतिभा अग्रवाल; मोहन राकेश, साहित्य अकादमी, दिल्ली, 1987
3. डॉ. मनोज गुप्ता; हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर, 2008
4. डॉ. हेतु भारद्वाज; हिन्दी नाटक, उद्भव एवं विकास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2008
5. डॉ. गोविन्द चातक; आधुनिक नाटक का मसीहा : मोहन राकेश
6. डॉ. शेखर शर्मा; समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक
7. डॉ. भगवानदास वर्मा; आधुनिकता के रचना संदर्भ
8. 'नटरंग' पत्रिका के विविध अंक

इकाई- 11 निबन्ध साहित्य की परम्परा व विकास

इकाई की रूपरेखा :

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 निबन्ध का अर्थ और स्वरूप

11.3 निबन्ध के तत्व व रचना विधान

11.4 निबन्ध का वर्गीकरण

11.4.1 विचारात्मक निबन्ध

11.4.2 भावात्मक निबन्ध

11.4.3 आत्मपरक एवं वस्तुपरक निबन्ध

11.4.4 वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक निबन्ध

11.4.5 विश्लेषणात्मक निबन्ध

11.5 हिन्दी निबन्ध की परम्परा व विकास

11.5.1 भारतेन्दु युग

11.5.2 द्विवेदी युग

11.5.2.1 छायावादी संवेदनागत निबन्ध

11.5.3 शुक्ल युग

11.5.4 शुक्लोत्तर युग

11.6 सारांश

11.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.8 सन्दर्भ ग्रंथ

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :-

- निबन्ध का अर्थ, परिभाषा स्वरूप से परिचित हो सकेंगे ।
- हिन्दी निबन्ध के वर्गीकरण से परिचित हो सकेंगे ।
- हिन्दी निबन्ध साहित्य की परम्परा व विकास के विभिन्न चरणों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु युगीन, महावीर प्रसाद द्विवेदी युगीन, रामचन्द्रशुक्ल युगीन तथा शुक्लोत्तर युगीन निबन्धकारों के योगदान से परिचित हो सकेंगे ।

11.1 प्रस्तावना

मनुष्य के बौद्धिक उन्नयन को गति देने में निबन्ध सर्वाधिक सहायक होते हैं । निबन्ध पूरी तरह आधुनिक विधा है और मनुष्य के अन्तःसंसार की व्याख्या भी प्रखरतम रूप

में निबन्ध ही करता है। गद्य की जितनी विधाएँ हैं उनमें निबन्ध सबसे प्रौढ़ व गम्भीर, विधा है । तभी तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था कि यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है ।

भारतेन्दु युग में हिन्दी में साहित्य की जिन विधाओं का प्रादुर्भाव हुआ, निबन्ध भी उनमें से एक है । उन्नीसवीं शताब्दी में होने वाले विभिन्न सामाजिक और राजनीति आन्दोलन, राष्ट्रीय जागरण की सर्वत्र फैलती हुई लहर, व्यक्ति स्वातंत्र्य की उत्तरोत्तर बढ़ती लालसा आदि युगीन परिस्थितियों के प्रभाव से साहित्य के क्षेत्र में भी परिवर्तन की एक लहर आई और गद्य के प्रचलन, मुद्रणकला के प्रचार और इसके साथ-साथ पश्चिमी साहित्य का सम्पर्क हिन्दी निबन्धों का सूत्रपात करने में माध्यम बना । फिर हिन्दी की अनेकानेक पत्र-पत्रिकाओं ने निबन्ध के उद्भव और विकास के लिए एक पुख्ता पृष्ठभूमि बनाई और आज यह विधा सशक्त और लोकप्रिय विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है ।

इस विधा को प्रतिष्ठित करने में भारतेन्दु का योगदान अविस्मरणीय है । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके सम्पादकत्व में निकलने वाली पत्रिका 'सरस्वती' का हिन्दी निबन्ध के विकास में उल्लेखनीय योगदान है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो निबन्ध की पारम्परिक धारणाओं को तोड़कर निबन्ध को नया कलेवर, नई आत्मा प्रदान करके गद्य विधाओं में निबन्ध को शीर्ष पर पहुँचा दिया और हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की । इन निबन्धकारों के अतिरिक्त अन्य अनेक निबन्धकारों ने हिन्दी निबन्धों के बहुमुखी विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।

साहित्य की प्रत्येक विधा समय, समाज और परिस्थितियों के अनुरूप समय-समय पर अपना रूप बदलती रहती है । हिन्दी निबन्ध में भी विषयवस्तु, भाषा तथा शैली की दृष्टि से निरन्तर परिवर्तन हुए हैं और उनमें उत्तरोत्तर प्रौढ़ता आई है । इस इकाई में निबन्ध का अर्थ, स्वरूप, वर्गीकरण, परम्परा व विषयवस्तु, भाषा शैली गत विकास व नवीनता आदि बिन्दुओं पर चर्चा की गई है ।

11.2 निबन्ध का अर्थ और स्वरूप

व्युत्पत्ति - आधुनिक युग में निबन्ध शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'ऐसे' (Essay) शब्द के लिए प्रयुक्त होता है जो मूलत: फ्रेंच शब्द है जिसका अर्थ होता है-रचनात्मक प्रयास या प्रयत्न । किन्तु संस्कृत में भी निबन्ध का प्रयोग प्राचीन काल से ही होता आया है । 'निबन्ध' हिन्दी का एक तत्सम शब्द है जिसका संस्कृत में प्राचीन काल से ही अनेक अर्थों में प्रयोग होता आया है । संस्कृत की मूल धातु - 'बंध में 'नि' उपसर्ग (नि+बन्ध+´) से इसका अर्थ बाँधना, रोकना और संग्रह करना माना गया है ।

साहित्यिक विधा के रूप में निबन्ध शब्द का अर्थ वामन शिवराम आप्टे ने अपने 'संस्कृत हिन्दी कोश' में इस प्रकार दिया है- (नि+बन्ध+´) बाँधना, कसना, जकड़ना; रचना करना, लिखना; आसक्ति, संलग्नता; साहित्यिक रचना या कृति, प्रत्यक्षर श्लेषमय प्रबन्ध विन्यास ग्रन्थ; नियन्त्रण, अवरोध,बंधन; मूत्रावरोध; बन्ध हथकड़ी;

सम्पत्ति का अनुदान, पशु, रुपया आदि सहायता के रूप में देना- भूर्या पितामहोपाता निबन्धों द्रव्यमेव वा, स्थिर सम्पत्ति; बुनियाद, मूल; हेतु, कारण । किन्तु इनमें से रचना करना, लिखना तथा साहित्यिक रचना या कृति अर्थ ही विधा के रूप में निबन्ध को विस्तृत रूप में स्पष्ट करते है।

बाबू गुलाबराय के अनुसार- 'निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो ।

प्रो. जयनाथ नलिन का मत है कि - "निबन्ध 'ग्रंथ काव्य' की मर्यादित विधा है, जिसमें लेखक के स्वाधीन चिन्तन और निश्छल अनुभूतियों की सरस अभिव्यक्ति हो । "

प्रसिद्ध पाश्चात्य निबन्धकार हडसन भी निबन्ध को प्रकृतत: वैयक्तिक ही मानते हैं ।

श्री पदुमलाल बक्शी निबन्ध में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की बात करते हैं ।

प्रसिद्ध साहित्यकार हेतु भारद्वाज के अनुसार- "सुसंस्कृत और रुचिकर वार्ता के स्वर और पद्धति पर किसी वस्तु या विषय से अपने संचारी-सम्बन्धों की आल्हादिनी अभिव्यक्ति और अन्विति को निबन्ध कहते हैं । " 'सुसंस्कृत' इसलिए कि निबन्ध मॉनतेन की कृतियों में भी और उसके मत के सतही अर्थ के बावजूद बाजारू गप्प नहीं रहा । निबन्ध में विचार और भाव दोनों का रस आए, इसके लिए परिमार्जित संस्कृति की आवश्यकता है । केवल सहज संस्कार के आकस्मिक संयोग या चेतना-सरषि की नहीं । इसकी प्रति दो की प्रति नहीं, बल्कि प्रीति गोष्ठी है । अतएव उसमें उनकी सजग परिष्कृत मूल्य बुद्धि की सम्भावना भी निहित है । हम पहले ही एकांतिक और व्यक्तिगत का भेद निरूपित कर चुके हैं ।

वस्तुतः हिन्दी का निबन्ध संस्कृत शब्द होते हुए भी अपने प्राचीन स्वरूप से भिन्न है। निबन्ध का यह आधुनिक रूप पश्चिम की देन है । संस्कृत में टीकाएँ और आख्यायिकाएँ तो मिलती हैं, आधुनिक ढंग से निबन्ध नहीं मिलते । वस्तुतः: हिन्दी के निबन्ध साहित्य का स्रोत प्राचीन साहित्य नहीं, पाश्चात्य साहित्य और सामयिक परिस्थितियाँ है । सर्वप्रथम भारतेन्दु ने सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप इसे जन-जागरण के अस्त्र के रूप में अपनाया, लेकिन हिन्दी का निबन्ध-साहित्य अंग्रेजी का अनुकरण मात्र नहीं है, इसे प्रेरणा भले ही वहाँ से मिली हो । पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं. देवेन्द्रनाथ शर्मा, पं. विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय आदि के निबन्धों में छाया भले ही अंग्रेजी की हो, प्रकाश भारतीय है । यह दूसरी बात है कि भारतेन्दु युग के अनेक हिन्दी निबन्धकारों ने अंग्रेजी के निबन्धों का अनुवाद और शैली का अनुकरण किया है, परन्तु इतना स्पष्ट है कि हिन्दी में प्रचलित अर्थ के निबन्ध यदि पाश्चात्य साहित्य की देन नहीं तो संस्कृत के विकास के भी नहीं हैं ।

हिन्दी के सफल निबन्धकार पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने एक निबन्ध 'क्या लिखूँ में निबन्ध के स्वरूप की अच्छी व्याख्या की है । इस रचना-वृति का काव्य-रूपों

के तुलनात्मक संदर्भ में विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं, "पाश्चात्य साहित्य में ऐसे निबन्धों का विकास आधुनिक युग में हुआ है । आख्यायिका की तरह यह निबन्ध-कला भी आधुनिक युग की रचना है । ऐसे निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे मन की स्वच्छंद रचनाएँ हैं । उनमें न कवि की उदात्त कल्पना रहती है, न आख्यायिका-लेखक की सूक्ष्म दृष्टि; और न विज्ञों की गम्भीर तर्क-पूर्ण विवेचना । उनमें लेखक की सच्ची अनुभूति रहती है, उनमें उसके सच्चे भावों की सच्ची अभिव्यक्ति होती है, उनमें उसका उल्लास रहता है । कवि उच्च मार्ग से प्रेरित होकर काव्य की रचना करते हैं, विज्ञ ज्ञान की कसौटी पर सत्य की परीक्षा कर प्रबन्ध लिखते हैं । आख्यायिका-लेखक कल्पना के द्वारा मनुष्य-जीवन का रहस्य प्रत्यक्ष कराने के लिए चरित्र-वैचित्र्य की सृष्टि करते हैं । पर ये निबन्ध तो उस मानसिक स्थिति में लिखे जाते हैं, जिसमें न ज्ञान की गरिमा होती है और न कल्पना की महिमा, जिसमें जीवन का गौरव भूल कर हम अपने में ही लीन हो जाते हैं, जिसमें हम संसार को अपनी ही दृष्टि से देखते हैं और अपने ही भाव से ग्रहण करते हैं । "

वस्तुतः: निबन्धकार न इतिहासकार है, न दार्शनिक, न कवि, व न ही उपन्यासकार; वह तो एक ऐसा गद्य लेखक है जो सीमित आकार में किसी विचार या भाव को अभिव्यक्त करता है । इस गद्य लेखन में उसका व्यक्तित्व प्रमुखत: मुखरित होता है, हृदय और बुद्धि दोनों की उसमें अन्विति होती है और विषयों का कोई बन्धन नहीं होता। इसलिए वह कवि, उपन्यासकार, दार्शनिक, इतिहासकार न होते हुए भी सभी के गुणों से सम्पन्न होता है और गद्य की कसौटी के रूप में अपनी रचना को खरा सिद्ध कर देता है । निबन्ध की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं के विषय में चर्चा करें तो हम पाते हैं कि -

1. निबन्ध विधा रचनाकार में भाव और विचार जो सामाजिक भी हो सकते हैं, सांस्कृतिक भी; आर्थिक भी हो सकते हैं, मनोवैज्ञानिक भी, इन सबको अभिव्यक्त करता है । इनमें साहित्यिक विषयों का प्रतिपादन हो सकता है तो रचनाकार के मन की तरंग भी अभिव्यक्ति पाती है ।
2. निबन्ध की विषयवस्तु का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है । यद्यपि निबन्ध लेखक विषय के नियमों में बँधा नहीं है, परन्तु अपने मौलिक चिन्तन, अनुभव, भाषिक क्षमता और भावानुभूतियों के सहारे विषयवस्तु का प्रतिपादन अत्यन्त सार्थक रूप में करता है और पाठक को अनायास अपनी ओर आकर्षित करता है । विषय के दो पक्ष होते हैं - भाव और विचार - इस दृष्टि से निबन्धों में भावात्मकता और विचारात्मकता का संतुलित प्रयोग किया जाता है । भावात्मक निबन्धों में रचनाकार के विचार निबन्ध को सुगठित बनाते हैं और विचारात्मक निबन्धों में भाव निबन्धों को सुरुचि सम्पन्न रोचक बनाते हैं ।
3. रचनाकार के व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण निबन्धों के प्रस्तुतीकरण में रचनाकार की विशिष्ट शैली भी दिखाई देती है । निबन्ध में कसावट, रोचकता, संक्षिप्तता

जैसी विशेषताएँ होनी चाहिए उनमें विषयानुकूल शैली और भाषा का कलात्मक प्रयोग किया जाना चाहिए ताकि अपने छोटे से कलेवर से वह पाठक को रसमग्न कर सके ।

11.3 निबन्ध के तत्व व रचना विधान

निबन्ध के तत्व निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किए जा सकते हैं -

1. **संक्षिप्त गद्य रचना :** निबन्ध गद्य का ही एक रूप है और इसका आकार लघु होना चाहिए। इस दृष्टि से किसी विषय के सीमित रूप में गद्यमय विवेचन का नाम निबन्ध है। लोक प्रसिद्ध है कि बुद्धिमान और विद्वान लोग विस्तृत बात को थोड़े में ही कहते हैं। साहित्य में भी यह बात लागू होती है । निबन्ध शब्द का अर्थ है अच्छी तरह बंधा हुआ । अतः इसमें विचारों और भावों का लाघव तथा कसावट होनी चाहिए । यहाँ यह उल्लेख्य है कि निबन्ध आकार लघुता के अतिरिक्त अनिवार्यतः गद्य में ही होता है पद्य में नहीं ।

2. **स्वत: पूर्ण गद्य रचना** : संक्षिप्त होने पर भी निबन्ध अपने आप में पूर्ण होता है । ह्यू वाकर के शब्दों में - "There is no subject from the stars to the dust-heap.....which may not be dealt with in an essay" अर्थात् ' 'नक्षत्रों से पृथ्वी की रजकण तक ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो निबन्ध का विषय न बन सके । " परन्तु निबन्धकार को विषय का एक सीमित रूप लेना होता है और प्रभावान्विति मर्यादित परन्तु सम्पूर्ण चित्रण करना होता है। निबन्धकार की सफलता इसमें है कि प्रतिपाद्य विषय का पाटक को पूर्ण ज्ञान हो जाए और निबन्ध समाप्ति पर जिज्ञासा की सन्तुष्टि हो जाए । आकार लघुता का अर्थ असम्पूर्णता कदापि नहीं । सीमित कलेवर में आवश्यक समग्ररूप में कह देना ही निबन्धकार की सफलता है ।

3. **व्यक्तित्व की अभिव्यंजना** : निबन्ध में लेखक के वर्ण्य तिय - सत्य, यात्रा, धर्म तथा दर्शन -- के सम्बन्ध में व्यक्तिगत विचारों की अभिव्यक्ति होनी चाहिए । लेखक का निजीपन निबन्ध में तीन रूपों में पाया जाता है - (1) विचार प्रतिपादन में, (2) भावाभिव्यक्ति में तथा (3) शैली के ग्रहण में । केवल शास्त्रीय दृष्टिकोण की प्रस्तुति लेख अथवा पुस्तक का अध्याय बन सकता है, निबंध कदापि नहीं । निबन्ध में लेखक के निजी मत की स्पष्ट अभिव्यक्ति अवश्य होनी चाहिए । वैयक्तिक प्रयास के अभाव में निबन्ध निबन्ध ही नहीं । निबन्धकार को पाठक से सम्बोधित होकर अपनी बात उत्तम पुरुष में कहनी चाहिए ।

4. **हृदय और बुद्धि का समन्वय :** यद्यपि निबन्ध विचार सापेक्ष गद्य का ही एक रूप है और इस दृष्टि से उसमें प्रतिभा की चमक-दमक तथा तार्किक शैली का प्रयोग रहता है तथापि साहित्य का अंग होने के कारण उसमें साहित्य के मूल तत्व - हृदय पक्ष का भी समावेश होना चाहिए । गूढ़ातिगूढ़ विषय के विवेचन में वैज्ञानिक की यथार्थता, सूक्ष्मता और 'सतर्कता' और दार्शनिक की बौद्धिकता के साथ-साथ साहित्यकार की सहृदयता भी अपेक्षित है । पाश्चात्य निबन्धकार निबन्ध को एक हल्की रचना (Light treatment)

मानते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि उन्हें साहित्यिक निबन्धों में गम्भीरता की स्थिति ग्राह्य नहीं । वस्तुतः भावना और अनुभूति के स्थान पर तटस्थ अन्वेषण और कोरे पाण्डित्य प्रदर्शन से पूर्ण निबन्ध निबन्ध की श्रेणी में नहीं आते ।

5. **क्रम-व्यवस्था** : प्रारम्भ में निबन्ध को अवश्य अनियमित और असम्बद्ध रचना माना जाता था परन्तु आज नियमित और श्रृंखलाबद्ध रचना का नाम ही निबन्ध है । लेखक को निबन्ध में अपने विषय से सम्बन्धित सामग्री की योजना इस प्रकार करनी चाहिए कि प्रत्येक वर्णन का एक-दूसरे से सम्बन्ध जुड़ जाए और वे एक दूसरे के पूरक प्रतीत हों ।

6. **शैली** : शैली शब्द लेटिन के स्टिलस (Stilus) से बना है, जिसका अर्थ कलम है । इसका प्रयोग आज विकसित होकर कलम से सुन्दर अभिव्यक्ति का माध्यम बन गया है और आज कलात्मक अभिव्यक्ति को ही शैली से व्यवहृत किया जाता है । शैली का प्रयोग दो रूपों में होता है- विषय प्रतिपादन के लिए तथा भाव-प्रेषण के लिए । विषय प्रतिपादन के सन्दर्भ में शैली का महत्व यथार्थ को संक्षिप्त और स्पष्ट रूप में प्रकट करना है और भाव-प्रेषण के सन्दर्भ में यह वैयक्तिकता से अनुप्राणित होती है । पाश्चात्य विद्वान जे.एम. मरी ने शैली को लेखक के भाव और विचाराभिव्यक्ति के माध्यम 'भाषा का गुण' माना है । पाश्चात्य साहित्य में शैली को व्यक्तित्व का प्रतिरूप माना जाता है । यहाँ तक कि शैली को व्यक्तित्व का परिचायक गुण स्वीकार किया गया है । शैजलसम पे जीम की उक्ति इसी अर्थ में प्रचलित है । वस्तुतः उत्तम शैली का गुण व्यक्तित्व के अनुरूप तथा उसका परिचायक होना है ।

7. **ललित निबन्ध के तत्व :** चूँकि ललित निबन्ध को स्वतंत्र विधा मान लिया गया है तो इसके रचना विधान में भी कुछ विशिष्ट तत्त्व होते हैं ।

   1. ललित निबन्ध में आत्मनिष्ठता अथवा आत्म साक्षात्कार का तत्व होना चाहिए ।
   2. ललित निबन्ध में आत्मीय परिवेश की झांकी सर्वत्र विद्यमान रहती है ।
   3. भाव व विचार के बीच एकरूपता व बातचीत की सहजता ललित निबन्ध का प्रमुख तत्त्व है ।
   4. भाषा की उपलब्धता, सजीवता, देशीपन, जिन्दा दिली, अनगढ़ता, मुहावरे व कहावतों का प्रयोग व्यंग्यय का पुट 9 संस्कृति की गहरी समझ ललित निबन्धों की भाषा की प्रमुख विशेषताएँ आदि होते हैं ।
   5. वर्तमान परिदृश्य पद दृष्टि के साथ-साथ सांस्कृतिक विचारों का आग्रह भी ललित निबन्ध में रचना विधान में दृष्टव्य होता है ।

   हिन्दी साहित्य के आधुनिक-काल में गद्य के अन्य अंगों के समान निबन्ध का भी यथेष्ट विकास हुआ है । भारतेन्दु युग में प्राथमिक प्रयास में ही बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र तथा बालमुकुन्द गुप्त ने उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध लिखे । द्विवेदी युग निबंध के क्षेत्र में भी अनुवाद का युग रहा है । शुक्ल जी के इस क्षेत्र में आने से हिन्दी निबन्ध का रूप अत्यन्त उन्नत हो गया और तदुपरान्त उसका उत्तरोत्तर उत्कर्ष

होता गया । वर्तमान काल में विषय और शैली की दृष्टि से जहाँ निबन्ध में विविधता है, वहाँ उसमें भव्यता भी है। इधर कुछ दिनों से आलोचनात्मक निबन्धों की भरमार होने लगी है । यह एकरूपता निबन्ध के लिए हानिकर है । आज के निबन्धकार को साहित्यिक आलोचना के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी निबन्ध लिखने चाहिए ।

11.4 निबन्धों को वर्गीकरण

विस्तृत और वैविध्य से पूर्ण होने के कारण निबन्धों का ठीक-ठाक वर्गीकरण करना जटिल कार्य है । सामान्य तौर पर विषयवस्तु की दृष्टि से निबन्धों को विचारात्मक और भावात्मक - इन दो वर्गों में बाँट सकते हैं । निबन्धों का प्रारम्भ आत्माभिव्यक्ति के लिए हुआ था लेकिन धीरे-धीरे वस्तुनिष्ठता की ओर उन्मुख हुआ और इस दृष्टि से आत्मपरक और वस्तुपरक भेद किये जा सकते हैं । शैली की दृष्टि से वर्णनात्मक और विवरणात्मक तथा भाषा की दृष्टि से भी निबन्ध के कई रूप हो सकते हैं । मुख्यतः निबन्ध के भेद निम्नांकित हे -

11.4.1 विचारात्मक निबन्ध

जिन निबन्धों में बुद्धि प्राधान्य हो, लेखक के विचार तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किये गये हों, वे विचारात्मक निबन्ध कहलाते हैं । लेखक की गहन अर्न्तदृष्टि, विचारों की गहनता और विश्लेषण की क्षमता विचारात्मक निबन्धों की विशेषता है । विचारात्मक निबन्धों में विषय की अनेकरूपता दिखाई देती है । राजनीति, समाज, संस्कृति, परम्परा, नैतिक आदर्श, धर्म, साहित्य के किसी भी क्षेत्र को लेकर विचारात्मक निबन्ध लिखे जाते हैं । सांकेतिक, श्लेषात्मक और संक्षिप्त भाषा ऐसे निबन्धों को जीवन्तता प्रदान करती है और विचारों को संगठित, संतुलित एवं नियंत्रित अभिव्यक्ति में सहायक बनाते हैं । भाव इन निबन्धों में विचारों के अनुवर्ती बनकर आते हैं । आचार्य शुक्ल के चिन्तामणि संकलन में संग्रहित मनोविकारों पर लिखे गए निबन्ध, जैनेन्द्र के 'जैनेन्द्र के विचार' आदि पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के 'पीताम्बर दत्त बडथ्वाल के श्रेष्ठ निबन्ध' नन्द दुलारे बाजपेयी के निबन्ध प्रायः: विचारात्मक निबन्ध हैं ।

11.4.2 भावात्मक निबन्ध

जिन निबन्धों में भाव या रागात्मकता का प्राधान्य हो, हृदय की उन्मुक्त उड़ान हो, कल्पना का विशाल आकाश हो, भावनाओं की तीव्रता हो, वे भावात्मक कोटि के निबन्ध हैं । इस प्रकार के निबन्धों में हृदय के उद्‌गार-हर्ष-विषाद-अनुरक्ति-विरक्ति-आकर्षण-विकर्षण प्रयुक्त होते हैं । किसी परिस्थिति, घटना, अनुभव से प्रभावित निबन्धकार का संवेदनशील हृदय अपने भावावेग को कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए तत्पर हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप आकार लेता है भावात्मक निबन्ध । ये निबन्ध पाठक को बराबर अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं । आख्यान और वर्णन पर आधारित होने के कारण भावात्मक निबन्धों के दो प्रकार हैं - आख्यानात्मक और वर्णनात्मक ।

भावात्मक कोटि के निबन्ध भारतेन्दु काल से ही मिलते हैं । इस कोटि के निबन्धों में प्रतापनारायण मिश्र के भौं., नाक, आँख, बालकृष्ण भट्ट के आंसू आदि; सरदार पूर्ण सिंह के निबन्ध; माखनलाल के साहित्यदेवता आदि; रामवृक्ष बेनीपुरी के गेहूँ और गुलाब, लगत करेजवा में चोट, आदि निबन्ध है । इसके अतिरिक्त आ. रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, रायकृष्णदास, वियोगी हरि, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि के निबन्ध भी उल्लेखनीय हैं ।

11.4.3 आत्मपरक एवं वस्तुपरक निबन्ध

लेखकीय व्यक्तित्व के आधार पर निबन्ध के दो भेद हैं - आत्मपरक और वस्तुपरक । आत्मपरक निबन्ध वे निबन्ध हैं, जिनमें भावात्मक और विचारात्मक - दोनों प्रकार के निबन्धों की विशेषताएँ होते हुए भी उनसे भिन्नता है । एक ओर वैचारिकता, स्वाधीनता इन निबन्धों में है तो दूसरी ओर भावात्मकता, चंचलता और उन्मुक्तता भी है । आत्म परक निबंध में लेखक अपनी बात कहकर शेष विश्व की आत्मीयता, सहानुभूति और संवेदना प्राप्त करता है । रचनाकार का व्यक्तित्व इन निबन्धों में प्रत्यक्षतः अभिव्यक्त होता है । महादेवी वर्मा, शान्तिप्रिय द्विवेदी के निबन्ध आत्मपरक निबन्धों की कोटि में आते हैं । वस्तुपरक निबन्धों में रचनाकार के व्यक्तित्व का प्रभाव कम और परोक्षतः होता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध 'मित्रता'? को हम वस्तुपरक निबन्ध कह सकते हैं ।

11.4.4 वर्णात्मक तथा विवरणात्मक निबन्ध

विषय प्रधान निबन्धों का एक रूप वर्णनात्मक निबन्धों में दिखाई देता है और दूसरा विवरणात्मक निबन्धों में । वर्णनात्मक निबन्ध वजन प्रधान होते हैं और विचार, अनुभूति, कल्पना इन वर्णनों को प्राणवान बनाते हैं । किसी वस्तु, व्यक्ति घटना, व्यापार आदि का विशेषतः प्राकृतिक वस्तुओं का वर्णन जब रचनाकार अपनी कल्पना शक्ति के बल पर करता है तो वर्णनात्मक निबन्ध अत्यन्त जीवन्तता के साथ निर्मित हो जाते हैं । पं. बालकृष्णभट्ट, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधवप्रसाद मिश्र आदि निबन्धकारों ने अनेक वर्णनात्मक निबन्ध लिखे हैं । विवरणात्मक निबंध वे निबन्ध हैं जिनमें किसी घटना या वृतान्त का वर्णन हो, जिसमें कवि प्राधान्य हो, घटनाओं का सुसम्बद्ध विवेचन हो, व्यक्तित्व की छाप हो तथा आत्मीयता हो । वैसे संवेदनात्मकता जागरूक कल्पना, व्यंजनात्मकता, सरसता आदि विशेषताएँ वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक निबन्धों को भावात्मक निबन्धों का उपभेद सिद्ध करती है और दोनों प्रकार के निबन्ध सामान्यतः: एक से हैं, अंतर केवल इतना है कि वर्णनात्मक निबन्धों में वर्ण्य विषय का स्वरूप स्थिर और विवरणात्मक निबन्धों में गत्यात्मक होता है । वर्णनात्मक निबन्ध कल्पना मिश्रित और विवरणात्मक कथात्मक होते हैं शिवप्रसाद सितार हिन्द का राजा भोज का सपना, महावीर प्रसाद द्विवेदी का हंस संदेश,

बालकृष्ण भट्ट का एक अशर्फी की आत्म कहानी आदि निबन्ध विवरणात्मक निबन्ध कहे जा सकते ।

11.4.5 विश्लेषणात्मक निबन्ध

शैली की दृष्टि से निबन्धों में वर्णन और विश्लेषण - दो शैलियाँ अपनाई जाती हैं । वर्णनात्मक निबन्धों में विषयवस्तु का सीधे-सीधे वर्णन किया जाता है और जब रचनाकार विषयवस्तु की गहन व्याख्या और विश्लेषण प्रस्तुत करता है तो निबन्ध को विश्लेषणात्मक निबन्ध की कोटि में रखा जा सकता है । निबन्धकार की वैचारिक क्षमता का परिचय ऐसे निबन्धों से ही मिलता है । आ. शुक्ल के निबन्धों को इसी कोटि में रखा जा सकता है ।

निबन्धों के इन भेदों के अतिरिक्त वैयक्तिक निबन्धों के एक विशिष्ट रूप एवं लेखन की विशिष्ट शैली के कारण हिन्दी निबन्ध लेखन के क्षेत्र में ललित निबन्धों की एक अत्यन्त समृद्ध परम्परा का निर्माण हुआ है । वस्तुतः ललित निबन्धों का पल्लवन भावात्मक निबंधों से हुआ हैं मन की मौज या फक्कड़पन पाण्डित्य, यायावरी, प्रवृत्ति, सूक्ष्म विचारशक्ति, लोककथा प्रेम आदि ललित निबन्धों की विशेषताएँ हैं । लालित्य के सृजन के लिए ललित निबन्धों में गद्य काव्य शैली प्रमुख हैं । व्यंग्यय का प्रयोग, गद्य का लालित्य, पदावली की कोमलकान्तता तथा माधुर्यगुण सम्पन्नता ललित निबन्धों को निबन्धों के अन्य प्रकारों से विलक्षण सिद्ध कर देता है ।

व्यक्तित्वाभिव्यंजन के अलावा कल्पना प्रवणता, पाण्डित्य, प्रकृति और घटनाओं के व्यापक संदर्भों को उजागर करने की मौलिक सूझबूझ, सूक्ष्म विचारशक्ति भी ललित निबन्धों के लिए अनिवार्य शर्तें हैं ।

हिन्दी निबन्धों के प्रादुर्भाव से ही ललित निबन्धों का उत्स खोजा जा सकता है । बालमुकुन्द गुप्त के शिवशंभु के चिट्ठे का हम उल्लेख कर सकते हैं । प्रभाकर माचवे, हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय, ठाकुर प्रसाद सिंह, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, शिवप्रसाद सिंह आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है । यही नहीं हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रविन्द्रनाथ त्यागी, आदि हास्य-व्यंग्यय लेखकों का भी ललित निबन्धों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है ।

भाषा की दृष्टि से भी निबन्ध के कई रूप हो सकते हैं । निबन्ध की विषयवस्तु, निबन्धकार और शैली - इन तीनों की दृष्टि से निबन्ध की भाषा बनती है । यह भाषा लेखक के व्यक्तित्व, उसकी अभिव्यक्ति क्षमता के आधार पर संस्कृतिनिष्ठ भी हो सकती है, बोलचाल की भी हो सकती है । समासबहुल भी हो सकती है और छोटे-छोटे वाक्यों वाली भी हो सकती है । निबन्धकार विषयवस्तु के आधार पर भाषा चुनता है और भाषा का ठीक-ठीक चुनाव उसकी रचना को प्रभावपूर्ण, सौन्दर्य सम्पन्न और सम्प्रेषणीय बना सकता निबन्ध के ये रूप अंतिम नहीं हैं । अनेक विद्वानों ने निबन्धों के अनेकानेक भेद अनेक आधारों पर किये हैं । निबन्ध के रूपाकार और विषयवस्तु में

निरन्तर होने वाले परिवर्तन उसके वर्गीकरण के नये-नये रूप निर्मित करते रहते हैं । हमने निबन्धों के जो वर्गीकरण किये हैं, उनसे निबन्धों के स्वरूप को समझने में विद्यार्थियों को मदद मिलेगी ।

11.5 हिन्दी निबन्ध की परम्परा व विकास

उन्नीसवीं शताब्दी में होने वाले विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन, राष्ट्रीय जागरण की सर्वत्र फैलती हुई लहर, व्यक्ति स्वातंत्र्य की उत्तरोत्तर बढ़ती लालसा आदि युगीन परिस्थितियों के प्रभाव से साहित्य के क्षेत्र में भी परिवर्तन की एक लहर आई और गद्य के प्रचलन, मुद्रणकला के प्रचार और इसके साथ-साथ पश्चिमी साहित्य का सम्पर्क हिन्दी निबन्धों का सूत्रपात करने में माध्यम बना । फिर हिन्दी की अनेकानेक पत्र-पत्रिकाओं ने निबन्ध के उद्भव ओर विकास के लिए एक पुख्ता पृष्ठभूमि बनाई और आज हिन्दी साहित्य की यह विधा सर्वाधिक लोकप्रिय और सशक्त गद्यविधा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है ।

प्रायः निबंध का जन्म और नामकरण (Essay) फ्रांसीसी लेखक मॉन्तेन (1566-1562) के साथ संबद्ध किया जाता है, पर अंग्रेजी साहित्य में व्यापक रूप से इस माध्यम की स्वीकृति और फिर प्रचार 18वीं शती से आरंभ हुआ, और इस काव्य-रूप का चरमोत्कर्ष 19वीं शती में ही देखने को मिलता है, जो उदारतावाद के अपने उत्कर्ष का काल है । मिल की रचना 'ऑन लिबर्टी' 1859 में प्रकाशित हुई, और अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध निबंधकार चार्ल्स लैंब ('इलाया') के निबंधों के संकलन क्रमशः 1823 और 1833 में प्रकाशित हुए । यही अंग्रेजी के प्रख्यात रोमांटिक कवियों का काल है ।

इन तिथि क्रमों और उनके अंतर्गत पर्याप्त कलात्मक संवेदना का विश्लेषण करके यदि देखा जाए तो स्पष्ट होगा कि रोमांटिसिज और उदारतावाद की भाव-भूमि परस्पर संपृक्त है, जिसमें 'अपनी ही दृष्टि' और 'अपने ही भाव, का विशेष महत्व है । हिंदी में भी निबंध की यह उन्मुक्त प्रकृति उदारतावाद के काल में प्रमुखत: विकसित हुई । बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के समय में अंग्रेजी उदारतावाद का प्रभाव भारतीय शिक्षित समाज पर तेजी से पड़ रहा था ।

आंतरिक स्तर पर निबंध का आरंभ यदि उदारतावाद की मनस्थिति से जुड़ा है तो बाहरी तौर पर पत्र-पत्रिकाओं के विकास के साथ । हिंदी के अन्यतम निबंधकार-बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र क्रमशः हिंदी प्रदीप तथा ब्राह्मण के संस्थापक संपादक थे, और इन पत्रों में ही उनके निबंध अधिकतर प्रकाशित हुए । यों कहा जा सकता है कि भारतेंदु-युग में पत्र-पत्रिकाओं का जो सिलसिला चला वह द्विवेदी-युग तक बराबर मजबूत होता जाता है । और हिंदी गद्य का यह आरंभिक दौर निबंध-कला का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है । पत्रकारिता के स्तर से निबंध-शैली को विकसित करने वाले लेखकों में रामवृक्ष बेनीपुरी का नाम प्रमुख है । उनकी शैली में राष्ट्रीयता, भावुकता और ओजस्विता का मिला-जुला रूप माखनलाल चतुर्वेदी का स्मरण दिलाता

है। स्पष्ट ही इस प्रकार के निबंधों में विचार का तत्व कम और भावावेग अधिक रहता है । गेहूँ और गुलाब (1950) तथा 'वंदे वाणी विनायकौ' (1957) लेखक के प्रमुख निबंध-संकलन है ।

यों तो राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' द्वारा लिखित राजा भोज का सपना' (1839 ई.) का उल्लेख हिन्दी के प्रथम निबन्ध के रूप में किया जाता है । परन्तु इस रचना में निबन्ध के तत्व नहीं मिलते। वस्तुतः निबन्धों की परम्परा का आरंभ भारतेन्दु से मानना ही उचित है । हिन्दी निबन्धों के प्रवर्तक भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों ने निबन्ध रचना के तत्वों और उद्देश्य को ध्यान में रखकर निबन्ध-लेखन की नींव रखी । तब से निबन्ध विधा अनेक सोपानों को पार कर चुकी है । अध्ययन की सुविधा के लिए हिन्दी निबन्धों की परम्परा और विकास क्रम को चार सोपानों में विभाजित किया जाता है ।

1. भारतेन्दु युग (1857 ई. - 1900 ई)
2. द्विवेदी युग (1900 ई. 1920 - ई.)
3. शुक्ल युग (1920 ई. - 1940 ई)
4. शुक्लोत्तर युग (1940 ई. अब तक)

इनमें कथात्मकता तो है पर वैयक्तिकता इसमें नहीं हैं ।

11.5.1 भारतेन्दु युग

भारतेन्दु युग को हिन्दी निबन्ध परम्परा का उद्गम युग कहा जाता है । जब जागृति की लहर भारतेन्दु के साहित्य जगत में प्रवेश करते समय पूरे भारतवर्ष में प्रवाहित हो रही थी; समाजोद्धार की कामना, समाज में नैतिक और राजनैतिक जीवन को उच्च बनाने की कामना, विदेशी शासन के प्रति आक्रोश, भारत के गौरवशाली अतीत के प्रति प्रेम-इन सबने मिलकर भारतेन्दु काल को एक नयी चेतना से युक्त कर दिया । इनके साथ नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण एक नये युग की अवतारणा भारतेन्दु युग में होने लगी । ऐसे अवसर पर साहित्यकार नवचिन्तन, उत्साह, देशप्रेम, सांस्कृतिक चेतना, राष्ट्रीय जागरण की स्फूर्ति आदि से सम्पन्न होकर रचनाकर्म में प्रवृत्त हुए । इस काल के सभी लेखक प्रायः: पत्रकारिता से जुड़े थे । अतः 'कविवचनसुधा', 'हिन्दी प्रदीप', 'ब्राह्मण' 'आनन्द कादम्बिनी', 'हिन्दुस्तान, ' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित इन लेखकों के निबन्धों ने हिन्दी निबन्धों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । इस काल के निबन्ध यद्यपि निबन्धकाल की दृष्टि से अपरिपक्व थे, परन्तु आधुनिक निबन्धों के विकास का बीजारोपण इन निबन्धों में हो चुका था । परिवर्तनशील जीवन मूल्यों को अभिव्यक्त करने वाले, जनजागृति लाने वाले, जनमन में राष्ट्र के प्रति प्रेम जगाने वाले, अपनी भाषा एवं साहित्य के प्रति निष्ठा जाग्रत करने वाले भारतेन्दुयुगीन निबन्ध महत्वपूर्ण हैं ।

इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं - भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850- 1885 ई.) प्रतापनारायण मिश्र (1856-1894 ई.) बालकृष्ण भट्ट (1844- 1894 ई., बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' (1855-1923 ई., लाला श्री निवासदास (1849- 1887 ई.) राधाचरण गोस्वामी (1859-1925 ई.) मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या (1850- 1912 ई.) काशीनाथ खत्री (1849-1891 ई.) आदि । इनके अलावा हिन्दी निबन्ध को समृद्ध बनाने में जिन निबन्धकारों का योगदान रहा उनमें से कुछ हैं - जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, मुरलीधर पाठक, महादेव दुबे, हरिश्चन्द्र उपाध्याय, हरिमुकुन्द शर्मा, भानुदत्त शर्मा, देवकी नन्दन त्रिपाठी, किशोरीलाल गोस्वामी आदि ।

बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न भारतेन्दु ने न केवल हिन्दी निबन्ध को ही एक निश्चित लोक- स्वीकृत रूप दिया अपितु कविता, नाटक, आलोचना - सभी को अपनी सशक्त लेखनी से सम्पन्न किया है । हिन्दी निबन्ध लेखन के क्षेत्र में तो उनकी भूमिका एक पथ-प्रदर्शक ही रही है । उनके अधिकांश निबन्ध - ' भारतेन्दु मैगजीन', 'कविवचनसुधा', 'बालबोधिनी, आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं । ये निबन्ध पुरातत्त्व, इतिहास, धर्म, कला, भाषा, समाज-सुधार, राष्ट्रोत्थान, साहित्य यात्रा अनेक विषयों पर लिखे गये हैं । 'नाटक या दृश्यकाव्य', 'हिन्दी भाषा', 'अंग्रेजी से हिन्दुस्तानियों का जी क्यों नहीं लगता', स्वर्ग में विचारधारा का अधिवेशन', परदा, 'वैष्णवता और भारतवर्ष', हिन्दी कुरान शरीफ', 'अंग्रेज स्त्रोत' 'कंकड़ स्त्रोत आदि भारतेन्दु के प्रसिद्ध निबन्ध हैं । 'भारत वर्षोन्नति कैसे हो सकती है शीर्षांकित भारतेन्दु का निबन्ध आज भी विशेषतः उल्लेखनीय और प्रासंगिक है । हालाँकि इन निबन्धों में भारतेन्दु का दृष्टिकोण साहित्यिक कम है, प्रचारात्मक अधिक; पर इसके ही कारण तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक कुरीतियों पर करारा प्रहार करके वे अपने निबन्धों का विशिष्ट बना देते हैं ।

'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक पं. बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु युग के सर्वाधिक प्रख्यात निबन्धकार हैं । भारतेन्दु से छः वर्ष बड़े पं. बालकृष्ण भट्ट को कतिपय आलोचक हिन्दी का पहला निबन्धकार भी मानते हैं । निबन्ध की आत्मा से बालकृष्ण भट्ट का गहरा परिचय है । भारतेन्दु युग के इस प्रतिनिधि ओर सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार को अपने युग के निबन्धकारों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है । इसी आधार पर डॉ. श्यामसुन्दर दास जैसे विद्वान उन्हें हिन्दी का 'मोनतेन' कहते हैं ।

पं. बालकृष्ण भट्ट के साथ पं. प्रतापनारायण मिश्र का उल्लेख भी आवश्यक है । 'ब्राह्मण' के इस सम्पादक की कृतियाँ तत्कालीन परिवेश का पूरा चित्रन प्रस्तुत करती हैं । परिमाण की दृष्टि से मिश्र जी के निबन्ध भट्ट जी के निबन्धों से कम हैं पर विषय चयन और रचनात्मक क्षमता की दृष्टि से मिश्र जी के निबन्ध भट्ट जी के निबन्धों से आगे है । पं. प्रतापनारायण मिश्र के निबन्ध 'निबन्ध नवनीत', 'प्रताप पीयूष, 'प्रतापनारायण ग्रंथावली' में संकलित है, क्योंकि मिश्र जी ने नवजागरण के

सन्देश को जीवन तक पहुँचाने का व्रत लिया था अतः वे पाठक के साथ तादम्य स्थापित करके, धड़ल्ले से, निर्भयता से, चुलबुलेपन से अपनी बात कह देते हैं । फक्कड़पन और हास-परिहास उनके निबन्धों में सर्वत्र दिखाई देता है । उन्होंने विचारात्मक (नास्तिक ईश्वर की मूर्ति, खड़ी बोली का पद्य, ईश्वर का वचन आदि), भावात्मक (स्वार्थ, चिन्ता मनोयोग, लोकलज्जा आदि) निबन्ध लिखे हैं । उनके निबन्धों की भाषा शैली विषयानुकूल, सरल, लोकप्रचालित है ।

बद्रीनाथ चौधरी 'प्रेमधन' का भारतेन्दुकालीन निबन्धकारों में विशेष महत्व है । 'आनन्दकादम्बिनी' और 'नागरी नीरद' के सम्पादक प्रेमधन अपनी आलंकारिक और कलात्मक गद्यशैली के लिए विशेष प्रसिद्ध है । 'नेशनल कांग्रेस की दुर्दशा' 'हिन्दी भाषा का विकास', समय', दिल्ली दरबार में मित्र-मण्डली के यार', 'बनारस का बुढ़वा मंगल' उनके बहु चर्चित निबन्ध है । 'गुप्तगोष्ठी गाथा' 'बनारस का बुढ़वा मंगल' आदि लम्बे निबन्ध प्रेमधन की सावधान, विशद और रोचक वर्णनशैली के उदाहरण हैं । अनुप्रासमयी आलंकारिक एवं समास-प्रधान शैली में लम्बे-लम्बे वाक्य लिखना चौधरी जी की विशेषता है । आचार्य शुक्ल ने उनकी शैली के विषय में लिखा है - 'वे गद्य रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करने वाले-कलम की कारीगरी समझने वाले लेखक थे और कभी-कभी ऐसे पेचीदे मजमून बाँधते थे कि पाठक एक-एक, डेढ़-डेढ़ कॉलम के लम्बे वाक्य में उलझा रहा था । (हिन्दी साहित्य का इतिहास) ।

निष्कर्षत: भारतेन्दु कालीन निबन्धों में एक ओर अतीत का गौरवमय इतिहास है और दूसरी ओर नवीन चेतना । इन दोनों के समन्वय से भारतेन्दु युग का निबन्ध - साहित्य जन-जागृति लाने में समर्थ हुआ । यद्यपि मतप्रचार, खण्डन मण्डन, तर्क-वितर्क आदि का आश्रय इस काल के निबन्धकारों ने लिया, पर समाजोद्धार के लिए जनमन में देशप्रेम का भाव जगाने के लिए जनता को नवीन जीवनमूल्यों को धारण करने में समर्थ बनाने के लिए भारत के गौरवमय अतीत का बोध कराने के लिए, अपनी भाषा-साहित्य संस्कृति के प्रति निष्ठा जगाने के लिए कोई भी मार्ग अपनाना स्वाभाविक था । इस महत् उद्देश्य के सामने निबन्धों का अव्यवस्थित ढाँचा, उसके भाषा और व्याकरण सम्बन्धी दोष विशेष मायने नहीं रखते ।

11.5.2 द्विवेदी युग

इस युग को उत्थान युग के नाम से भी जाना जाता है । भारतेन्दु काल में निबन्ध के क्षेत्र में जो कमियाँ रह गई थीं, द्विवेदी युग तक आते-आते उन सबका परिमार्जन हो गया । उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में न्यायालयों में हिन्दी का प्रवेश, काशी नगरी प्रचारिणी सभा को सरकारी सहायता मिलना और 'सरस्वती' का सम्पादन ये तीन ऐसी घटनाएँ हैं, जिन्होंने पूरे हिन्दी साहित्य को एक नया मोड़ दे दिया । इसके साथ-साथ तत्कालीन धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक सामाजिक परिस्थितियाँ द्विवेदी युगीन निबन्धों

को गाम्भीर्य, प्रौढ़ता प्रदान करने में समर्थ हुई। भाषा के परिष्कार, साज-सँवार का भी प्रयत्न इस युग में आरम्भ हुआ।

भारतेन्दु युग की ही भाँति इस युग में भी धर्म के प्रति आस्था निबन्धकारों में दिखाई देती है पर धर्म के कर्मकाण्डमय रूप की अपेक्षा धर्म के वास्तविक रूप से जनमन को परिचित कराना इनका लक्ष्य रहा ।

परिणामत: हिन्दु धर्म की कठोर रूढ़ियों का विरोध, छुआछूत, वर्णभेद, जातिभेद आदि का विरोध करके भारतीय संस्कृति के प्रति आस्था जगाने के लिए इस काल के निबन्धकारों ने धर्म के तत्वों की सरल-सीधी व्याख्या की है । दुर्भिक्ष, अकाल, टैक्स की ज्यादती, शासन व्यवस्था पर होने वाला खर्च किसानों की दरिद्रावस्था, छोटे-छोटे उद्योग धन्धों के उच्छेद, विदेशी कारखानों द्वारा बाजार में आने वाले सस्ते माल इन सबने भारत की अर्थव्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया था और दूसरी ओर नये-नये आविष्कारों के कारण देश में औद्योगिक युग के सूत्रपात से इस अर्थव्यवस्था और दैन्यावस्था में थोड़ा सा परिवर्तन भी आ रहा था । द्विवेदी युगीन निबन्धकारों ने भारत की प्राचीन और अर्वाचीन व्यापारिक स्थिति का विभिन्न उद्योगों, कला-कौशल, कृषि, व्यवसाय आदि का अनेक चित्रण किया है । कृषकों-मजदूरों की दुरावस्था, देश की गरीबी आदि इस काल के निबन्धकारों के वर्ण्य-विषय बने तो आर्थिक उन्नति की जो तीव्र भावना देश में निर्मित हो रही थी, उसका वर्णन भी इस काल में किया गया । धार्मिक, आर्थिक परिस्थितियों के समान ही राजनैतिक परिस्थितियों का प्रभाव भी द्विवेदी युगीन निबन्धों में दिखाई देता है।

राष्ट्रप्रेम की भावना के ओतप्रोत द्विवेदी युग के निबन्धकारों ने तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलनों से प्रभावित होकर राष्ट्रीय चेतना से युक्त निबन्ध लिखे । उन्होंने एक ओर भारत के अतीत को गौरवगान प्रस्तुत किया । मातृभूमि की प्रतिष्ठा प्राणपण से करने का प्रयत्न किया ओर सत्ताधारियों का विरोध करके सामान्य जनता के आत्मसम्मान को जगाया, उसे जन्मभूमि के लिए त्याग और बलिदान का उपदेश दिया । समाज सुधार की भावना भारतेन्दुयुगीन निबन्धकारों की ही भाँति इस युग के निबन्धकारों में भी दिखाई देती है । निरक्षरता, समाज की कुरीतियों का विरोध, स्त्री शिक्षा का प्रचार, समाज को नैतिकता की ओर ले जाने का आग्रह इस युग के निबन्धों को गंभीरता प्रदान कर रहा था । संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'यह युग बढ़ती हुई राष्ट्रीय जागृति, विश्वप्रेम, सामाजिक एकता, भारत और पश्चिम के सम्पर्क अतीत-गौरव, सांस्कृतिक पुनरुत्थान तथा भाषा के परिष्कार का युग है ।

द्विवेदीयुग के प्रमुख निबन्धकार हैं - पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1838 ई.), पं. गोविन्द नारायण मिश्र (1859-1926 ई), बालमुकुन्द गुप्त (1865-1907 ई.), माधव प्रसाद मिश्र (1871- 1907 ई.), मिश्रबन्धु (श्याम बिहारीमिश्र 1873-1947 ई. तथा शुकदेव बिहारी मिश्र 1878-1951 ई.), बाबू श्याम सुन्दर दास (1874-1944 ई), पदमसिंह शर्मा 'कमलेश' (1876-1932 ई.), बाबू गुलाबराज (1888-1963 ई.),

गोपालराम गहमरी (1856-1946 ई.), जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी (1875-1931 ई.) । इनके अलावा पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, जनार्दन भट्ट, बनारसीदास चतुर्वेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी, मत्रन द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, शिवपूजन सहाय आदि भी निबन्धलेखन के क्षेत्र में उल्लेखनीय है । महावीर प्रसाद द्विवेदी, सरदार पूर्णसिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, आचार्य रामचन्द्रशुक्ल आदि तो इस काल के निबन्धों के पुरोधा ही हैं।

भारतेन्दुयुगीन जागरण का उल्लास, राष्ट्रप्रेम की भावना, समाज के नवनिर्माण की कामना तथा द्विवेदीयुगीन सधी भाषा, स्वच्छता और स्पष्टता लेकर बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने भारतेन्दुयुग और द्विवेदीयुग के बीच को कड़ी के रूप में निबन्धलेखन के क्षेत्र में पदार्पण किया । 'अखबारे चुनार', 'कोहेनूर' (उर्दू तथा 'हिन्दी बंगवासी', 'हिन्दोस्थान, 'भारतमित्र', पत्रों के सम्पादक बालमुकुन्द गुप्त ने साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों को सम्पन्न किया । 'शिवशंभू के चिट्ठे' तथा 'चिट्ठे और खत' उनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं । 'गुप्त निबन्धावली' में उनके निबन्ध संकलित हैं । हिन्दी के ललित निबन्धों के आदि लेखक के रूप में भी वे प्रतिष्ठित हैं । हिन्दी गद्य के परिमार्जन में गुप्त जी का योगदान महत्वपूर्ण है । वे बोलचाल की व्यावहारिक बोधगम्य भाषा के पक्षपाती थे अतः: उनकी भाषा चमत्कारपूर्ण, अस्पष्ट और उलझी हुई नहीं है - पवाहमयी सहज, मुहावरों के प्रयोग से सप्राण और चित्रोमपता तथा काव्यात्मकता से सम्पन्न है ।

भारतेन्दु की ही भाँति आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने युग विधायक की भूमिका अदा की । 1903 ई0 में उन्होंने 'सरस्वती' के सम्पादक का भार सँभालने के साथ-साथ हिन्दी भाषा को निखारने-सँवारने, उसे एक सुन्दर स्वरूप देने, उसे प्राणवत्ता प्रदान करने और सुव्यवस्थित बनाने की मुहिम चलाई । यह पत्रिका द्विवेदी जी के भाषा संस्कार सम्बन्धी कार्य का सफल और सबल साधन बनी । हिन्दी गद्य को उन्होंने जो व्यवस्थित, परिमार्जित, विधानबद्ध और अनुशासित रूप दिया, वह उनके समकालीन और परवर्ती लेखकों के लिए अनुकरणीय बन गया । इसके अलावा साहित्य की समृद्धि के लिए उन्होंने 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' जैसे विषयों पर लिखकर अनेक लेखकों को विषयवस्तु प्रदान की । 'बेकन द्विवेदी जी के आदर्श हैं । उनके अंग्रेजी निबन्धों का 'बेकन विचार रचनावली' के नाम से द्विवेदी जी ने अनुवाद किया और उन्हीं की भांति विचारों को अपने निबंधों में प्रधानता दी । इसलिए द्विवेदी जी ने मुख्यतः विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं । उनके निबन्धों के विषय वे स्वयं नहीं, उनके पाठक हैं । अपने पाठक को केन्द्र में रखकर द्विवेदी जी ने हालांकि परिचयात्मक और विवरणात्मक निबन्ध ही अधिक लिखे; भावात्मक, वैचारिक, कलात्मक दृष्टि से उन निबन्धों का बहुत अधिक मूल्य नहीं है, परन्तु निबन्धों का निबन्ध करने का श्रेय तो द्विवेदी जी को जाता है । फिर हिन्दी भाषा के परिष्कार और हिन्दी साहित्य में नवीन जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा की दृष्टि से उनका महत्व निर्विवाद है । तभी तो 1900 से 1920 ई0 तक का पूरा समय उनके ही नाम से जाना जाता है ।

द्विवेदी युग के निबन्ध लेखकों में पं. माधवप्रसाद मिश्र का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है । पुरातन संस्कृति और सनातन धर्म के समर्थक, देशानुरागी पुराण-धर्मशास्त्र-काव्य-शास्त्र के ज्ञाता पं. मिश्र 'वैश्योपकारक' तथा 'सुदर्शन' नामक पत्रिकाओं के सम्पादक थे । मिश्र जी के अधिकांश निबन्ध धार्मिक और नैतिक विषयों से सम्बद्ध है । 'रामलीला', 'पर्व-त्योहार', 'तीर्थस्थान' आदि ऐसे ही निबन्ध हैं । इनके अतिरिक्त 'धृति', 'क्षमा' जैसे विचारात्मक निबन्ध भी लिखे हैं । उनके निबन्ध 'माधव मिश्र ग्रंथावली (5 भाग) में प्रकाशित हैं ।

द्विवेदी युग के प्रसिद्ध निबन्धकार बाबू श्यामसुन्दरदास को मूलत: आलोचक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हैं । आलोचक होने के कारण उन्होंने अधिकांशतः साहित्यिक विषयों पर ही निबन्ध लिखे हैं । हिन्दी के प्रसार और सर्जन में हिन्दी भाषा को सर्वजन सुलभ बनाने में उसे वैज्ञानिक और समृद्ध बनाने में श्यामसुन्दरदास का अप्रतिम योगदान है । उनके प्रमुख निबन्ध हैं - 'समाज और साहित्य', 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ, 'कर्तव्य और सत्यता' 'तुलसीदास', सूरदास', 'हमारी भाषा, 'हिन्दी गद्य के आदि आचार्य' आदि ।

भारतीय संस्कृति के प्रति अटूट आस्था रखने वाले बाबू श्यामसुन्दर दास गंभीर अध्येता, आलोचक और सजग निबन्धकार हैं । उन्होंने प्रायः: विवेचनात्मक शैली में विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं । परिणामत: उनकी शैली में रुक्षता, नीरसता दिखाई देती है पर उसमें अरुचिकर दुरूहता नहीं है । उन्होंने भाषा के सन्दर्भ में तत्सम शब्दों के प्रयोग पर ही बल दिया है । व्याकरण के नियमों से अनुशासित भाषा श्यामसुन्दर दास को प्रिय है ।

हिन्दी निबन्ध साहित्य के क्षेत्र में सरदार पूर्ण सिंह का स्थान अन्यतम है । द्विवेदी युगीन अन्य साहित्यकारों में जहाँ विचारात्मकता का आधिक्य मिलता है, वहीं सरदार पूर्णसिंह ने भावात्मक निबन्ध लिखकर मानो निबन्ध लेखन के क्षेत्र में संतुलन स्थापित कर दिया हैं इनके निबन्धों में लेखक के व्यक्तित्व की झाँकी, भावात्मकता, भाषाशैली की प्रवाहपूर्णता आदि अनेक ऐसे गुण विद्यमान हैं जो इन्हें ललित निबन्ध लेखक भी सिद्ध कर देते हैं । मानवतावादी लेखक होने के नाते अध्यापक पूर्वसिंह प्राकृतिक जीवन और श्रम के गौरव की प्रतिष्ठा और आत्मिक उन्नति के द्वारा मानव जाति का कल्याण देखते हैं । इनके निबन्धों की प्रवाहमयी, सजीव मुहावरों के सटीक प्रयोग तथा लालित्य से सम्पन्न भाषा-शैली पाठकों का ध्यान अनायास अपनी तरफ खींचती है । उनकी शैली के विषय में रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि 'उनकी लाक्षणिक शैली हिन्दी गद्य साहित्य में नई चीज थी और उन्होंने भाषा की एक नई विभूति सामने रखी' ।

बहुभाषाविद् पं. गुलेरी भाषा विज्ञान, दर्शन, पुरातत्व, वैदिक साहित्य, लिपिविज्ञान ज्योतिष के ज्ञाता थे । उन्होंने इतिहास, संस्कृति, पुरातत्व, भाषा आदि पर ग्वेषणात्मक निबन्ध लिखे हैं । उनके मारेसि मोहि कुठाऊँ ' तथा 'कछुआ धरम' अत्यन्त प्रसिद्ध निबन्ध है । इन निबन्धों के अलावा इन्होंने 'काशी', 'संगीत, 'देवकुल', 'अमंगल के

स्थान पर मंगल शब्द', 'जै जमुना मैया की', 'पुरानी पगड़ी', 'न्याय घण्टा', 'आत्मघात, देवनाप्रिय, सोहम आदि निबन्ध लिखे हैं । इन निबन्धों में 'विचारों की मौलिकता, चिन्तन की स्वाधीनता भी मिलेगी, अर्थ की गंभीरता और व्यापकता भी (हिन्दी निबन्धकार, पृ. 135) । निबन्ध रचना के क्षेत्र में गुलेरी जी ने निशिष्टि प्रसंग गर्भित व्यंग्य शैली का प्रयोग किया है । उनकी भाषा सरल, प्रवाहमयी, लाक्षणिकता से युक्त, सुबोध है ।

द्विवेदी युगीन निबन्धों के विषय में विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि भाषा-परिष्कार के इस युग में अधिकांश निबन्ध समाचार पत्रों में, प्रचार पत्रों में, पुस्तकों की भूमिकाओं के रूप में या पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुए हैं । इन निबन्धों में उपदेशात्मकता का प्रभाव स्वभावतः परिलक्षित होता है । भारतेन्दु युग की अपेक्षा इस युग के निबन्ध अधिक गंभीर ओर साहित्यिक बन गए हैं अन्यथा तो ये निबन्ध भारतेन्दुयुगीन निबन्धों के विकासात्मक रूप ही हैं ।

11.5.2.1 छायावादी संवेदनागत निबन्ध

पदुमलाल पुन्नलाल बक्शी- कालक्रमानुसार तो महावीर प्रसाद द्विवेदी के समवर्ती हैं, पर उनके निबंध द्विवेदी-वृत्त की भाव-भूमि से अलग हैं । बख्शी वस्तुतः द्विवेदी-युग की तुलना में छायावाद युग की संवेदना के अधिक निकट हैं । शिवपूजन सहाय ने विभिन्न पत्रों में 'शिव' के नाम से निबंध लिखे हैं । बख्शी की गंभीर, आत्मीय शैली से अलग उनका निबंध-शिल्प परिहास-प्रधान है । व्यंग्य के बिना निबंध-शैली को उसके उत्कृष्टतम स्तर तक पहुँचा देना पदुमलाल पन्नालाल बक्शी की कला है, तो अपने आप में अप्रतिम है । महादेवी वर्मा के निबंध अपनी भाषा की प्रांजलता के लिए प्रसिद्ध हैं । उनमें एक और भावविभोरता है, तो दूसरी और हल्के व्यंग्य का पुट । उनके संस्मरण निबंधों के निकट हैं, पर निबंध अधिकतर साहित्यिक या सामाजिक प्रश्नों से संबद्ध प्रधानतः विवेचनपरक हैं । रघुवीरसिंह मूलतः शैलीकार हैं, उनके निबंध गद्य-काव्य के निकट आ जाते हैं । सियारामशरण गुप्त भी द्विवेदी-युग से संबद्ध होने के बावजूद छायावादी काव्य - चेतना से अधिक संपृक्त हैं । सियारामशरण की सरलता से युका आत्मीयता उनकी शैली को विशेष रूप से प्रीतिकर बना देती है । निबंध-कला रोमांटिसिज्म के आधारभूत सिद्धांतों के अनुकूल भव्यता के स्थान पर निकटता के भाव को महत्व देती है । इस दृष्टि से बख्शी और सियारामशरण की कला पाठक को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट करती है ।

माखनलाल चतुर्वेदी की निबंध-शैली हिंदी लेखकों और प्रेमियों के बीच काफी चर्चा और प्रशंसा का विषय रही है । इस क्षेत्र में उनकी रचना 'साहित्य देवता' (1953) विशेष रूप से विख्यात हुई थी । उनके समकालीन गुलाबराय की वृत्ति इसके विपरीत है । उनकी भाषा-शैली अलंकृत न होकर सहज बोलचाल की है और उसमें वह विनोद-भाव है, जो निबंधकला का एक महत्वपूर्ण गुण माना जाता है।

11.5.3 शुक्ल युग

शुक्ल युग को हिन्दी गद्य-विकास का स्वर्णकाल कहा जाता है, क्योंकि इसी युग में कहानी उपन्यास, नाटक, आलोचना, निबन्ध सभी गद्य विधाएँ चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई हैं । इस युग के पुरोधा हैं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल । शैलियों की विविधता और विकास की दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न इस युग को प्रसाद युग या छायावाद युग भी कहा जाता है ।

इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (1884-1940 ई.) बाबू गुलाबराय (1880-1963 ई), जयशंकर प्रसाद (1889-1937 ई.), माखनलाल चतुर्वेदी (1889-1968 ई.) रायकृष्णदास, वियोगीहरि, रघुवीर सिंह, शान्तिप्रिय द्विवेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, वासुदेवशरण अग्रवाल, नन्द दुलाने वाजपेयी, महादेवी वर्मा आदि ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस युग के कर्णधार हैं । विचारात्मक निबन्धकार के रूप में आचार्य शुक्ल अप्रतिम है । 'चिन्तामणि' में संकलित उनके निबन्धों के विषय अत्यन्त सूक्ष्म एवं गंभीर हैं । नये विचार, स्वस्थ चिन्तन, नई अनुभूति से सम्पन्न इन निबन्धों में मनोविज्ञान और रसानुभूति का प्रतिपादन प्रौढ़तम शैली में हुआ है । उनमें एक ओर तो चिंतन की मौलिकता, विवेचना की गंभीरता, विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं शैली की प्रौढ़ता, दृष्टिगोचर होती है तो दूसरी ओर उनमें लेखक की वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं व्यंग्यात्मक के दर्शन स्थान-स्थान पर होंगे । उनके निबन्धों में व्यक्ति एवं विषय का ऐसा सफल समन्वय हुआ है कि इस बात का निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उन्हें व्यक्ति प्रधान कहें या विषय प्रधान ।

उन्होंने संस्कृत निष्ठ, तत्सम प्रधान भाषा का प्रयोग करते हुए सुगठित वाक्य रचना अपने निबन्धों में की है । उनके विषय में जयनाथ नलिन का मन्तव्य उद्धृत करना पर्याप्त है - 'शुक्ल जी के निबन्ध विचारात्मक होते हुए भी मस्तिष्क और हृदय के बीच जैसे जीवन का अनुभव और अध्ययन गलबहियाँ डाले, कदम से कदम मिलाकर चल रहा है । इनके निबन्ध हिन्दी गद्य साहित्य की समृद्धि है, शैली में विकास की भारी मंजिल है, विचार क्षेत्र में चिन्तन का अनुपम आदर्श है । ये बुद्धि को उत्तेजित कर नवीन विचार-परम्परा-पथ पर अग्रसर करते हैं । इनके निबन्धों की 'असाधारण शैली और गहन विचारधारा पाठक की मानसिक श्रमसाध्य उपलब्धि है । " (हिन्दी निबन्धकार, पृ. 159)

आचार्य शुक्ल के निबंध दो तरह के हैं या तो भावों-मनोविकारों संबंधी जैसे उत्साह, 'श्रद्धा-भक्ति, 'करुणा, 'ईर्ष्या, 'क्रोध' या फिर आलोचना के सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप को लेकर जैसे कविता क्या है?', 'काव्य में लोक-मंगल की साधना अवस्था, 'भारतेंदु हरिश्चंद्र', मानस की धर्म-भूमि । स्पष्ट ही इन दोनों वर्गों में विषय अपनी प्रकृति से पूरी तरह वैदुषिक हैं, या मनोविज्ञान के क्षेत्र से या साहित्य - चिंतन के क्षेत्र

से । ऐसे विषयों पर ललित शैली में निबंध-लेखन निश्चय ही कठिन है । इसके लिए लेखक ने दो उपायों का सहारा लिया है या तो जीवन और साहित्य के किन्हीं मार्मिक प्रसंगों को उभार कर या फिर व्यंग्य-विनोद का पुट देकर । इससे विवेचन की शास्त्रीयता बोझिल न रह कर निर्मल और प्रीतिकर लगने लगती है ।

जैसे प्रेम, श्रद्धा और भक्ति तथा लज्जा और ग्लानि के सूक्ष्म अंतरों को लेखक ने बड़ी सरलता से उभार कर हमारे सामने रखा है । 'लज्जा और ग्लानि' का एक प्रसंग यों है, 'हम अपना मुंह न दिखा कर लज्जा से बच सकते हैं, पर ग्लानि से नहीं । कोठरी में बंद, चारपाई पर पड़े-पड़े लिहाफ के नीचे भी लोग ग्लानि से गल सकते हैं । चित्रकूट में भरत-राम के मिलाप के स्थान पर जब जनक के आने का समाचार पहुँचा तब 'सुनत जनक-आगमन बस हरखेउ अवध समाज । " पर ' गरइ गलानि कुटिल कैकेयी । " यहाँ निबंधकार द्वारा पहले एक सामान्य घरेलू जीवन का संदर्भ लिया गया है, फिर बाद में उसे रामचरितमानस' के एक मार्मिक प्रसंग से जोड़ दिया गया है । ग्लानि के एक सूक्ष्म भेद आत्मग्लानि को लेखक ने गोस्वामी तुलसीदास पर लिखित अपनी विस्तृत आलोचना में दिखाया है । तुलसी की भावुकता को स्पष्ट करते हुए आलोचक ने कवि द्वारा सूक्ष्म भावों का चित्रण विवेचित किया है । 'चिंतामणि' के भाव और मनोविकास संबंधी निबंध अपने में उत्कृष्ट गद्य-लेखन हैं । 'कविता क्या है?' साहित्य, विशेषतः कविता के संबंध में आचार्य शुक्ल की बुनियादी मान्यताएँ इस निबंध में प्रस्तुत हुई हैं, जो कई बार संशोधित और संवर्धित करके लिखा गया ।

इस निबंध की सबसे बड़ी विशेषता है कि कविता के संबंध में यह लेखक की मौलिक तथा निजी मान्यताओं को प्रस्तुत करता है । लेखक यहाँ कविता के सामान्य और व्यापक रूप की अपने ढंग से व्याख्या करता है । यह निबंध साहित्य के क्षेत्र में लेखक के वैचारिक आत्मविश्वास का पहला सबल प्रमाण है, जैसे कि भाव और मनोविकार संबंधी निबंध मनोविज्ञान के क्षेत्र में । द्विवेदी युग के बाद, छायावादी काव्य में जीवनानुभव का जैसा संश्लिष्ट चित्रण है, उसका समानांतर रूप प्रेमचंद में विशेषत: उनके उत्तरकालीन कथा-साहित्य में मिलता है । मानव स्वभाव का वैसा ही संश्लिष्ट चित्रण रामचंद्र शुक्ल के मनोविकास संबंधी निबंधों में हुआ है ।

आचार्य रामचन्द्रशुक्ल की ही भाँति गुलाबराय का उदय भी द्विवेदी युग में हो गया था ओर उनके निबन्धों में द्विवेदी युगीन विशिष्टताएँ और प्रवृत्तियाँ घर किए हुए हैं ।पर साहित्यिक आस्था प्रगतिशील विचारधारा, विषय विविधता और समीक्षक दृष्टि उन्हें प्रसादयुग (शुक्ल युग) का निबन्धकार सिद्ध करती है (प्रतिनिधि हिन्दी निबन्धकार, पृ. 87) । बाबू गुलाबराय ने चिन्तनात्मक ओर भावात्मक - दोनों प्रकार के निबन्ध लिखे हैं । उनके निबन्ध 'फिर निराशा क्यों, 'मैत्री धर्म', 'ठलुआ क्लब', 'विज्ञान विनोद', जीवन-पथ, 'आत्म निर्माण', 'मन की बातें, 'मेरे निबन्ध, 'कुछ उथले कुछ गहरे, 'विद्यार्थी जीवन', 'मेरी असफलताएँ', 'अध्ययन और आस्वाद', 'भारतीय संस्कृति की रूपरेखा', 'सांस्कृतिक जीवन' में संकलित है । गुलाबराय ने वैचारिक (समीक्षात्मक-

सिद्धान्त और अध्ययन, अध्ययन और आस्वाद, प्रबन्ध प्रभाकर, फिर निराशा क्यों, कुछ उथले कुछ गहरे आदि) तथा भावात्मक (विश्वप्रेम ओर विश्वसेवा भक्ति की रीति निराली, दुःख, चिरवसन्त आदि) के अतिरिक्त मनो विश्लेषणात्मक (मन की बातें में संकलित कुछ निबन्ध) निबन्ध भी लिखे हैं । बाबू गुलाबराय के निबन्धों में विषय की अपेक्षा शैली प्रधान रही । कथात्मकता के गुणों से युक्त गुलाबराय की निबन्ध शैली सुबोध, सरल, स्वाभाविक, व्यावहारिक, संस्कृतनिष्ठ तथा लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग के कारण जीवन्त है ।

छायावादी काल के प्रमुख स्तम्भ जयशंकर प्रसाद तथा अन्य छायावादी कवियों (पन्त, निराला, महादेवी) के निबन्ध रचना के क्षेत्र में प्रवेश करने पर तत्कालीन निबन्धों की भाषा में लाक्षणिकता, वक्रता, उक्ति चमत्कार, कल्पना प्रसूत अप्रस्तुत विधानों का समावेश हुआ । जयशंकर प्रसाद के लेखन में तो इतनी प्रभविष्णुता थी कि इस युग को प्रसाद युग भी कहा गया । उनके निबन्ध 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' नामक संग्रह में संकलित है । ये निबन्ध विचारात्मक तथा भावात्मक हैं । इनमें प्रसाद के अध्ययन की गंभीरता, चिन्तन की मौलिकता, काव्यात्मकता और दार्शनिकता से सम्पन्न शैली दिखाई देती है । उनकी भाषा यद्यपि संस्कृत प्रधान, दुरूह, क्लिष्ट तथा तत्सम वाक्य योजना की सरलता अर्थबोध कराने में सहायक हो जाती है ।

जयशंकर प्रसाद की ही तरह माखनलाल चतुर्वेदी भी द्विवेदी युग से आधुनिक काल तक का प्रतिनिधित्व करते हैं । उनके साहित्य देवता, 'अमीर इरादे गरीब इरादे, 'समय के पाँव, 'चिन्तन की लाचारी' आदि प्रशंसनीय गद्यकृतियाँ हैं । ये गद्यकृतियाँ काव्यात्मकता से परिपूर्ण हैं । वैसे चतुर्वेदी जी की ख्याति शैलीकार के रूप में अधिक है। उन्होंने हिन्दी गद्य को एक नया रूप दिया । उनमें एक ओर संघर्षकालीन चेतना की आग है और दूसरी ओर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद गिरते जीवनमूल्यों की अनुभूति से उत्पन्न तल्खी और नैराश्य भी है । वस्तुतः कवि होने के कारण चतुर्वेदी जी की भाषा अलंकृत है, लयबद्ध है, वेगवती है, आवेगमयी है, भावुकताभरी है पर वैचारिकता भी उसमें है और है उर्दू की मुहावरेदानी वक्रता और सांकेतिकता ।

कहानी की रंजगता और नाटक की रमणीयता को लेकर पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने निबन्ध के क्षेत्र में पदार्पण किया । उनके 'पंचपात्र, 'बिखरे पन्ने', 'तुम्हारे लिए', 'प्रबन्ध पारिजात', प्रायश्चित', उन्मुक्ति का बन्धन', 'त्रिवेणी, 'मकरन्द बिन्दु', 'मेरे प्रिय निबन्ध' आदि संग्रह है । उनके निबन्धों में वैचारिकता और शिष्ट हास्य व्यंग्य का मिला जुला रूप दिखाई देता है । विषयों की विविधता बख्शी जी के निबन्धों में दिखाई देती है ।

देशभक्ति, समाजोत्थान की भावना से परिपूर्ण वियोगी हरि ने हृदय रंजक, मनमोहक, भावविह्वल, रसाप्लावित, युग चेतना को व्यक्ति करने वाले, राष्ट्रीयता से परिपूर्ण, सामाजिक पाखण्डों एवं कुरीतियों पर कुठाराघात करने वाले प्रौढ़ और प्रांजल निबन्ध

लिखे हैं । उनके 'भावना' और 'अन्तर्नाद' नाम से दो भावात्मक निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं । इन निबन्धों की भाषा कहीं तत्सम शब्द प्रधान, समासात्मक है
तो कहीं सरल वाक्य चिन्यासपूर्ण प्रसादात्मक । उनकी शैली सशक्त, गतिशील, नाटकीय कथोपकथन की चपलता से युक्त, रोचक और रमणीय है ।

शुक्ल युग के अन्य उल्लेख निबन्धकारों-शान्तिप्रिय द्विवेदी, डॉ. रघुवीर सिंह, शिवपूजन सहाय, सम्पूर्णानन्द, राहुल सांकृत्यायन, सियारामशरण गुप्त आदि ने भी अपने निबन्धों के द्वारा हिन्दी निबन्ध साहित्य को समृद्ध किया है ।

शुक्लयुग के निबन्धों का विवेचन करने पर निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि यह युग निबन्ध का उत्कर्ष काल है । इस काल के निबन्धों की प्रमुख विशेषताएँ - सूक्ष्मता और गंभीरता, मौलिकता के प्रति आग्रह, भाषा को प्रांजलता और प्रौढ़ता, अभिव्यक्ति की कलात्मकता, विषयों की विशदता आदि । साहित्यिक चेतना का प्रभाव इस युग में सर्वत्र दिखाई देता है । शैली की दृष्टि से विचारात्मक और भावात्मक शैलियों का प्राधान्य इस युग में अधिक है ।

11.5.4 शुक्लोत्तर युग

इस काल में संस्कृति, कला, दर्शन, साहित्य से जुड़े अनेक विषयों पर विचारात्मक, भावात्मक, विवरणात्मक, वर्णनात्मक, आत्मपरक निबन्ध लिखे गये हैं; हास्य-व्यंग्यय प्रधान निबन्ध भी इस काल में बहुत लोकप्रिय हुए हैं; ललित निबन्धों का तो अब एक पृथक सुव्यवस्थित स्वरूप स्थापित हो गया है । इसे हिन्दी निबन्ध विकास-यात्रा का प्रौढ़ युग भी कहा जाता है । इसके पश्चात् रामचंद्र शुक्ल के बाद निबंध के क्षेत्र में कई लेखकों के प्रयोग हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं । प्रमुख नाम हजारी प्रसाद द्विवेदी का है जिन्होंने भारतेंदु-युग के बाद निबंध या कि ललित निबंध को एक कला-माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित किया । व्यापक मानवतावादी दृष्टि और एक गंभीर सांस्कृतिक निष्ठा उनकी निबंध-कला की प्रमुख विशेषताएँ हैं, जो उनकी गहरी और पैनी विनोद-वृति के सहयोग में और चमक उठती है । अतीत की सांस्कृतिक उपलब्धि का मूल्यांकन उन्होंने एक नयी और स्वस्थ दृष्टि से किया है । उनके निबंधों में व्यक्त फक्कड़पन और मस्तमौलापन का भाव, जो उन्हें अपने प्रिय कवि कबीर के व्यक्तित्व में अत्यंत प्रीतिकर लगता है, और जिसने स्वयं उनके निबंधों में अंतर्निहित पांडित्य को इतना ललित बना दिया हैं- 'पंडिताई भी एक बोझ है- जितनी ही भारी होती है उतनी ही तेजी से उबलती है । जब वह जीवन का अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है ('अशोक के फूल') ।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में विचार-सामग्री की प्रचुरता है । साहित्य-दर्शन तथा सामाजिक व्यवस्था संबंधी उनकी कुछ महत्वपूर्ण उद्भावनाएँ मूलत: उनके निबंधों में ही मिलती है । मानव की जिजीविषा और उसकी जय-यात्रा, समाज की तिरस्कृत और पतित जातियों का प्रतिशोध, दरिद्रनारायण की शक्ति- ये तथा कुछ ऐसे ही अन्य

महत्वपूर्ण विभावन हंमें उनके 'अशोक के फूल', 'मेरी जन्मभूमि' तथा 'प्रायश्चित्त की घड़ी' शीर्षक निबंधों में मिलते है (द्विवेदी जी ने सांस्कृतिक (धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्, भारतीय संस्कृति की देन, संस्कृतियों का संगम आदि) ज्योतिष विषयक (ब्रह्माण्ड का विस्तार, भारतीय फलित ज्योतिष आदि), भौतिक (आन्तरिक शुचिता की आवश्यकता है, प्रायश्चित की घड़ी आदि) प्रकृति विषयक (अशोक के फूल, आम फिर बौरा गए आदि), सिद्धान्त निरूपक (समालोचक की डाक, आलोचना का स्वतंत्र मान, साहित्य का नया कदम, क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है, मनुष्य की सर्वोत्तम कृति साहिम्य आदि) विविध विषयों से सम्बद्ध निबन्ध लिखे हैं ।

शैली की उन्मुक्तता और स्वच्छता को देख कर कभी यह भ्रम हो सकता है कि निबंध में लेखक की कल्पना की उड़ान ही प्रमुख है, उड़ान के लिए ठोस भूमि का होना उतना ही आवश्यक है जितना कि खुला आकाश । इस ठोस भूमि और उड़ान-कौशल का जितना सामंजस्य होगा, निबंध की रचना उतनी ही सफल होगी ।

इस सामंजस्य का अच्छा रूप अज्ञेय के 'कुट्टिचातन' के निबंधों में देखने को मिलता है । समस्या का एक बौद्धिक स्तर पर प्रस्तुतीकरण होता है, बड़े प्रीतिकर ओर ललित संदर्भ में । राह चलते मार्ग पूछने और बताने की साधारण सी प्रक्रिया को लेकर व्यंग्य की हल्की, सूक्ष्म छाया में कुछ तात्विक प्रश्न लेखक हमारे सामने रखता है । शीर्षक को वस्तुतः: बहाना बना सकने की बात 'कुट्टिचातन' के निबंधों में चरितार्थ होती दिखती है । 'मार्गदर्शन' तथा 'कुछ वर्गवाद' जैसे निबंध बड़े सधे हाथों से लिखे गए हैं । इसके पश्चात् अज्ञेय ने अपने निबन्धों के द्वारा साहित्य की विविध विधाओं में साहित्यिक शैली में विचारोत्तेजक निबन्ध लिखे हैं । साहित्य, संस्कृति, समाज, विज्ञान, धर्म, दर्शन, कला, परम्परा, आधुनिकता से जुड़े इन निबन्धों के द्वारा अज्ञेय ने हिन्दी निबन्ध साहित्य को एक नया आयाम दिया है ।

निबंध में हजारी प्रसाद द्विवेदी की परंपरा को प्रशस्त किया है विद्यानिवास मिश्र ने । निबंध-लेखन में दोनों की तैयारी प्रायः: एक जैसी है- संस्कृत पांडित्य के साथ लोक-जीवन में रुचि तथा गहरी सहृदयता के साथ हल्का व्यंग्य-विनोद । पाश्चात्य विचार-परंपराओं का भी अच्छा परिचय विद्यानिवास के लेखक-व्यक्तित्व का अतिरिक्त गुण है। अपने एक दर्जन से अधिक संकलनों में (प्रमुख हैं- 'छितवन की छाँह, 'कदम की फूली डाल, मैने सिल पहुँचाई, 'परंपरा बंधन नहीं', 'अंगद की नियति') लेखक ललित निबंध के विषय क्रम का निरंतर विस्तार करता गया है । भारतीय संस्कृति और हिंदू आस्था का स्वच्छ संतुलित विवेचन उसकी केन्द्रीय दृष्टि है । वृक्षों, वनस्पतियों, फूलों का विवेचन हो, चाहे जीवन की किसी छोटी-बड़ी घटना का वर्णन, किसी ने किसी रूप में निबंधकार अपनी दृष्टि का संकेत देता है । परिवार-जीवन के विविध रूप भी निबंधों में उसी दृष्टि से जहाँ-तहाँ खिले हैं । परिवार के एक बड़े आत्मीय संबंधी भाई-बहिन को प्रतीक रूप में लेकर लेखक ने संस्कृति में फैशन के बढ़ते प्रभाव पर गहरा व्यंग्य

किया है । इस रूप में ललित निबंध की विविध शैलियाँ विद्यानिवास मिश्र के हाथों में जीवंत हुई हैं । कुबेरनाथ राय भी विद्यानिवास मिश्र की भाँति उन लेखकों में हैं जिन्होंने निबंध की विधा को पूरे मनोयोग और एकांत निष्ठा के साथ स्वीकार किया है। कुबेरनाथ के निबंधों में काव्यात्मक संवेदन के साथ विविध प्रसंगों को लेकर सूक्ष्म पर्यवेक्षण होते हैं। उनके संकलनों में 'प्रिया नीलकंठी, रस आखेटक', 'विषाद योग विशेष रूप से सराहे गए हैं । ललित निबन्धकारों में अमृतराय ने अपने निबन्धों द्वारा आधुनिक जीवन की विसंगतियों पर प्रहार किया है । सोद्देश्य हास्य-व्यंग्यय प्रस्तुत करने वाले अमृतराम के 'रम्या', 'बतरस', 'आनन्दकम, बाइस्कोप आदि निबन्ध संग्रह हैं। निबन्धों की विशिष्ट शैली के कारण अमृतराय ने अपनी अलग पहचान बनाई है ।

ललित निबंध के क्षेत्र में अन्य प्रयोगकर्ता कृष्णबिहारी मिश्र तथा विवेकी राय हैं । 'बेहया का जंगल' कृष्णबिहारी मिश्र का संकलन है । कलकत्ता जैसे महानगर में रह कर अपने ग्रामीण अंचल की याद, और उस अंचल के जीवन-क्रम को बेहतर बनाने की चिंता इन निबंधों के मूल में है । बेहया घास फैलती जाती है और ग्रामीण क्षेत्रों की मिट्टी में उर्वरा शक्ति को दिन-दिन कम करती जाती है, खेती-किसानी और अपने गाँव से जुड़े लेखक के मन में यह पीड़ा का समुचित कारण है । यह बेहया घास प्रतीकार्थ में विदेशी आरोपित संस्कृति है, जिसे फैशन कहना अधिक उपयुक्त होगा, जो जन - सामान्य के जीवन को अंदर से आधारहीन बनाती जा रही है । दोनों अर्थों में बेहया का प्रसाद घातक है । ऐसे ही ग्रामीण जीवन के स्वास्थ्य का विश्लेषण करने वाला निबंध है 'चुनाव जीत गया: गाँव हार गया ।

विष्णुकांत शास्त्री के निबंध ('कुछ चंदन की; कुछ कपूर की') आलोचना तथा ललित निबंध के संधि-बिंदु पर रचे गए हैं । प्रभाकर माचवे अपेक्षया नये विषयों में रुचि लेते हैं । उनके संकलन 'खरगोश के सींग' में विनोद से आगे व्यंग्य की रिक्तता है ।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी मूलत: विचारक एवं आलोचक हैं, अतः उन्होंने मुख्यतः आलोचनात्मक निबन्ध ही लिखे हैं । उनके निबन्धों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं ।, जिनमें 'हिन्दी-साहित्य: बीसवीं शताब्दी'। 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य: नये प्रश्न' । इन कृतियों को विषय-वस्तु की दृष्टि से जहाँ आलोचना में स्थान दिया जाता है, वही काव्य-रूप एवं शैली की दृष्टि से निबन्ध के अन्तर्गत भी लिया जा सकता है । इनके निबन्ध विचार-प्रधान वर्ग के अन्तर्गत आते हैं ।

भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्व सम्बन्धी विषयों पर निबन्ध-रचयिताओं में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का स्थान महत्वपूर्ण है । इनके तत्सम्बन्धी अनेक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'पृथ्वी-पुत्र', 'मातृ-भूमि, कला और संस्कृति आदि उल्लेखनीय है। डी. अग्रवाल के निबन्धों में अध्ययन की गम्भीरता के साधु-साथ चिन्तन की मौलिकता के भी दर्शन होते है ।

डी. नगेन्द्र ने साहित्यिक आलोचनात्मक निबन्धों की अभिवृद्धि में असाधारण योग दिया है । उनके निबन्ध-संग्रहों में से विचार और विवेचन', विचार और अनुभूति, 'विचार ओर

विश्लेषण' कामयनी के अध्ययन की समस्याएँ' आदि उल्लेखनीय है । इनके निबन्धों का मूल स्वर विषय-प्रधान है, किन्तु उनके निबन्धों में व्यक्तित्व के दर्शन भी स्पष्ट रूप में होते हैं । उनका साधारणीकरण सम्बन्धी निबन्ध इस शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है । कुछ निबन्धों में डॉ. नगेन्द्र ने व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक शैली के स्थान पर रूपकात्मक या अप्रस्तुतात्मक शैली के भी प्रयोग किए है, वस्तुतः विचारों की गम्भीरता, चिन्तन की मौलिकता एवं शैली की रोचकता- इन तीनों का समन्वय इनके निबन्धों में परिलक्षित होता है ।

डॉ. विनयमोहन शर्मा के निबन्ध साहित्यावलोकन, 'दृष्टिकोण आदि में संग्रहीत है । उन्होंने मुख्यतः सौन्दर्य-शास्त्रीय एवं साहित्यिक विषयों को लिया है । इनके व्यक्तित्व की सरलता एवं उदारता के अनुरूप ही इनके निबन्धों में भी विचारों की स्पष्टता व शैली की ऋजुता मिलती है । अत्यन्त तीखी, व्यंग्यपूर्ण एवं सशक्त शैली में निर्बाध रूप में अपने विषय को प्रस्तुत कर देनेवाले निबन्धकारों में डॉ. रामविलास शर्मा का विशेष स्थान है । उन्होंने साहित्य, कला, संस्कृति एवं राजनीति सम्बन्धी विषयों पर शताधिक निबन्ध प्रस्तुत किए हैं, जो संस्कृति और साहित्य', प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' आदि संग्रहों में संगृहित हैं । डॉ. शर्मा का दृष्टिकोण मार्क्सवादी या प्रगतिवादी है । इसके अतिरिक्त प्रकाश चन्द्र गुप्त एवं शिवदान सिंह चौहान ने भी प्रगतिवादी दृष्टिकोण से विभिन्न निबन्ध प्रस्तुत किए हैं । प्रकाश चन्द्र गुप्त के निबन्ध नया हिन्दी - साहित्य: एक भूमिका, साहित्य-धारा आदि तथा शिवदानसिंह चौहान' के निबन्ध साहित्यानुशीलन, 'आलोचना के मान' आदि में संग्रहीत हैं ।

डॉ. भगवतशरण उपाध्याय ने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक व सामाजिक विषयों पर उत्कृष्ट निबन्ध प्रस्तुत किए हैं । उनके निबन्ध-संग्रहों में 'भारत की संस्कृति का सामाजिक विश्लेषण', इतिहास के पृष्ठों पर, 'खून के धब्बे', सांस्कृतिक निबन्ध, आदि उल्लेखनीय हैं । डॉ. भगीरथ मिश्र के निबन्ध कला और साहित्य' में डॉ. भटनागर के 'अध्ययन और आलोचना' में तथा डॉ. 'दिनकर' के मिट्टी की ओर, 'अर्द्ध नारीश्वर, रेती के फूल' आदि में संगृहित हैं ।

आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने अनेक समीक्षात्मक एवं गवेषणात्मक निबन्ध लिखे थे जो एकता, विचार-विमर्श, आदि में संगृहीत है । नलिनविलोचन शर्मा, रांगेय राघव, डॉ. देवराज प्रभृति ने विभिन्न साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विषयों पर उच्चकोटि के निबन्ध लिखे है । इलाचन्द्र जोशी के अनेक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, यथा- साहित्य-सर्जना, 'विवेचन', 'विश्लेषण', 'देखा-परखा, महापुरुषों की प्रेम कथाएँ आदि । यशपाल ने कथा-साहित्य के अतिरिक्त निबन्ध-साहित्य की अभिवृद्धि में भी असाधारण योग दिया है । 'देखा, सोचा, समझा', 'मार्क्सवाद', चक्कर क्लब', न्याय का 'संघर्ष, 'गांधीवाद की

शव-परीक्षा, राज्य की कथा आदि संग्रहों में उनके विभिन्न प्रकार के निबन्ध संगृहीत है । उनकी शैली में सरलता और विचारोत्तेजकता मिलती है ।

हास्य-व्यंग्यपूर्ण निबन्धों के क्षेत्र में गोपाल प्रसाद व्यास, प्रभाकर माचवे एवं बेढब बनारसी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । व्यास जी के व्यंग्यय-विनोदपूर्ण निबन्ध 'कुछ सच: कुछ झूठ', आदि में संगृहित है । ये छोटी से छोटी बात को भी अत्यन्त रोचक एवं साहित्यिक ढंग से प्रस्तुत कर देने की कला में सिद्ध-हस्त हैं । उदाहरण के लिए स्नान घर में एक भैंस के घुस जाने की घटना को लेकर वे एक अनूठा निबन्ध रच देने के साथ-साथ यत्र-तत्र विभिन्न वर्गों के साहित्यकारों को भी भैंस के बहाने याद कर लेते हैं- 'एक दिन बाबाजी की पत्नी गुसलखाने में स्नान कर रही थी, तो भैंस भी अपना अधिकार समझकर उसमें घुस पड़ी । सँकरा दरवाजा, छोटी जगह । भैंस घुस तो गई, मगर अब निकले कैसे?...एकदम नई उलझन थी । प्रगतिशील भैंस के बढ़े हुए कदम प्रतिक्रियावादी होने की कतई तैयार न थे । '

देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोक-संस्कृति एवं लोक गीतों की पृष्ठभूमि को लेकर विभिन्न विषयों पर अनुभूतिपूर्ण निबन्ध लिखे हैं, जो 'एक युग: एक प्रतीक' , रेखाएँ बोल उठी, क्या गोरी क्या सावंरी, 'कला के हस्ताक्षर आदि में संगृहीत हैं । 'जयनाथ नलिन' के आलोचनात्मक निबन्ध 'कला और चिंतन में संगृहीत हैं, जो उनके मौलिक चिंतन के द्योतक हैं ।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' एवं रामनाथ सुमन ने जीवन और समाज के लिए प्रेरणादायक निबन्ध रोचक एवं प्रभावोत्पादक शैली में प्रस्तुत किये हैं । प्रभाकर जी के निबन्ध-संग्रहों में 'जिन्दगी मुस्कराई', 'बाजे पायलिया के घंघरू, दीपजले, शंख बजे', 'क्षण बोले, कण मुस्काये', आदि उल्लेखनीय हैं सुमन' जी के निबन्धों की संख्या शताधिक है, जो विभिन्न संग्रहों में संगृहीत हैं ।

शुक्लोत्तर युग स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का युग है । सन् 1947 में स्वतंत्रता की प्राप्ति हुई ओर उसके तुरन्त बाद पूरे देश को विभाजन की विभीषिका झेलनी पड़ी, ऐसे अवसर पर देश की विकास यात्रा अनेक समस्याओं के साथ शुरू हुई । विभाजन की विभीषिका के परिणामस्वरूप घृणा, द्वेष, स्वार्थ आदि के भाव जनमन पर छाने लगे, जिनका प्रभाव देश की धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों पर पड़ा । अब धर्म का सदियों से चला आ रहा प्रभाव टूटने लगा; आर्थिक दृष्टि से भारत ब्रिटिश सरकार द्वारा खोखला बना दिया गया था, इस विकट आर्थिक समस्या को सुलझाने के प्रयत्न शुरू हुए; राजनीति के क्षेत्र में कूटनीति का प्राधान्य होने लगा; राष्ट्र के प्रति निष्ठा के स्थान पर व्यक्ति के प्रति निष्ठा जनमन में जाग्रति होने लगी; सम्प्रदायवाद, प्रान्तीयता, जातीयता, भाषाभेद, वर्णभेद के भाव लेकर चलने वाला राजनीतिक वातावरण भ्रष्ट, जर्जर, खोखला होता गया ओर समाज दिशाहीनता की स्थिति में आ गया । इन परिस्थितियों से प्रभावित इस काल का निबन्धकार पूर्ववर्ती युगों की भांति इन

समस्याओं से आत्मीय ढंग से जुड़कर इनके पक्ष-विपक्ष में अपनी सम्मति नहीं देता है अपितु उनसे असम्पृक्त रहकर लिखने की कोशिश करता है । विषयगत व्यापकता और शैलीगत वैविध्य, कलात्मकता, भाषा के संयत और मानक रूपों में इस काल के निबन्धों को एक व्यापक आयाम दिया है ।

हिन्दी साहित्य की सेवा के लिए समर्पित महादेवी वर्मा ने निबन्ध लेखन की शुरूआत विचारात्मक निबन्धों से की थी । इन निबन्धों में उन्होंने भारतीय नारी की दुर्दशा से क्षुब्ध होकर सामाजिक रूढ़ियों के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त किया है । महादेवी के निबन्ध कथात्मकता ओर काव्यात्मकता से परिपूर्ण होकर समाज के विविध रूपों विशेषतः नारी की समस्याओं से जुड़े तथा समाज के शोषण पीड़ितों से सम्बद्ध विषयों के शब्दचित्र प्रस्तुत करते हैं । तार्किकता और भावप्रवणता से युक्त शैली, संस्कृतनिष्ठ अलंकारमयी भाषा महादेवी वर्मा के निबन्धों को अपूर्व सिद्ध कर देती है ।

जैनेन्द्र कुमार सर्वप्रथम चिन्तक हैं, फिर कथाकार और निबन्धकार । 'जैनेन्द्र के विचार', 'जड़ की बात, 'पूर्वोदय', मंथन', साहित्य का श्रेय ओर प्रेय', सोच विचार, 'ये और ये, 'इतस्ततः ', 'परिप्रेक्ष्य', राष्ट्र और राज्य' - जैनेन्द्र के निबन्ध संग्रह हैं । इन संग्रहों में उन्होंने साहित्य, संस्कृति, कला, धर्म, दर्शन, राष्ट्र, समाज आदि से सम्बद्ध विचार प्रधान निबन्ध लिखे हैं । प्रबल तर्कयुक्त विचार और चिन्तन उनके निबन्धों के प्राणत्व हैं । गाँधीवादी, समन्वयवादी, समाजवादी, जैनेन्द्र के निबन्ध प्रायः: विवेचन और आवेग शैली में लिखे गए हैं । भाषा पर उनका पूरा अधिकार है ।

भदन्त आनन्द कौशल्यायन के संस्मरण (जो भूल न सका); रामकुमार वर्मा के सहृदय कवित्व और विचारक व्यक्तित्व को एक साथ प्रमाणित करने वाले निबन्ध; लोकोन्मुख स्वच्छंद चेतना से परिपूर्ण देवेन्द्र सत्यार्थी के यात्रा वृतान्त से जुड़े निबन्ध भी शुक्लोत्तर कालीन निबन्धों के भण्डार को समृद्ध करते हैं । 'पथचिह्न, 'धरातल', 'परिव्राजक की कथा', 'प्रतिष्ठान', 'साकल्य, पदीमनायिका, 'आधान', वृन्त और विकास', समवेत, परिक्रमा, 'चित्र और चिन्तन' आदि निबन्ध संग्रहों के लेखक पण्डित शान्तिप्रिय द्विवेदी के निबन्धों में वर्तमान जगत का प्रभाव द्विवेदी जी पर पड़ा है । उनके निबन्धों में विषय वैविध्य अधिक नहीं है । पर काव्यात्मक भाषा, कोमलकान्त पदावली, रमणीयता और रसात्म्क्ता से युक्त शैली उन्हें श्रेष्ठ निबन्धकार सिद्ध कर देती है ।

'पुरुषता और कोमलता,' उपयोगिता और सौन्दर्य निष्ठा दोनों का अद्भुत समन्वय दिनकर के निबन्धों में मिलता है । साहित्य, धर्म, अध्यात्म, संस्कृति, राजनीति, विज्ञान आदि विविध विषयों से जुड़े दिनकर के निबन्धों में जनवादी राष्ट्रीय विचारों का पोषण हुआ है । भारतीय संस्कृति के प्रति अनुराग रखने वाले दिनकर के निबन्ध वैसे तो विवेचनात्मक शैली में लिखे गए हैं पर उनका कवि हृदय विचारों व भावुकता का प्रभाव डाल देता है, जिसके कारण उनकी शैली, अनुभूति और कल्पना प्रधान

काव्यात्मक शैली बन जाती है । दिनकर की भाषा विषयानुरूप, ओजोगुण और जिन्दादिली से पूर्ण है ।

कन्हैयालाल मिश्र जाकर के निबन्ध गीतिकाव्य के अधिक निकट हैं तो शिवदान सिंह चौहान, भगवतशरण उपाध्याय, अमृतराय, रामविलास शर्मा आदि के निबन्धों में प्रगतिवाद का प्रभाव दिखाई देता है । प्रगतिशील विचारधारा के अनन्य निबन्धकार रामविलास शर्मा ने भाषा, साहित्य, समाज, संस्कृति, कला, सौन्दर्य, इतिहास आदि विषयों पर उच्चकोटि के विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं । 'प्रगति और परम्परा,, साहित्य और संस्कृति', 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' आदि डॉ. शर्मा के उल्लेखनीय निबन्ध संग्रह है । मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित डॉ. शर्मा की समाज के शोषित वर्ग के प्रति विशेष सहानुभूति है । सरलता, बोधगम्यता, प्रचारात्मकता, व्यंग्यात्मकता, कथात्मकता जैसे वैशिष्ट्य से सम्पन्न रामविलास शर्मा के निबन्ध हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अन्यतम है ।

प्रोफेसर नामवर सिंह हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आन्दोलन धर्मी आलोचक के रूप में प्रख्यात है । इतिहास ओर आलोचना, 'छायावाद', कहानी :नई कहानी, 'कविता के नए प्रतिमान' आदि संकलनों में संकलित उनके अधिकांश निबन्ध विशुद्ध विचारात्मक हैं । बहुआयामी शैली और प्रवाहमयी, सहज, शक्तिसम्पन्न, विषयानुरूप भाषा में लिखे उनके निबन्धों में वैचारिक क्रमबद्धता, सम्प्रेषण की सहजता, दृष्टि की स्पष्टता परिलक्षित होती है । मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थक नामवर सिंह की हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में एक अलग पहचान है ।

गोपाल प्रसाद व्यास, हरिशंकर परसाई, अहात्मानन्द मिश्र, शरदजोशी श्रीलाल शुक्ल, प्रभाकर माचवे, रविन्द्रनाथ त्यागी आदि आधुनिक काल के हास्यव्यंग्यय शैली के श्रेष्ठ निबन्धकार हैं । वर्तमान जीवन की असंगतियों पर प्रहार करने वाले हास्य व्यंग्य शैली में लिखे गोपाल प्रसाद व्यास के - 'मैंने कहा', 'कुछ सच कुछ झूठ', तो क्या होता और 'हलो-हलो - निबन्ध संग्रहों का महत्वपूर्ण स्थान है । जीवन के विभिन्न क्षेत्र में पलने वाली घपलेबाजी, अनाचार असमंजस, दम्भ, मिथ्याचार - हरिशंकर परसाई के व्यंग्य बाणों के लक्ष्य हैं । अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने मुहावरेदार, सरल भाषा का प्रयोग करके अपने निबन्ध लेखन से हिन्दी निबन्ध विधा को अपूर्व योगदान दिया है । खरगोश के सींग, बेरंग, तेल की पकौड़ियां' आदि संग्रहों के लेखक प्रभाकर माचवे के निबन्धों में उनका चिंतन, गहन अध्ययन, सूक्ष्म निरीक्षण और पैना व्यंग्य मिलता है । रवीन्द्रनाथ त्यागी सरस व्यंग्य प्रतिभा और सतर्क दृष्टि रखने वाले व्यंग्यकार हैं । 'खुली धूप में नाव पर' भित्तिचित्र', मल्लिनाथ की परम्परा आदि त्यागी जी के हास्य-व्यंग्यात्मक लेखों के संग्रह हैं ।

ठाकुर प्रसाद सिंह तथा शिवप्रसाद सिंह सफल आत्म व्यंजक निबन्धकार हैं । विवेकीराय के निबन्धों में लोकमानस अभिव्यक्त हुआ है; रामदरश मिश्र ने ठेठ ग्रामीण संवेदना से जुड़कर आज के मनुष्य को प्रभावित करने वाले बुनियादी प्रश्नों पर विचार किया है

और कृष्ण बिहारी मिश्र के निबन्ध भी मानवीय संवेदना को अभिव्यक्त करते हैं । आत्मव्यंजक निबन्धकारों में रमेशचन्द्र शाह का नाम आज उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण निबन्धकार के रूप में लिया जाता है । उन्होंने भारतीय संस्कृति के बुनियादी तथ्यों को कल्पनाशील ढंग से रेखांकित किया है ।

हिन्दी निबन्ध के इस पूरे विकासक्रम का सिंहावलोकन करने पर यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दुकाल से अब तक यह विधा विकास के अनेक सोपानों को पार करती हुई आज एक अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान पर खड़ी हुई है । विषय-विस्तार और अभिव्यक्ति भंगिमा के स्तर पर अनेक नये क्षेत्रों में प्रविष्ट होने से इसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है और इसमें त्रैमासिक, मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्रों की अहम भूमिका रही है । इस विधा में जिन्दगी के प्रत्येक पक्ष को विभिन्न कोणों से देखने, परखने और अभिव्यक्त करने की जो सामर्थ्य है उससे इसकी अनन्त संभावनाएँ परिलक्षित होती हैं ।

11.6 सारांश

हिन्दी साहित्य जगत में एक लोकप्रिय और सशक्त विधा के रूप में प्रतिष्ठित निबन्ध का उद्भव उन्नीसवीं शताब्दी में गद्य के प्रचलन के साथ ही हुआ । हिन्दी की तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं ने इस विधा के विकास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।

निबन्ध गद्य साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण और सशक्त विधा है, जिसमें निबन्धकार विविध राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अनुभवजन्य घटनाओं, स्थितियों, प्राकृतिक परिवेश को प्रभावशाली भाषा और शैली द्वारा अभिव्यक्त करता है । वह विविध विषयों को अपने भावों और विचारों के अनुसार आत्मपरक रूप से ढालकर प्रस्तुत करता है । भाव और विचारों की अभिव्यक्ति, लेखक के व्यक्तित्व का प्रभाव, भाषा और शैली - निबन्ध रचना के ये चार आधार है ।

इन चार आधारों पर निबन्धों के विचारात्मक, भावात्मक, " वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, वस्तुपरक, आत्मपरक ललित, व्यंग्यात्मक आदि भेद किये जा सकते हैं ।

भारतेन्दुकाल में हिन्दी निबन्धों का जो स्वरूप आकार ले रहा था, वह धीरे-धीरे सुव्यवस्थित, सुगठित, परिमार्जित होकर गद्य की एक समृद्ध विधा बन गया । अध्ययन की सुविधा के लिए हिन्दी निबन्धों को भारतेन्दुकाल, द्विवेदी युग, रामचन्द्र शुक्ल युग तथा' शुक्लोत्तर युग - इन चार भागों में विभक्त किया गया । भारतेन्दुकालीन निबन्धों में अतीत गौरव और नवीन चेतना के स्वर मुखर हुए तो द्विवेदी युग के निबन्धों में गंभीरता और साहित्यिकता का समावेश हुआ । भाषा के परिष्कार के प्रयास भी इस समय में हुए । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो हिन्दी निबन्ध परम्परा के केन्द्र में ही हैं ।

सामाजिक परिस्थितियाँ द्विवेदी युगीन निबंधों को गाम्भीर्य, प्रौढ़ता प्रदान करने में समर्थ हुई । भाषा के परिष्कार, साज-सँवार का भी प्रयत्न इस युग में आरम्भ हुआ ।

भारतेन्दु कालीन भावनाओं, विचारों, शैलियों का विकास काल द्विवेदीयुग है । विषयगत गाम्भीर्य के कारण इस काल के निबन्धों में उपदेशात्मक वृत्ति का प्रभाव होने से वैचारिकता अधिक दिखाई देती है विनोद और हास्य की मात्रा वहाँ कम है । व्यंग्य है पर वह 'भावना के स्पर्श से तरल' (हिन्दी साहित्य कोष, पृ. 346) हो गया है, इस युग में भाषा व्याकरण सम्मत और परिष्कृत हुई, सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों के विवेचन की प्रवृत्ति बढ़ी तथा मनोविकारों के विश्लेषण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई । इस काल की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही कि साहित्य विवेचन की ओर निबन्धकारों का ध्यान गया और साहित्यिक निबन्धों की परम्परा की शुरूआत हुई । शुक्लोत्तर निबन्धकारों का एक वर्ग उन निबन्ध लेखकों का है, जो स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले से निबन्ध लेखन करते रहे हैं - बाबू गुलाबराय, बनारसीदास चतुर्वेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, शिवपूजन सहाय, सम्पूर्णानन्द, राहुल सांकृत्यायन, श्रीराम शर्मा, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', शान्तिप्रिय द्विवेदी, सियारामशरण गुप्त आदि ऐसे ही निबन्ध लेखक हैं । अतीत और वर्तमान की अनेकानेक समस्याओं पर विचार करते हुए निबन्ध लेखकों के इस वर्ग ने धर्म, दर्शन, अध्यात्म, विज्ञान, कानून, नीतिशास्त्र, राजनीति, संस्कृति, साहित्य, समाज, पूर्व त्यौहार, भाषा आदि विभिन्न विषयों पर निबन्ध लिखकर हिन्दी गद्य को समृद्ध किया है ।

इस काल के दूसरे वर्ग के निबन्धकार वे हैं, जिन्होंने लिखना भले ही स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले शुरू किया पर प्रतिष्ठित स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हुए । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, जैनेन्द्र कुमार, यशपाल, देवेन्द्र सत्यार्थी, दिनकर, कन्हैया लाल मिश्र प्रभाकर, भगवतशरण उपाध्याय, रामविलास शर्मा बालकृष्णराम, विनय मोहन शर्मा, डॉ. नगेन्द्र, अज्ञेय - प्रभाकर माचवे, लक्ष्मीचन्द्र जैन आदि इसी वर्ग के उल्लेखनीय निबन्धकार हैं । इन निबन्ध लेखकों में जीवन और साहित्य के विविध विषयों पर अपनी लेखनी चलाई है ।

इस प्रकार विद्यानिवास मिश्र, अमृतराय, मुक्तिबोध, कुबेरनाथराय डॉ. रघुवंश, डॉ. धर्मवीर भारतीय, हरिशंकर परसाई, शरदजोशी ठाकुर प्रसाद सिंह, श्रीलालशुक्ल, शिवप्रसाद सिंह, विवेकी राय, रविन्द्रनाथ त्यागी, प्रो. नामवर सिंह, कृष्णबिहारी मिश्र, केदारमिश्र - यह हिन्दी के आधुनिक निबन्धकारों का वह वर्ग है, जिन्होंने आज के परिवेश के अनुकूल यथार्थोन्मुख, जनतांत्रिक मूल्यों को व्यक्त करने वाले निबन्ध लिखकर इस विकासात्मक विधा को एक नई दिशा दी है ।

निष्कर्षत: निबन्ध स्वाधीन चिन्तन, निश्छल अनुभूति; सरस, सजीव और मर्यादित भाषा-शैली से सम्पन्न ऐसी साहित्यिक विधा है, जो केवल मानसिक आनन्द ही प्राप्त नहीं कराती अपितु समाज चेतना का प्रमुख अंग होने के कारण व्यष्टि और समष्टि का सेतुबन्ध भी है ।

11.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. निबन्ध का अर्थ स्पष्ट करते हुए निबन्ध के रचना विधान पर प्रकाश डालिए ।
2. हिन्दी निबन्ध के विकास की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए ।
3. हिन्दी निबन्ध के विकास में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के योगदान का उल्लेख कीजिए ।
4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की निबन्धकला पर प्रकाश डालिए ।
5. वर्णनात्मक व विवरणात्मक निबन्ध की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।
6. हिन्दी निबन्ध की विकास यात्रा पर विवेचन-विश्लेषण कीजिए ।
7. निबन्ध के वर्गीकरण पर एक लेख लिखिए ।
8. निम्नलिखित निबन्धकारों के निबन्धों की विशेषताएँ बताइए -
   प्रतापनारायण मिश्र, हजारी प्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, नगेन्द्र ।

11.8 संदर्भ ग्रन्थ

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी साहित्य का इतिहास, 1997 (दि. संस्करण)
2. डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी वाडमय : बीसवीं सदी
3. गणपति चन्द्र गुप्त; हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, हिन्दी साहित्य कोष भाग - 1, हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, त्रयोदश भाग
4. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी; छायावादोत्तर हिन्दी गद्य साहित्य
5. बाबू गुलाब राय; काव्य के रूप
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्ता; साहित्यिक निबन्ध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971
7. डॉ. हरिमोहन; प्रतिनिधि हिन्दी निबन्धकार
8. रामस्वरूप चतुर्वेदी; हिन्दी साहित्य व संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986
9. डॉ. नीरजा टण्डन; हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध
10. डॉ. जयपनाथ नलिन; हिन्दी निबन्धकार

इकाई-12 कथेतर गद्य विधाओं की परम्परा व विकास

इकाई की रूपरेखा :

12.1 उद्देश्य
12.2 प्रस्तावना
12.3 गद्य में कथेतर विधाओं का विकास
12.4 कथेतर गद्य विद्याएँ : परिचय
12.4.1 संस्मरण
12.4.2 व्यंग्य
12.4.3 जीवनी
12.4.4 आत्मकथा
12.4.5 यात्रा-वृतांत
12.4.6 रेखा-चित्र
12.4.7 रिपोर्ताज
12.4.8 फीचर
12.4.9 डायरी
12.5 साहित्य में कथेतर गद्य विधाओं का महत्त्व
12.6 सारांश
12.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
12.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

12.1 उद्देश्य

हिन्दी का साहित्य मात्र कथा -विधा (उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी) ही नहीं है या शोधपरक निबन्ध, आलेख, आलोचना आदि ही नहीं है । इनसे इतर भी अन्य विधाएँ हैं जो उक्त श्रेणियों में न आकर भी उतनी ही मनोरंजक हैं, ज्ञानवर्द्धक हैं और वैचारिक तौर पर साहित्य के विद्यार्थियों को समृद्ध भी कर सकती हैं । इन सब से परिचित कराना, इनको पढ़कर साहित्य को अधिक गहराई से जानना, समझना सिखाना एवं साहित्य-दृष्टि को विकसित करते हुए इन विधाओं की व्याख्या, समीक्षा आदि करना सिखाना ही इस इकाई का मूल उद्देश्य है । इस इकाई के अध्ययन के पश्चात -

1. विद्यार्थियों को साहित्य की समग्र विधाओं का परिचय मिल सकेगा ।
2. विद्यार्थियों को साहित्य की मुख्य धारा के अतिरिक्त समानान्तर विधाओं के विकास का ज्ञान हो सकेगा ।
3. विद्यार्थियों को कथेतर विधाओं के साहित्यिक महत्व की ज्ञानकारी हो सकेगी

4. विद्यार्थियों को कथेतर विधाओं के विभिन्न पक्षों और रूपों की जानकारी मिल सकेगी ।
5. विद्यार्थियों को साहित्य में कथेतर विधाओं के योगदान की जानकारी मिल सकेगी।
6. विद्यार्थियों में हिन्दी-साहित्य की महत्त्वपूर्ण कथेतर रचनाओं को पढ़कर उनका विवेचन करने की क्षमता विकसित हो सकेगी ।

12.2 प्रस्तावना

चाहे कथेतर विधाएँ साहित्य में नवीन हों किन्तु अब वैश्विक एवं हिन्दी साहित्य में ये महत्त्वपूर्ण स्थान पा चुकी हैं । विभिन्न रचनाकार इन विधाओं में महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं । साहित्य के गम्भीर पाठक से लेकर सामान्य जन तक इन विधाओं का रसावादन समान भाव से करते हैं । रोचकता एवं निजता इनको पठनीय बनाने में महत्त्वपूर्ण घटक हैं तथा साहित्य के विद्यार्थी के लिए ये उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी कथागत विधाएँ ।

कथा-साहित्य के साथ ही अन्य कथेतर विधाएँ - निबन्ध, आलोचना, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रिपोर्ताज, यात्रावृत आदि भी इस युग में आविर्भूत, विकसित हुई एवं क्रमशः विकसित होती गई । जैसे-जैसे हिन्दी रचनाकार बंगला एवं मराठी जैसी भारतीय भाषाओं के तथा अंग्रेजी, रूसी जैसी विदेशी भाषाओं के सम्पर्क में आता गया वैसे-वैसे हिन्दी गद्य भी समृद्ध होकर बहुमुखी विस्तार पाता गया ।

12.3 हिन्दी गद्य में कथेतर विद्या का विकास

साहित्य मूलतः मनुष्य की अभिव्यक्ति ही है जो संस्कृत वांग्मय से लेकर आदिकाल तक लय छन्द एवं तुक में बद्ध रही । आदिकाल, जिसे हम खड़ी बोली का 'बीजवपन' काल भी कह सकते हैं, में गद्य - साहित्य का आरम्भ स्पष्ट रूप से दिखाई देता है । रोड़ा कवि लिखित चम्पू राउल-वेल' तथा पं. दामोदर शर्मा लिखित 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' इस बात के साक्षी हैं ।

अगर हिन्दी गद्य साहित्य के एवं उसकी विभिन्न विधाओं के विकास-क्रम पर दृष्टि डालें तो यह तथ्य आश्चर्य चकित कर सकता है कि हिन्दी गद्य में कथा साहित्य का विकास कथेतर साहित्य के काफी पश्चात हुआ ।

आदि काल में ये कथेतर विद्या जहाँ व्याकरण एवं सिद्धान्त पुस्तक तक बढ़कर ही रूक गई वहीं रीतिकाल में इनका पर्याप्त विकास हुआ । इस युग में कथा-साहित्य जहाँ पूरी तरह पद्य पर निर्भर रहा या उपदेशात्मक, धार्मिक, पौराणिक कथा-रचना मात्र में सिमट कर रह गया वहीं कथेतर साहित्य की अनेक विधाओं ने जन्म लिया । ये कथेतर साहित्य कथा- साहित्य की तुलना में प्रौढ़, समृद्ध एवं बहुमुखी था । साहित्य के टीका-टिप्पणी के अतिरिक्त वर्णन, दवावैत, सलोका पत्र वंशावली, पटटावली, चरित्र (जीवनी), प्रश्नोत्तर (साक्षात्कार), सलीका, गोसट आदि कथेतर विद्या -रूप इसी युग में

उद्भूत हुए । 'चौरासी वैष्णवन : की वार्ता 'हिन्दी साहित्येतिहास का पुरोधा मानी जा सकती है ।

आधुनिक युग के प्रारम्भिक रचनाकाल में कथेतर गद्य-विद्याओं में लेखन कार्य होता रहा किन्तु इनमें अधिकांशतः (हिन्दी प्रचार अभियान के चलते) टीका टिप्पणी एवं अनुवाद तथा कोश, सार आदि के रूप में ही प्राप्त होता है । 'व्यंग्य' वो कथेतर विधा है जिसके आविर्भाव का श्रेय इस युग को प्राप्त हुआ है । राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने 'आलसियों का कीड़ा', 'भूगोलहस्तामलक,' 'इतिहास तिमिरनाशक आदि व्यंग्य लिखे । बाबू हरिश्चन्द्र के युग में एक ओर जहाँ खड़ी बोली ने पूर्ण विकास पाया वहीं हिन्दी गद्य का विकास भी तीव्रतम रूप से हुआ । गद्य की कथा विधाओं में नवीनता एवं विविधता इस युग की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है वहीं कथेतर गद्य विधाओं में कई नवीन आयाम जुड़ गए । कथेतर साहित्य में पत्र, चरित (जीवनी), व्यंग्य तो पूर्व में भी उपलब्ध होते हैं किन्तु इस युग में इन विधाओं ने परिष्कृति पाई । इनके साथ ही रेखा-चित्र, संस्मरण, आत्मकथा, यात्रा वृतांत आदि भी इस युग में लिखे गए । इनमें से कुछ विधाओं (व्यंग्य, संस्मरण) आदि का प्रवर्तक तो स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही किया।

परिवर्तित होते युग एवं उसके साथ ही परिवर्तित होती युग चेतना एवं अन्य भाषाओं के साहित्य के परस्पर आदान प्रदान के साथ ही कुछ नवीनतम विधाएँ, जो कि हिन्दी में बिलकुल नवीन थीं, भी इसी युग में विकसित हुई । रिपोतार्ज, डायरी, फीचर जैसी कथेतर विधाएँ पाश्चात्य साहित्य से हिन्दी में आई ।

वर्तमान में उक्त कथेतर विधाओं में एक नवीन नाम और जुड़ गया है - 'आत्म कथात्मक उपन्यास' । कथा साहित्य एवं कथेतर साहित्य के बीच की इस विधा को आत्मकथा में सम्मिलित किया जा सकता है ।

कथेतर गधाएँ एक कल्पित या अर्धकल्पित कथा में बेधकर कुछ पात्रों एवं घटनाओं के द्वंद्व द्वारा एक निश्चित कथा रस चाहे पाठकों को न दें लेकिन उक्त विधाओं में लालित्य का भाव तथा वस्तु तथ्य की विश्वसनीयता लेखक की निजता से जुड़कर पाठक को उस बिम्ब लोक में ले जाती है जहाँ वह पाठक न होकर दर्शक हो उठता है। कथेतर विधाओं की यह विश्वसनीयता एवं विविधता ही उन्हें निरन्तर लोकप्रियता प्रदान कर रही है । साहित्य-प्रेमियों का एक बड़ा वर्ग है जो कथा-साहित्य की तुलना में कथेतर साहित्य को पसंद करता है। और इन्हीं कारण साहित्य समीक्षा-आलोचना के मानदण्ड भी तयशुदा मानकों से अलग बन गए हैं।

12.4 कथेतर विधाएँ : परिचय

12.4.1 संस्मरण

आधुनिक गद्य साहित्य की कथेतर विधाओं में संस्मरण साहित्य एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । संस्मरण शब्द की उत्पत्ति स्मृ धातु में सम उपसर्ग तथा

ल्युट (अन्) प्रत्यय लगने से हुई जिसका शाब्दिक अर्थ है-सम्यक रूप से अर्थात पूर्ण रूप से स्मरण करना । इस प्रकार संस्मरण का अर्थ है किसी घटना वस्तु दृश्य आदि के समग्र रूप का आत्मीयता एवं गम्भीरता से स्मरण करना ।

संवेदनशील लेखक का हृदय किसी कारणवश एक साधारण व्यक्ति को भी विशिष्ट रूप में ग्रहण करके उसके व्यक्तित्व तथा जीवन के किसी पक्ष को प्रस्तुत करता है तो उसे संस्मरण कहते हैं । कभी-कभी इस अभिव्यक्ति का माध्यम कोई घटना वस्तु अथवा क्रियाकलाप भी होते हैं ।

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने संस्मरण शब्द को अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है । 'मानक हिन्दी कोश (सं. रामचन्द्र वर्मा, पृ 245) में संस्मरण शब्द को अधिक आत्मपरकता का सूचक माना गया है जबकि 'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ ' (सं. द्वारका प्रसाद शर्मा, पृ. 1126) में 'स्मृति के आधार पर किसी विषय या व्यक्ति के सन्दर्भ में लिखित लेख या ग्रंथ' को ही संस्मरण कहा गया है । हिन्दी -विद्वान बाबू गुलाबराय संस्मरण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं वे प्रायः घटनात्मक होते हैं, किन्तु वे घटनाएँ सत्य होती हैं और साथ ही चरित्र की परिचायक भी । उनमें थोड़े चटपटेपन का भी आकर्षण रहता है, संस्मरण चरित्र के किसी एक पहलू की झाँकी देते हैं । "

एनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिया में संस्मरण के विषय में लिखा है “The writers of memories is usually a person who has played a distinguished role in history or who had the opportunity to observe at close range history in the making.”

संस्मरण साहित्य की वह कथेतर विधा है जिसकी कई विशेषताएँ साहित्य की अन्य विधाओं में भी पाई जाती हैं । इसी कारण रेखाचित्र, जीवनी, रिपोर्ताज आदि को प्रायः: एक ही मान लिया जाता है । इनमें भी रेखाचित्र व संस्मरण को एक ही मान लेने की अनुशंसा कई विद्वान करते हैं, क्योंकि ये दोनों समकक्ष गद्य - रूप हैं । जबकि ये एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न विधाएँ हैं ।

वैयक्तिकता, चित्रोवमता, निजता तथा जीवन के किसी खण्ड विशेष का चित्रण संस्मरण की प्रमुख विशेषता होती है, इसमें लेखक के निजी जीवन सूत्र भी अनिवार्य रूप से गूँथे होते हैं । महादेवी वर्मा ने इसे स्वीकारते हुए लिखा है - "इन में मेरा जीवन भी स्वाभाविक रूप से आ गया है । " महादेवी वर्मा मूलत: कवयित्री हैं किन्तु उनके लिखे संस्मरण हिन्दी संस्मरण साहित्य की अनमोल थाती हैं । 'सिस्तर के वास्ते' तथा 'गिल्लू' जैसे अनेक रोचक संस्मरण आपने लिखे हैं ।

कथा का रंजन तत्व भी अनिवार्य रूप से संस्मरण में होता है लेकिन काल्पनिक न होकर सत्य रूप में । इसलिए इनकी विश्वसनीयता पाठक से तादात्म्य स्थापित कर लेती हैं ।

संस्मरण लेखन दो प्रकार से किया जा सकता हैं । एक, जिसमें लेखक दूसरे के जीवन की किसी घटना को समग्रत: प्रस्तुत करता है, इसे अंग्रेजी में Reminiscences कहते हैं । और दूसरा, जिसमें लेखक स्वयं अपने जीवन की किसी घटना को शब्द बद्ध करता है, जो अंग्रेजी में Memories कहलाता हैं ।

संस्मरण में कथा- साहित्य की तरह ही कथा वस्तु, पात्र, देशकाल, भाषा शैली एवं उद्देश्य आदि तत्व होते है किन्तु इनका आधार सत्य होता है जिन्हें वह अपनी निजी अनुभूतियों व लेखन कला से सजाकर सुन्दर बना देता है ।

संस्मरण लेखन का उद्देश्य अतीत की कुछ स्मृतियों के माध्यम से नवीन मानव-मूल्यों की स्थापना करना होता है । संस्मरण जितना अधिक जीवन के नजदीक होगा उसका उद्देश्य भी उतना ही सटीक महत्वपूर्ण एवं सारगर्भित होगा ।

महादेवी वर्मा ;सिस्तर के वास्ते, गिल्लूद्ध, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर (जिन्दगी मुस्काई), रामवृक्ष बेनीपुरी (माटी की मूरतें),राहुल सांकृत्यायन (मेरे असहयोग के साथी), मोहन राकेश (गर्दिश के दिन), उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (मंटो, मेरा दुश्मन), रामधारी सिंह दिनकर (संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ), हरिवंशराय बच्चन (नए-पुराने झरोखे) आदि ने उल्लेखनीय संस्मरण लिखे हैं । वर्तमान में भी कांतिकुमार जैन (फाइव स्टार प्रोफेसर), रवीन्द्र कालिया ;गालिब छुटी शराबद्ध, सूरजपाल चौहान, पंकज सिंह, राजेन्द्र यादव, प्रियंवद, गिरीराज किशोर आदि साहित्यकार इस विधा को समृद्ध करने में लगे हैं । यों हर बड़ा रचनाकार संस्मरण विधा में लिखता ही है ।

12.4.2 व्यंग्य

व्यंग्य 'हास्य, छद्म, प्रहसन, वक्रोक्ति' आदि नामों से सदैव ही साहित्य में रहा है । किन्तु उसका रूप स्वायत्त न होकर मूल विधा के मध्य गौण अथवा सहायक रूप में चलता रहा जो मूल कथा की एकरसता को तोड़ने अथवा पात्रों या स्थितियों की विद्रूपताओं को उजागर करने में सहयोगी होता रहा । इसे स्वायत्त विधा का दर्जा बीसवीं शती के आरम्भ में बाबू हरिश्चन्द्र एवं उनके सहयोगियों के द्वारा मिला लेकिन पूर्ण विकसित रूप स्वातंत्रयोत्तर काल में आकर मिला ।

हास्य एवं व्यंग्य में पूरी तरह भिन्नता है । व्यंग्य कार का हास्य सोद्देश्य होता है, वह केवल मनोरंजन के लिए नहीं होता । हास्य के साथ ही यथास्थिति के बोध से जन्मी पीड़ा जनक अनुभूति को व्यक्त करने के लिए लेखक हास्य के साथ वक्रोक्ति एवं 'वाग्वैदग्ध्य' का सहारा लेकर रचना करता है वह व्यंग्य होता है । हास्यकार अपने आलम्बन का मजाक सहानुभूति पूर्ण ढंग से उड़ाता है जबकि व्यंग्यकार का उद्देश्य हँसी द्वारा दंड देना है । हास्य का उद्देश्य मनोरंजन करना है, व्यंग्य का इंगित करना । हास्य में भाव तत्व प्रमुख होता है, व्यंग्य में बुद्धि तत्व । हास्यकार को असामाजिक तत्व के नैतिक पक्ष से कुछ लेना देना नहीं रहता है, वह उस विकृति का वर्णन करके सन्तोष कर लेता है जबकि व्यंग्यकार हर प्रकार की स्थिति को गम्भीरता से देखकर

निर्ममता से उसका पर्दाफाश करता है एवं समाज से अपेक्षा रखता है कि उस व्यक्ति की भर्त्सना करे ।

प्रमुख व्यंग्यकार शंकर पुणताम्बेकर व्यंग्य को इस तरह परिभाषित करते हैं व्यंग्य युग - विसंगतियों की वैदग्ध्यपूर्ण तीखी अभिव्यक्ति है । युग-विसंगतियाँ हमारे चारों और के यथार्थ-जगत से, वैदग्ध्य इस विसंगतियों को वहन करने वाले शैली-सौष्ठव से तथा तीखापन विसंगति एवं वैदगध्य के चेतना पर पड़ने वाले मिले जुले प्रभाव से सम्बन्धित है । "

सारांश में समझा जाए तो व्यंग्य की असली पहचान उसकी वह सूक्ष्मता है जो वाग्वैदग्ध्य, लाक्षणिकता, अन्योक्ति एवं चमत्कार में निहित है, ये तत्व ही उसे हास्य से अलग करते है । व्यंग्य एक बौद्धिक अनुभूति है हास्य की रसात्मक संवेदना से बिलकुल भिन्न । उसकी चिंतनोन्मुखता भी उसका महत्त्वपूर्ण तत्व है । कथा -साहित्य की तरह व्यंग्य रचना में पात्र, संवाद, देशकाल, उद्देश्य आदि सभी तत्व विद्यमान होते हैं, साथ ही मनोरंजन या रस' भी अनिवार्य रूप से विद्यमान होता है । अन्तर है तो इसके उद्देश्य का । व्यंग्यकार का उद्देश्य सहृदय का रंजन मात्र न करके उसे जीवन के कटु, भदेस यथार्थ व यथास्थिति की जटिलता से परिचय कराना है ।

भारतेन्दु युग में बालमुकुन्द गुप्त लिखित 'शिवशम्भू का चिट्ठा' नामक श्रृंखला व्यंग्य-विधा के लिए मील का पत्थर साबित हुई । वस्तुतः इस युग में व्यंग्य -विधा का जो विकास हुआ वह अप्रतिम है । स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले व्यंग्य विधा पूरी तरह स्वतंत्र नहीं थी, वह नाटक, उपन्यास, कहानी एकांकी, निबन्ध आदि के रूप में लिखी जाती रही । स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात देश की दुरवस्था में बाबूशाही, भ्रष्ट व्यवस्था, बेईमान नेता तथा अफसर और जुड़ गए, आम आदमी स्वतंत्र होकर भी ज्यादा बेचारा हो उठा । ऐसे में बहुत से नव लेखकों ने कलम को एक तीखी छुरी के रूप में अपनाया एवं व्यंग्य रचनाएँ लिखीं । क्योंकि वो जान गया था कि यहाँ न कान्तासम्मित उपदेश काम आएगा न लालित्य का लेप । हास्य की सुगर कोटेड गोलियाँ तो पहले ही नाकारा सिद्ध हो चुकी थी ।

हिन्दी - व्यंग्य विधा को समृद्ध करने में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', बालमुकुंद गुप्त 'शिव शंभु का चिट्ठा, हरिशंकर परसाई (ठिठुरता हुआ गणतंत्र), शंकर पुणताम्बेकर (गिद्ध मंडरा रहे हैं), रवीन्द्रनाथ त्यागी (अतिथि कक्ष), शरद जोशी (जीप पर सवार इल्लियाँ), श्रीलाल शुक्ल (बया बन्दर की कहानी) से लेकर जवाहर चौधरी (नाक के बहाने), मंगल बादल (यह दिल युग है), अनिल तिवारी (टोपियाँ बदलने का मौसम), आलोक पुराणिक, अजय अनुरागी एवं यशवंत व्यास (अब तक छप्पन) आदि प्रमुख लेखक हैं ।

12.4.3 जीवनी :

जीवन के किसी भी क्षेत्र में अपना महती योगदान देने वाले व्यक्ति विशेष के बारे में, उसके जीवन-वृत को जानने में, आम पाठक को उत्सुकता रहती है । पाठकों की इस कामना की तुष्टि हेतु तथा सम्बन्धित व्यक्ति के कमी एवं उपलब्धियों द्वारा समाज को प्रेरित करने हेतु जीवनी-विधा का आविर्भाव हुआ । हिन्दी में इसे जीवन- चरित अथवा जीवन-चरित्र भी कहा जाता है । जीवन चरित्र में निहित दोनों शब्दों को अलग करें तो जीवन के अन्तर्गत नायक के जीवन की स्थूल बाहय घटनाएँ को और चरित्र के अन्तर्गत नायक की आन्तरिक विशेषताएँ आ जाती हैं ।

जीवनी में सामान्यतः: नायक के सम्पूर्ण जीवन या उसके यथेष्ट भाग की चर्चा होनी चाहिए किन्तु यह अपरिहार्य नियम भी नहीं है ।

जीवनी नायक के जीवन काल में भी लिखी जाती है लेकिन इस स्थिति में उसके सम्पूर्ण जीवन का परिचय देना संभव नहीं होता । जीवनी का संक्षिप्त रूप संस्मरण को माना जा सकता है । पाश्चात्य विद्वान शिप्ले ने कहा है 'जीवनी को नायक के सम्पूर्ण जीवन अथवा उसके यथेष्ट भाग की चर्चा करनी चाहिये और अपने आदर्श रूप में एक विशिष्ट इतिहास होना चाहिए । " लेकिन इस बात को पूर्णत नहीं स्वीकारा जा सकता क्योंकि जीवनी साधारण इतिहास और काल्पनिक कथा दोनों से भिन्न होती है ।

यद्यपि जीवनी को कथेतर विधाओं की श्रेणी में रखा जाता है, लेकिन साहित्य के प्रायः: सभी तत्व इसमें विद्यमान रहते हैं ।

जीवनी-लेखक एक इतिहासकार की तरह चरित्र नायक के विषय में अनुसन्धान की प्रक्रिया को अपनाता है फिर उपलब्ध तथ्यों को इस तरह सँजोता है कि उसमें साहित्य का लालित्य उद्भासित हो उठता है । जीवनीकार का विशेष ध्यान वर्ण्य व्यक्ति की सत्प्रवृतियों, उदात्त भावनाओं तथा सराहनीय कार्यों पर होता है तथापि चरित्र नायक की मानवसुलभ दुर्बलताओं का भी सम्यक वर्णन जीवनी में होता है । जीवनी में व्यक्ति ही मुख्य और अंगी होता है, देशकाल यहाँ अंगभूत होकर व्यंग्य होता है ।

जीवनी विधा में निरपेक्षता, सन्तुलन, सहृदयता एवं विषय-अन्विति लेखक को सफल जीवनी कार बनाती जीवनी विधा के सूत्र हमें उत्तर मध्यकाल के गद्य में ही प्राप्त होने लगते है । स्वामी गोकुलनाथ लिखित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता तथा नाभादास रचित 'भक्तमाल' को जीवनी लेखन का आदि काल कहा जा सकता है ।

खड़ी बोली के गद्य में जीवनी लेखन का प्रारम्भ भारतेन्दु युग में कार्तिक प्रसाद खत्री, देवीप्रसाद मुन्सिफ आदि से माना जाता है । ब्रजललादास ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की जीवनी 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' शीर्षक से ही लिखी है । सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला पर डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा लिखित जीवनी 'निराला की साहित्य साधना' और मुंशी प्रेमचन्द पर अमृत राय लिखित 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' तथा मदन गोपाल लिखित 'प्रेमचन्द : कलम का मजदूर' साहित्य जगत में प्रसिद्ध जीवनियाँ हैं ।

जीवनी - साहित्य में विष्णु प्रभाकर द्वारा लिखित शरतचंद्र चटर्जी की जीवनी 'आवारा मसीहा' हिन्दी साहित्य में कीर्ति स्तंभ मानी जाती है । साठोत्तरी साहित्य में लिखी गई महत्त्वपूर्ण जीवनियों में कान्तिकुमार जैन लिखित 'आपका परसाई' हरिशंकर परसाई पर बेहद प्रसिद्ध जीवनी है ।

जीवनी साहित्य में कथात्मकता के मेल से जीवनी परक उपन्यासों की परम्परा भी हिन्दी गद्य में रही है । इनमें अमृतलाल नागर लिखित 'खंजन नयन' (सूरदास), संजीव द्वारा लिखित सूत्रधार (भिखारी ठाकुर) तथा मैत्रेयी पुष्पा लिखित 'कही इसूरी फाग' (इसुरी) कुछ उपन्यास हैं जो उक्त प्रसिद्ध लोक कलाकारों की जीवनियाँ हैं ।

12.4.4 आत्मकथा

हिन्दी के आधुनिक गद्य साहित्य में आत्मकथा का स्वतंत्र विधा के रूप में उद्भव अपने आप में एक पर्याप्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है । यह भी जीवनी की तरह एक संस्मरणात्मक गद्य-विधा है किन्तु इसे इसे पूर्णतः संस्मरण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, 'आत्मकथा' लेखक के अपने जीवन की कथा होती है । ओमप्रकाश सिंघल आत्मकथा को ऐसे परिभाषित करते हैं - "जब कोई व्यक्ति अपनी जीवनी स्वयं लिखता है तब उसे आत्मकथा कहते हैं । साहित्य की इस विधा में लेखक वर्णनात्मक शैली में अपने जीवन का एक ऐसा क्रमिक ब्यौरा प्रस्तुत करता है कि न केवल उसके जीवन को संजीवनी प्रदान करने वाली मूल शक्ति का पता चल जाता है अपितु उसका अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व भी साकार हो उठता है । आत्मकथा लेखक के अतीत का लेखा जोखा भर नहीं है, यह तो परिवेश विशेष में जिए गए क्षणों का पुनः सृजन है । पुन:सृजन होने के कारण ही इसकी गणना सर्जनात्मक साहित्य के अन्तर्गत की जाती है ।"

आत्मकथा लेखन एक जटिल कार्य है । लेखक द्वारा अपने सम्यक चरित्र का ईमानदार एवं निरपेक्ष विश्लेषण करना अत्यंत दुष्कर एवं साहसपूर्ण कार्य है । अपने गुणों का वर्णन स्वयं करना एवं अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं को निस्संकोच तटस्थ भाव से समाज के समक्ष प्रस्तुत करना साहस की माँग करता है । प्रसिद्ध आत्मकथा लेखक एथिल मेनन के अनुसार सुखद अनुभवों की अपेक्षा दुखद अनुभव या बेचैन करने वाली अतीत की स्मृतियाँ औरो के समक्ष प्रकट करने पर संतोष का अनुभव होता है । " इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध चिन्तक रूसो का अपनी आत्मकथा (कन्फेश्न) में लिखा कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है - 'जब मुझे ईश्वर का बुलावा होगा तब मैं इसी आत्मकथा को उसके समक्ष प्रस्तुत करूँगा और कहूँगा कि हे ईश्वर! मैंने इसी तरह संसार में व्यवहार किया है । मैं अपने पुण्य और पाप कर्म तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ । '

अपने गुणों को अधिक विस्तार में प्रस्तुत करने से बचना, अपने दोषों का खरेपन से उद्घाटन करना एवं अपने जीवन में आए व्यक्तियों के वर्णन के समय उनकी निजता

व सम्मान-रक्षा का ध्यान रखते हुए संतुलित रूप से परे मूल्यांकन करना आत्मकथा लेखक के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है ।

अधिकांश विद्वानों का मत है कि आत्मकथा एक संस्मरणात्मक विधा है, किन्तु इस आधार पर संस्मरण और आत्मकथा को एक ही नहीं मान लेना चाहिए । इन दोनों विधाओं में पर्याप्त वैभिन्नय है । आत्मकथा-लेखक की दृष्टि चित्रण की ओर केन्द्रित रहती है जबकि संस्मरण बाह्य घटनाओं तथा वस्तु-वर्णन की ओर अधिक ध्यान देता है । न्यूनाधिक रूप में आत्मकथा में कथा-साहित्य की समस्त विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं । घटना, चरित्र-चित्रण, देशकाल एवं उद्देश्य आदि तत्व भी दोनों में समान होते हैं, लेकिन शैली में भिन्नता होती है । आत्मकथा उत्तम पुरुष शैली में लिखी जाती है और कल्पनाशीलता की गुंजाइश भी यहीं नहीं होती ।

हिन्दी साहित्य में आत्मकथा लेखन की शुरूआत तो छायावाद युग में आ कर हुई किन्तु इसकी परम्परा काफी प्राचीन है । अधिकांश साहित्यकार जैन कवि बनारसीदास रचित 'अर्ध कथानक' को हिन्दी की प्रथम आत्मकथा मानते हैं, यह पद्यात्मक रूप में है । हिन्दी-गद्य के विकास में भारतेन्दु युग से इस विधा का रूप विधान आरम्भ हुआ । स्वयं भारतेन्दु ने 'कुछ आपबीती-कुछ जगबीती' नाम से आत्मकथा लिखना आरम्भ किया जो उनकी असामयिक मृत्यु के कारण अपूर्ण रह गई ।

मुंशी प्रेमचन्द द्वारा प्रकाशित 'हंस' पत्र के आत्मकथा विशेषांक ने हिन्दी आत्मकथा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । इसी अंक में स्वयं प्रेमचंद की आत्मकथा जीवनसार भी प्रकाशित हुई ।

आत्मकथा लेखन वह विधा है जो मात्र साहित्यकारों की कलम तक ही सीमित नहीं रही। जीवन के अन्य क्षेत्र के महापुरुषों द्वारा भी आत्मकथाएँ लिखी गई हैं । महात्मा गाँधी (मेरी आत्मकथा), जवाहरलाल नेहरू (मेरी कहानी), हरिभाऊ उपाध्याय (साधना के पथ पर) तथा डॉ. राजेन्द्र प्रसाद (मेरी आत्मकथा) ऐसी ही रचनाएँ हैं ।

हिन्दी के महान शोधकर्ता विद्वान राहुल सांकृत्यायन रचित 'मेरी जीवन यात्रा, यशपाल लिखित 'सिंहावलोकन', तथा पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' लिखित 'अपनी खबर कुछ महत्त्वपूर्ण आत्मकथाएँ है । हिन्दी साहित्य में सर्वश्रेष्ठ आत्मकथा हरिवंशराय बच्चन द्वारा लिखित मानी जाती है । 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', 'नीड़ का निर्माण फिर', 'बसेरे से दूर तथा 'दशद्वार से सोपान तक' नामक चार खंडों में प्रकाशित हुई ये आत्मकथा कृति हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर बन गई है ।

वर्तमान में महिला लेखन भी काफी सक्रिय है । प्रसिद्ध लेखिका प्रभा खेतान लिखित 'अन्या से अनन्या' तथा मन्नू भंडारी लिखित 'एक सच यह भी' चर्चित आत्मकथाएँ हैं।

नवलेखन में आत्मकथा विधा एक अन्य स्वरूप में भी विकसित हुई है - आत्मकथात्मक उपन्यास के रूप में । प्रभा खेतान 'द्वारा लिखित 'छिन्नमस्ता तथा मैत्रेयी पुष्पा लिखित 'कस्तूरी कुंडल बसे' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' ऐसे ही आत्म कथात्मक उपन्यास हैं ।

12.4.5 यात्रा-वृतांत

यात्रा - वृत लेखन की परम्परा आधुनिक युग में आविर्भूत साहित्यिक प्रवृति नहीं है । 'मेघदूत और रघुवंश में हमें इस परम्परा के बीज दिखाई पड़ते हैं जो यात्रा-वृत-लेखन की सुदीर्घ परम्परा को दर्शाते हैं तथा अनेक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों का भी परिचय देते हैं । मेगस्थनीज लिखित 'इंडिका' भी प्रकारान्तर से यात्रा-वृत हैं । इब्नबतूता, ह्वेन सांग आदि अनेक विदेशी यात्रियों के यात्रावृत हमें प्राप्त होते हैं । यात्रा-वृत विधा के बारे में डॉ. प्रतापसिंह राठौड़ का कथन पठनीय है- 'यात्रा-वृत के विषय में एक तथ्य विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि यात्रा-वृत साहित्य और इतिहास दोनों की धरोहर है । साहित्यिक यात्रा-वृत लेखन में लेखक की व्यक्तिगत विशेषताएँ भी भली भाँति उजागर होती हैं किन्तु ऐतिहासिक यात्रा-वृत में लेखक की व्यक्तिगत विशेषताओं की अभिव्यक्ति के लिए अवकाश ही नहीं रहता क्योंकि लेखक एक तटस्थ दर्शक की भाँति घटनाओं का यथातथ्य वर्णन करता चला जाता है जबकि साहित्यिक यात्रा-वृत में लेखक अपनी कल्पना तथा संवेदना के रंग भी भरता है । "

यात्रा-वृत विधा साहित्य में अब तक बहुत विकसित नहीं हो पाई है, आधुनिक हिन्दी गद्य के कई अन्य रूपों की भाँति यह रूप भी पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में आने के बाद ही विकसित हुआ है। आधुनिक हिन्दी गद्य के प्रारम्भिक रूप में यात्रा-विवरण लेख के रूप में मिलते हैं । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी इसका उल्लेख किया है ।

यह तो स्पष्ट ही है कि किसी यात्रा के विवरण को रोचक एवं आकर्षक शैली में प्रस्तुत करना ही यात्रा-वृत है किन्तु साहित्यिक मानदण्डों की दृष्टि से कुछ और विशेषताएँ भी इनमें अनिवार्य रूप से मौजूद रहनी चाहिये, जो इन्हें प्रभविष्णु बनाती हैं । इनमें स्थानीयता, तथ्यात्मकता, आत्मीयता, वैयक्तिकता, कल्पनाशीलता, रोचकता तथा विशिष्ट अभिव्यंजना शिल्प आदि शामिल हैं ।

लेखक जिस स्थान का वर्णन कर रहा है उस के स्थानीय जीवन स्पंदन को वहीं के मुहावरे में पकड़ते हुए उसमें निजी आत्मीयता के रंग लेखक भरे लेकिन तथ्यों को छेड़े बिना, क्योंकि यात्रा-मृत में लेखक की संवेदना एवं सहृदयता न आकर मात्र तथ्य ही आए तो भी वह रचना मनोरंजक पठनीय लेख न रह कर नीरस भौगोलिक वर्णन मात्र बन जाता है ।

वैसे तो कल्पना शीलता साहित्य की प्रत्येक विधा में अनिवार्य तत्व होती है किन्तु यहाँ एक नए रूप में प्रयुक्त होती है । इसमें लेखक अपने भोगे हुए अतीत के यथार्थ को कल्पना के माध्यम से प्रस्तुत करना है । साहित्यिक यात्रा-वृतांत अनेक रूपों, जैसे- सूचनात्मक, प्रकृति-चित्रण प्रधान, जीवनदर्शन विषयक, संस्मरणात्मक, व्यक्तिगत पत्र के रूप आदि में विभाजित किए जा सकते हैं ।

हिन्दी की अन्य साहित्यिक विधाओं के समान यात्रा-वृत लेखन की शुरुआत भी भारतेन्दु युग से हुई है । स्वयं भारतेन्दु ने 'सरयूपार की यात्रा, 'हरिद्वार की यात्रा' आदि वृत लिखे हैं ।

द्विवेदी युग में ये विधा अधिक परिष्कृत हुई, इस काल में गोपालराम गहमरी लिखित 'लंका-यात्रा' का विवरण प्रसिद्ध यात्रा वृत है । इसके पश्चातवर्ती छायावादी युग में विपुल मात्रा में यात्रा-वृत साहित्य लिखा गया जिसमें सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण राहुल सांकृत्यायन की रचनाएँ हैं जो इस विधा की धरोहर रचनाएँ मानी जा सकती हैं । 'गंगा से वोल्गा तक', तिब्बत में सवा वर्ष' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं । राहुल सांकृत्यायन ने घुमक्कडों के मार्गदर्शन के लिए 'घुमक्कड शास्त्र' नामक रचना भी लिखी है । कह सकते हैं कि राहुल सांकृत्यायन के यात्रा-वृतों ने इस विधा को विकास के नए आयाम प्रदान किए हैं । अज्ञेय लिखित 'एक बूँद सहसा उछली, दिनकर लिखित 'देश विदेश' मोहन राकेश लिखित 'आखिरी चट्टान तक' तथा प्रभाकर द्विवेदी लिखित 'पारि उतरि कहि जैहों' कुछ प्रसिद्ध यात्रा वृत हैं जो इस विधा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

12.4.6 रेखाचित्र

आधुनिक हिन्दी साहित्य की गद्य विधाओं के साथ ही रेखाचित्र नामक एक अन्य नवीन विधा भी विकसित हुई । स्केच, शब्द -चित्र, व्यक्ति चित्र आदि के पर्याय से जानी जाने वाली ये विधा ऐसी साहित्यिक विधा है, जिसमें साहित्य, शब्द और कला की अद्भुत त्रिवेणी बहती है और जो साहित्य-रसिक के साथ ही आम पाठक का भी भरपूर मनोरंजन करती है ।

स्पष्टतः रेखाचित्र अंग्रेजी के स्केच' शब्द से प्रभावित है । 'Handbook to Literature' में इसे इस तरह परिभाषित किया गया है "A brief composition simply constructed and usually most unified in that in presents a Single scene, a single character, a single incident its simplicity means that is lacks developed plot or any every great characterization." हिन्दी साहित्य -कोश के अनुसार साहित्य में जिसे रेखाचित्र कहते हैं । उसमें कम से कम कलात्मक ढंग से किसी वस्तु, व्यक्ति या दृश्य का अंकन किया जाता है.... ....रेखाचित्र साहित्यिक कृति है ।

रेखाचित्र के विषय विविध हो सकते हैं, किन्तु मानव प्रतिमा उसका महत्त्वपूर्ण विषय है क्योंकि उसमें भी लेखक की ही भाँति संवेदनशीलता है । ये उन प्राणियों पर भी लिखे जा सकते हैं जो मानवेतर हैं तथा इनमें जड़ वस्तुओं का भी चित्रण किया जा सकता है । चित्रात्मकता, संवेदनशीलता, एकात्मता, तटस्थता तथा संक्षिप्तता आदि एक रेखाचित्र की मुख्य विशेषताएँ होती है । संकेतात्मकता एवं त्वरामूलकता के साथ लघुता एवं सूक्ष्म दृष्टि भी इसकी अनिवार्य विशेषताएँ मानी गई हैं ।

कई बार रेखाचित्र अपनी समकालीन अन्य गद्यात्मक विधा जीवनी के समान मान लिया जाता है । किन्तु इन दोनों में पर्याप्त वैभिन्नय है । जीवनी में जहाँ बुद्धि और भावना का संयोग होता है, रेखा चित्र में बुद्धि और भावना के साथ कल्पना भी जुड़ जाती है ।

रेखाचित्र का संस्मरण से बेहद साम्य होता है क्योंकि ये दोनों ही स्मृति-आधारित होते हैं, इनकी विशेषताएँ भी लगभग एक ही होती हैं किन्तु सारी समानताओं के होते हुए भी दोनों अलग विधाएँ हैं। संस्मरण जहाँ आत्मपरक विधा है वहीं रेखाचित्र वस्तुपरक होते हैं । संस्मरण मानव चरित्र का दर्पण होता है तो रेखाचित्र उसका विश्लेषण करता है । विद्वानों ने रेखाचित्र के कई भेद माने हैं । डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत ने इन्हें -वर्णन प्रधान, संस्मरणात्मक, संवेदना मूलक, व्यंग्यात्मक, रूपात्मक तथा मनोवैज्ञानिक वर्गों में बाँटा है ।

हिन्दी में रेखाचित्र-लेखन परम्परा का प्रारम्भ छायावाद युग से माना जाता है, यद्यपि पूर्ववर्ती युग में भी अनेक रेखाचित्र लिखे गए हैं । माना जाता है कि पदमसिंह शर्मा ने 'पद्मराग शीर्षक से बिहारी पर पहला रेखाचित्र लिखा । बनारसीदास चतुर्वेदी ने रेखाचित्र लिखने की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास किये । ' रेखाचित्र व संस्मरण' संग्रह में इनके रेखाचित्र संकलित हैं । कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर' ने 'भूले बिसरे चेहरे' महादेवी वर्मा ने 'अतीत के चलचित्र' हर्षदेव मालवीय ने 'पोंगलगुरू, विनयमोहन शर्मा ने 'रेखा और रंग' शीर्षक से चुटीले और मार्मिक रेखाचित्र लिखे हैं ।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क', राहुल सांकृत्यायन, डॉ. नगेन्द्र, प्रकाशचन्द्र गुप्त (जिनके रचना-शिल्प पर ए. जी. गार्डनर का गार्डनर का प्रभाव माना जाता है) तथा फणीश्वरनाथ रेणू आदि ने भी अनेक उत्कृष्ट रेखाचित्र लिख कर हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है ।

12.4.7 रिपोर्ताज

रिपोर्ताज एक आधुनिक साहित्य -विधा है । हिन्दी की नवीनतम विकसित विधाओं में संस्मरण और रेखाचित्र की भाँति ही रिपोर्ताज का उद्भव 1936 अर्थात द्वितीय विश्वयुद्ध के आसपास हुआ ।

विश्वयुद्ध के दौरान रूसी लेखकों ने अपने सैनिकों के साथ युद्ध क्षेत्र में रहते हुए पाठकों के हृदय हिला देने वाले जो समाचार भेजे, यही रिपोर्ताज कहे गए । इसके पश्चात समस्त विश्व के समाचार पत्रों ने इस प्रभावशाली समाचार-प्रेषण पद्धति को अपना लिया।

वर्तमान के व्यस्त वैज्ञानिक समय में, जबकि प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति अपने चारों ओर की गतिविधियों से परिचित होना चाहता है, रिपोर्ताज के महत्व को अनदेखा नहीं किया जा सकता । रिपोर्ताज एक कलात्मक साहित्यिक रूप है । इसके माध्यम से कोई भी घटना पूर्ण संवेदना से तो अभिव्यक्त की जाती ही है, इसकी प्रस्तुति में मानव-मूल्यों की रक्षा का भी पूरा ध्यान रखा जाता है। इनमें प्रायः आँखों देखी घटना का वर्णन किया जाता है ।

रिपोर्ताज फ्रांसिसी भाषा का एक शब्द है जो रिपोर्ट (Report) का पर्याय है किन्तु साहित्यिक विधा की दृष्टि से इसका मूल्यांकन करने पर यह कुछ भिन्न स्वरूप में सामने आता है । हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार 'रिपोर्ट के कलात्मक और साहित्यिक

रूप को ही रिपोर्ताज कहते हैं । वस्तुगत तथ्य को रेखाचित्र की शैली में प्रभावोत्पादक ढंग से अंकित करने में ही रिपोर्ताज की सफलता है । ऑखों देखी और कानों सुनी घटना पर रिपोर्ताज लिखा जा सकता है । "

इस विषय पर अंग्रेजी लेखक अर्नेस्ट हेमिंग्वे का कथन रोचक है "रिपोर्ताज साहित्य की तमाम बल्लियों को जोड़कर बनाया गया एक मचान है और उस मचान पर बैठने का साहस कम ही लेखक कर पाते हैं क्योंकि उसके ऊपर से गिरने का खतरा बहुत रहता है ।'

रिपोर्ताज भले ही अपने आप में एक स्वतंत्र विधा है फिर भी इसका अन्य साहित्यिक विधाओं से अन्यतम सम्बन्ध है । कहानी की रोचकता, निबन्ध की वर्णन-क्षमता, संस्मरण व रेखाचित्र की 'चित्रात्मकता एवं सम्पादकीय 'वैचारिक क्षमता' रिपोर्ताज में एक साथ होना उसकी सफलता में एकान्तिक विशेषताएँ हैं ।

ध्यान, धारणा, कल्पना, भावगति संक्षिप्तता, मर्म-स्पर्शिता, कथात्मकता, वैयक्तिकता, सजीवता, सत्यता तथा सजगता एक उत्कृष्ट रिपोर्ताज की आधारभूत विशेषताएँ मानी गई हैं ।

रिपोर्ताज का विषय क्षेत्र समग्र जगत है । सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, युद्ध-विषयक, भावनात्मक, आत्मपरक, प्राकृतिक-प्रकोप विषयक, कहें कि जीवन के किसी भी पक्ष पर रिपोर्ताज लिखा जा सकता है । लड़ाई से लेकर मेले, त्योहार से लेकर त्रासदियों तथा बाढ से लेकर सूखे तक पर रिपोर्ताज लिखा जा सकता है ।

सन् 1926 में कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने 'गुरुकुल कांगड़ी' की रजत जयन्ती पर जो आलेख लिखा उसे हिन्दी साहित्य का प्रथम रिपोर्ताज माना जाता है । इस विधा-लेखन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान 'प्रभाकर' का ही माना जाता है ।

डॉ. रांगेय राघव लिखित तूफानों के बीच', उपेन्द्रनाथ अश्क लिखित 'रेखाएँ और चित्र', धर्मवीर भारती 'शुद्ध-यात्रा' भारती लिखित 'युद्ध-यात्रा, कमलेश्वर लिखित 'क्रान्ति करते हुए आदमी को देखना' तथा मणिमधुकर लिखित 'सूखते हुए चेहरों का भूगोल' आदि हिन्दी के श्रेष्ठ रिपोर्ताज हैं । नया पथ, ज्ञानोदय, कल्पना, धर्मयुग साप्ताहिक हिन्दुस्तान जैसी पत्रिकाओं ने इस विधा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है । अभी इस विधा में विकास की पर्याप्त संभावनाएँ हैं ।

12.5.8 फीचर

पिछले 50 वर्षों में हिन्दी साहित्य में जिन नए गद्य-रूपों का विकास हुआ है, फीचर भी उनमें एक है। फीचर वह गद्यात्मक साहित्यिक विधा है जिसमें लेखक अपनी पैनी दृष्टि के माध्यम से जीवन के किसी रोचक पक्ष को इस तरह प्रस्तुत करता है कि वह पाठक के हृदय पर स्थाई छाप छोड़ देता है। मानव जीवन के रोचक पक्ष का चित्रण फीचर लेखन का प्रमुख उद्देश्य होता है ।

विषय वस्तु के आधार पर फीचर के अनेक भेद किए गए हैं । जीवन चरित मूलक, पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, साहित्यिक एवं देशीय व क्षेत्रीय स्थिति-परिस्थितियों आदि पर अनेक फीचर लिखे गए हैं ।

कुछ विद्वानों का आग्रह है कि जीवनी व फीचर को एक ही विधा मान लिया जाए, लेकिन इन दोनों साहित्य-रूपों में मूलभूत अन्तर है । जीवनी लेखक का ध्येय जहाँ व्यक्ति के क्रियाकलापों को उभारना होता है, फीचर-लेखक जीवन के खंड विशेष को समग्रता में उभारता है । जीवन चरित लेखक का ध्येय वर्ण्य व्यक्ति विशेष के उन क्रियाकलापों को उभारना होता है जिनसे उसे समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई हो, जबकि फीचर लेखक उसी व्यक्ति के जीवन के अनछुए अनुरंजनकारी पक्ष को उभारने का यत्न करता है । जीवनी लेखक जहाँ जीवन-तथ्यों और आंकड़ो को प्रस्तुत; करता है फीचर इससे बचकर चलता है क्योंकि इनसे रचना बोझिल हो सकती है जबकि फीचर -लेखक का मुख्य ध्येय पाठक को एक रुचिकर रचना प्रदान करना होता है । फीचर लेखन में कल्पनाशक्ति अत्यंत महत्त्वपूर्ण होती है क्योंकि कल्पना हीनता की स्थिति में फीचर नीरस, शुष्क और अरुचिकर बन जाता है । फीचर लेखन में लेखक को अपना ध्यान विशेषकर उन प्रसंगों पर केन्द्रित करना होता है जो जनमानस की दृष्टि से बचे रहते हैं । पौराणिक फीचर में इस बात का विशेष ध्यान रखना होता है ।

ऐतिहासिक फीचर लिखते समय भी फीचर लेखक को केवल वही विषय चुनने चाहिये जिन में कल्पना शक्ति के प्रयोग की सम्भावना हो, अन्यथा फीचर आँकडों और तथ्यों का खाता मात्र बन कर रह जाता है । ऐसे फीचर जनसाधारण व साहित्य-रसिक के मन में कौतूहल, व रस उत्पन्न नहीं कर पाते ।

फीचर समाचार पत्रों, पत्रिकाओं के लिए तो लिखे जाते ही हैं आकाशवाणी और दूरदर्शन पर प्रसारण के लिए भी इनकी रचना की जाती है । रेडियो पर प्रसारित होने वाले फीचर 'वृत्त-रूपक' कहलाते हैं । इस प्रकार के फीचर में कथोपकथन के माध्यम से विषय को प्रस्तुत किया जाता है । सामान्यतः फीचर लेखन में स्पष्ट, सीधी, सरल, बोधगम्य और सहज भाषा का प्रयोग किया जाता है ।

12.4.9 डायरी

अपने रूढ़ अर्थ में तो डायरी अथवा दैनंदिनी वह नोटबुक या पुस्तिका है जिसमें प्रतिदिन की घटनाओं अथवा दिन भर में किए गए कार्यों का लेखा-जोखा दर्ज किया जाता है । किन्तु व्यापक अर्थ में डायरी दैनिक व्यापारों और घटनाओं को व्यापक एवं परीक्षणात्मक रूप से ब्योरेवार लिखने का साधन भी है जिसमें व्यक्ति अपने जिसमें व्यक्ति अपने कुछ अथवा सारे अनुभवों को आत्मनिरीक्षण के साथ दैनिक रूप से लिखता है ।

डायरी के माध्यम से लेखक के सद्य: स्फुरित भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति मिलती है । डायरी के लिए 'दैनन्दिनी, दैनिकी और 'रोजनामचा' शब्द भी पयार्यवाची के

तौर पर इस्तेमाल किए जाते हैं । ये पर्याय इस दृष्टि से सार्थक हैं कि वे डायरी के इस प्रमुख गुण की ओर संकेत करते हैं कि डायरी में लेखक का अनुभव सबसे अधिक रहकर अंकित होता है । डायरी में लेखक के मन पर पड़े प्रभाव उसी दिन लिखित रूप पाते हैं । इस तरह से डायरी लेखक के व्यक्तित्व - प्रकाशन का सर्वाधिक प्रामाणिक माध्यम है । प्रामाणिक इस अर्थ में कि प्रायः डायरियाँ अपने निजी विचारों को नोट कर लेने के उद्देश्य से लिखी जाती हैं, पुस्तक प्रकाशन के उद्देश्य से नहीं । विशुद्ध रूप से डायरी शायद कभी नहीं लिखी जाती कि कालान्तर में वह पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो सकेगी ।

डायरी लेखक के अत्यधिक निकट होती है, इसीलिए कलात्मक तटस्थता के अभाव की सम्भावना उसमें सर्वाधिक होती है । कह सकते हैं कि डायरी कोई विशेष कलापूर्ण साहित्यिक रूप नहीं है, कदाचित अपने मूल रूप में यह विधा साहित्यिक है ही नहीं । साहित्यिक दृष्टि से डायरी में सम्बद्धता, और शिल्पगत सौष्ठव की कमी हो सकती है पर स्पष्ट कथन, आत्मीयता और निकटता आदि विशेषताएँ डायरी की उक्त कमी को पूरा कर देती हैं ।

डायरी आत्मकथा का ही एक बदला हुआ रूप है । सामान्यतः दैनिक रूप से लिखी जाने वाली डायरी में कभी-कभी विगत अनुभवों का भी पुनर्मूल्यांकन कर लिया जाता है, जबकि आत्मकथा में लेखक अपने सारे अतीत पर अपेक्षाकृत, परिपक्व और तटस्थ दृष्टि डालते हुए लिखता है ।

मूल रूप से यह विधा पाश्चात्य साहित्य से हिन्दी में आई हुई नवीन कथेतर विधा है और अभी विकासोन्मुख है । हिन्दी में अभी कुछेक डायरियाँ ही प्रकाशित हुई हैं, इनमें घनश्याम दास बिडला लिखित 'डायरी के कुछ पन्ने', मुक्तिबोध लिखित 'एक साहित्यिक की डायरी', मलयज लिखित डायरी, विजेन्द्र की डायरी, राजेश जोशी की डायरी, हेतु भारद्वाज की डायरी आदि प्रमुख हैं । मलयज लिखित डायरी साहित्य जगत की चर्चित डायरी है ।

12.5 कथेतर विधाओं का महत्व

आधुनिक काल में हिन्दी गद्य के उन्मेष ने भारतीय रचनाशीलता को जो नये आयाम दिये, उन्होंने भारतीय चिन्तन और जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया । पूरे राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन को दिशा तथा गति प्रदान करने में गद्य का योगदान असंदिग्ध है । जिन विषयों में कविता की रसाई सम्भव नहीं थी, गद्य ने उसे साकार किया । स्वाधीनता आन्दोलन की पूरी पत्रकारिता हिन्दी-गद्य की देन है । भारतेन्दु हरीश्चन्द्र को आभास हो गया था कि हमारी संघर्ष ऊर्जा को गद्य ही प्रज्वलित रख सकता है । उन्हें यह भी लगने लगा था कि अपनी भावनाओं को जन-जन तक पहुँचाने के लिए गद्य के अनेक रूपों का प्रयोग करना ही होगा । इसीलिए भारतेन्दु मण्डल के रचनाकारों ने निबंध, नाटक, व्यंग्य आदि विधाओं को लिखना आरम्भ किया । भारतेन्दु ने जो बात 'अंधेर नगरी ' नाटक के माध्यम से कही, वही बात बालमुकुन्द गुप्त ने

'शिवशम्भू का चिट्ठा' व्यंग्य निबंधों के माध्यम से व्यक्त की । दोनों अपनी -अपनी जगह मूल्यवान हैं । बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण सिंह, सरदार पूर्ण सिंह अपने-अपने निबंधों में लालित्य का संयोजन करते हैं तो महावीर प्रसाद द्विवेदी 'अर्थशास्त्र' में गम्भीर गद्य का उपयोग करते हैं तो 'दण्ड देव का आत्म निवेदन' में व्यंग्योक्तियो से भरे गद्य का ।

रचनाकार जब स्वयं अनुभव करता है कि उसे अपनी बात कहने के लिए काई औद 'ढब' (तरीका) चाहिए तो वह दूसरी विधाओं की ओर उन्मुख होता है । बच्चन अपना जीवन संघर्ष कविता के माध्यम से नहीं लिख सके तो वे आत्मकथा की ओर बढ़े । आत्मकथा में भी बच्चन के गद्य का स्वाद पाठकों को आकर्षित करता है किन्तु उग्र की आत्मकथा 'अपनी खबर' के गद्य का स्वाद सर्वथा नवीनता और चुभन लिए है । विष्णु प्रभाकर तथा अमृतराय क्रमशः शरदचन्द्र और प्रेमचन्द के जीवन संघर्ष में डुबकियाँ लगाते है तो ऐतिहासिक महत्व की जीवनियाँ हिन्दी साहित्य को देते हैं । अज्ञेय कहानी, उपन्यास, कविता जैसी विधाओं को छोड़ 'भवन्ती' के चित्रणपरक गद्य और 'अरे यायावर रहेगा याद' के यात्रा वृतांतों की और बढ़ते हैं । पत्रकारिता का प्रभाव रिपोर्ताज तथा फीचर विधाओं को प्रश्रय देता है तो रचनाकार स्वयं का अक्स डायरी के पन्नों और संस्मरणों में बनाता है । जीवन की गम्भीर चिन्तना गद्यगीन में व्यक्त होती है तो परस्पर संवाद का माध्यम पत्र बनते हैं । इस प्रकार हर विधा जहाँ रचनाकार को सृजनात्मक दृष्टि देती है, वहीं उसकी रचनाशीलता को नयी धार प्रदान करती है । ये विधा-वैविध्य ही हमारी भाषा की कलात्मक अभिव्यक्ति को नयी भंगिमाएँ देता है और पाठकों को हर बार नये संसार तथा नये जीवनानुभवों का अमृत पान कराता है । इससे भाषा की अभिव्यक्ति -शक्ति की गहराई का आभास होता है तो रचनाकार के कृति-व्यक्तित्व की विभिन्न छवियों का भी ।

12.6 सारांश

साहित्य मानव मन के रंजन भाव की नैसर्गिक अभिव्यक्ति है । साहित्य प्रत्येक देश काल में मनुष्य के साथ-साथ चला है । अलिखित रूप अर्थात लोक रूप में वह दन्तकथा, लोककथा, लोकगीत, पहेली, बात आदि के रूप में अभिव्यक्त होता है, लिखित रूप में नहीं । लिखित साहित्य का प्रारम्भिक रूप पद्यात्मक, एवं उसमें भी कथाश्रित ही रहा । समय परिवर्तन तथा गद्य के आविर्भाव के साथ साहित्य में विधिवत गद्य-रचना प्रारंभ हुई तथा इसके साथ ही साहित्य में अनेक कथेतर विधाओं का आविर्भाव हुआ, यद्यपि इनमें से अधिकांश रचनाओं के बीज गौण अथवा सहायक रचना के रूप में हमें हिन्दी-भाषा के आरम्भ से ही प्राप्त होते हैं । फीचर, रिपोर्ताज तथा डायरी जैसी कुछ विधाएँ हैं जो मूलत: हिन्दी की नहीं हैं । वैश्विक भाषा, साहित्य व संस्कृति के आदान-प्रदान की प्रक्रिया में ये हिन्दी में आई और इसकी स्वतंत्र विधा के रूप में अपना स्थान बनाया ।

कथेतर विधाओं का विकास एवं लोकप्रियता इस तथ्य को सिद्ध करता है कि लगातार विकसित हो रही मानव- चेतना बदलते परिदृश्य में 'राजारानी की कहानी' और 'जैसे उनके दिन फिरे, सबके फिरें जैसे किस्सों से तृप्त नहीं होती । दुनिया भर में मनुष्य के इर्दगिर्द विविध व्यक्ति, दृश्य, बदलाव, घटनाएँ एवं त्रासदियाँ घट रही रहीं थी । विश्वयुद्ध, देश- विभाजन तथा नागासाकी -हिरोशिमा जैसे आशातीत हादसे उसे नवीन सोच दे रहे थे, सामान्य कथा से अलग जानने-समझने को उद्वेलित कर रहा थे, उसके साथ जो घटा और जो उसने देखा, भोगा उस सब को बताने को उसका मन छटपटा रहा था । इन्हीं सब कारणों से साहित्य में संस्मरण, जीवनी, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, व्यंग्य, डायरी, फीचर तथा आत्मकथा आदि विधाओं का जन्म हुआ । इन विधाओं की लोकप्रियता का मुख्य कारण पारम्परिक कथात्मकता से मुक्ति था । भाषा, छन्द, व्याकरणीय अनुशासन तथा अन्य साहित्यिक मापदण्डों में उदारता के कारण आम आदमी इनसे जुडता चला गया । दुनिया के प्रसिद्ध लोगों, अपरिचित स्थानों, दूसरी सभ्यता संस्कृति के तमाम पक्षों से परिचय तथा दुनिया में हो रहे परिवर्तनों की जानकारी देने के बहुरंगी पक्ष के कारण भी ये विधाएँ विकसित एवं स्वीकृत होती गई। दैनिक, साप्ताहिक एवं मासिक पत्रों के सहयोग से, संचार एवं तकनीकी क्रांति के विस्फोट तथा द्रुतगामी हो रहे परिवहन-सुभीते ने भी इन्हें देशकाल की सीमाओं से बढ़ाकर वैश्विक मानव के लिए सुलभ बनाया । वर्तमान में ये सभी विधाएँ साहित्य में कथेतर विधा के नाम से अपना अलग और महत्व पूर्ण स्थान रखती है तथा साहित्य-प्रेमी और साहित्य के विद्यार्थी दोनों को साहित्यिक समझ एवं संतुष्टि देती है और आम आदमी को ज्ञान, सूचना व मनोरंजन देती है ।

12.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. हिन्दी गद्य के विकास को समझाते हुए कथेतर विधा के क्षेत्र में भारतेन्दु -युग के योगदान को रेखांकित कीजिये ।
2. कथेतर विधाओं का साहित्य में क्या महत्व है? प्रतिपादित करते हुए किसी एक कथेतर विधा पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डालिये ।
3. 'व्यंग्य - विधा साहित्य में प्रारम्भिक काल से ही रही है किन्तु स्वतंत्र विधा के रूप में वह भारतेन्दु काल में ही विकसित हो सकी । ' कथन के आलोक में व्यंग्य-विधा पर निबन्ध लिखिए ।
4. रेखाचित्र और संस्मरण दोनों भिन्न विधाएँ हैं कथन के आलोक में रेखाचित्र और संस्मरण की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।
5. आत्मकथा को परिभाषित करते हुए आत्मकथा के विकास एवं प्रमुख आत्मकथाओं का परिचय दीजिए ।
6. आत्मकथा और जीवनियों में अन्तर स्पष्ट कीजिए ।

7. 'रिपोर्ताज साहित्यिक विधा नहीं होते हुए भी अपने गुणों के कारण साहित्य में भी उतनी ही प्रसिद्ध है जितनी आमजन में ।' कथन का विवेचन कीजिए ।
8. स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी साहित्य में जिन पूर्णतः विदेशी कथेतर विधाओं का आगमन हुआ है उनका परिचय दीजिए ।
9. 'एक जीवनीकार को जीवनी लिखते समय साहित्य के रंजन तत्व, वर्ण्य-विशेष के जीवन-परिचय के साथ ही तटस्थता एवं आत्मीयता का संतुलन बनाए रखना आवश्यक है । ' कथन की समीक्षा करते हुए जीवनी विधा पर प्रकाश डालें ।
10. आत्मकथा लिखते हुए आत्मकथाकार को किन महत्त्वपूर्ण पक्षों को ध्यान में रखना आवश्यक है, और क्यों? बतलाते हुए हिन्दी की प्रमुख आत्मकथाओं का उल्लेख करें
11. फीचर एवं डायरी विधा को समझाते हुए उनकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।

12.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त; हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास
2. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा; हिन्दी साहित्य कोष भाग 1 (सं.)
3. डॉ. नगेन्द्र; हिन्दी साहित्य का इतिहास
4. डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, भाग 2
5. डॉ. कैलाश चन्द्र भाटिया; हिन्दी गद्य की विविध विधाएँ
6. डॉ. प्रताप सिंह राठोड़; हिन्दी गद्य की विविध विधाएँ
7. डॉ. माया अग्रवाल; पाश्चात्य काव्य शास्त्र
8. बच्चन सिंह; हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास
9. डॉ. गुलाबराय; हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास

इकाई-13 बालमुकुन्द गुप्त कृत 'एक दुराशा' का अध्ययन व विवेचन

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 निबंधकार का जीवन एवं रचना परिचय
13.3 निबंध (एक दुराशा) का सारांश
13.4 निबंध - वाचन तथा व्याख्या
13.5 निबंध का मुख्य प्रतिपाद्य
13.6 निबंध का स्वरूप और भाषा शैली
13.7 शब्दावली
13.8 सारांश
13.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
13.10 सन्दर्भ ग्रंथ

13.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप -.

- निबंधाकार बालमुकुन्द गुप्त के जीवन एवं रचना से परिचित हो सकेंगे,
- निबंध के सारांश, वाचन तथा व्याख्या को पढ़ और समझ सकेंगे,
- निबंध के मूल प्रतिपाद्य, स्वरूप और उसकी भाषा-शैली को अच्छी तरह जान सकेंगे ।

13.1 प्रस्तावना

भारतेन्दु युग के बाद जिस निबंधकार ने हिन्दी गद्य साहित्य को समृद्ध करते हुए अपनी सबसे अलग पहचान बनाई वे कोई और नहीं, बाबू बालमुकुन्द गुप्त थे । उन्होंने निबंध के विषय, प्रतिपाद्य और भाषा-शैली में कुछ ऐसा अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थिति किया कि पं. रामचन्द्र शुक्ल जैसे सजग इतिहासकार ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में द्विवेदी युग की कालावधि में जिन तीन निबंधकारों को खास तौर पर याद किया उनमें सरदार पूर्ण सिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के साथ एक नाम बाबू बालमुकुन्द गुप्त का भी है । गुप्त जी का साहित्य सर्जन-काल' भारतेन्दु और द्विवेदी युग के बीच में पड़ता है । इसलिए उनके निबंधों में दोनों युगों की विशेषताएं देखने को मिलती है । देशप्रेम और राष्ट्रीयता भारतेन्दु युग से लगाकर आजादी प्राप्त करने के समय तक के साहित्यकारों की धड़कन है और यह धड़कन बालमुकुन्द गुप्त के प्रत्येक साहित्यिक कर्म में मौजूद है । गुप्त जी अपने निबंधों में जिस एक बात ' के लिए विशेष रूप से जाने

जाते हैं वह है - अंग्रेजी राज चरित्र को निबंध के दायरे में खींच लाना । वे अपने निबंधों में कभी शिव शंभु शर्मा के बहाने तो कभी शदुस्ता खाँ और सर सैयद अहमद के नाम के बहाने जनता के वकील बनकर अंग्रेज बहादुर को ललकारते हैं और उसकी खामियों की तल्ख आलोचना करते हैं । 'एक दुराशा' निबंध के माध्यम से निबंधकार बाल मुकुन्द गुप्त के इसी विशिष्ट रूप का आगे आपको परिचय करवाया जायेगा । लेकिन उसके पहले आप जरा उनके जीवन और रचना का परिचय पा लीजिए ।

13.2 निबंधकार का जीवन एवं रचना परिचय

13.2.1 जीवन परिचय

बाल मुकुन्द गुप्त का जन्म प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के कुछ वर्षों बाद, लेकिन भारत की गुलामी के दौर में हुआ था । हरियाणा राज्य के रोहतक जिले के गुडियाना गाँव में सन् 1865 में वे पैदा हुए । उनकी प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू माध्यम से अपने गाँव के मदरसे में हुई । वे आरम्भ से ही बड़े प्रतिभाशाली, अध्ययनशील और मेहनती छात्र थे । किशोरावस्था तक पहुँचते-पहुँचते पिता की छत्रछाया उनके सिर पर से उठ गई । बीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने मिडिल की शिक्षा पूरी कर ली । इसी दौरान के फारसी के विद्वान मुंशी वजी मुहम्मद के निकट सम्पर्क में आये और उनके सानिध्य में उन्होंने उर्दू लिखने-पढ़ने में महारत हासिल कर ली ।

अट्ठारह सौ पच्चीसी-छियासी का दौर राष्ट्रीय नवजागरण का दौर था । बम्बई में 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना हो चुकी थी । पढ़े-लिखे अभिजात मध्यवर्ग में संगठित होने की भावना जोर पकड़ रही थी । यह मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के जागृत होने का परिणाम था । इसका प्रभाव खासतौर से राजनीति के क्षेत्र में था और शिक्षा, पत्रकारिता और साहित्य के क्षेत्र में भी । स्वदेशी और स्वभाषा के प्रति लोग जागरूक हो रहे थे । उर्दू के विरोध में खड़ी बोली का आंदोलन भी जोर पकड़ रहा था । सभी भारतीय भाषाओं में अखबार और पत्रिका निकालकर लोगों को अधिक से अधिक जागरूक बनाने में हमारे बुद्धिजीवी साहित्यकार लगे थे । गुप्त जी इस राष्ट्रीय वातावरण से अप्रभावित नहीं रह सके । दीनदयाल शर्मा की प्रेरणा से गुप्त जी पहले-पहल 'मथुरा' अखबार से जुड़े और उसमें कुछ लिखना शुरू किया । उर्दू माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने के कारण उन्हें बहुत जल्दी उर्दू अखबारों से जुड़ने का अवसर मिल गया । सन् 1886 से 88 तक उन्होंने मिर्जापुर जिले के चुनार से निकलने वाले प्रसिद्ध उर्दू अखबार 'बखबरे चुना' और 1888-89 में 'कोहेनूर' में सम्पादक' का दायित्व संभाला। इस प्रकार गुप्त जी के लेखन कर्म का शुभारंभ पत्रकारिता से हुआ । उस समय प्रतापगढ़ (कालाकाँकर) पत्रकारिता में अपनी खास पहचान बना चुका था । राजा रामपाल सिंह के संरक्षण में वहाँ से हिन्दी का प्रसिद्ध दैनिक 'हिन्दोस्तान' निकलता था। राजा रामपाल सिंह तेज तर्रार पत्रकारों के बड़े कायल थे । वे आगे पीछे पं. प्रताप नारायण मिश्र, पं. मदन मोहन मालवीय और बालमुकुन्द गुप्त को उसमें खींच लाये ।

सन् 1889 से 1891 तक गुफा जी 'हिन्दोस्तान' में काम करते रहे । 'हिन्दोस्तान' से जुड़ने के साथ बालमुकुन्द गुप्त की पत्रकारिता हिन्दी आभिमुखी हो गयी । गुप्त जी के पैर में चक्कर था । उस समय कलकत्ता हिन्दी पत्रकारिता का बहुत बड़ा गढ़ था । हिन्दी का पहला समाचार पत्र 'उदन्त मार्तड' भी वहीं से निकला था । सन् 1893 में कलकत्ता से 'वंग वासी' के सम्पादन के लिए गुप्त जी का बुलावा आ गया और वे अगले पाँच सालों यानि 1898 तक उसी में जमे रहे । वे सन् 1899 में 'भारत मित्र' के सम्पादक बन बैठे और अपने मुत्युपर्यन्त उसमें जमकर लिखते रहे । आज बाल मुकुन्द गुप्त विशेष रूप से 'भारत मित्र' के तेज तर्रार सम्पादकीय के कारण जाने जाते हैं । इनके अलावा वे 'नया जमाना' (उर्दू), 'भारत प्रताप', 'अवध पंच' आदि हिन्दी समाचार पत्रों में कुछ न कुछ लिखते रहे । इस प्रकार गुप्त जी आजीवन पत्रकारिता से जुड़े रहे और उनके जीवन में उनका पत्रकार रूप ही सबसे शक्तिशाली रहा है ।

रचना परिचय - रचनाकार के रूप में कमोबेश गुप्ता जी के कई रूप हैं । वे पत्रकार के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध तो रहे ही हैं, उसके साथ वे चर्चित निबंधकार, कवि और सफल अनुवादक भी रहे हैं । इनके अलावा भी वे कई विषयों में अपनी कलम चलाते थे । व्यवहार लेखन की ओर भी उनका ध्यान था । लेखन के क्षेत्र में बाल मुकुन्द की सबसे ज्यादा ख्याति 'पत्रकारिता और निबंध-सर्जन' में हैं । पत्रकार के रूप में वे 'अखबारे चुनार', 'कोहेनूर', 'हिन्दोस्तान', 'बंगवासी', 'भारत मित्र' आदि उर्दू-हिन्दी समाचार पत्रों ने से केवल सीधे जुड़े थे, बल्कि उनके सम्पादक जैसी बड़ी जिम्मेदारी से सम्बद्ध थे । गुप्त जी पत्रकारिता में भारतेंदु, पं. प्रताप नारायण मिश्र, पं. बाल कृष्ण भट्ट के नमो कदम पर चलते हुए न केवल उनके मूल्यों और आदर्शों की रक्षा की, बल्कि उन्हें अपने दृढ़ विश्वास और आत्मशक्ति से दो कदम और आगे बढ़ाया । वे बहुत निडर, देश प्रेमी, जनप्रेमी, लोक हितेच्छु दो टूक वक्ता, तेजस्वी पत्रकार थे । पत्रकार के बतौर उन्होंने सत्ता के अन्याय का हमेशा विरोध किया । वे अंग्रेज बहादुर की राजशाही, विलासिता जन घृणा और पूँजीवादी रूप-रंग के बड़े विरोधी थे। ब्रिटिश सत्ता के पिट्ठू सामन्तों को भी वे माफ नहीं करते । डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने उनके पत्रकार रूप के बारे में सही लिखा है कि ' 'आपके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी - निर्भीकता, दृढ़ता, ओजस्विता, न्यायानिष्ठता, सरलता और विनोद प्रियता के सम्मिलित तत्वों ने आपको एक ईमानदार और सहृदय देश भक्त की प्रतिष्ठा दी । आपकी शैली चुटीली और व्यंग्य प्रधान होते हुए भी आत्मीयता और विश्वास उत्पन्न करने वाली है । " (हिन्दी साहित्य कोश भाग-2, पृष्ठ-383)

पत्रकारिता के समान गुप्त जी को ख्याति निबंध-सर्जन के क्षेत्र में मिली । 'भारत मित्र' के सम्पादक के रूप में काम करने के दौरान उनके कई निबन्ध उसमें छपे और उसी काल में, उसी के प्रेस 'भारत मित्र प्रेस, कलकत्ता' से उनके प्रसिद्ध निबन्ध संग्रह - 'शिवशंभु के चिट्ठे' (सन 1905) और 'चिट्ठे और खत' (सन् 1906) भी प्रकाशित हुए ।

इसी समय उनके लेखों और निबन्धों का संकलन गुप्त निबन्धावली के नाम से प्रकाशित हुआ। आधुनिक हिन्दी निबंध के विकास में 'शिवशंभु के चिट्ठे' का ऐतिहासिक योगदान है । ये चिट्ठे अंग्रेजी शासन के वाइसराय के तानाशाही भरे शासन के विरोध में शिवशंभु शर्मा' के छद्म नाम से लिखे गये थे । इसमें लार्ड कर्जन की स्वेच्छाचारिता, अंग्रेज श्रेष्ठता गंथि, झूठे दभं का उपहास करते हुए करारा व्यंग्य किया गया है । बनाम लार्ड कर्जन, श्रीमान का स्वागत, वायसराय के कर्तव्य, पीछे मत फेंकिये, आशा का अन्त, एक दुराशा, विदाई संभाषण, बंग विच्छेद - ये आठ चिट्ठे, लिफाफे में नहीं बल्कि खुले रूप में, लार्ड कर्जन को सम्बोधित करके लिखे गये हैं । ये चिट्ठे पूरे कई सालों तक खास तौर से 'भारत मित्र' और कुछ 'जमाना' में छपते रहे । ये चिट्ठे जनता के बीच बहुत लोक प्रिय हुए। इनकी अभूतपूर्व लोकप्रियता को देखते हुए गुप्त जी के मित्र ज्योतिन्द्र नाथ बनर्जी ने उन्हें अंग्रेजी भाषा में अनूदित किया और प्रकाशित भी करवाया । इस अनुवाद की भी इतनी धूम थी कि वह हाथों-हाथ बिक गया । 'शिव शंभु के चिट्ठे' में शामिल अन्य चिट्ठों में दो लार्ड मिण्टो और भारत सचिव मार्ली साहब के नाम हैं । इसमें तीन खत भी शामिल है । इनमें से दो शाइस्ता खाँ के छद्मनाम से फुलर साहब को और एक सर सय्यद अहमद के छद्म नाम से अलीगढ़ कॉलेज के छात्रों को लिखा गया है । लेकिन सर्वाधिक तेजधार शिवशंभु के चिट्ठों में ही है । अंग्रेजों की कोप दृष्टि से बचने के लिए साहित्यकार छद्मनामों से लिखा करते थे । आगे ऐसा राजनीति में भी ऐसा हुआ। विशेष रूप से युवा क्रांतिकारी अंग्रेजी नौकरशाही की ऑखों से बचने के लिए ही तरह-तरह के वेश बदलते रहते थे । ' तत्कालीन राजनीतिक चेतना के सजीव इतिहास के रूप में, व्यंग्यपूर्ण चुटीली, चुस्त और चलती हुई शैली में लिखे गये ये चिट्ठे हिन्दी साहित्य में सदैव अमर रहेंगे । " (हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2 पृष्ठ 597) । 'शिव शंभु के चिट्ठे' के द्वारा हिन्दी निबंध परम्परा को गुप्त जी ने विषय और भाषा शैली दोनों दृष्टियों से गुणात्मक रूप में समृद्ध किया । पहली बार निबंधों के भीतर उन्होंने राजनीतिक विषयों को विशेष रूप से प्रवेश दिलवाया । उन्होंने भाषा को व्यंग्य की धार पर चढ़ाते हुए रोचक बनाया और उसे परिष्कृत भी किया । भारतेंदु युगीन निबन्धों की जिंदादिली, व्यंग्यात्मकता, भाषा की रवानगी को आपने कायम ही नहीं रखा, बल्कि और भी शान पर चढ़ाया । गुदा जी ने निबंध में व्यंग्य को जो पैनी धार और मजबूत आधार दिया था, उस पर आजादी तक चलने की हिम्मत किसी अन्य निबंधकार ने नहीं दिखाई । आजादी के बाद गुप्त जी की इस परम्परा को हरिशंकर परसाई ने अर्जित किया और उनसे आगे विविध रूपों में विकसित भी किया, पर गुप्त जी की भाषा का जादू उनके हाथों भी न आया ।

हिन्दी भाषा का स्वरूप स्थिर करने और उसका स्वरूप परिष्कृत करने की दृष्टि से बाल मुकुन्द गुप्त के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता है । हिन्दी भाषा की एकरूपता, स्थिरता और मानकीकरण को लेकर समय-समय पर हिन्दी-विद्वानों के बीच जो बाद-विवाद हुए उसमें आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से अनिस्थितिरता और बंकटेश्वर

समाचार पत्र के सम्पादक लज्जा राम मेहता से 'शेष' शब्द को लेकर गुप्त जी का वाद-विवाद ख्यात है । हिन्दी-उर्दू के संघर्ष में, उर्दू माध्यम से हुई अपनी शिक्षा के बावजूद, हिन्दी के राष्ट्रीय विकास और व्यापक जन स्वीकृति के चलते उन्होंने हमेशा हिन्दी का जोरदार समर्थन किया और आजीवन उसके पक्षधर बने रहे । गुप्त जी उर्दू माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने के कारण उर्दू लिपि की खामियों से बहुत करीब से परिचित थे। इसलिए उनके अकाट्य तर्क सबको स्वीकार हुए । हिन्दी भाषा में प्रश्न चाहे शब्दों के अनौचित्य का हो या उसके व्यवहार का, गुप्त जी इस मुद्दे पर न तो किसी के सामने झुके और न किसी से समझौता किया ।

गुप्त जी एक अच्छे कवि थे । देश प्रेम, राष्ट्रीयता, समाज जागृति विषय से सम्बद्ध उनकी फुटकर कविताएं उस समय की पत्रिकाओं में छपती रहती थी । उनकी इन्हीं फुटकर कविताओं का एक संग्रह 'स्फुटकविता' के नाम से, भारत मित्र प्रेस, कलकत्ता से सन् 1906 में छपा था । कविता के साथ गुप्त जी की आलोचना में भी रुचि थी । उन्होंने भारतीय काव्य शास्त्र की पुरानी रूढ़ परम्परा को छोड़कर भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में अपनी आलोचना दृष्टि और अभिरुचि विकसित की । वे युगानुरूप नवीन आलोचना दृष्टि के पक्षपाती थे और लोक कल्याण की भावना को किसी रचना की उत्कृष्टता की कसौटी मानते थे । आगे चल कर यही राह पकड़ कर पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी आलोचना का मार्ग बहुत चौड़ा और प्रशस्त किया । गुप्त जी को तुलनात्मक आलोचना में खासा रस था । उन्होंने जिस तुलनात्मक आलोचना की शुरुआत की वहीं आगे पद्म सिंह शर्मा और मिश्र बन्धुओं तक पहुँच कर काफी विकसित हो गयी । तुलनात्मक आलोचना का वातावरण बनाने के साथ ही गुप्त जी ने भारत मिश्र में साहित्यकारों को आलोचनात्मक परिचय लिखने का शुभारंभ किया। बाद में 'विशाल भारत' के नामी सम्पादक पं. बनारसी दास चतुर्वेदी ने इसे और आगे बढ़ाया ।

भारत की समृद्ध भाषाओं से अनुवाद करने की हिन्दी भाषा-साहित्य के भण्डार को ज्यादा से ज्यादा समृद्ध करने की हौड़ भारतेन्दु और द्विवेदी युग के साहित्यकारों की एक विशेषता रही है । भारतीय भाषाओं के अलावा अंग्रेजी और संस्कृत की ख्यात रचनाओं का वे हिन्दी में अनुवाद करते थे । गुप्त जी ने सन् 1891 में बंगला उपन्यास 'मेडेल भगिनी' का और सन् 1906 में हर्ष की प्रसिद्ध संस्कृत नाटिका 'रत्नानवली' का हिन्दी में अनुवाद किया । उन्होंने अपने अनुवाद में मूल रचनाओं के बुनियादी भाव की रक्षा की, संवादों में प्रवाहशीलता बनाये रखी और अपनी भाषा भी साफ सुथरी रखी । इसके अलावा गुप्त जी ने बच्चों के विनोद और लोगों के स्वास्थ्य से सम्बन्धित 'खेलतमाशा', 'खिलौना', 'सन्निपात चिकित्सा' जैसी व्यवहारोपयोगी पुस्तकें लिखकर अपनी साहित्येता रूचि से हिन्दी पाठकों का परिचय करवाया । इस प्रकार उनका रचनाकर्म विविधता से सम्पन्न था ।

13.3 निबंध (एक दुराशा) का सारांश

बाल मुकुन्द गुप्त ने 'एक दुराशा' निबंध अपने समय के अंग्रेजी राज के चाल-ढाल को विषय बनाकर रचा है । 'एक दुराशा' का शाब्दिक अर्थ है - एक बुरी आशा या बुरी उम्मीद । अंग्रेजी शासन के सामने भारत की गूँगी आम जनता के वकील शिव शंभु शर्मा के सर्वेक्षण और ख्याल की शक्ल में निबंध आकार लेता है । शिव शंभु शर्मा का छद्म नाम-रूप स्वयं बाल मुकुन्द गुप्त धारण करते हैं, कारण है - अंग्रेजी शासन के अकारण कोप भाजन से बचना । निबंध की शुरुआत गुप्त जी बड़े रोचक, नाटकीय कथात्मक ढंग से करते हैं । शिव शंभु शर्मा भांग-बूटी छानकर खटिया पर पड़े हैं और उनके हाथ-पाँव खटिया की हद के बाहर इधर-उधर निकल गये हैं । शरीर तो खटिया पर पड़ा है, लेकिन भाँग की तरंग में उनकी चेतना कहीं और पहुँच गयी है । खटिया पर पड़े-पड़े उन्हें अचानक किसी के होली गाने की सुरीली आवाज सुनाई पड़ी और वे चौंक कर उठ बैठे । गाने में इतना आकर्षण था कि वे खटिया छोड़कर बरामदे में आ गये । पता चला की पड़ोस में किसी अमीर के यहाँ गाने की महफिल जमी हैं । फिर उनकी दृष्टि आकाश की ओर गयी और उनकी चेतना कुछ देर के उधर चल पड़ी । देखा आकाश बादलों से घिरा है, बिजली चमक रही है, रिमझिम पानी भी बरस रहा है। फिर उनका विचार होली के गाने और वर्षा के बीच गोता खाने लगा । वर्षा देखकर उन्हें एक क्षण के लिए लगा सावन है, इसलिए गाने वाले को मल्हार गाना चाहिए । दूसरे क्षण उन्हें फागुन का ध्यान आया, तो लगा कि गाने वाले का होली गाना ठीक है। इसमें उन्हें गाने वाले का नहीं, फागुन को सावन बना देने वाले विधाता की भूल लगी । उन्हें वर्षा और बसन्त के ऋतु विपर्यय पर समय के फेर पर अफसोस हुआ ।

भाँग की तरंगों में फिर उनकी चेतना ने गोता खाया और वे गीत के अर्थ की ओर मुड़ गये । 'चलो-चलो आज, खेलें होली कन्हैया घर' गीत में कन्हैया का जिक्र है और उनके साथ होली खेलने वाले-ग्वालों -का । यही से निबंध विचार की एक निश्चित दिशा पकड़ लेता है । वह निश्चित दिशा है देश के समय का फेर, देश की राज व्यवस्था के समय का फेर यानि पहले और आज की राज व्यवस्था में शासन विपर्यय । शासन के काल विपर्यय यह आ गया है कि पहले कृष्ण के साथ ग्वाले होली खेलने की बात सोच सकते थे और खेलते थे, लेकिन आज देश की महारानी विक्टोरिया सात समंदर पार बैठी है, शिव शंभु शर्मा समेत देश की प्रजा ने उसे देखा नहीं हैं, सिर्फ उसका नाम सुना है । उसका प्रतिनिधि - लार्ड कर्जन-यहाँ बैठा है । वह कलकत्ते में है और शिव शंभु शर्मा की कलकत्ते में ही है, लेकिन उसके घर जा कर शर्मा जी होली नहीं खेल सकते हैं । कृष्ण राजपुत्र थे, पर सच्चे अर्थ में जन प्रतिनिधि थे । पर कर्जन राज प्रतिनिधि है, लेकिन जन प्रतिनिधि करने भर के लिए है - नाम बहुत है दर्शन थोड़ा । होली खेलने की बात बहुत दूर की है, प्रजा उससे मिलने की बात सोच ही नहीं सकती। राज प्रतिनिधि कर्जन और उसकी कलकत्तावासी प्रजा दोनों एक दूसरे का भाव, भाषा

समझते ही नहीं है । एक मुगल शासक जहाँगीर था, उसके वंशज भी बाहर से आये थे। पर उसे आगरा की प्रजा से इतना प्रेम था कि उनकी फरियाद सुनने के लिए अपने सोने के कमरे में फरियाद सूचक उसने घटा लगवाया था । माई लार्ड कर्जन साहब भी विदेशी है, उन्हें इस देश की जनता से तनिक भी प्यार नहीं, फिर किसका घंटा और किस की फरियाद । वैसे तो उनका दर्शन दुर्लभ है । बहुत ताक-झाँक के बाद कभी-कभार उनके मुखड़े की झलक मिलती है, पर उसका समय भी तय नहीं । जिस प्रकार कलकत्ता की जनता उनके मुखड़े की एक झलक पाने के लिए टकटकी लगाये रहती है और शिवशंभु शर्मा उनके साथ होली खेलने की सोचते हैं, कर्जन की ओर से उनके लिए ऐसा कुछ नहीं है । उसके मन में इस देश के किसी साधारण आदमी से मिलकर उसके सुख-दुख जानने की चाह ही नहीं है । इतने बड़े आदमी में उसके कर्तव्य का ध्यान दिलाना बेकार है, क्योंकि वे स्वयं अपना बड़प्पन जताते हुए इस देश में कर्तव्य से बेधकर आने की बात झाड़ते हैं और ऊपर से उनका तुर्रा यह भी है कि उन्हें इस देश से बड़ा प्यार है । सवाल यह है कि कर्जन साहब का इस देश की प्रजा के निकट होना और उसके सुख-दुख को जानना उनके कर्तव्य में आता है या नहीं । यदि आता है तो क्या यह बता सकते हैं कि उन्होंने अपने छः साला शासन में अपने द्वार के पहरेदार, चपरासी, खानसामा आदि से गाहे बगाहे क्या उनका हाल-चाल जानना चाहा है, क्या उन्होंने कभी उनसे यह पूछने का कष्ट किया है तुम्हारे देश के लोगों की हमारे बारे में क्या राय हैं? क्या कभी अपने सैर-सपाटे के दौरान श्रीमान ने इस देश के किसी साधारण आदमी से बातें की है या किसी प्रतिष्ठित बुद्धिजीवी को अपने पास बुलाकर इस देश के लोगों के सही विचार को जानने की तकलीफ उठायी है? सुना है कि श्रीमान कलकत्ते का कोना-कोना देख आये है, लेकिन कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में चांसलर का चोगा चढ़ाकर उन्होंने वहाँ के छात्रों के बीच जो दीक्षान्त भाषण दिया था, उससे ऐसा लगता है कि उन्होंने जिन आँखों से इस देश को देखा और परखा है, उनमें इस देश की प्रजा की असली बातों की तह तक जाने की शक्ति नहीं है। यही हाल उनके दिल और दिमाग का भी है ।

पूरे भारत की बात छोड़िये, वह तो बहुत बड़ा है । यदि कलकत्ते की बात की जाए तो उसमें भी इतनी सारी चीजें हैं कि उन्हें नजदीक से देखकर भारत की बहुत सी बातें जानी जा सकती है । लेकिन कर्जनसाहब को अपने छः साला शासन में विशेष रस स्मारक हाल, विक्टोरिया मेमोरियल, गवर्नमेंट हाउस बनवाने, उनके आस-पास अच्छे फुटपाथ, लम्बी-चौड़ी सड़के बनवाने, अच्छी रोशनी की व्यवस्था करने, ब्लैक होल का पता लगाने में रहा है । शेष नगर पहले भी खस्ताहाल था और उनसे समय में भी वैसा ही रहा है । दरअसल शेष नगर की यथार्थ स्थिति देखने के लिए जैसी संवेदनशील आँखे चाहिए, वे उनके पास नहीं है । यदि जनाब किसी दिन शिवशंभु शर्मा के साथ नगर की वास्तविक हालत देखने चलते तो देखते कि उन्हीं के इसी कलकत्ता नगर में लाखों ऐसे लोग हैं जिन्हें जीवन की बुनियादी चीजें-रोटी, कपड़ा, मकान नसीब नहीं है ।

वर्षा, जाड़ा, गर्मी हर मौसम उनके लिए यमराज है । इससे भी, रोंगटे खड़े कर देने वाले दृश्य इसी इमारतों वाले कलकत्ता नगर में है । कर्नल साहब के राज में उनकी प्रजा में हजारों लोग ऐसे है जिनको रहने की झोपड़ी तक नसीब नहीं है । वे गलियों में जहाँ-तहाँ मारे-मारे घूमते हैं, वे फुटपाथों पर पड़े रहते हैं और बीमार होने पर सड़कों पर ही दम तोड़ देते हैं । इनमें से अनेक जाड़े में कभी मैदान में आग जलाकर, तो कभी हलवाइयों के भट्टियों से चिपककर रात काट देते हैं । इनमें दो-चार हर दिन मर जाते हैं, पुलिस के सिवा उनकी लावारिस लाशों का कोई राजी-गहकी नहीं करता । अब कर्जन साहब तक इनकी दुर्दशा की खबर कौन पहुँचाये? कर्जन साहब जिस दिल्ली में भारत-भर के बड़े-बड़े राजाओं को जुटाकर अपनी शान-शौकत के प्रदर्शन के लिए 'दिल्ली-दरबार' लगाते हैं, वहाँ भी कलकत्ते के आम लोगों की तरह सैकड़ों लोग मारे-मारे फिरते हुए दिखाई पड़ते हैं, पर उनकी ओर इनमें से कोई देखने वाला नहीं है । यदि जनाब कर्जन इन लोगों की खोज-खबर रखते तो उनसे पूछने का औचित्य होता कि आखिर ये लोग ब्रिटिश राज के नागरिक हैं या नहीं, उससे उनका रिश्ता है कि नहीं है रे क्या ये लोग ऐसे ब्रिटिश राज की जय बोले, जिनमें उन्हें रहने के लिए एक अंगुल जमीन, तन ढाकने के लिए फटे-चिटे कपड़े, पेट भर अन्न दुर्लभ है? या फिर वे कहें कि उसके देश का राज प्रतिनिधि सबसे बड़ी हाथी पर छत्र-चँवर लगाकर, देश भर के राजाओं-महाराजाओं के साथ हाथियों पर जुलूस निकालता है, इससे हम बड़े सुखी है ।

भारत की प्रजा में अभी भी ऐसे करोड़ों लोग हैं जो सुबह-शाम इकट्ठे होकर इस देश के प्रजा प्रेम, प्रजापालक विक्रम, अकबर आदि पुराने राजाओं को याद करते है । बीरबल के लतीफों से अपना जी बहलाते है । किन्तु वे अपने जमाने के राजप्रतिनिधि कर्जन साहब की प्रजा विरोधी चाल-चलन देखकर, सुख और न्याय के पुराने जमाने के राजप्रतिनिधि के चले जाने का बड़ा रंज करते हैं । वे विक्टोरिया महारानी और उनके उत्तराधिकारी बेटे के राजा होने की बात जानते है, पर वे यह नहीं जानते कि उनका कोई राजप्रतिनिधि इस देश का मालिक है, जिसे इस देश की प्रजा पर शासन करने का बड़ा घमंड है और जो अपनी श्रेष्ठता की ढोल पीटते हुए इस देश की प्रजा को झूठा और मक्कार कहता है ।

कर्जन साहब का प्रजा विरोधी क्रियाकलाप देखकर शिवशंभु शर्मा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजा और प्रजा का परस्पर मिलकर होली खेलने का जमाना कब का चला गया । रही-सही थोड़ी सी उम्मीद बाकी थी, वह काश्मीर नरेश रणवीर सिंह के साथ चली गयी । अब वह सुनहरा समय जल्दी लौटकर आने वाला नहीं है । इस देश की प्रजा का अब ऐसा भाग्य नहीं है कि वह अपने राजा के साथ मिलकर होली खेले और राजप्रतिनिधि कर्जन साहब का भी ऐसा सौभाग्य नहीं है कि अपनी प्रजा से प्रेम पाने की अपेक्षा करे । कर्जन साहब चाहे तो अपने शासन की तारीफ में इतिहास के पोथे लिखवाये, लेकिन प्रजा की स्थिति से उनका कोई वास्ता नहीं है । शिवशंभु शर्मा अपने देश की गूँगी प्रजा के वकील की हैसियत से यह संदेश कर्जन साहब के पास पहुँचाना

चाहते हैं कि वे कभी इस गाड, पागल ब्राह्मण को याद कर लें । इसलिए याद कर ले कि जब तक प्रजा अनपढ़ और गूँगी है, अपना अधिकार माँगना उसे नहीं आता, तभी तक इस भगंड ब्राह्मण के वकील की उसे जरूरत है, तभी तक कर्नल साहब का यह कुशासन और साहबी कायम है । जिस दिन प्रजा पढ़ लिखकर अपना हक माँगेगी, उस दिन उन्हें प्रजा के बारे में सोचना पड़ेगा । पर यह बात तो बाद की है, अभी तो वे अंग्रेजशाही से नशे में डूबे हैं ।

13.4 निबंध - वाचन तथा व्याख्या

वाचन - 1 राजा है, राज प्रतिनिधि है, पर प्रजा की उन तक रसाई नहीं । सूर्य है, धूप नहीं । चन्द्र है, चाँदनी नहीं । माई लार्ड नगर ही में है, पर शिवशंभु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चलकर होली खेलना विचार ही दूसरा है । माई लार्ड के घर तक प्रजा की बात नहीं पहुँच सकती । बात की हवा नहीं पहुँच सकती । जहाँगीर की भाँति उसने अपने शयनागार तक ऐसा कोई घंटा नहीं लगाया, जिसकी जंजीर बाहर से हिलाकर प्रजा अपनी फरियाद उसे सुना सके । न आगे को लगाने की आशा है । प्रजा की बोली वह नहीं समझता, उसकी बोली प्रजा नहीं समझती । प्रजा के मन का भाव वह नहीं समझता, न समझना चाहता है । उसके मन का भाव न प्रजा समझ सकती है, न समझने का कोई उपाय है । उसका दर्शन दुर्लभ है ।

सन्दर्भ - यह गद्यांश बाल मुकुन्द गुप्त के निबंध 'एक दुराशा' से लिया गया है । 'एक दुराशा' निबंध गुप्त जी के प्रसिद्ध निबंध पुस्तक 'शिवशंभु के चिट्ठे' में शामिल है।

प्रसंग - बाल मुकुन्द के निबंध सर्जन के समय भारत अंग्रेजी शासन के अधीन था । लेकिन भारत की पुरानी राजशाही के विपरीत आचरण अंग्रेजी राजशाही और उसके प्रतिनिधि लार्ड कर्जन का था । पुरानी भारतीय राजशाही में राजा और उसकी प्रजा के बीच घनिष्ठ प्रेम था । जहाँ तक कि भारत के बाहर से आकर यहाँ शासन करने वालों के वंश में अकबर, जहाँगीर आदि बादशाह बहुत प्रजावत्सल और न्याय प्रिय थे । वे सही अर्थों में राजा होने के साथ प्रजाप्रतिनिधि थे । लेकिन बाद की राजशाही, अंग्रेजी राजशाही का चरित ठीक उसके उल्टा हो गया । दरअसल अंग्रेजी राज के भारतीय प्रतिनिधि विक्टोरिया रानी और उनके बेटे के पिट्ठू निकले । उन्हें सिर्फ अंग्रेजी राज के सुख समृद्धि में इजाफा करने में रस था, प्रजा के सुख-दुख से उसका कोई लेना नहीं था । वह अंग्रेजी राज की मानसिकता से ग्रस्त सिर्फ राजप्रतिनिधि था, प्रजा प्रतिनिधि नहीं । कारण कि उसका पूरा चाल-चलन प्रजा विरोधी था ।

व्याख्या - विक्टोरिया रानी और उनका उत्तराधिकारी बेटा, इस देश के राजा हैं । दोनों जीवित हैं, लेकिन सात समंदर पार ब्रिटेन में हैं । वहाँ तक प्रजा पहुँच नहीं

सकती । ब्रिटेन में रहने वाले अपने देश के राजा-महारानी के पास पहुँचने की बात बाद की है । उनका प्रतिनिधि तो इस देश में हैं, कलकत्ता में रहता है, उसके पास भी भारत की प्रजा की पहुँच नहीं है । विचित्र विडम्बना है कि अंग्रेजी राज का सूरज आकाश में मौजूद है, पर उसकी धूप जनता के लिए नदारद है । अंग्रेजी राज का चन्द्रमा भारत के आकाश में मौजूद है, पर उसकी चाँदनी प्रजा तक नहीं पहुँचती । प्यारे लार्ड कर्जन के घर तक, यद्यपि वे कलकत्ते के अपने आवास में है और प्रजा भी उसी कलकत्ते में रहती है, लेकिन उसकी बात वहाँ तक नहीं पहुँच सकती है । पहरेदार उनके दरवाजे पर हैं । उनके घर की दीवारों में प्रजा की बात सुनने के कान हैं ही नहीं । दूसरी बात- उसके पास प्रजा की फरियाद सुनने के लिए जहाँगीर के कमरे में लगवाया हुआ घंटा नहीं है । वह शान्ति से निर्बाध सोता है, प्रजा की फरियाद से अपनी नींद खराब करना नहीं चाहता । इसलिए उसने अपने शयनकक्ष में अभी तक घंटा नहीं लगवाया है और उसकी निर्बाध सोने की मौजूदा हालत देखकर लगता है कि वह भविष्य में घंटा लगवाकर अपनी नींद नहीं बिगाड़ना चाहेगा । हमारे देश के प्यारे कर्जन साहब को यहाँ की किसी भारतीय भाषा का ज्ञान नहीं है । वे सिर्फ अंग्रेजी बोलते और समझते हैं और दूसरी ओर भारतीय आम जनता है जो अपनी बोली बोलती है, समझती है । कर्जन साहब की अंग्रेजी उसके पल्ले नहीं पड़ती । कर्जन साहब अंग्रेज होने के कारण साहबी मानसिकता के हैं । प्रजा के मन का भाव समझने के लिए उन्हें साहबी मानसिकता छोड़नी पड़ेगी । पर उनमें इतना दम नहीं है कि प्रजा का बनने के लिए इतना त्याग कर सके । लार्ड की जड़ मानसिकता के चलते वे भारत की जनता की भावना न तो समझते और न ही समझना चाहते हैं । भारतीय प्रजा बड़ी सरल है, वह अपने साहब की चालाकी, मक्कारी, श्रेष्ठता गंथि से अनजान है । एक तो मालिक की भाषा वह नहीं जानती, दूसरे मालिक उन्हें अपने दरवाजे तक फटकने नहीं देता है । प्रजा इतनी दीन-हीन, गरीब और अकिंचन है कि उसे अपने देश के मालिक के मनोभाव और मिजाज को समझने के लिए अन्य उपाय सूझता नहीं है । कर्जन साहब प्रजा के लिए दुर्लभ प्राणी हैं । इसलिए उनका दर्शन पाना दुर्लभ है । वैसे भी बड़े लोग-साधारण लोगों के लिए कहीं सुलभ होते हैं । वे तो साधारण लोगों को दर्शन देने में अपनी तौहिन समझते हैं ।

विशेष - निबंध के इस अंश के लक्ष्य लार्ड कर्नल और भारतीय जनविरोधी कार्य है । भाषा व्यंग्य की सान पर चढ़ी हुई है ।

वाचन - 2 बालू में बिखरी हुई चीनी को हाथी अपने सूँड से नहीं उठा सकता, उसके लिए चिंवटी की जिहवा दरकार है । इसी कलकत्ते में, इसी इमारतों के नगर में, माई लार्ड की प्रजा में हजारों आदमी ऐसे है, जिनको रहने के लिए सड़ा झोपड़ा

भी नहीं है । गलियों और सड़कों पर घूमते-घूमते जहाँ जगह देखते हैं, वहीं पड़े रहते हैं । बीमार होते है, तो सड़कों पर ही पड़े पाँव पीटकर मर जाते हैं । कभी आग जलाकर खुले मैदान में पड़े रहते हैं । कभी-कभी हलवाइयों की भट्टियों से चमटकर रात काट देते हैं । नित्य इनकी दो-चार लाशें जहाँ-तहाँ पड़ी हुई पुलिस उठाती है । भला माई लार्ड तक उनकी बात कौन पहुँचावें? दिल्ली-दरबार में भी जहाँ सारे भारत का वैभव एकत्र था, सैकड़ों ऐसे लोग दिल्ली की सड़कों पर पड़े दिखायी देते थे, परन्तु उनकी ओर देखने वाला कोई न था । यदि माई लार्ड एक बार इन लोगों को देख पाते, तो पूछने को जबह हो जाती कि वह लोग भी ब्रिटिश राज्य के सिटीजन है या नहीं? यदि हैं तो कृपापूर्वक पता लगाइए कि उनके रहने के स्थान कहाँ है और ब्रिटिश राज्य से उनका क्या नाता है?

प्रसंग - प्रसंग के लिए देखें पहले वाचन के बाद का प्रसंग ।

सन्दर्भ - इस वाचन के सन्दर्भ की विशेषता यह है कि इस देश में अंग्रेजी राज के प्रतिनिधि है लार्ड कर्जन और वहीं भारतीय प्रजा के भाग्य विधाता है । गुप्त जी शिवशंभु शर्मा के रूप में भारतीय प्रजा के वकील हैं और इस दृष्टि से लार्डकर्जन न्यायाधीश है । कोर्ट की शब्दावली 'माई लार्ड' सम्बोधन कर्जन के लिए है । गुप्त जी उनकी अंग्रेज परस्त मानसिकता और अभिजात दृष्टि पर कटाक्ष करते हुए कलकत्ता और दिल्ली की जनता के माध्यम से पूरे भारत की आम जनता की ओर उनका ध्यान खींचना चाहते हैं और उनसे कुछ बुनियादी सवाल भी पूछते हैं ।

व्याख्या - किसी चीज की तह तक जानने के खास दृष्टि - तल स्पर्शी दृष्टि की जरूरत होती है । इसी प्रकार किसी विशेष वस्तु का स्वाद जानने के लिए खास प्रकार की जिह्वा चाहिए । वैसे देखने के लिए कर्जन साहब का राजनीतिक कद तो हाथी जितना ऊँचा है और उनकी पहुँच हाथी के सूँड जितनी लम्बी है, पर उनमें जनता तक पहुँचने और उससे जुड़ने की चाह और गुण नहीं है । उनकी दृष्टि, उनकी सोच बड़ी संकीर्ण है, पर उनमें जनता तक पहुँचने और उससे जुड़ने नहीं सकते । जनता से जुड़ने के लिए उन्हें अपनी साहबी ऊँची कुर्सी से उतरकर नीचे जनता के स्तर तक आना पड़ेगा, लेकिन यह गुण उनमें नदारद है । जिस कलकत्ते में, जिस इमारतों के नगर में लार्ड कर्जन रहते हैं उसी नगर में उनकी प्रजा भी रहती है और उसमें हजारों लोग ऐसे है जिनके पास रहने की कोई व्यवस्था नहीं है । वे गलियों-सड़कों में जहाँ थोड़ी जगह पाते हैं, वहीं सो जाते हैं और जब कभी वे बीमार होते है तो वे किसी हॉस्पीटल में अपनी दवा कराने नहीं जा पाते, उपचार के अभाव में वे सड़कों पर ही छटपटाकर मर जाते है । वे जाड़े से अपनी जान बचाने के लिए खुले आसमान के नीचे आग जलाकर पूरी रात काट देते है तो कभी तो

हलवाइयों की गरम भट्टी से चिपक कर । बीमारी और ऊपर से ठंड के कारण इनमें से दो-चार हर दिन लावारिस की तरह मर जाते है और उनकी इधर-उधर पड़ी लाशों का कोई राजी गह की नजर नहीं आता, इसलिए हारकर पुलिस को उनकी लाशों को ठिकाने लगाना पड़ता है । इन बेघर अनाथों, अव्यवस्था के मारों की दुर्दशा की सूचना कौन माई लार्ड, कर्जन साहब के कानों तक पहुँचाये? जिस दिल्ली में वे भारत भर के राजाओं महाराजाओं बादशाहों का दरबार जुटाकर अपने राज्य के वैभव सुख समृद्धि का प्रदर्शन करने में जुटे थे उसी के भीतर एक दिल्ली आम लोगों की थी और इस छोटी दिल्ली के सैकड़ों लोग दिल्ली-दरबार के प्रदर्शन के दौरान सड़कों पर पड़े दिखाई देते थे । पर कर्जन साहब तो बड़ी दिल्ली, बड़े लोगों कि दिल्ली से ताल्लुक रखते थे । उनके पास दो आंखें भी थी, लेकिन छोटी दिल्ली के सड़कों पर पड़े लोग उनकी आँखों से दिखाई न पडते थे । वे दूर दृष्टि के अंधेपन के शिकार थे । यदि कर्जन साहब खुदा न खास्ता एक बार उनको देख लेते तो उनसे बेखटके पूछने का यह अवसर होता कि आखिर जो लोग सड़कों पर पड़े हैं वे ब्रिटिश राज के नागरिक है या नहीं है? यदि वे लोग ब्रिटिश राज के नागरिक है वे कृपा करके इस बात की जाँच पड़ताल करें कि वे रहते कही है, उनका रहने का ठिकाना कहीं है और ब्रिटिश राज से उनका सम्बन्ध क्या है? लार्ड कर्जन का जो आचरण है वह बड़ी दिल्ली वाले राजा-महाराजाओं के अनुकूल है वे छोटी दिल्ली की आम जनता के प्रति मेहरबान तो नहीं लगते । इसलिए आम जनता से उनका रिश्ता छत्तीस का है

विशेष - लार्ड कर्जन की प्रजा विरोधी और राज दरबारी मनोवृत्ति का खुलासा इस अंश का मूल कथ्य है । जनता की स्थिति को देखने-समझने की दृष्टि और समझ का उनमें अभाव है ।

13.5 निबंध का मुख्य प्रतिपाद्य

(क) कथात्मक रचनाविधान

बाल मुकुन्द गुप्त अपने निबंध रचना में प्रायः: कथात्मक ढांचे का उपयोग करते हैं और उनके निबंध 'एक दुराशा' का बाह्य रचना विधान कथात्मक ही है । यह एक चिट्ठी नहीं, लार्ड कर्जन के नाम एक चिट्ठा है । कथात्मकता के कारण उसका स्वरूप अनौपचारिक चिट्ठी से अलग है । अनौपचारिक चिट्ठी एक तो अपने कद में छोटी होती है, दूसरे सूचनात्मक । चिट्ठा होने के कारण इसका कद बड़ा है, दूसरे इसमें शिवशंभु शर्मा की पूरी गतिविधि का चित्रण है, लार्ड कर्जन के चाल-चलन की जाँच-पड़ताल और भारतीय आम जनता की दुर्दशा का बयान भी । कथात्मकता इस चिट्ठे को आत्मीय और रोचक बना देती है । निबंध को रचने वाला यह कथात्मक चिट्ठा अपने स्वरूप में कहानी से भी अलग है । यही कथा निबंधकार के मुख्य प्रतिपाद्य का साधन मात्र है,

वह कहानी की कथा की तरह साध्य नहीं है । गुप्त जी द्वारा अपने निबंध में कथात्मक ढाँचे के उपयोग का प्रधान कारण यह हो सकता है कि वे पाठक को कथा की ओर आकर्षित करके उसे सीधे निबंध से जोड़ना चाहते हैं । अपने कथात्मक रूप के कारण गुप्त जी का यह निबंध विशुद्ध विचारात्मक कोटि का नहीं है, जिसमें विचारों की गढ़ और गुंफित रूप मिलता । इस प्रकार के निबंधों का सर्जन पं. रामचन्द्र शुक्ल ने किया है । गुप्त जी के कथात्मक ढाँचे का अचूक उपयोग आगे चलकर अपने व्यंग्यात्मक निबंधों में हरिशंकर परसाई करते हैं । दूसरी बात-किसी कहानी की आद्यन्त कथा की भाँति गुप्त जी कथा के आग्रही नहीं है । वे कथा के माध्यम से निबंध की डोर पाठक को पकड़ा कर उसे चलता करते हैं । उनके निबंध में कथा का प्रयोजन पाठक को आकर्षित करके अपने विचारों में शामिल करना होता है । उनकी कथा में कहीं अद्भुत चित्रात्मकता है, तो कहीं वर्णनात्मकता मात्र । 'एक दुराशा' निबंध का आरंभ उन्होंने बड़े नाटकीय चित्रात्मक और रोचक ढंग से किया है और जिस व्यक्ति के शरीर, इन्द्रिय, विचार चित्रण में साकार हो उठे हैं, वे है - भंगड शिवशंभु शर्मा । शरीर और हाथ-पाँव, कान, आँख इन्द्रियों की क्रियाशीलता की तुलना में उनके विचारों में अधिक क्रियाशीलता है । भाँग के नशे में विचारों का गतिशील हो उठना और जल्दी-जल्दी बदलना बिल्कुल स्वाभाविक है । विचारों की गतिशीलता गाने के अर्थ पर विचार करने के साथ निबंध की असली डगर पकड़ लेती है और वे इसी डगर पर चलते हुए निबंध को उसके अंतिम मंजिल तक पहुँचा देते हैं । शिव शंभु शर्मा की प्रारम्भिक स्थिति का संश्लिष्ट गत्यात्मक चित्रण देखिए - ' 'नारंगी के रस में जाफरानी बसन्ती बूटी छानकर शिव शंभु शर्म खटिया पर पड़े मौजों का आनंद ले रहे हैं । ख्याली घोड़े की बागें ढीली कर दी थी । वह मनमानी जकंदे भर रहा था । हाथ-पाँवों को भी स्वाधीनता दे दी गयी थी । वह खटिया के तुल-अरज की सीमा का उल्लंघन करके इधर-उधर निकल गये थे । कुछ देर इसी प्रकार शंभु जी का शरीर खटिया पर था और ख्याल दूसरी दुनिया में । "अचानक एक सुरीली गाने की आवाज ने चौंका दिया । कनरसिया शिवशंभु खटिया पर उठ बैठे । कान लगाकर सुनने लगे । कानों में यह मधुर गीत बार-बार अमृत ढ़ालने लगा - चलों चलों आज खेलें होली, कन्हैया के घर । कमरे से निकल कर बरामदे में खड़े हुए । मालूम हुआ कि पड़ोस के किसी अमीर के यहाँ गाने-बजाने की महफिल हो रही है । साथ ही देखा, बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है? रिम झिम झड़ी लगी हुई है । बसन्त में सावन देखकर अक्ल जरा चक्कर में पड़ी । विचारने लगे कि गाने वाले को मलार गाना चाहिए, न कि होली । साथ ही ख्याल आया कि फाल्गुन सुदी है, वसन्त के विकास का समय है, वह होली क्यों न गावे? इसमें गाने वाले की नहीं, विधि, की भूल है, जिसने वसन्त में सावन बना दिया है।"

(ख) **अंग्रेजी राज और उसके प्रतिनिधि का चरित्र उद्घाटन'**

एक दुराशा' निबंध के भीतर अंग्रेजी राज को खींच लाने की अद्भुत कला गुप्त जी के पास है । शिव शंभु शर्मा स्वयं सुने होली गीत के जरिए अंग्रेजी राज को निबंध के भीतर दाखिल करने की सर्जनात्मक तरकीब निकाल लेते हैं । गीत में कन्हैया और उनसे होली खेलने की इच्छा रखने वालों का जिक्र है । गीत के इस सामान्य से सन्दर्भ को वे रूपक में बदल देते हैं । प्रसंग के बहाने एक ओर कृष्ण के साथ उद्धव और ब्रजवासी खींचे चले आते हैं और दूसरी ओर इस प्रसंग का टीका वे अंग्रेजी राज, उसके प्रतिनिधि और भारतवासी प्रजा से जोड़ देते हैं । अंग्रेजी राज में हमारे देश की महारानी और उनके बाद उत्तराधिकारी राजा दोनों थे, पर वे बैठे थे सात समंदर पार अपने देश ब्रिटेन में और भारत का राजकाज चलाने के लिए लार्ड कर्जन को अपने प्रतिनिधि के रूप में यही भेजा गया था । सात समंदर पर रहने वाले राजा-रानी अपनी भारतीय प्रजा की परेशानी क्या जाने? लेकिन उनका प्रतिनिधि तो कलकत्ता में रहता था, कभी दिल्ली में अपना दरबारी मजमा लगाता था । राज प्रतिनिधि कर्जन और प्रजा दोनों एक ही नगर में रहते थे, किन्तु प्रजा और प्रजा के हितैषियों की उनके घर तक पहुँच नहीं थी । उनका दर्शन दुर्लभ था । उनकी बोली-भाषा, भाव, आचरण सबका अपनी प्रजा की स्थिति से छत्तीस का सम्बन्ध था । वे अपनी ड्युटी और इस देश से प्यार की, कलकत्ता का कोना-कोना देख डालने की डींग हांका करते थे, पर वे अपने घर के पहरेदारों, नौकरों से भी परिचित नहीं थे । दरअसल उनके आदेश प्रेम, प्रजा प्रेम की बातें हवाई थी । आम जनता की हालत देखने और समझने की उनके पास न आंखें थी, न समझ ही । उन्हें अंग्रेजी राज के शान-शौकत के प्रदर्शन में विशेष रस था, जनता की हाल पर ध्यान देने में नहीं, सबसे बड़े हाथी पर चँवर-छत्र लगाकर हाथियों का जुलूस निकालने में दिलचस्पी थी, जनता की बुनियादी जरूरतें पूरी करने में नहीं । वह घमंडी था और छिद्रान्वेषी भी । इस देश की जनता का शासक होने का उसे घमंड था और प्रजा के साथ उसका बर्ताव श्रेष्ठता ग्रंथि से दूषित था । निबंध का जितना अंश अंग्रेजी राज से सम्बद्ध है उसमें व्यंग्य की धार बड़ी पैनी है । राजप्रतिनिधि और प्रजा के सम्बन्धों की विडम्बना को और गहरा देता है तथा अंग्रेजी राज के बड़बोले पन, अभिजात वर्गीय चरित और जस्लगत रेष्ठता को तार-तार कर देता है । एक दो उदाहरण देखें - ' सम्भव है कि उसमें श्रीमान के दिलपसंद अंग्रेजी मुहल्लों में कुछ बड़ी-बड़ी लड़के निकल जाए और गवर्नमेंट हाउस के तरफ के स्वर्ग की सीमा और बढ़ जाये । "माई लार्ड" अपने शासन का सुन्दर से सुन्दर सचित्र इतिहास स्वयं लिखवा सकते हैं, वहां प्रजा के प्रेम की परवा क्या करेंगे । ' ' 'महारानी विक्टोरिया को वह अवश्य जानते है । कि वह महारानी थी । अब उनके पुत्र उनकी जगह राजा और इस देश के प्रभु हुए है । उनको इस बात की खबर तक नहीं थी कि वे उनके प्रभु के कोई प्रतिनिधि है और वह इस देश के शासन के मालिक होते है तथा कभी इस देश की तीस करोड़ प्रजा का शासन करने का घमंड करते है । अथवा मन चाहे तो इस देश के

साथ बिना कोई अच्छा बर्ताव किये भी वहाँ के लोगों को झूँठा, मक्कार कहकर अपनी बड़ाई करते हैं । "

(ग) देश प्रेम और भारतीय प्रजा की पक्षधरता

'एक दुराशा' निबंध में अंग्रेजी राज के कुशासन, प्रजाविरोधी गतिविधियों के बर अक्स जहाँ भारत के पुराने प्रजा प्रेमी राजाओं के सुशासन की मधुर स्मृति है, वहीं भारतीय प्रजा की दुरअवस्था का बयान भी । अंग्रेजी राज के दुखद शासन के सामने देश के पुराने सुखद शासन की याद आना स्वाभाविक है । पुराने प्रजा प्रेमी शासकों में हिन्दु-मुसलमान दोनों है । महाराज विक्रमादित्य, कश्मीर नरेश महाराज रणवीर के साथ अकबर और जहाँगीर की भावभीनी स्मृति है । यहाँ गुप्त जी की दृष्टि साम्प्रदायिक दृष्टि से ऊपर भारतीय-राष्ट्रीय है । धर्म और राष्ट्रीयता को गुप्त जी ने अलग रखा है। अकबर और जहाँगीर का धर्म इस्लाम है, पर वह भारतीय प्रजा पालन और प्रेम का विरोधी नहीं है । गुप्त जी ने अंग्रेजी राज के चरित्र को उनसे अलग रखा है । लार्ड कर्जन अंग्रेज है, शासक हैं, लेकिन वे अपने राजनीतिक चरित और व्यवहार में अंग्रेज ही है और प्रजा के हित के विरोधी भी । देश की आजादी, राष्ट्रीय एकता और जनता की एक जुटता की दृष्टि से गुप्त जी की गैर साम्प्रदायिक राष्ट्रीय दृष्टि बड़ी स्वस्थ है। वह भारतेन्दु और द्विवेदी युग की राजभक्ति से गुणात्मक रूप में भिन्न और आलोचनात्मक है । गुप्त जी को पुरानी भारतीय राजशाही के पुनरावर्तन की कुछ उम्मीद है । अंग्रेजो की राजशाही को मिटाकर उस समय उनके सामने लोकशाही का आना तय नहीं था ।

पुरानी राजशाही की सुखद स्मृति के साथ भारत की प्रजा की खस्ताहालत का विस्तार से बयान भी इस निबंध में है । उन्होंने देश की उस जनता को याद किया है जो अंग्रेजी शासन के प्रतिनिधि के बावजूद अनाथ और बुनियादी सुविधाओं से वंचित थी । कर्जन राजप्रतिनिधि अवश्य था, लेकिन प्रजा प्रतिनिधि न था । प्रजा प्रतिनिधि एकमात्र उसके वकील शिवशंभु शर्मा उर्फ बाल मुकुन्द गुप्त हैं । यह अंश देखिए - ' 'यदि किसी दिन शिवशंभु शर्मा के साथ माई लार्ड नगर की दशा देखने चलते, तो वह देखते कि इस महानगर की लाखों प्रजा भेड़ों और सूअरों की भाँति सड़े-गले झोपड़ों में पड़ी लोटती है । उनके आस-पास सड़ी बदबू और मैले सड़े पानी के नाले बहते हैं । कीचड़ और कुडे के ढेर चारों ओर लगे हुए हैं । उनके शरीर पर मैले-कुचेले फटे चिथड़े लिपटे हुए हैं । उनमें से बहुतों को आजीवन पेट भर अन्न और शरीर ढॉने को कपड़ा नहीं मिलता । अपने जिस कारनामें को अंग्रेजी शासन का इतिहास छिपाता आया था, गुप्त जी ने प्रजा की दुर्दशा का बयान करके पूरी तरह खुलासा कर दिया है । इसमें उनका अमिट देश प्रेम है और लेखकीय दायित्व का गंभीर एहसास भी ।

13.6 निबंध का स्वरूप और भाषा शैली

(क) निबंध का स्वरूप

बाल मुकुन्द गुप्त के निबंध सामान्यत: विचारात्मक होते है और 'एक दुराशा' निबंध भी अपने स्वरूप में विचारात्मक है । विचार प्रधान होते हुए भी यह निबंध अपने स्वरूप में न तो गुढ़ है और न गुम्फित है । इसलिए गुप्त जी के विचार को समझने के लिए पाठक को कड़ी दिमागी मशक्कत नहीं करनी पड़ती । उनके विचार सरल, पर अर्थ सम्पन्न हैं । उसमें क्रमबद्धता है और बहाव भी । विचार की प्रस्तुति कलात्मक है, इसलिए वे निरा बौद्धिक लेख से अलग हैं । इसका मुख्य कारण यह है कि उनके निबंध का लक्ष्यी भूत विषय भारत की अनपढ़ आम जनता है और श्रोता तथा पाठक भी वही है । निबंध का प्रयोजन ही है - आम जनता की बात कर्जन साहब से सामने रखना, साधारण लिबास में, लेकिन दो टूक रूप में रखना । यह काम अनपढ़ और गूँगी आम जनता नहीं कर सकती । जनता का पक्ष रखने और उसके पक्ष से बहस करने की सारी जिम्मेदारी एक वकील के रूप में, एक प्रतिनिधि और अगुआ के रूप में निबंधकार गुप्त जी स्वयं उठाते हैं और उसे अंजाम तक पहुँचाते हैं । उनके वैचारिक बहस का श्रोता न्यायाधीश के रूप में 'माई लार्ड कर्जन' है और वादी-प्रतिवादी के रूप में अंग्रेजी राज और भारत की आम जनता है । गुप्त जी के निबंधों में विचारों की सरलता स्पष्टता और प्रवाहशीलता उन्हें भारतेन्दु युग के भारतेन्दु, पं. प्रताप नारायण मिश्र, पं. बाल मुकुन्द भट्ट की कतार में खड़ा करती है । उनमें जीवन्तता भी भारतेन्दु युगीन निबंधों जैसी है ।

(ख) भाषा

बाल मुकुन्द के निबंधों विचारों की सतत् गतिशीलता के कारण उनकी भाषा बहुत गतिशील यानि प्रवाही है । वह ठस नहीं, चलती, हुई जीवन्त भाषा है । वह अर्थ की दृष्टि से लक्षणा और व्यंजनागर्भी नहीं, सामान्यत: अधिधारक है । ही, जहाँ उन्होंने लार्ड कर्जन को आड़े हाथों लिया है, वहाँ भाषा व्यंग्यात्मक है और यह व्यंग्य भी विशेष रूप से अलंकारों और मुहावरों की ताकत से पैदा किया गया है । भाषा के गठन में गुप्त जी बहुत उदार मना है । उनकी भाषा की बनावट में तत्सन्, तदभव, देशज, विदेशी, नवनिर्मित हर तरह के शब्द हैं, लेकिन वे उनकी भाषा के बहाव में रूकावट नहीं डालते, बल्कि ज्यादातर मदद करते । तत्सम शब्दों में ज्यादातर ऐसे शब्द हैं जिन्हें जनता अपने बोलखल का हिस्सा बना चुकी है । जैसे - आनन्द, स्वाधीनता, सीमा, उल्लंघन, शरीर, वसन्त, वर्षा, राजकुमार, राजा-प्रजा, संतोष, सुख-दुख, दोष, समस्या, विधाता, कष्ट, सभा, शक्ति, प्रबंध, दया, नित्य, विदेश, जन्म कुमइ, स्वदेश, न्याय, संदेश आदि बहुत कम तत्सम शब्द ऐसे हैं जो बोलचाल के हिस्से नहीं है । मसलन - फाल्गुन सुदी, ऋतुविपर्यय राजप्रतिनिधि, राजपुयश, शयनागार, द्वितीया, चन्द्रानन, श्रीमुख, तथापि, परीक्षोत्रीर्ण, दण्डायमान अभिज्ञता, अकिंचन प्रेम, रसानद आदि । बोलचाल में स्वीकृत तत्सम शब्दों के समान मद्भव और देशज शब्दों को लेने में गुप्त जी को काफी रस है । यदि एक ओर उनके निबंध में - बूटी, घोड़े, इधर-उधर, चौंका, कान, कनरसिया कन्हैया, घर सावन, चक्कर, चाँद, चाँदनी, कोयल, भादों, जी,

आज, हाथ-पीव, अभी उंगली, दुज, सुध, सिर, कठपुतली, चिड़िया, सच्चे, आँख, काम, अंधेरा, लाखें, सूअर, कीचड़, कूड़ा, कपड़ा, सड़ा, बरसात, मौत, हाथी, सूँड, आसीस, भंगड, तीस, दुआर, पक्की, मूँह आदि । तद्भव शब्द काफी संख्या में खिचे चले आये हैं तो दूसरी तरफ देशज शब्दों से भी निबंध गाली नहीं है । खटिया, झोली, फेंटा, पेड़, सड़क, भेड़, झोपड़ा, जाड़ा, अकड़, गूँगा आदि शब्द इसी प्रकार के है ।

गुप्त जी की शिक्षा यद्यपि उर्दू माध्यम से हुई थी, लेकिन अपने निबंध की भाषा में उन्होंने ज्यादातर उर्दू के बोल-चाल शब्दों को अपनाया है । उदाहरण के लिए - तूल-अरज, कमरा, बरामदा, दुनिया, अमीर, आवाज, महफिल, मालूम, ख्याल, अक्ल, अबीर-गुलाल, खानसामा, खली, सैर-तमाशा, दौर, रियासत, सलाम, बेपरवा, जामा, मैदान, दिलपसंद, तरफ, बदबू सीलन, दरकार, इमारत, जहार जगह, बीमार, हलवाई, लाश, दरबार, जूलूस, खबर, मालिक, वकील, सुलतां, बादशाही, नजर आदि । उन्होनें ऐसे उर्दू शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया है जिनका चलन पढ़े-लिखे लोगों में है । जाफरानों मौज (लहर), बाग (लगाम), जकंद (छलांग), बशुक्र, बमुलाजिमाने आदि । सबसे बड़ी बात है यह है कि उन्हें हिन्दी में ढाल लिया है । उर्दू प्रत्ययों की जगह पर हिन्दी के प्रत्ययों को, बोलचाल के वजन पर, विशेष महत्व दिया है । जैसे कि हजारों, मौजों, जकंदे, मुहल्लों आदि । गुप्त जी पढ़े-लिखे व्यक्ति थे, अंग्रेजी की जानकारी रखते थे । इसलिए वे यदा-कदा पढ़े-लिखे लोग के बीच प्रचलित अंग्रेजी शब्दावली का प्रयोग करते हैं । उदाहरण के लिए - माई लार्ड, लार्ड, डयुटी, चांसलर, सिटीजन, युनिवर्सिटी आदि । आम लोगों के बीच प्रचलित अंग्रेजीं शब्दों से उन्हें परहेज नहीं है । फुटपाथ, पुलिस, ब्रिटिश राज, सात आदि शब्द जनता के बीच स्वीकृत हो चुके थे । अंग्रेजी नाम वे देवनागरी लिपि में स्वीकार कर उनका हिन्दीकरण करते चलते है । जैसे - गवर्नमेंट हाउस, हालवेल ब्लैकहोल, विक्टोरिया मेमोरिलय हॉल आदि ।

गुप्त जी हिन्दी भाषा को समृद्ध बनाने के लिए अलग-अलग स्रोतों से आये शब्दों को सहयोगी-मित्र की नजर से देखते है और उनकी दोस्ती स्वीकार करते हैं । दरअसल आम आदमी को दो अलग-अलग भाषाओं के प्रचलित शब्दों के बीच मेल-मिलाप पसंद आता है । इन शब्दों को देखिए - ख्याली घोड़े, बेतुका, असली दशा हिन्दी के है । अंग्रेजी मुहल्लों में पहला अंग्रेजी से दूसरा उर्दू से सम्बद्ध है । उनके यहाँ ऐसे भी नवनिर्मित शब्द हैं जिनमें पहला हिन्दी से जुड़ा है दूसरा उर्दू या अंग्रेजी से । उदाहरण के लिए - काले प्यादे, नीचे दरजे, प्रतिष्ठित बेगरज आदमी, अच्छी रोशनी, दूसरा दौर, विदेशी रियासत, लम्बी सलामें, अच्छे फुटपाथ में, पहले शब्द-काले, नीचे, प्रतिष्ठित, अच्छी, दूसरा, विदेशी अच्छे हिन्दी के हैं और बाद के, फुटपाथ को छोड़कर सभी उर्दू से जुड़े हुए है । इन शब्दों का निर्माण हिन्दी भाषा आम जनता ने किया है और उसे गुप्त जी ने बिना किसी संकोच के अपना लिया है ।

निबंध की भाषा में चलते मुहावरों का इस्तेमाल गुप्त जी को काफी पसंद है । वे मुहावरों का इस्तेमाल प्रदर्शन के लिए नहीं, बल्कि अपनी अभिव्यक्ति की ताकत बढ़ाने के लिए करते हैं और भाषा के बहाव में उन्हें ऐसा खपा देते हैं कि पता ही नहीं चलता। उनके द्वारा निबंध में इस्तेमाल कुछ मुहावरों से आपका परिचय करवाया जा रहा है । मसलन - बाग ढीली कर देना, जकंदे भरना, मौजों का आनंद लेना, कान में अमृत ढालना, अक्ल चक्कर में पड़ना, सात समुंदर पार होना, निकट न फटकना, दर्शन दुर्लभ होना, नजर गड़ाना टकटकी लगाये रहना, मन टटोलना, सूर्य की दीपक दिखना, कोना-कोना देख डाला, पाँव पीटकर मर जाना, डंका बजाना, जी बहलाना, मुँह खोलना, समय लौटना, अपनी बड़ाई करना आदि । अलंकारों को सामान्यत: कविता का आभूषण माना जाता है, लेकिन आधुनिक गद्यसाहित्य ने अर्थ की समृद्धि और स्पष्टता के लिए खास तौर पर सादृश्यमूलक अलंकारों का स्वागत किया । कथा साहित्य, नाटक, संस्मरण, रेखाचित्र आदि गद्यविधाओं में अलंकार के लिए अधिक अवकाश रहता है, निबंध में इसके लिए गुजांइश कम रहती है । गुप्त जी ने अपने निबंधों में कथातत्त्व का सर्जनात्मक उपयोग किया है और सन्दर्भनुसार वे अर्थ समृद्धि के लिए सादृश्यमूलक अलंकारों का उपयोग करना पसंद करते हैं । जैसे - 'भादों की-सी अँधियारी', 'द्वितीया के चन्द्र की भाँति', 'जो पहरेदार काठ के पुतलों की भाँति छाया की मूर्ति की भाँति हिलते-डुलते दिखते है । ' 'इस महानगर की लाखों प्रजा भेड़ों और सूअरों की भाँति- उपमा, 'बहुत दे तक नजर गड़ाने से उसका चन्द्रानन दिख जाता है । ' 'माई लार्ड के मुखचन्द्र के उदय के लिए कोई समय भी नियम नहीं है । ' माई लार्ड के श्री मुख से अमृतरूपी वचनों के सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ - रूपक । इसके अलावा कभी दूसरे अलंकार अपनी छटा दिखाते हैं । मसलन - सूर्य है, धूप नहीं, चन्द्र है, चाँदनी नहीं' - विशेषोक्ति (जहाँ कारण हो, पर कार्य घटित न हो) । अलंकारों के अलावा गुप्त जी को अपने निबंधों उर्दू-फारसी शायरों के शेरों को उद्धत करने का शौक है । कभी तो वे प्रसंगानुसार स्वयं रच लेते हैं । 'एक दुराशा' के अन्त में उद्धृत छंद स्वयं गुप्त जी का रचा हुआ है । लार्ड कर्जन की प्रजा में हिन्दू और मुसलमान दोनों है । यह कसीदा शिवशंभु शर्मा प्रजा की ओर से लार्ड कर्जन की सेवा में पेश करते हैं । इसमें व्याजस्तुति की छौंकू है और हिन्दी-उर्दू दोनों का रंग भी । खुद देखिए - बमुहाजिमाने सुलतां कै रसानद ई दुआरा ।

कि बशुक्रे बादशाही जे नजर भरा गदारा ।

गुप्त जी कभी-कभी कहावतों का दृष्टान्त के रूप में अचूक प्रयोग करते हैं । जैसे लार्ड कर्जन के हाथी जैसे विशाल राजनीतिक व्यक्तित्व और जनता से बेरूखी के लिए उन्होंने लोगों के बीच प्रचलित हाथी-चींटी वाली कहावत का इस्तेमाल कर लिया । जैसे- 'बालू में बिखरी हुई चीनी को हाथी अपने सूँड से नहीं उठा सकता, उसके लिए चिवटी की जिहवा (की) दरकार है । '

गुप्त जी की भाषा भारतेन्दु युग के निबंध लेखकों से आगे बढ़ी हुई परिष्कृत है, लेकिन कुछ संज्ञाओं, क्रियाओं और वाक्यों में पुरानापन मौजूद है । जैसे - खिलैया (खेलने वाले), शर्म्मा, सूर्य्य, उल्लंघन, चिंवटी (चींटी), गावे (गाये), पहुँचावे (पहुँचाये), जावेगा (जायेगी), चमटकर (चिपककर), वा (या), सारे भारत की बात जाय (जाने दीजिए) । यही कारक चिह्न का लोप है । जैसे - उसके लिए चिंवटी की जिहा की दरकार है ।

(ग) शैली

गुप्त जी अपने निबंधों में विचार की प्रस्तुति के लिए कथात्मक ढाँचा अपनाते हैं, लेकिन ढाँचा भर ही । वे निबंध में रखते हैं अपने विचार ही । उनके निबंध लम्बे चिट्ठे या खत के रूप में है । उनमें अद्भुत वस्तृता है और दोटूक सवाल उठाने, पूछने और जिरह करने की अद्भुत कला भी । उनकी शैली सबसे अधिक कलात्मक और प्रभावशाली वहाँ होती है जब वे व्यंग्य करने के लिए कमर कसते हैं । उनके पास व्यंग्य करने के अनेक हुनर है । वे तत्सम शब्दों के बूते व्यंग्य का जादू दिखा सकते हैं और अंग्रेजी शब्दों के बूते भी । वे सम्बोधन, रूपक, अलंकार किसी को भी अपने व्यंग्य का वाहन बना सकते हैं । उनके व्यंग्य अपने लक्ष्य में अचूक प्रहारक शक्ति रखते हैं । एक उदाहरण देखिए - 'कृष्ण है, उद्धव है, पर ब्रजवासी उनके निकट भी फटकरने नहीं पाते । राजा है, राजप्रतिनिधि है, पर प्रजा की उन तक रसाई नहीं है । सूर्य्य है, धूप नहीं । चन्द्र है चाँदनी नहीं । माई लार्ड नगर ही में है, पर शिवशंभु उनके द्वार तक फटक नहीं सकता, उसके घर चलकर होली खेलना तो विचार ही दूसरा है । उसका दर्शन दुर्लभ है । द्वितीया के चन्द्र की भाँति कभी-कभी बहुत देर तक नजर गड़ाने से उसका चन्द्रानन दिख जाता है, तो दिख जाता है । लोग उंगलियों से इशारे करते हैं कि वह है । किन्तु दूज के चाँद के उदय का भी एक समय है, लोग उसे जान सकते हैं । माई लार्ड के मुखचन्द्र के लिए कोई समय भी नियत नहीं है । '

सवाल उठाने की नायाब कला का एक उदाहरण देखिए, वह भी व्यंग्य की धार के साथ है । 'माई लार्ड को डयुटी का ध्यान दिलाना सूर्य्य को दीपक दिखाना है । वह स्वयं श्री मुख से कह चुके हैं कि डयुटी में बँधा हुआ मैं इस देश में फिर आया । यह देश मुझे बहुत ही प्यारा है । इससे डयुटी और प्यार की बात श्रीमान के कथन से ही तय हो जाती है । तथापि यह प्रश्न आप से आपके जी में उठता है कि इस देश की प्रजा से माई लार्ड का निकट होना और प्रजा के लोगों की बात जानना भी उस डयुटी की सीमा तक पहुँचता है या नहीं? यदि पहुँचता है तो, क्या श्रीमान बता सकते हैं कि आपने छः साल के लम्बे शासन में इस देश की प्रजा को क्या जाना और उससे क्या सम्बन्ध उत्पन्न किया? ' कृष्ण-उद्धव-ब्रजवासी, राज-प्रतिनिधि-प्रजा, सूरज-धूप, चन्द्र-चाँदनी, माईलार्ड-शिवशंभु दर्शन-दुर्लभ, चन्द्रानन, मुख-चन्द्र, ड्युटी, श्रीमान, श्रीमुख आदि शब्द व्यंग्य की सान पर चढ़ कर क्या से क्या अर्थ उगलते हैं । शासक-प्रजा के सम्बधों की विडम्बना को यह व्यंग्य उगलने में पूरी तरह समर्थ है और उसकी ताकत है विशेष प्रकार के शब्दों का चुनाव और सन्दर्भानुकूल उनका बेहतर उपयोग । इसी प्रकार

वक्तृता के लिए वह अंश देखा जा सकता है जिसमें गुप्त जी ने कलकत्ता के बेसहारों, अनाथों की बातें रखी हैं ।

13.7 शब्दावली

जाफरानी = केसर रंग की	खटिया = चारपाई,	मौजों= लहरों,
बाग = लगाम,	जूकदे= छलाँग,	तूल-अरज= माप,
कनरसिया=कर्ण रसिक,	खिलैया = खेलनेवाले,	रसाई = पहुँच,
दूज= दूसरे दिन का,	फेंटा = मरोड़दार,	संगीनदार= नोकदार,
दण्डायमान= डंडे की तरह,	प्यादे = नौकर,	खानसामा = खाना बनाने वाला,
बालू= रेत,	चिवटी = चींटी,	दरकार = आवश्यकता,
चिमटकर= चिपटकर,	डंका = नगाड़ा,	अकिंचन= तुच्छ,
भंगड= भींग का नसेड़ी,	गूँगी = मूक,	बमुलाजिमाने = सेवक,
ईदुआरा= इस द्वार,	बशुक्रे = कृतज्ञता के साथ	गदारा= भिखमंगा,

मलार = वर्षा ऋतु में गाया जाने वाला एक विशेष राग,

13.8 सारांश

द्विवेदी युग के प्रतिभाशाली निबंधकारों में बाल मुकुन्द गुप्त का नाम ख्यात है । उनकी गद्य रचनाशीलता में भारतेन्दु और द्विवेदी युग, दोनों के गद्य रचनाकारों की विशेषताएं मिलती हैं । देश प्रेम, राष्ट्रीयता, आम भारतीय की चिन्ता, भाषा में प्रवाह शीलता, जीवन्तता और व्यंग्य में वे भारतेंदु युग के गद्यकारों के साथ खड़े दिखाई पड़ते हैं और भाषा की साफगोई एवं परिष्कार में द्विवेदी युग के गद्यकारों के साथ । गुफा जी के गद्य रचना कर्म का मूल्यांकन करते हुए पं. रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'गुप्त जी ने सामयिक और राजनीतिक परिस्थिति को लेकर कई मनोरंजक प्रबंध लिखे हैं, जिनमें 'शिवशंभु का चिट्ठा' बहुत प्रसिद्ध है । गुप्त जी की भाषा बहुत चलती, सजीव और विनोदपूर्ण होती थी । किसी प्रकार का विषय हो, गुप्त जी की लेखनी उन पर विनोद का रंग चढ़ा देती थी । वे पहले उर्दू के एक अच्छे लेखक थे, इससे उनकी हिन्दी बहुत चलती और फड़कती हुई होती थी । वे अपने विचारों को विनोपूर्ण वर्णनों के भीतर ऐसा लपेटकर रखते थे कि उनका आभास बीच-बीच में ही मिलता था । उनके वर्णनात्मक विधान के भीतर विचार और भाव लुके-छिपे से रहते थे । यह उनकी लिखावट की एक बड़ी विशेषता थी । (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-35 152)

गुप्त जी के निबंध सर्जन की विशेषता विषय, प्रस्तुति, भाषाशैली तीन दृष्टियों से है । उनके निबंध का विषय प्रधानत: राजनीतिक है । 'एक दुराशा' निबंध का विषय राजनीतिक ही है जिसमें लार्ड कर्जन की अभिजात मुखी अंग्रेज मानसिकता की कड़ी आलोचना है । उसकी इसी मानसिकता को सामने लाने के लिए गुप्त जी ने खास सम्बोधनों - श्रीमान, माईलार्ड आदि - का इस्तेमाल किया है । प्रस्तुत निबंध में गुप्त

जी की मुख्य चिन्ता राष्ट्रीय है और यह चिन्ता अंग्रेजी शासन के प्रतिनिधि लार्ड कर्जन की चिन्ता से अलग जनोन्मुखी है । वे भारत की मूक जनता के प्रबल पक्षधर और वकील है । उनके निबंध की प्रस्तुति का महत्व रोचक कथात्मक ढाँचे के चयन के कारण है । जहाँ तक गुप्त जी की भाषा शैली का सवाल है तो उनकी भाषा का आधार जनप्रचलित खड़ी बोली है । चूँकि गुप्त जी जनता के पक्ष के वकील हैं, इसलिए पढ़े-लिखो के बीच प्रचलित कुछ शब्द आ गये हैं । भाषा तो उनकी जीवन्त है ही, शैली अपने प्रभाव में बड़ी अचूक है । वह व्यंग्य की सान पर चढ़ी हुई है । उनका बहुत बाद इस कला की व्यापक धरातल पर स्वतंत्र विकास हरिशंकर परसाई ने किया । इस प्रकार गुप्त जी ने हिन्दी निबंध को विषय रचनाविधन और भाषा शैली तीनों स्तरों पर समृद्ध किया ।

13.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. बालमुकुन्द गुप्त के जीवन एवं रचना का परिचय कराइए ।
2. 'एक दुराशा' निबंध का मुख्य प्रतिपाद्य बताइए ।
3. 'एक दुराशा' निबंध की भाषा शैली पर विचार कीजिए ।

13.10 सन्दर्भ ग्रंथ

1. बाल मुकुन्द गुप्त; शिवशंभु के चिट्ठे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपर बेक्स पहला संस्करण, सन् 1986
2. रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संस्करण, सम्वत् 2041
3. धीरेन्द्र वर्मा (प्र.सं.); हिन्दी साहित्य कोश, भाग-दो, ज्ञान मंडल लिमिटेड, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सन् 1986

इकाई -14 रामचन्द्र शुक्ल कृत 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' का अध्ययन व विवेचन

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 निबंधकार का जीवन एवं रचना परिचय

14.3 निबंध (काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था) का सारांश

14.4 निबंध - वाचन तथा व्याख्या

14.5 निबंध का मुख्य प्रतिपाद्य

14.6 भाषा शैली और निबंध का स्वरूप

14.7 शब्दावली

14.8 सारांश

14.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

14.10 सन्दर्भ ग्रंथ

14.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप -

- निबंधाकार पं. रामचन्द्र शुक्ल के जीवन एवं रचना से परिचित हो सकेंगे ।
- निबंध के सारांश, वाचन तथा व्याख्या को पढ़ और समझ सकेंगे ।
- निबंध के मूल प्रतिपाद्य, स्वरूप और उसकी भाषा-शैली को जान सकेंगे ।

14.1 प्रस्तावना

बीसवीं शताब्दी का दूसरे से लेकर चौथा यानि तीन दशक (1910- 1940) आधुनिक हिन्दी साहित्य की विकास की दृष्टि से अत्यन्त समृद्धि का समय रहा है । इस दौरान हम हिन्दी की उन विशिष्ट साहित्यिक विभूतियों का साक्षात्कार करते है, जिन्होंने हिन्दी साहित्य का भंडार खूब सम्पन्न करते हुए भारतीय साहित्य में उसका सिर ऊँचा किया और उसे बंगला और मराठी भाषा के समृद्ध साहित्य के समकक्ष खड़ा कर दिया । प्रेमचंद, रामचन्द्र शुक्ल, जय शंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, महादेवी वर्मा आदि हिन्दी की ऐसी ही विशिष्ट साहित्यिक विभूतियाँ हैं जिनकी रचनाशीलता की अधिकांश ऊर्जा इसी दौर में सामने आयी । द्विवेदी युग के उत्तरार्द्ध में इनका रचना कर्म शुरू हुआ और वह परवान चढ़ा द्विवेदी युग (सन् 1920) के बाद । उपन्यास, नाटक, कविता, निबंध आलोचना, इतिहास को इन्होंने इतनी ऊँचाई और समृद्धि प्रदान की कि हिन्दी की दरिद्रता मिट गयी । पं. रामचन्द्र शुक्ल इसी दौर के विशिष्ट

साहित्यकार हैं । उन्होंने हिन्दी निबंध, आलोचना और इतिहास के क्षेत्र में बड़ी ख्याति अर्जित की । शुक्ल जी ने जहाँ निबंध को गंभीर चिन्तन की भूमि पर प्रतिष्ठित किया, वहीं हिन्दी आलोचना को न केवल मजबूत पैरों पर खड़ा किया, बल्कि उसे अपनी पहचान भी दी । हिन्दी साहित्य का व्यवस्थित और प्रामाणिक इतिहास लेखन की दिशा में सबसे पहले पहल उन्हीं की ओर से हुई । इस प्रकार निबंध आलोचना, इतिहास की ठोस बुनियाद डालने का काम पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने किया । से सभी विभूतियाँ गुलाम भारत और स्वाधीनता आन्दोलन के दौर में पली-बढ़ी । इसलिए उनके लेखन का क्षेत्र चाहे जो हो, लेकिन उसमें देश-प्रेम, समाजोत्थान, राष्ट्रीयता प्राणतत्त्व के रूप में अन्तर्निहित रहे हैं, यद्यपि उसका रूप भारतेन्दु और द्विवेदी युग के साहित्य की तरह ऊपरी नहीं है । शुक्ल जी के निबंध, इतिहास, आलोचना की प्राणाधारा इसी से सम्बद्ध है । काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था के अन्वेषण का कारण यही है । लेकिन उनकी राष्ट्रीय चिन्ता महात्मा गाँधी के बदले बाल गंगाधर तिलक और युवा क्रांतिकारियों की सोच के अधिक निकट है । इसका गहरा असर उनके लेखन पर है । आगे हम जिस 'काव्य में लोक मंगल की साधाननावस्था' निबंध से आपका परिचय करवाने जा रहे हैं उसके मूल में राष्ट्रीय और सामाजिक चिन्ता है, यद्यपि उसके खोज का आधार काव्य है । निबंध का परिचय पाने से पहले यह जरूरी है कि आपका परिचय संक्षेप में निबंधकार के जीवन और रचना संसार से करा दिया जाए ।

14.2 निबंधकार का जीवन एवं रचना परिचय

रामचन्द्र शुक्ल का जन्म बस्ती जिले (उत्तरप्रदेश) के अगोना गाँव में सन् 1884 में हुआ था । उनकी प्रारम्भिक शिक्षा हमीरपुर जिले के रात तहसील और मीनपुर में हुई । सन् 1901 में उन्होंने मिशन स्कूल मीरजापुर से मैट्रिक की परीक्षा पास की और एफ. ए. (इन्टरमिडएट) की पढ़ाई के लिए प्रयाग (इलाहाबाद) के कायस्थ पाठशाला में दाखिला लिया । गणित में कमजोर होने के कारण वे एफ. ए. की परीक्षा पास नहीं कर सके । बावजूद इसके अंग्रेजी और हिन्दी का गंभीर स्वाध्याय निरन्तर चलता रहा । इसके बाद शुक्ल जी के पिता, जो सदर मीरजापुर में कानूनगो थे, ने वहाँ के कलक्टर से सिफारिश करके, एक कार्यालय में उनकी नौकरी लगवा दी । शुक्ल जी की बड़े बाबू से बनी नहीं और अपने स्वाभिमानी स्वभाव के चलते उन्होंने बहुत जल्दी नौकरी छोड़ दी । पारिवारिक जिम्मेदारियों के चलते बाद में उन्होंने मीरजापुर के मिशन स्कूल में चित्रकला की अध्यापकी स्वीकार कर ली । यह काम उनकी रूचि का था, क्योंकि इसमें साहित्य-सर्जन के लिए काफी अवकाश था ।

मीरजापुर का साहित्यिक वातावरण शुक्ल जी को खूब रास आया और वह उनके प्रारम्भिक साहित्यिक व्यक्तित्व को फलने-फूलने में काफी मददगार हुआ । साहित्य लेखन शुरू करने के पहले उनके पिताजी के कारण घर का वातावरण साहित्यिक था । शुक्ल जी के पिता जी पुरानी हिन्दी कविता (भक्ति और श्रृंगार कविता) के बड़े प्रेमी

थे। रामचितमानस और केशव की रामचन्द्रिका के घर के लोगों को सस्वर सुनाया करते थे । भारतेन्दु के नाटक उन्हें प्रिय थे । भारतेन्दु के प्रसिद्ध लेखक रामकृष्ण वर्मा उनके मित्रों में से एक थे । उनके प्रकाशन-भारत जीवन प्रेस की पुस्तकें और पत्रिकाएं शुक्ल जी के घर आती थीं । घर के बाहर का वातावरण शुक्ल जी को साहित्यिक ही मिला और उनकी अभिरूचि भी इसी प्रकार की थी । उम्र बढ़ने के साथ हिन्दी के नवीन साहित्य की ओर उनका झुकाव बढ़ा । मीरजापुर आने के बाद वे भारतेन्दु युग के नामी लेखक उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी का नाम सुना और उनके निकट सम्पर्क में आये। पं. केदार नाथ पाठक के हिन्दी-पुस्तकालय से जुड़ने के कारण वे पाठक जी के करीबी हो गये । शुक्ल जी ने 'प्रेमधन की छाया स्मृति' वाले अपने संस्मरण में मीरजापुर की अपनी हिन्दी मुंडली का जिक्र करते हुए लिखा है कि " 15 वर्ष की अवस्था तक पहुँचतेपहुँचते तो समवयस्क हिन्दी प्रेमियों की एक खासी मंडली मुझे मिल गई, जिनमें श्रीयुत काशी प्रसाद जी जायसवाल, बा. भगवान प्रसाद हालना पं. बद्रीनाथ गौड़, पं. उमाशंकर द्विवेदी मुख्य थे । हिन्दी के नये-पुराने लेखकों की चर्चा बराबर इस मंडली में रहा करती थी । मैं भी अब अपने को एक लेखक मानने लगा था । " (चिन्तामणी, भाग-3, पृष्ठ-229) । इसी संस्मरण में उन्होंने आगे लिखा कि ' 'चौधरी साहब से तो अब अच्छी तरह परिचय हो गया था । अब उनके यहाँ मेरा जाना एक लेखक की हैसियत से होता था । " दरअसल बनारस जाने से पहले शुक्ल जी के कई लेख हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छप चुके थे और हिन्दी प्रेमी संसार उनके नाम से परिचित हो चुका था । मीरजापुर में रहने के दौरान 11 वर्ष का समय कहानी (सरस्वती- 1902), कार्डिनल न्यूमन के निबंध 'लिट्रेचर' का अनुवाद 'साहित्य' नाम से 'सरस्वती' (सन् 1904) जोसेफ एडिशन के निबंध प्लेजर्स ऑफ इमैजिनेशन' का अनुवाद 'कल्पना का आनंद' नाम से 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका (सन् 1906) बाबू काशीनाथ खत्री निबंध सरस्वती (सन् 1906) 'अपनी भाषा पर विचार', लेख 'आनंद कादम्बिनी' (सन् 1907) 'फ्रेडरिक पिन्कार' लेख सरस्वती' (सन् 1908) में छप चुके थे।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका में लिखने के कारण बाबू श्याम सुन्दर दास शुक्ल से बखूबी परिचित थे । सन् 1908 में उन्होंने शुक्ल जी को 'हिन्दी शब्द सागर' के सम्पादन में वैतनिक सहायक के रूप में काशी (बनारस) बुला लिया । नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से जुड़ने के बाद ही उनकी साहित्यिक प्रतिभा परवान चढ़ी । श्यामसुन्दर दास का उनके बारे में यह कहना बिल्कुल सही है कि शुक्ल जी ने हिन्दी शब्दसागर बनाया और हिन्दी शब्दसागर ने शुक्ल जी को बनाया । उसी काशी में मदन मोहन मालवीय ने हिन्दु विश्व विद्यालय स्थापित किया था । वे देश के कोने-कोने से विषय-विशेषज्ञों को बुला रहे थे । वे शुक्ल जी की नागरी प्रचारिणी सभा को दी गयी सेवाओं से अच्छी तरह परिचित थे । वे काशी नागरी प्रचारिणी सभा से पहले श्यामसुन्दर दास को, बाद में उनके सहयोगी रूप में शुक्ल जी को हिन्दी विभाग में खींच लाये । हिन्दी विभाग में

आने के बाद शुक्ल जी की जिम्मेदारी काफी बढ़ गयी । विभागीय बच्चों को पढ़ाना था, हिन्दी उच्च शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम बनाना था और नागरी प्रचारिणी सभा को साहित्यिक सेवा प्रदान करना था । सब कुछ उनका साथ-साथ चलता रहा । निबंध, आलोचना, इतिहास, अनुवाद का प्रकाशन इसी दौरान हुआ और वह भी काशी नागरी प्रचारिणी सभा से । शुक्ल जी के सृजनकर्म का सबसे बेहतर काशी में जम जाने के बाद आया और अन्त तक वे यही जमे रहे । सन् 1937 में श्याम सुन्दर दास से सेवानिवृत्त होने पर वे हिन्दी विभागाध्यक्ष बनाये गये और इसी पद पर काम करते और हिन्दी साहित्य की सेवा करते हुए वे सन् 1941 में महज 56 वर्ष की अवस्था में इस संसार से हमेशा के लिए चले गये । रचना-परिचय - पं. रामचन्द्र शुक्ल बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार थे । उनकी प्रतिभा कहानी, कविता, निबंध, आलोचना अनुवाद, कोश निर्माण, इतिहास लेखन, पाठालोचन सम्पादन आदि अनेक साहित्यिक क्षेत्रों में प्रस्फुटित हुई । वे बहुत अच्छे चित्रकार थे और इसी रूप में अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत की । वे हिन्दी के उच्च कोटी के अध्यापक और साहित्यकार थे ।

शुक्ल जी के आरंभिम मानक कोश निर्माताओं में से एक है । 'हिन्दी शब्दसागर' (भाग 1 - 10) के सकंलन और सम्पादन का सर्वाधिक श्रेय शुक्ल जी को है । कहने के लिए उसके प्रधान सम्पादक बाबू श्याम सुंदर दास और सहायक सम्पादक शुक्ल जी, लेकिन इस वृहद् परियोजना में सबसे ज्यादा मेहनत शुक्ल जी ने की । शब्द सागर की लगभग 250 पृष्ठों की भूमिका - हिन्दी साहित्य का विकास - से लेकर शब्दावली संकलन, चयन, फुटनोट आदि बहुत कुछ शुक्ल के गहन अध्यावसाय लगन श्रम का परिणाम है । श्यामसुंदर दास ने भी यह बात बड़ी ईमानदारी से स्वीकार की कि ' 'शब्द सागर की उपयोगिता और सर्वागपूर्णता का अधिकांश श्रेय पं. रामचन्द्र शुक्ल को प्राप्त है । उनके बीस वर्षों के कठिन परिश्रम का फल 'हिन्दी शब्द सागर' था ।

शुक्ल जी सही अर्थों में 'हिन्दी के पहले इतिहासकार' हैं । 'हिन्दी शब्द सागर' भाग 1 की भूमिका के रूप में उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का विकास' लिखा था और सन् 1919 से वे काशी हिन्दी विश्वविद्यालय के हिन्दी छात्रों को हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़ाने लगे थे । इसके लिए वे नोट तैयार करते थे । शब्द सागर की भूमिका और छात्रों के लिए तैयार किये गये नोट के आधार पर उन्होंने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा, जिसका पहला संस्करण नागरी प्रचारिणी सभा से सन् 1929 में छपा । उसका संशोधित-परिवर्धित संस्करण सन् 1941 मे निकला । यह शिव सिंह सरोज और मिश्रबंधु के कविवृत्त संग्रहों से गुणात्मक रूप में अलग हिन्दी का पहला प्रामाणिक, व्यवस्थित इतिहास ग्रंथ है । व्यवस्थित काल विभाजन, काव्य प्रवृत्तियों के आधार पर उनका नामकरण, कवियों की अन्तर्काव्य प्रकृति का उद्घाटन, समीक्षा और उनकी उत्कृष्ट कविताओं का संकलन आदि ने उनके इतिहास ग्रंथ को विशिष्ट बना दिया । अपनी सीमाओं के बावजूद आज भी उसकी लोकप्रियता कायम है ।

इतिहास लेखन के साथ शुक्ल जी का दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण काम 'निबंध-सर्जन' के क्षेत्र में है । चिन्तामणी, भाग 1, 2, 3, 4 उनके निबंध-सर्जन की अक्षय निधि है । चिन्तामणी भाग- 1 के पहले वे 'विचार वीथी' के नाम से छपा था, बाद में शुक्ल जी ने उसका नामकरण 'चिन्तामणी' कर दिया । वास्तव में ये निबंध शुक्ल जी के चिन्तन की मणि की तरह है । उनके सबसे ज्यादा निबंध भावों और साहित्य से सम्बन्धित है और वे विषय प्रधान है । विचार की गहराई श्रृंखलाबद्धता और व्यापकता, विशिष्ट भाषा शैली में मद्देनजर शुक्ल जी सबसे उच्च कोटि के विषय या विचार प्रधान निबंध लेखक के रूप में आज भी मान्य है । चिन्तामणी भाग -3 और भाग-4 का सम्पादन-प्रकाशन उनकी मृत्यु के बाद डॉ. नामवर सिंह और डॉ. कुसुम चतुर्वेदी ने किया । पं. रामचन्द्र शुक्ल ने 'आधुनिक हिन्दी आलोचना' की मजबूत नींव डाली और उसे अपनी पहचान भी दी । हिन्दी उच्च शिक्षा की पाठ्य पुस्तकों की कमी महसूस करते हुए उन्होंने जायी ग्रंथावली, तुलसी ग्रंथावली, समर गीत सार का सम्पादन किया और उनकी वृहद् भूमिकाएं लिखीं । उनकी आलोचना का नवोन्मेष पहले-पहल भूमिकाओं के रूप में सामने आया । इनमें उनके पाठालोचन उतैर समीक्षा विवेक का समाहार है । उन्होंने 'गोस्वामी तुलसीदास' नाम की स्वतंत्र आलोचना की पुस्तक लिखी, जिसमें उनके चिन्तन, मनन और विवेचन की मौलिकता और गंभीरता के दर्शन होते हैं । वे 'सूरदास' पर भी आलोचना की स्वतंत्र पुस्तक लिख रहे थे, लेकिन बीच में उनके दिवंगत हो जाने के कारण वह अधूरी रह गई । इसी प्रकार वे सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रंथ 'रसमीमांसा' का कच्चा प्रारूप तैयार कर चुके थे, लेकिन उनके आकस्मिक निधन के कारण वह काम भी पूरा नहीं हो पाया । शुक्ल जी की मृत्यु के पश्चात् इस अधूरे काम को सम्पादित-प्रकाशित करने का काम उनके प्रिय शिष्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने किया। शुक्ल ने इन ग्रंथों के जरिए आधुनिक हिन्दी आलोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों को समृद्ध किया । शुक्ल जी समीक्षा में रसवादी थे, लेकिन उन्होंने साहित्य युगानुरूप रस की नयी व्याख्या करते हुए उसे लोक मंगल से जोड़ा । वे व्यक्तिवादी साहित्य के परमविरोधी थे । उन्होंने अपने विवेक की कसौटी पर भारतीय और पाश्चात्य आलोचना को जाँचा-परखा और उसमें युगानुरूप परिष्कार करते हुए हिन्दी आलोचना को निजी रूप प्रदान किया । आज शुक्ल जी की विशेष ख्याति का दारोमदार आलोचना, इतिहास-लेखन और निबंध के क्षेत्र में ही है ।

शुक्ल जी एक 'कुशल अनुवादक' थे । उन्होंने अंग्रेजी और बंगला के कई ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया । एडविन आर्नल्ड की पुस्तक 'लाइट ऑफ एशिया' का अनुवाद उन्होंने ब्रज भाषा में 'बुद्धचरित' के नाम से, जर्मनी के प्रसिद्ध प्राणितत्त्व वेत्ता है कल की पुस्तक - 'रिडल ऑफ द युनिवर्स' का अनुवाद 'विश्वप्रपंच' के नाम से और प्रसिद्ध राजशाही सर. टी. माधव की पुस्तक 'माइनर हिटस' का अनुवाद राज्य प्रबंध शिक्षा' के नाम से खड़ी बोली में किया । 'बुद्ध चरिता की भूमिका अवधी, ब्रज, खड़ी बोली के

अन्तर्सम्बन्ध और हिन्दी के भाषाई विकास को समझने की दृष्टि से और 'विश्व प्रपंच' की भूमिका जगत् के भौतिक विकास की दृष्टि से आज भी बहुत उपयोगी है । उन्होंने बंगला के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार राखालदास बांधोपाध्याय के 'शशांक' उपन्यास का जीवन्त अनुवाद हिन्दी में किया ।

उपर्युक्त साहित्यिक कार्यों के अलावा शुक्ल अपनी एकमात्र कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय ' 'कविता संग्रह-मधु स्रोत' और भारतेन्दु युग के लेखक, नागरी प्रचारिणी सभा के पहले सभापति राधाकृष्ण' नाम से मौलिक पुस्तक के लिए जाने जाते हैं ।

14.3 निबंध (काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था) का सारांश

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य प्रयोजन काव्य का महत्वपूर्ण अंग रहा है । उसके भीतर आनंद (सद्य: परिनिवृत्तये) और लोकमंगल (रिवेतरक्षतये) की चर्चा बराबर होती आयी है । पं. रामचन्द्र शुक्ल ने लोकमंगल की साधनावस्था निबन्ध में काव्य प्रयोजन के अर्थ-यशप्राति, व्यवहार शिक्षा, उपदेश आदि मुद्दों को गौण मानते हुए सामान्यत: छोड़ दिया है । प्रसंगत: उन्होंने मनोरंजन और उपदेश का नाम जरूर लिया है, लेकिन उसे विशेष महत्व दिया नहीं है । शुक्ल जी ने लोक मंगल की साधानावस्था के जरिए काव्य के प्रधान प्रयोजन का चिन्तन-मनन और विश्लेषण सिर्फ भारतीय ही नहीं बल्कि वैश्विक साहित्य के व्यापक परिप्रेक्ष्य में मौलिक ढंग से किया । इस निबंध की सबसे बड़ी पहली खूबी यह है कि इसके लेखन में शुक्ल जी ने अपने दृष्टिपक्ष में दर्शन-भक्ति-काव्य और जीवन चारों को रखा है और विवेचन में सर्वाधिक महत्व काव्य को दिया है । निबंध के विषय निर्धारण से यह बिल्कुल साफ है कि उनकी लेखकीय योजना भी यही है । अपनी बात की पुष्टि के लिए भी उन्होंने खासतौर पर काव्य दृष्टान्तों का और कहीं-कहीं जीवनगत दृष्टान्तों का उपयोग किया है । इसमें दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पाश्चात्य काव्य परम्परा के एकांगी प्रेमादर्श और कलावाद के समक्ष लोकमंगल की साधानावस्था के माध्यम से भारतीय काव्य-परम्परा की विशिष्टता का अन्वेषण और उसकी पुर्नस्थापना उन्होंने अपने समय के राष्ट्रीय सन्दर्भो के मद्देनजर की है ।

भारतीय चिन्तन और साधना में ज्ञानियों की एक परम्परा है और भक्तों की दूसरी । ज्ञान की परम्परा आत्म/ब्रह्म ज्ञान को सच और जगत ज्ञान को मिथ्या और निम्न कोटि की मानती है, जबकि भक्ति की परम्परा ब्रह्म/आत्म/जगत तीनों को सच मानती है और उनमें उच्च और निम्न का भेद नहीं करती । वह जगबत के भीतर जिस आनंद-मंगल विभूति पुरूषोत्तम का दर्शन करती है उसी को अपने हृदय में बसा लेती है। भारतीय भक्ति परम्परा जगत के भीतर आनंद-मंगल विभूति पुरूषोत्तम के प्रकाश को 'रामराज्य' कहती है और पश्चिम के यहूदी, इसाई-मुस्लिम धर्म उसे आसमान की बादशाहत कहते आये हैं, लेकिन नर में नारायण की पूर्ण प्रतिष्ठा भारतीय भक्ति मार्ग

की अपनी विशेषता है, खुदा की प्रतिमूर्ति माने जाने वाले ईसाइयों और मुसलमानों के आदि पुरूष आदम में वह नहीं है ।

ब्रह्म सत्+चित् आनंद स्वरूप है, किन्तु भक्ति और काव्य उसके 'आनंद' रूप को लेकर चले । जगत या लोक के भीतर ब्रह्म का आनंद प्रकाशित और अप्रकाशित दो अवस्थाएं ग्रहण करता है । अपनी अप्रकाशित अवस्था के दौरान वह प्रकाश के लिए संघर्ष करते हुए वह अपनी साधनावस्था में और प्रकाश को स्थायी रूप में प्राप्त कर लेने पर अपनी सिद्धावस्था में होता है । उसकी दोनों अवस्थाएं जगत और जीवन की प्रकृति के अनुरूप है, कारण कि जगत और जीवन दोनों में हमेशा दुख या सुख की अवस्था नहीं रहती । वे एक दूसरे के पीछे पर साथ लगे चलते हैं । एक के चरम सीमा पर पहुँचने पर दूसरा अपना विशेष रंग दिखाता है । ब्रह्मानंद की दो अवस्थाओं के कारण ही भक्त और कवि उनका भिन्न-अनुभव करते हुए कई प्रकार के हो जाते हैं । इनमें कुछ वे भक्त और कवि हैं जो पूर्ण होते हैं और वे अपनी भक्ति और काव्य में दोनों अवस्थाओं का अनुभव करते हुए उनमें सामंजस्य स्थापित करते हैं । उन्हें प्रकाश का अंधकार से संघर्ष और उस पर विजय तो अच्छा लगता है और उसके बाद पूर्ण प्रकाश का प्रसार भी अच्छा लगता है । भूषण और इक्का-दुक्का कवि ऐसे हैं जो सिर्फ साधनावस्था में रमते हैं । कुछ कवि ऐसे होते है जो आनंद की सिद्धावस्था में अपना मन लगाते है । और अपने काव्य में वैसी ही भावना करते हैं।

आनंद के प्रति कवियों की अलग-अलग मनोवृत्तियों के चलते ही मोटे तौर पर उनके काव्यों को दो भागों में बाँट सकते हैं । एक-आनंद की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्य और दो-आनंद की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य । इन दो प्रकार के काव्यों के उदाहरण संस्कृत, हिन्दी, उर्दू फारसी, यूरोपीय (ग्रीक, अंग्रेजी) आदि विश्वभर की साहित्यिक भाषाओं में मिलते हैं । यदि आनंद की साधानावस्था वाले काव्यों में रामायण (संस्कृत), रामचरितमानस (हिन्दी), वीरसात्मक मरसिये (उर्दू), अलियड (ग्रीक), रिवोल्ट ऑफ इस्लाम (अंग्रेजी) आदि के नाम से लिये जा सकते है । तो आनंद की सिद्धावस्था वाले काव्यों में अमरूश तक, गीत गोविंद (संस्कृत), सूरसागर, बिहारी सतसई (हिन्दी), फारसी-उर्दू के स्वरूप में बुनियादी फर्क है । साधानावस्था वाले काव्य व्यापक जीवन संघर्ष को प्रतिबिम्बित करने के कारण प्रबन्धात्मक और सिद्धावस्था वाले काव्य स्थिर जीवन के सुख या आनंद के क्षण विशेष को ग्रहण करने के कारण मुक्तक या गीत परक होते हैं । अंग्रेजी साहित्य समीक्षक डंटन ने भी काव्य के दो भेद माने हैं । एक -शक्ति काव्य और दो-कला काव्य । उनका 'शक्ति काव्य' आनंद की साधानावस्था के भीतर आ जाता है, लेकिन उनका 'कला काव्य' सिद्धावस्था के काव्य से अलग और निम्न कोटि का है । सिद्धावस्था के काव्य में उच्चकोटि का परिष्कृत रंजन होता है, जबकि 'कला काव्य ' में निम्न कोटि का सतही और विकृत मनोरंजन होता है । डंटन के कला काव्य' की तरह ही काव्य को मनोरंजन की कला मानने वाले वात्स्यान जैसे आचार्य भारत में भी रहे हैं । काम

शास्त्र काव्य के प्रति उनकी इसी मानसिक संकीर्णता को उजागर करता है । काव्य को सिर्फ मनोरंजन की कला समझने वाली धारणा को उसके क्षेत्र से दूर रखना चाहिए । दरअसल यूरोप की काव्य समीक्षा पर फ्रांसिसियों की कलावादी दृष्टि का विशेष प्रभाव रहा है, इसलिए वहाँ के कवियों की काव्य दृष्टि संकुचित हो गयी । शुक्ल जी ने कला को व्यापक अर्थ (कहने का प्रभावशाली का) में लेते हुए कहा कि काव्य चाहे आनंद की साधनावस्था का हो या सिद्धावस्था का, दोनों प्रकारों के लिए कला जरूरी है, कारण कि उसी के बूते कवि अपनी बात को सम्प्रेषणीय बनाता है और उसका स्थायी प्रभाव पाठक के मन पर छोड़ता है । बिना कला के दोनों प्रकार के काव्यों का प्रभाव निकल होगा ।

सामान्यत: लोगों कि प्रवृत्ति अपने, अपने परिवार, नाते-रिश्तेदारों के दुख को दूर करने की ओर होती है । ब्रह्म आनंद कला का लक्ष्य इससे बहुत व्यापक और निर्विशेष होता है । इसके लिए वह जो शक्तिमान रूप धारण करती है उसमें भीषण और मनोहर, कठोर और कोमल का अद्भुत सामंजस्य होता है । अत्याचारी के सामने वह अपने भीषण रूप को और पीड़ित के सामने अपने मनोहर रूप को रखता है । दोनों विरोधी गुणों का धारक नहीं हैं । यह लोक ही मनुष्य मात्र का कर्मक्षेत्र है और इस लोक में भयानक विषमता है । अन्यायी और पीड़ित, शोषक और शोषित दोनों इस लोक में रहते हैं । इसलिए जिसके व्यक्तित्व में ऐसे विरोधी गुणों कि एक गुण से वह अन्यायी का नाश करे और दूसरे गुण से पीड़ित को उसकी रक्षा का आश्वासन दे सके, का सामंजस्य है वही कर्म क्षेत्र के सौन्दर्य का सच्चा प्रतिनिधि कहला सकता है, लोक धर्म के सौन्दर्य का वाहक भी वही है । आदि कवि वाल्मीकि और व्यास की वाणी राम और कृष्ण के माध्यम से इस दिव्य कर्म और सौन्दर्य का उद्घाटन करती है । ।

जिस प्रयत्न से, भावना और शासन से लोक मंगल की प्रतिष्ठा और लोक का उत्कर्ष होता है वही धर्म है । लोकमंगल या उत्कर्ष के शुभ लक्ष्य से प्रेरित हो कर लोक में व्याप्त अधर्म या दुख को दूर करने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह कठोर हो या कोमल, हमेशा सुन्दर होता है । असल में यह प्रयत्न भगवान की आनंद कला के विकास की ओर बढ़ता हुआ एक कदम है । लोक काव्य की भावना से बढ़ाया एक-एक कदम, आदि से अन्त तक सुन्दर होता है । मंजिल तक पहुँच जाने पर वह सफल और पूर्ण जो जाता है । पुराणों की भाषा में इसी को धर्म की विजय कहते हैं । यदि प्रयत्न मंजिल पर पहुँचने में असफल हो जाये तो उसमें भी एक विशेष प्रकार का दुखात्मक सौन्दर्य होता है । स्वच्छदतावादी कवि शैली के नायक-नायिका लोक मंगल के लिए संघर्ष करते हुए अन्तत: शहीद हो जाते है । वाल्मिकी और व्यास हमारे दोनों आर्ष कवियों की प्रकृति अलग है । वे अपने नायकों के प्रयत्न की परिणति सफलता के में दिखाकर उसे पूर्णता प्रदान करते हैं । यह कार्य व धर्मोपदेशक के बदले एक सच्चे और पूर्ण कवि की हैसियत से करते हैं । वे लोक-मंगल के लिए प्रयत्नशील राम-कृष्ण जैसे पुरूषोत्तम चरित्रों पर स्वयं मुग्ध होते हैं और उन पर लोगों को भी मुग्ध कराना चाहते हैं । यदि रावण और कौरवों के अत्याचार के सामने राम और कृष्ण के प्रयत्न को

सफलता नहीं मिलती, तो भी उनके के प्रयत्न में सुंदरता की कमी न होती लेकिन उसमें भगवान की पूर्णकला के दर्शन न होते, कारण कि लोक भगवान की शक्ति को अनंत और अमोघ मानता है । मंगल-अमंगल, न्याय-अन्याय के द्वंद्व और संघर्ष में वाल्मीकि और व्यास आदि ने जो मंगल और न्याय को विजयी दिखाया है उसे उपदेशवाद और अस्वाभाविक समझकर मीनमेख करना ठीक नहीं है । मंगल-अमंगल का पहले से तयशुदा वर्णन और परिणाम उसे अस्वाभाविक बनाता है । सच्चे कवि अधर्म की दुर्दमनीय शक्ति का चित्रण करते हैं और उससे बार-बार लोहा लेती, कभी हारती, कभी जलती धर्म शक्ति का भी । इन दोनों के संघर्ष में अंत में धर्म-मंगल-न्याय शक्ति की विजय दिखाने का कारण धार्मिक नहीं, कलागत होता है । कला की दृष्टि से कवि मंगल के सौन्दर्य से प्रभावित रहता है और इसी सौन्दर्य से लोगों का हृदय प्रभावित करना चाहता है । कवि धर्मोपदेक के समान हमारा प्रवृत्ति-निवृत्ति को-सच बोलो, झूठ मत बोलो आदि कह कर, ऊपर से प्रभावित नहीं करता, बल्कि अपने आदर्श चरित्रों के कर्म सौन्दर्य का साक्षात्कार करके हमारे हृदय में उनका विधान करता है । यदि वह अपने आदर्श पात्रों में रूप, गुण और कर्म का सामंजस्य दिखाता है तो उसके पीछे उसकी व्यक्तिगत इच्छा नहीं, बल्कि एक ही पात्र में रूप-गुण-कर्म सौन्दर्य देखने की लोक मानस की चाह और उसकी तुष्टि है । लोक मानस की इसी चाह और वासना को ध्यान में रख कर हमारे संस्कृत काव्य शास्त्रियों ने धीरोदत्त आदि नायक का विधान बहुत पहले कर दिया है और आज भी उसे पूरा नहीं त्यागा जा सकता । भारतीय काव्य और काव्य शास्त्र तक यह बात सीमित नहीं है । सुदूर यूरोप के उन्नीसवीं शताब्दी के शैली जैसे कवि ने अपने प्रबंध के नायक-नायिका में रूप-भाव-कर्म के सौन्दर्य का मेल करवाया है ।

आज के जमाने में पश्चिमी शिक्षा के नशे में, परिवर्तन की उठी हुई किसी हवा की झोंक में निश्चित आदर्श वाले राम, लक्ष्मण, कृष्ण आदि पुराने पात्रों का चरित्र बदलना ठीक नहीं है । यदि कोई उन्हें नया मनमाना रूप देता है तो यह काव्य के पवित्र मंदिर में उत्पाद मचाने जैसा है । बंगला के माइकेल मधुसुदन दत्त द्वारा मेघनाद और नवीन चन्द्र द्वारा कृष्ण के चरित्र में परिवर्तन इसी प्रकार का है । यह उलटफेर काव्यानुभूति की प्रेरणा से नहीं, बल्कि पुरानी रूढ़ धारणा को तोड़ने की बहादुरी प्रदर्शन के लिए है । नयी परिस्थिति के अनुरूप नये आख्यानों और पात्रों की उद्भावना की कवियों को पूरी स्वतंत्रता है । इसलिए पुराने आदर्श पात्रों को विकृत या खंडित करने की कतई आवश्यकता नहीं है । इस जमाने में ऐसे भी कुशल कवि हैं जो शुद्ध मर्मानुभूति से प्रेरित हो कर पुराने आख्यानों और आदर्श पात्रों को लेते हैं, लेकिन वे अपनी नवीन उद्भावना और कल्पना को उनके मेल में रखते हैं ।

आगे शुक्ल जी ने साधनावास्था वाले प्रबंध काव्य के नायक के मनोलोक, चरित्र और उसके बीजभाव का विश्लेषण किया । उनका कहना है कि जिस प्रकार मात्र के भीतर एक स्थायी भाव और उससे सम्बद्ध कई संचारीभाव होते हैं उसी प्रकार साधानावस्था के

प्रबंध काव्य के मुख्यपात्र में कोई मूल प्रेरक का भाव का बीज भाव रहता है और उसकी प्रेरणा से आगे का घटनाचक्र चलता है और अनेक भावों को प्रकट होने का अवकाश भी मिलता है । यह बीज भाव पात्र का शील है और स्थायी भाव और अंगीरस से भिन्न है । इसके द्वारा प्रकट भावों में कोमल और कठोर दोनों प्रकार के भाव रहते है । यदि उससे सम्बद्ध मूलभाव की प्रकृति मंगलविधायिनी है तो उसे प्रेरित भाव कोमल हो या कठोर, वह अपनी व्यापकता और निर्विशेषता के अनुपात में सुंदर होगा । अपने भाई को अत्याचार से बचाने के कठोर कर्म की तुलना में, मोहल्ले के लोगों को गुंडे के अत्याचार से बचाने का कठोर कर्म अधिक व्यापक, निर्विशेष तो है कि, ऊँची कोटि का भी है । इसी लिए जितने व्यापक और निर्विशेष बीजभाव की प्रतिष्ठा जिस पात्र में होती है उसे सब भावों के प्रति पाठक के भावों का तादात्म्य हो जाता है । यह रस की पहली कोटि है । जो व्यक्ति ऐसे पात्र की गति में अपनी विरोधी बीज प्रकृति के कारण बाधा डालता है, पाठक के भावों का उसके भावों से तादात्म्य नहीं होता । पाठक उसके चरित्र का दृष्टा मात्र रहता है । यह रस की अधम कोटि है । पात्र के भावों का उसके भावों से तादात्म्य नहीं होता । पाठक उसके चरित्र का दृष्टा मात्र रहता है । यह रस की अधम कोटि है । पात्र के भावों में मंगल का विधान करने वाले दो भाव है - करूणा और प्रेम । करूणा का सम्बन्ध अस्तित्व रक्षा से है । इसलिए लोक में उसकी आवश्यकता पहले रहती है । अस्तित्व रक्षा के बाद रंजन (प्रेम) की जरूरत पड़ती है । साधानावस्था वाले काव्यों का बीज भाव करूणा है । रामायण का बीज भाव भी करूणा है । आत्म गौरव और दाम्पत्यभाव बाद में शामिल हो कर उसे और शक्तिशाली और विराट मंगलोन्मुखी बना देते है । लोक के प्रति करूणा सफल होती है - रावण वध से और बाद में रामराज्य की स्थापना प्रजा को रंजन अवसर देती है ।

भारतीय कवि-परम्परा पूर्ण कर्म सौन्दर्य-कठोर और कोमल दोनों पक्षों में सामंजस्य-का विधान करती है, किन्तु टालस्टाय काव्य का उत्कर्ष एक पक्षीय कोमल भावों-प्रेम भाद्दभाव, करूणा-में मानते हैं । लेकिन काव्य का उत्कर्ष सिर्फ कोमल भावों की व्यंजना तक सीमित नहीं माना जा सकता । शैली भी काव्य का मूल तत्त्व प्रेम भाव को मानता है, लेकिन वह अपने प्रेम को कठोर कर्म पथ से जोड़ता है । टालस्टाय और उनके अनुयायी प्रयलपक्ष के विरोधी नहीं है, लेकिन वहाँ सारा प्रयत्न पीड़ितों की सेवा सुश्रृषा के निमित दौड़धूप, आत्मपीड़ा, अपनी साधुता के प्रदर्शन के लिए होता है, अत्याचारी को दण्ड देने के लिए कठोर कर्म अंगीकार के रूप में नहीं । इसे वे आध्यात्मिक शक्ति कहते हैं । भारतीय दृष्टि में यह मनुष्य के अन्त: प्रकृति की सात्विक विभूति है । कला के क्षेत्र में इस अध्यात्म की कोई जरूरत नहीं है । पूर्ण प्रभाव के लिए काव्य में सत्वगुण की सत्ता प्रधानता-व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों में आवश्यक है । सत्वगुण के शासन में कठोरता, उग्रता भी सात्विक तेज का हिस्सा होगी। इसी से हमारे यहाँ भगवान की एक ओर ब्रज के समान कठोर दूसरी और फूल की तरह कोमल रखा गया है ।

14.4 निबंध - वाचन तथा व्याख्या

वाचन-1 लोक में फैलीदुख की छाया हटाने में ब्रह्मा ई आनंद कला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में भी अद्भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचंडता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है । विरूद्धों का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य है जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता । इस सामंजस्य का और कई रूपों में भी दर्शन होता है । भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचंडता और मृदुता का सामंजस्य ही लोकधर्म का सौन्दर्य है ।

प्रसंग- काव्य के दो प्रकारों - लोकमंगल की साधनावस्था और लोकमंगल की सिद्धावस्था में शुक्ल जी की समीक्षक अभिरूचि के अनुरूप लोक मंगल की साधानावस्था वाला काव्य पड़ता है । व्यक्तिगत अभिरूचि के साथ वे युगीन राष्ट्रीय आवश्यकता के चलते उसे वरीयता भी देते हैं । शुक्ल जी के समय में अंग्रेजी शासन के विरूद्ध भारतीय जनता का एकजुट प्रबल संघर्ष राष्ट्रीयता की पहली माँग थी । अंग्रेजी शासन के विरूद्ध संघर्ष करने का एक तरीका लोकमान्य तिलक और उनके पीछे चन्द्रशेखर आजाद, भगत सिंह आदि युवा क्रान्तिकारियों का था । वह यह कि आजादी माँगने से नहीं, अपनी ताकत से मिलेगी । दूसरा तरीका महात्मा गाँधी का था - सत्य, अहिंसा वाला । देश की मौजूदा राजनीतिक स्थिति के मद्देनजर शुक्ल जी शक्ति प्रयोग के प्रबल समर्थक थे और काव्य में साधनावस्था को पसंद करने का यही कारण था । शुक्ल जी के समय का भारत देश ही काव्य के भीतर का उनका लोक है ।

व्याख्या- व्यक्ति, परिवार, समाज, देश और विश्व लोक की एक दम छोटी से उत्तरोत्तर बड़ी इकाईयाँ हैं । अपने व्यक्तिगत या परिवार के दुख को दूर का प्रयत्न सामान्य कोटि का है । लोक की अपेक्षाकृत बड़ी इकाई, समाज और देश आदि में व्याप्त दुख को दूर करने के लिए जो असाधारण ताकत लगायी जाती है सच में वही ब्रह्म की आनंद कला कहला सकती है । देश और समाज का दुख दूर करने का असाधारण प्रयास अपने भीषण और मनोहर दो रूपों में सामने आता है । वह समाज पीड़क और देश के शत्रु के सामने भीषण और विकराल रूप और समाज और देश की पीड़ित जनता के सामने अपने मनोहर रूप को रखता है । जिस लोक (समाज, देश) में घोर अव्यवस्था, दुख, गरीबी, गुलामी, शोषण, अत्याचार व्याप्त हो, विषमता फैली हो, उसे मिटाने के लिए हर प्रकार का प्रयत्न सुंदर ही होता है । लेकिन किसी भी समाज-देश की अव्यवस्था, विषमता, के दो पक्ष होते हैं । एक अव्यवस्था विषमता, दुख को पैदा करने और फैलाने वाला होता है और दूसरा, उसका परिणाम भोगनेवाला । जब लोक की ऐसी विरोधी. दशा और गति हो तो उस स्थिति में वहाँ किया जाने वाला कर्म विरूद्धों का सामंजस्यवाला होना चाहिए । इसलिए होना चाहिए कि कर्म का कठोर रूप लोक में अव्यवस्था फैलाने वाले का दमन कर सके और उसको कोमल रूप दुख से त्रस्त लोगों के मानसिक घाव को भर सके । मनुष्य का हृदय समाज की दुरव्यवस्था की स्थिति में

ऐसे ही कर्म और कर्मवीर पर मुग्ध होता है । विरूद्धों का यह सामंजस्य किसी के व्यक्तित्व, लिबास में हो सकता है और दुख और पीड़ा से ग्रस्त लोक के कर्म और धर्म का सौन्दर्य तो है ही ।

विशेष- विरूद्धों के सामंजस्य के सौन्दर्य की बात विषम स्थिति वाले समाज, देश और लोक में ही उठ सकती है । विषमतारहित आदर्श लोक की स्थिति में कोमल पक्ष प्रधान और कठोर पक्ष गौण हो जाता है ।

वाचन-2 वह व्यवस्था या वृत्ति, जिससे लोक में मंगल का विधान होता है, 'अभ्युदय' की सिद्धि होती है, धर्म है । अत: अधर्मवृत्ति को हटाने में धर्म-वृत्ति की तत्परता-चाहे वह उग्र और प्रचंड हो, चाहे कोमल और मधुर-भगवान के आनंदकला के विकास की ओर बढ़ती हुई गति है । वह गति यदि सफल हुई तो 'धर्म की जय' कहलाती है । इस गति में भी सुन्दरता है और इसकी सफलता में भी । गति में सुन्दरता रहत ही है, आगे चलकर चाहे वह सफल हो, चाहे विफल । विफलता में भी एक निराला ही विषण्ण सौन्दर्य होता है । तात्पर्य यह कि यह गति आदि से अन्त तक सुन्दर होती है - अंत चाहे सफलता के रूप में हो चाहे विफलता के ।

प्रसंग- भारतीय नीतिशास्त्र, धर्म, दर्शन और जीवन व्यवहार में साध्य और साधन की शुद्धि का प्रश्न बहुत विवादास्पद रहा है । एक मत यह है कि साध्य (लक्ष्य) और उसे प्राप्त करने का साधन दोनों शुद्ध होने चाहिए । भारतीय राजनीति में महात्मा गाँधी का यही दृष्टिकोण था । दूसरा मत यह है कि यदि साध्य शुद्ध और पवित्र हैं तो उसे पाने के लिए किया किसी प्रकार का प्रयत्न या साधन भी पवित्र और शुद्ध होता है । शुक्ल जी काव्य के भीतर दूसरे मत के समर्थक हैं ।

व्याख्या- जिस भावना से, जिस प्रवृत्ति से, जिस शासन और नीति से, जिस व्यवहार से लोक में उसके मंगल की प्रतिष्ठा होती है उसके उत्कर्ष की प्राप्ति होती है, वहीं धर्म है । लोक में मंगल का प्रतिष्ठापक धर्म या कर्म व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि का परम विरोधी होता है । इसमें लोक का कल्याण साध्य होता है, अंगी होता है और निजी स्वार्थ उसका अनुगामी और अंग होता है, जबकि व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के कर्म में स्वयं व्यक्ति केन्द्र में होता है और लोक से उसका लेना-देना बहुत कम होता है । लोक में फैले अधर्म को हटाने के शुभ लक्ष्य को लेकर जो कर्म किया जाता है, उसका स्वरूप-उग्र, पंचंड, कोमल, मधुर-चाहे जो हो, वह सुन्दर ही होता है । व्यापक शुभ लक्ष्य को पाने के लिए किया गया कठोर और कोमल कर्म या प्रयत्न स्वत: सुंदर हो जाता है । लोक में व्यापक शुभ लक्ष्य के लेकर चलने वाला कर्म भगवान की आनंदकला के विकास की ओर बढ़ता हुआ कदम है । यह कर्म इसलिए भगवान की आनंदकला की ओर बढ़ता हुआ कदम हैं, क्योंकि वे स्वयं लोक कल्याण के लिए इसी महत्तर कर्मपथ पर चलते हैं । पौराणिक अवतारवाद की चरितार्थता शुक्ल जी ने लोक के वृहत्तर मानवीय धरातल पर ढूँढी । लोकमंगल के उद्देश्य से किया गया प्रयत्न यदि सिद्धि प्राप्त कर लेता है तो वह धर्म की भाषा में 'धर्म की विजय' कहलाता है । लोकमंगल की

भावना से किये गये किसी प्रयत्न में सुन्दरता होती है, वह लक्ष्य की सिद्धि में सफल हो या असफल । प्रयत्न के सफल या सिद्ध होने पर उसे सुंदरता की मात्रा बढ़ जाती है और उसे पूर्णता की भी प्राप्ति हो जाती है । लोक मंगल से प्रेरित प्रयत्न के असफल हो जाने पर भी उसमें सौन्दर्य तो होता ही है, लेकिन वह विषद और विडम्बना से डूबा होता है । प्रयत्न की सफलता मनुष्य के अपराजेय असामान्य पौरूष को और उस की असफलता पौरूष की सीमा और विडम्बना को प्रकट करती है । पौरूष दोनों में लगता है, इसलिए वे शुरू से आखिर तक सुंदर ही रहते हैं ।

विशेष- वृहत्तर लोक मंगल से जुड़ा हुआ प्रत्येक कर्म - कठोर-कोमल चाहे जिस रूप में हो, सफल हो या न हो, वह आद्यन्त सुंदर ही होता है ।

वाचन- मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और बाम दो पक्ष होते हैं, वैसे ही उनके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे । काव्यकला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई पड़ती है ।

प्रसंग- जिस संसार में हम रहते हैं उसकी रचना विरोधी युग्मों से हुई है । संसार को रचनेवाले पंच महाभूत-आकाश, धरती, जल, आग, वायु-अपनी प्रकुति में एक दूसरे के विरोधी है । ये आपस में मिलकर संसार में संतुलन बनाते हैं और उसे गति भी प्रदान करते हैं । ठीक यही स्थिति हमारे अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व की है । हमारे शरीर के दक्षिण और बाम दो पक्ष हैं, जो शरीर को संतुलित करते हैं और उसके क्रियाकलाप में मदद भी । हृदय की स्थिति भी ऐसी है । कोमल और कठोर दोनों उसी के पक्ष हैं । विरोधी भावों का आश्रय से हृदय एकांगी होने से बच जाता है । कवियों को चाहिए कि वे अपने काव्यविधान में दोनों को स्थान दे और उसे लोकमंगल जैसे व्यापक उद्देश्य से जोड़े । इसी रूप में उनका काव्य सर्वांग और पूर्ण रमणीय हो सकता है ।

व्याख्या- मनुष्य का शरीर एक भौतिक रचना है, कारण कि वह पंच भूतों की सृष्टि है । जिस संसार के भीतर मनुष्य के शरीर की रचना हुई है, वह संसार भी पंच महाभूतों की परस्पर विरोधी प्रकृति के युग्मों की सृष्टि है । धरती मूर्त और ठोस है और आकाश अमूर्त और शून्य है, लेकिन संसार की रचना में दोनों समान रूप से मदद करते हैं । इसी प्रकार मनुष्य शरीर का एक हिस्सा दाहिना है, दूसरा बाँया । दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं, पर दोनों मिलकर शरीर को संतुलित और उसे कार्य करने में मदद करते हैं । मनुष्य के शरीर के समान उसके भीतर पाये जाने वाले हृदय और मस्तिष्क की स्थिति है । मनुष्य का हृदय अनेक विरोधी भावों का आश्रय है । मनुष्य के एक ही हृदय के भीतर जहाँ प्रेम, करूणा, वात्सल्य, श्रद्धा आदि कोमल भाव रहते हैं, वहीं उसी हृदय के अन्दर उत्साह, क्रोध, ईर्ष्या आदि कठोर भाव भी रहते हैं । हृदय के भीतर विरोधी भावों की सत्ता आगे भी बनी रहेगी । शुक्ल जी ने हृदय की बात इसलिए की कि काव्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध हृदय और उसके आश्रित विरोधी भावों से हैं । काव्य के भीतर रूप और विवेक के लिए भी स्थान है, लेकिन उन्हें हृदय के रास्ते से ही उसमें

प्रवेश करना पड़ता है । काव्य कला में पूरी रमणीयता लाने के लिए दो शर्त हैं । एक कवि-हृदय के दोनों पक्षों को समन्वित रूप में काव्य के भीतर लाये । केवल समन्वित रूप में भावों को लाने से काव्य में पूरी रमणीयता नहीं आ जाती । पूरी रमणीयता के लिए एक दूसरी शर्त है । वह शर्त यह है कि भावों के समन्वय का सम्बन्ध व्यापक लक्ष्य से जुड़ा होना चाहिए । कवि के लिए सबसे व्यापक लक्ष्य है - लोक मंगल का विकास । पूरी रमणीयता के लिए विरोधी भावों के बीच समन्वय जितना जरूरी है उतना ही जरूरी है, लोक मंगल के व्यापक लक्ष्य ये उनका अनिवार्य रूप से जुड़ाव ।

विशेष- काव्य की पूरी रमणीयता के लिए निबंधकार शुक्ल जी की दृष्टि में दो बातें अपेक्षित हैं। एक - कवि को हृदयगत विरोधी भावों के बीच समन्वय स्थापित करना चाहिए । दो- भावों के समन्वय को लोक मंगल से जोड़ना चाहिए ।

14.5 निबंध का मुख्य प्रतिपाद्य

प्रस्तावना - पं. रामचन्द्र शुक्ल ने विशेष रूप से दो प्रकार के निबंधों का सर्जन किया है। एक - मनुष्य के भावों या मनोविकारों से सम्बद्ध निबंधों का सर्जन । उत्साह, करूणा, लोभ और प्रीति, श्रद्धा और भक्ति लज्जा और ग्लानि, क्रोध, भय, ईर्ष्या आदि निबंध इसी प्रकार के हैं । दो - साहित्य सम्बन्धी निबंधों का सर्जन । इसके अन्तर्गत साहित्य के सिद्धान्त निर्धारण और व्यावहारिक आलोचना दोनों में सम्बन्धित निबंध है। साहित्य के सिद्धान्त निर्धारण सम्बन्धी निबंधों में कविता क्या है? काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था, साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्रवाद रसात्मक बोध के विविध रूप, रहस्यवाद, अभिव्यंजनावाद आदि निबंध बहुत प्रसिद्ध हैं, जबकि व्यावहारिक आलोचना से सम्बन्धित निबंधों-प्रबंधों में तुलसी का भक्ति मार्ग, मानस की धर्म भूमि, भारतेंदु हरिशचंद 'जायसी ग्रन्थावली, तुलसी ग्रंथावली, भ्रमर गीतसार की भूमिकाओं का नाम लिया जा सकता है । भाव और साहित्य से सम्बद्ध दोनों प्रकार के निबंधों का सबसे उत्कृष्ट संकलन चिन्तामणि, भाग-एक है ।

शुक्ल जी के निबंध भाव से सम्बद्ध हो या साहित्य से, उनके सभी निबन्ध विचार या बुद्धि प्रधान है । वे आद्यन्त अपने विषय पर विचार करते हैं उनमें उनके व्यक्तित्व और भावुकता का रंग यदा-कदा उभरता है, पर यदा-कदा ही । वे उसे प्रधानता नहीं देते हैं । शुक्ल जी के निबंधों के बारे में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह याद रखने की है कि वे भावों पर निबंध लिखते समय साहित्य को नहीं भूलते, बराबर जीवन के भावों के साथ साहित्य के भावों का मिलान करते, उन्हें जाँचते-परखते और जोड़ते चलते हैं और साहिल पर लिखते समय ये अपने युगीन जीवन को अनदेखा नहीं करते । अन्ततः वे भाव और साहित्य दोनों का मूल्य लोक मंगल के परिप्रेक्ष्य में निर्धारित करते हैं ।

'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था' निबंध 'चिन्तामणि' भाग -एक के महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक निबन्धों में से एक है । शुक्ल जी साहित्य-सिद्धान्त का निर्धारण रीतिकाल के हिन्दी कवि-आचार्या की लक्षण काव्य-पद्धति से भिन्न ढंग से करते हैं । वे अपने

युग और काव्य के सन्दर्भ में सिद्धान्तों की स्थापना करते हैं, फिर वे काव्य के दृष्टान्तों के जरिए अपने एक-एक स्थापना की पुष्टि करते चलते हैं। लोकमंगल की साधनावस्था के स्थापन के पीछे अपरोक्ष रूप से उनके मानस में भारतीय स्वाधीनता संग्राम है, अंग्रेजी शिक्षा के नशेमन वातावरण से प्रत्यक्ष प्रभावित साहित्यकारों द्वारा साहित्य जगत में किया जाने वाला उलट फेर है और पढ़े लिखे लोगों के व्यक्तित्व पर पड़नेवाला उसका प्रभाव भी है । जिस प्रकार देश की आजादी के लिए संघर्ष और प्रयत्न जरूरी था उसी प्रकार उसी के अनुरूप काव्य के भीतर लोक मंगल के लिए संघर्षशील चरित्रों और उनको आधार बनाकर चलनेवाले प्रबन्ध-काव्यों की पुनर्पहचान, और पुनर्खोज बहुत जरूरी थी । शुक्ल जी ने एक आलोचक के रूप में यही मुख्यकार्य किया । लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, चन्द्रशेखर आजाद आदि देश के स्तर पर यही शुभ और महत्त्वपूर्ण काम कर रहे थे और उसी के समान्तर साहित्य के भीतर उतना ही महत्वपूर्ण शुभ कार्य लोक मंगल की तलाश करते हुए शुक्ल जी कर रहे थे । देश और साहित्य की चेतना भूमि एक-राष्ट्रीय थी । शुक्ल जी अपने राजनीतिक विचारों में तिलक और चन्द्रशेखर आजाद के निकट थे और साहित्य के स्तर पर लोमंगल के लिए संघर्षशील राम कृष्ण, शिवाजी आदि चरित्रों के निकट । काव्य में लोकमंगल की साधानावस्था को पसंद करने का कारण युगीन और व्यक्तिगत दोनों था । उनके व्यक्तिगत साहित्यिक संस्कार भी साधानावस्था के साहित्य की ओर विशेष झुके थे ।

आत्मज्ञान और जगत ज्ञान के प्रति ज्ञानियों और भक्त कवियों का दृष्टि भेद - ज्ञानी जगत को मिथ्या और आत्म ज्ञान को सत्य मानकर चलते हैं, लेकिन भक्त का हृदय आत्मज्ञान और जगत के बीच सच और झूठ का भेद नहीं करता । वह दोनों को सच मानकर चलता है । वह संसार के भीतर जिस लोकमंगल विभूति का दर्शन करता है उसी की प्रतिष्ठा अपने हृदय में भगवान समझकर करता है । हमारे यहीं लोक में इसी मंगल विभूति के प्रकाश का नाम 'रामराज्य' और ईसाइयों और मुसलमानों के यही 'आसमान की बादशाहत' है । यद्यपि ईसाइयों और मुसलमानों में 'आदम' खुदा के प्रतिमूर्ति कहे जाते हैं, लेकिन नगर में नारायण की दिव्यकला का सम्पूर्ण और व्यवस्थित दर्शन और उसके प्रति हृदय का पूर्ण आत्मसमर्पण भारतीय भक्तिमार्ग की अपनी विशेषता है ।

भक्ति और काव्य ब्रह्म के सत्, चित्, आनंद तीन रूपों में आनंद को लेते हैं और सत् को ज्ञानियों के लिए छोड़ देते हैं । यद्यपि आनंद की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएं - साधना और सिद्धावस्था है । लेकिन संसार की प्रकृति के अनुसार कभी इनका अर्विभाव तो कभी तिरोभाव होता है । लोक की पीड़ा अन्याय के दौरान वह अव्यक्त रूप में और अपनी भीषण शक्ति से उसका नाश करने के पश्चात पूर्ण व्यक्त रूप में सामने आती है । आनंद के आर्विभाव-तिरोभाव व्यक्त-अव्यक्त रूपों के प्रति अलग अलग दृष्टि और रूचि के कारण कवि और भक्तों के कई प्रकार हैं । इनमें कुछ पूर्ण भक्त और पूर्ण कवि होते है । ये वे भक्त और कवि हैं जो आनंद शक्ति के तिरोभाव और आर्विभाव

दोनों पक्षों को बड़े उत्साह से सामने लाते है । कुछ कवि ऐसे होते हैं जो आनंद के सिर्फ तिरोभाव यानी साधना पक्ष को सामने लाने में लगे रहते हैं, जैसे भूषण । इसी प्रकार कुछ कवि ऐसे भी होते हैं जिन्हें आनंद का आविर्भूत रूप ही अच्छा लगता है और काव्य के भीतर उनकी कल्पना इसी रूप में रमती है । कवियों की आनंद के प्रति भिन्न दृष्टियों और रूचियों के कारण सामान्यत: हम काव्य को दो भागों में बॉट सकते हैं ।

लोकमंगल की दृष्टि से काव्य के प्रकार - लोक मंगल की दृष्टि से काव्य के दो प्रकार हैं । एक - आनंद की साधनावस्था या प्रयलपक्ष को लेकर चलने वाले काव्य । दो - आनंद की सिद्धावस्था या

उपयोग पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य । शुक्ल जी ने काव्य का इस प्रकार का विभाजन करते समय सम्पूर्ण विश्व के काव्यों को अपने ध्यान में रखा है । इसीलिए आनंद की साधानावस्था और सिद्धावस्था वाले काव्यों में संस्कृत, हिन्दी, ग्रीक, अंग्रेजी, फारसी, उर्दू आदि सभी भाषाओं की काव्य रचनाओं को उदाहरण के रूप में पेश किया गया है । इसी के साथ उन्होंने अंग्रेजी समीक्षक डंटन के 'शक्तिकाव्य को आनंद की साधनावस्था के भीतर समाहित कर लिया है, लेकिन उनके दूसरे काव्य प्रकार 'कलाकाव्य को काव्य का कोई प्रकार मानने से इनकार कर दिया । उन्होंने कला का महत्व दोनों प्रकार के काव्यों की प्रभावशाली अभिव्यक्ति और उनका स्थायी प्रभाव डालने में अवश्य स्वीकारा । इस प्रकार शुक्ल जी ने काव्य के प्रयोजन-आनंद के लिए विश्व काव्य के परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखा ।

लोकमंगल की साधनावस्था और भारतीय आर्ष काव्य - व्यक्ति जीवन, परिवार-नातेरिश्ते आदि में व्याप्त दुख को मिटाने के लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं वे रक्त सम्बन्ध के चलते सामान्य और सापेक्ष आनंद की कोटि में आते हैं, लेकिन इनसे व्यापक और सख्त सम्बन्ध से निरपेक्ष लोक में फैले दुख को हटाने के लिए जिस असामान्य शक्ति और प्रयत्न की जरूरत होती है वही ब्रह्म की आनंद कला कहलाती है । उसमें दो विरोधी गुणों का सामंजस्य होता है । लोक में दुख और अन्याय फैलाने वाले के सामने वह अपने भीषण रूप को और जो दुख और अन्याय से पीड़ित है उसके सामने वह अपने कोमल रूप को रखता है । यह लोक मनुष्य मात्र का कर्म क्षेत्र है, और यही मनुष्य धर्म को निबाहने का क्षेत्र भी । जब लोक में विषमता हो, अत्याचारी और पीड़ित हो, ऐसी स्थिति में अत्याचारी को दण्ड देने के लिए जितनी भीषणता की जरूरत होती है उतनी ही पीड़ित को आश्वस्त करने के लिए कोमलता की । ऐसी स्थिति में कर्म क्षेत्र और लोक धर्म दोनों का सौन्दर्य इन्हीं विरोधी गुणों के सामजंस्य में रहता है। यह सामंजस्य व्यक्ति विशेष के पहनावे और वाणी के बीच भी हो सकता है । आदि कवि वाल्मीकी और व्यास राम और कृष्ण जैसे असामान्य पात्रों के माध्यम से कर्म क्षेत्र के इसी सौन्दर्य का उद्घाटन करते हैं ।

जिस महद् शासन या प्रयत्न से लोक में मंगल की प्रतिष्ठा और उत्कर्ष होता है, वही धर्म कहलाता है । प्रयोजन व्यापक, शुद्ध और निर्विशेष होने के कारण अधर्म को हटाने में जो विशेष प्रयत्न करना पड़ता है, प्रचंड हो या कोमल, वह भगवान की आनंदकला के प्रसार की ओर बढ़ता हुआ कदम है । प्रयत्न का एक-एक कदम आदि से अन्त तक सुंदर होता है । यदि यह प्रयत्न अन्तिम मंजिल को प्राप्त कर लेता है तो वही प्रयत्न की सफलता और धर्म की विजय कहलाता है । प्रयत्न के मंजिल पर न पहुँचने पर भी उसमें विषाद मूलक सुंदरता तो होती ही है । हमारे वाल्मीकि और व्यास दोनों आर्य कवियों ने सौन्दर्य की पूर्णता का ख्याल करके राम-कृष्ण के लोग मंगल सम्बन्धी प्रयत्न को अन्ततः सफल दिखाया है । यह कार्य उन्होंने उपदेशक की बुद्धि के बदले लोक हृदय के मर्मी कवि के हैसियत से किया है । राम और कृष्ण यदि अपने लोक कल्याणकारी कार्यों में असफल हो जाते, व रावण और कौरवों का नाश नहीं कर पाते तो भी उनके कार्य तो सुन्दर ही कहलाते, लेकिन उनमें भगवान की पूर्ण कला के दर्शन इसलिए नहीं होते, क्योंकि लोग भगवान की अमोघ और अनंत शक्ति में विश्वास करता है ।

मंगल-अमंगल, न्याय-अन्याय के संघर्ष में वाल्मीकि-व्यास जैसे आर्ष कवि अन्ततः मंगल और न्याय की विजय दिखाते हैं उसमें हमेशा उपदेशवाद और अस्वाभाविकता नहीं होती । कवि मंगल और न्याय पक्ष की विजय धर्म शासक के बदले कला दृष्टि के आग्रह से पाठकों पर सौन्दर्य का स्थायी प्रभाव डालने के लिए दिखाता है । वह अपने आदर्श पात्रों के कर्म सौन्दर्य पर मुग्ध रहता है और उससे पाठकों के हृदय को प्रभावित करना चाहता है। इसके लिए अपने पात्रों में अन्तर्बाह्म कई प्रकार के गुणों का मेल भी करता है । राम और कृष्ण का रूप, शील, शौर्य, कम सब असामान्य है । कवि की इस प्रकार योजना के पीछे लोग हृदय की चाह है । लोक हृदय एक ही व्यक्ति में रूप, गुण, शील, शौर्य सब कुछ देखना चाहता " है । धीरोदान्त आदि नायकों का स्वरूप निर्धारण करते समय इसका ध्यान हमारे काव्य शास्त्रियों ने बहुत पहले से रखा है और आज भी रूप-गुण-शील-कर्म सौन्दर्य एक एक दम नहीं छोड़ा जा सकता । यह बात सिर्फ पुराने भारतीय कवि, काव्य शास्त्री और लोकहृदय तक सीमित नहीं । सुदूर पश्चिम के धुर आधुनिक अंग्रेजी कवि शैली ने अपने प्रबंध काव्य के नायक और नायिका के रूप-कर्म सौन्दर्य के सामंजस्य की प्रतिष्ठा की है ।

मंगला विधायक पुराने आदर्श चरित्र और आधुनिक कवि - आधुनिक काल में दो तरह के कवि है जो निश्चित स्वरूपवाले आदर्श पात्रों को लेते हैं । कुछ ऐसे कवि है जो शुद्ध मर्मानुमुति से प्रेरित होकर पुराने अख्यानों और आदर्श पात्रों को लेते हैं, लेकिन वे अपनी उद्भावना और कल्पना को उनके मेल में रखते है । दूसरे कवि वे हैं जो विदेशी नई शिक्षा के प्रभाववश पुरानी धारणा को तोड़ने की बहादुरी दिखाने के लिए पुराने आख्यानों और आदर्श पात्रों के चरित्र को मनमाना रूप देते हैं । बंगला के माइकेल मधुसुदन दत्त और नवीनचंद्र ने मेघनाद और कृष्ण जैसे पुराने चरित्रों के साथ ऐसा ही

किया। अपने समय में होने वाले परिवर्तन के अनुरूप नये आख्यानों और पात्रों की उद्भावना के लिए आज के कवि को पूरी छूट है । इसलिए पुराने आख्यानों और निश्चित आदर्शवाले पात्रों के स्वरूप में उलटफेर करना काव्य के क्षेत्र में अव्यवस्था उत्पन्न करना है ।

प्रबन्ध काव्य के प्रधान पात्र में मूल प्रेरक बीज भाव की खोज और प्रतिष्ठा - शुक्ल जी ने काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था के सर्जन में एक ओर पश्चिम के मनोविज्ञान से मदद लेते हुए भाव की चेतन और अचेतन स्थितियों की बात स्वीकारी तथा दूसरी ओर भारतीय काव्य शास्त्र के रस सिद्धान्त में आश्रय के स्थायीभाव और प्रबन्ध काव्य के अंगी भाव से आगे जाकर प्रबंध काव्य के मुख्य पात्र में 'मूल प्रेरक बीज भाव' की खोज की, जिसकी प्रेरणा से प्रबंध का घटना-चक्र आगे बढ़ता है और अनेक भावों के प्रसार के लिए अवकाश मिलता है । प्रबंध काव्य के मुख्य पात्र के मूलप्रेरक बीज भाव द्वारा- कोमल और कठोर दोनों प्रकार के भाव प्रकट होते हैं । यदि उनका स्वरूप लोक मंगल विधायक है तो वे अपनी व्यापकता और निरपेक्षता के अनुसार कोमल और कठोर दोनों रूपों में सुंदर होते हैं । जाहिर सी बात है अपने घर-परिवार कल्याण करने की तुलना अपने पूरे गाँव के कल्याण के लिए प्रयत्नशील होना अधिक व्यापक और निरपेक्ष है और सुन्दरता भी उसमें अधिक कही जायेगी । लोक मंगल के लिए निरन्तर प्रयत्नशील मुख्यपात्रों के बीज भावों के साथ आसानी से पाठक के भावों का दातात्मय हो जाता है और प्रथम कोटि का सारणीकरण यही है । यदि विरोधी बीज प्रकृति का पात्र लोक मंगलरत पात्रों के कार्य में बाधा डालता है तो रस के सारे अवयवों के होने पर भी पाठक उनके भावों से अपने भावों का मेल नहीं कर पाता । ऐसी स्थिति में वह विरोधी पात्र का या तो आलोचक बन जाता है या फिर तटस्थचरित्र दृष्टा मात्र और यह रस की मध्य या हीन कोटि है ।

मंगल का विधान करने वाले दो मूलभाव - करूणा और प्रेम - करूणा रक्षोन्मुख होती है और रंजन सुखोन्मुख । दुख, पीड़ा, अमंगल से रक्षा लोक की बुनियादी' जरूरत है । इसलिए वह प्राथमिक है । रक्षित होने के रंजन और सुख की ओर ध्यान जाता है । भूखे की प्राण रक्षा पहली शर्त है, स्वाद की बात उसके बाद की चीज है । इसीलिए आनंद के प्रयत्न पाद्य को लेकर चलने वाले नाटकों और प्रबन्धों की बीज भाव करूणा' रहता है । भावभूमि के नाटक, आदि काव्य इसके साक्षी है । राम करूणा के वशीभूत हो कर पहले रावण के अत्याचार से पहले लोक की रक्षा करते हैं, उसके बाद उस रामराज्य' की प्रतिष्ठा करते है । जिसमें प्रजा का ज्यादा से ज्यादा सुख का अवसर मिलता है ।

टालस्टाय के एकांगी अध्यात्मवाद (प्रेम भाव) का विरोध - भारतीय स्वाधीनता संघर्ष और उसके अनुकूल साधना-वस्थावली भारतीय प्रबंध परम्परा के शुक्ल जी बड़े प्रेमी है। इसी के मद्देनजर वे प्रेमभाव की कोमल व्यंजना मात्र में काव्य का उत्कर्ष मानने वाले टालस्टाय, उनके अनुयायियों और कलावादियों का वे विरोध करते हैं । कलावादियों का

गढ़ फ्रांस और टालस्टाय के देश रूस, भारत से काफी पहले आजाद हो चुके थे । उनके लिए काव्य का उत्कर्ष प्रेमी के कोमल व्यंजना में देखना भले ही ठीक हो, लेकिन भारत की गुलामी की दृष्टि से यह बात ठीक नहीं थी । गुलामी की पीड़ा से मुक्ति के लिए क्रोध और उत्साह को जगानेवाली करूणा अपेक्षित है । गुलाम भारतीयों का पूर्ण सौन्दर्य दोनों के मेल में बेखना स्वाभाविक था । टालस्टाय के प्रेम व्यंजना में प्रयत्न पक्ष का अभाव नहीं है, लेकिन यह प्रयत्न भी एकांगी और कोमलागी है । वह आत्म त्याग, आत्म पीड़ा और आततायी को अपने साधु स्वभाव से प्रभावित करने के आगे नहीं जाता । टालस्टाय की तरह शैली भी काव्यकला का मूल तत्त्व प्रेम भाव को मानते है, लेकिन वे अपने को प्रेम के कोमल पक्ष तक ही नहीं, बल्कि उसके कठोर कर्मपक्ष तक ले जाते हैं । इसलिए शैली का प्रेम भाव टालस्टाय से अधिक व्यापक और संतुलित है। टालस्टाय का इस प्रकार का आग्रह ईसाईत के कारण था, लेकिन कलावादियों के इस प्रकार के आग्रह का कारण यह है कि वे काव्य को साधारण विनोद की चीज समझते हैं। शरीर के बाम और दक्षिण अंगों की तरह प्रेम भाव में उसके कोमल और कठोर दोनों रूपों की आवश्यकता है । काव्य में सर्वांगीणता और पूरी रमणीयता दोनों पक्षों को लाने से ही आती है ।

साधुता के प्रति भारतीय दृष्टि - शुक्ल जी के निबंध लेखन के दौर में राजनीति और साहित्य दोनों में 'स्व' और 'स्वत्व' पर बड़ा जोर था । यदि हमारे देश के नेता स्वतंत्रता, स्वाधीनता, स्वराज्य, स्वदेशी, स्वावलम्बन की बात पर बल दे रहे थे तो साहित्यकार स्वभाषा -और अपनी भाषा के साहित्य और दृष्टि पर । इसी स्व और स्वत्व के दूसरे नाम निज और आत्म थे । इसी के मद्देनजर शुक्ल जी विदेशी दृष्टि के वरअक्स जीवन और साहित्य में भारतीय दृष्टि के प्रबल पक्षधर थे । वे साधुता को भारतीय दृष्टि से मनुष्य की अन्त: प्रकृति को सात्विक विभूति समझते थे और पूर्ण प्रभाव के लिहाज से काव्य के भीतर सत्वगुण की स्थिति आवश्यक समझते थे । लेकिन शुक्ल जी के ख्याल से भारतीय दृष्टि में साधुता टालस्टाय की साधुता के समान इकहरी न थी । भारतीय दृष्टि से साधुता या सत्वगुण अत्यन्त व्यापक है । वह भावों की तह के अव्यक्त बीज रूप में रहती है और व्यक्त रूप में भी । लोक मंगल धर्मी प्रेम और करूणा दोनों सत्वगुण प्रधान हैं और त्रिगुणों में सत्वगुण की स्थिति सबसे ऊपर मानी जाती है । इस व्यक्त जगत के आदि से अंत तक तीनों गुणों - सत्य, रज, तम की सत्ता रहेगी । लेकिन लोक मंगल के विधान करने वाली ब्रह्म की आनंद कला में प्रकाश में रज और तम, सत्व गुण के अधीन काम करते हैं । सत्य की प्रधानता में कार्य करने का ढंग प्रचंड रूप में होगा या कोमल रूप में, वह शुभ और उदान्त सात्विक सात्विक लक्ष्य के कारण सात्विक ही कहलायेगा । इसी से हमारे यहाँ लोक मंगल के लिए अवतार धारण करने वाले भगवान की मूर्ति की कल्पना एक और ब्रज के समान कठोर और दूसरी ओर फूल के समान कोमल रूप में की गयी है । इस प्रकार शुक्ल जी ने काव्यगत सत्व गुण और भक्तिगत अवतारवाद को दो अलग-अलग

क्षेत्रों से सम्बद्ध होने के बावजूद एक ही चेतना और लक्ष्य से संचालित मानते हुए उन्हें आपस में जोड़ भी दिया ।

14.6 भाषा भौली और निबंध का स्वरूप

निबंध का स्वरूप - शुक्ल जी की ख्याति विशेष रूप से विचारात्मक निबंधों के सर्जन में है । 'काव्य में लोक मंगल की साधानावस्था' भी साहित्य से सम्बन्धित गंभीर विचारात्मक निबंध है । विचारात्मक निबंधों में निबंधकार का सारा प्रयत्न विषय के विवेचन और स्पष्टीकरण पर होता है । इसमें निबंधकार विषय से सम्बद्ध अपने विचारों को पाठक ही बनाने की पूरी कोशिश करता है । विषय सम्बन्धी सभी विचार गंभीर, स्पष्ट अर्थ की दृष्टि से समृद्ध, संश्लिष्ट (गुम्फित) तथा परस्पर क्रमबद्ध और सम्बद्ध होते हैं । भाषा-प्रयोग में निबंधकार सावधानी और सफाई बरतता है । शब्द अत्यन्त नपे-तुले होते हैं और वह अनावश्यक, फालतू शब्द-प्रयोग से भरसक बचने की कोशिश करता है । भाषा की सजावत और उछल-कूद दिखाने के बदले वह विचारों के स्पष्टीकरण पर अपना विशेष ध्यान केन्द्रित करता है ' । शुक्ल जी ने विचारात्मक निबंधों के बारे में स्वयं विचार प्रकट करते हुए कहा कि 'शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खण्ड को लिए हो । ' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-467) । शुक्ल जी का लोक मंगल की साधानावस्था वाला निबंध अपने गढ़ विचार और खास भाषा की प्रकृति के कारण अपने स्वरूप में विशिष्ट विचारात्मक निबन्ध है ।

भाषा - शुक्ल जी के अन्य विचारात्मक निबन्धों के समान में काव्य में लोक मंगल की साधानावस्था निबन्ध की भाषा अत्यन्त परिष्कृत खड़ी बोली है । उनकी भाषा बहुत कसी हुई अर्थात् चुस्त है । उनके वाक्य इतने सुगठित हैं कि सामान्यत: उनमें न कोई शब्द जोड़ सकते है और न ही घटा सकते हैं । वाक्य इतने श्रृंखलाबद्ध हैं कि उनके क्रम को आगे-पीछे नहीं किया जा सकता है । यही बात उनके अनुच्छेदों पर लागू होती है । शब्द चयन में भी वे बड़े मितव्ययी हैं उनकी पूरी कोशिश उपयुक्त से उपयुक्त शब्द-अनुसंधान और प्रयोग की होती है । उनकी भाषा जड़ और तस नहीं है, गंभीर होते हुए वह विषयानुसार अपना रूप बढ़ती हुई गतिशील बनी रहती है ।

हिन्दी को संस्कृत भाषा परम्परा के विकास की आधुनिक कड़ी मानने के कारण अपने निबन्धों के शब्द चयन में संस्कृत के तत्सम' शब्दों की ओर विशेष है । यदि निबंध के शीर्षक 'काव्य में लोक मंगल की साधानावस्था पर ध्यान दें तो लोक मंगल' और साधनावस्था' इसी के सूचक हैं । यदि निबंध के पहले अनुच्छेद पर नजर डालें तो आत्मबोध, जगत बोध, आनंद मंगल, विभूति, साक्षात्कार नित्य, स्वरूप, प्रतिष्ठा, दिव्याकला, सम्यक् दर्शन, प्रतिमूर्ति, भारतीय भक्तिमार्ग आदि शब्द संस्कृत के समृद्ध भाषा भंडार से सीधे यहाँ खींचे चले आये है । शुक्ल जी की भाषा में विचार समाहार

और शब्द समाहार की अद्भुत शक्ति है । इसके पीछे भी मूल प्रेरणा संस्कृत भाषा शक्ति की है । विचार समाहार के लिए वे सूत्रात्मक वाक्यों की सृष्टि करते है और शब्द समाहार के लिए सामासिक पदों को विशेष रूप से रचते और चुनते है । उनके शब्द भण्डार में सामासिक और गैर सामासिक दोनों प्रकार के शब्द मौजूद हैं और वे संस्कृत की परिष्कृत शब्दावली की प्रचुरता को सूचित करते हैं । संस्कृत भाषा से अनेक सामासिक शब्दों को चुनकर या उनके तर्ज पर रचकर शुक्ल जी ने हिन्दी आलोचना के शब्द भंडार को न केवल समृद्ध किया, बल्कि उन्हें स्वीकृत भी करवा दिया। जैसे - लोक, अवस्था, सौन्दर्य आदि से सम्बद्ध सामासिक शब्द । इस निबन्ध के लोकमंगल, लोकधर्म, लोकरंजन, लोकहृदय, साधनावस्था, सिद्धावस्था, कर्म सौन्दर्य, भाव सौन्दर्य, रूप सौन्दर्य आदि । इसी प्रकार निबंध के इन सामासिक और गैर सामासिक तत्सम शब्दों के चयन पर ध्यान दीजिए - प्रयलपक्ष, उपभोगपक्ष अविर्भाव, तिरोभाव, सुख-समृद्ध पूर्ण हास-विलास, वनस्थली, गुण ' सम्पन्न नायक, अनंदमंगल, आनंद ज्योति, आनंद काल, उच्चदर्शा, सत्वगुणप्रधान, प्रेम प्रवर्तन, अव्यक्तवस्था, व्यक्त स्वरूप, समष्टि रूप, प्रेम व्यापार, प्रेम-क्रीड़ा, धाराप्रवाह, प्रडित वेशधारी, सुखसौन्दर्यमय, सुषमा, घटना-चक्र, भेद-निरूपण, विषदमयीछाया प्रगल्भवक्तृता, मंगलशक्ति, शक्तिमयरूप दुर्दान्त अत्याचार, मंगलविधायिनी निर्विशेष्ता आदि । इसके साथ शुक्ल जी भक्ति, दर्शन, धर्म, काव्य आदि से सम्बन्धित विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों और नामों को उद्धरण चिह्न' में देते चलते हैं जैसे - रामराज्य', 'धर्म की जय', ' 'अभ्युदय', 'आनंद', संधिनी', सत्', कला', करूणा (भवभूति) ' जयकाव्य (व्यास) का प्रसंगानुसार इस्तेमाल करते हैं । निबन्ध के अनुच्छेद और फुटनोट में । समलन - निबंध के शीर्षक के नीचे ईशोवास्योपनिषद का उद्धरण - तदेजति नन्नेजयति' लिया है। आगे भी हर्ष के नैषधचरित से वाल्मीकि रामायण से कालाग्नि सदृश क्रोध' शास्त्रस्थिति सम्पादन' के सन्दर्भ में आचार्य विश्वनाथ के साहित्य दर्पण का उद्धहरण फुटनोट में और 'यत्राकृतिस्तत्रगुणावसन्ति ब्रजदपि कठोरानि कोमलानि कुसुमादपि से ब्रजादपि 'कुसुमादपि आदि सूक्यिाए वाक्यों के भीतर इस्तेमाल करती है ।

संस्कृत शब्द-चयन के प्रति विशेष आग्रह के बावजूद शुक्ल जी भाषा में बड़े उदार है । एक ओर वे लोक प्रचलित और ठेठ देशज शब्दों को लेने से नहीं कतराते, तो दूसरी तरफ 'आम फहम अरबी-फारसी शब्दों को लेने से परहेज नहीं करते । उनके इसी निबंध में जहाँ एक ओर लहलता, मनमाना, झोंक, गड़बड़, उलटफेर, दौड़धूप, निम्नबाधा जैसे चलते हिन्दी के शब्द मिल जाते है उसी प्रकार अरबी-फारसी भाषा से हिन्दी के चलन में आये हुए परवा 'आसमान की बादशाहत', आदम, खुदा, जरूरत, इशारे, शौक आदि शब्द और उद्धरण मिल जाते है । हिन्दी में प्रचलित उक्ति भी वे प्रसंगानुसार अपने निबंध में टाख लेते हैं । जैसे तुलसी की यह प्रसिद्ध उक्ति - कुलिसद्द चाहि कठोर अति, कोमल सुकुमहु चाहिए । ' चिन्तन प्रधान सर्जन के कारण उनके के निबंधों में

मुहावरों का प्रयोग सामान्यत' कम है, लेकिन मौका मिलने पर चूकते नहीं । वे भाषा को ढकने के लिए नहीं, बल्कि उसकी शक्ति के रूप में मुहावरे का इस्तेमाल करते हैं । जैसे - लीक पकड़ना, परवान करना, खाई खोदना, नाक-भौं सिकोड़ना, चूक होना, प्राण उत्सर्ग करना, मुँह न मोड़ना, बहादुरी दिखाना, दया की भिक्षा माँगना आदि । कभी अचूकवक्र उक्ति का इस्तेमाल करते है । जैसे 'इस शब्द को दूर से नमस्कार करना चाहिए' ।

शुक्ल जी अंग्रेजी साहित्य और मनोविज्ञान के गहन अध्येता था । उन्होंने 'मनोविज्ञान, अंग्रेजी भाषा साहित्य के अनेक पारिभाषिक शब्दों का हिन्दी में अनुवाद करके हिन्दी आलोचना की भाषा को समृद्ध किया । वे प्रमाणिकता और अर्थ की स्पष्टता के ख्याल से अनुदित शब्द को पहले हिन्दी में और मूल अंग्रेजी शब्द को कोष्ठक में दे देते हैं । अंग्रेजी पुस्तकों और विधाओं के नाम देवनागरी और अंग्रेजी में कभी एक साथ तो कभी अकेले देते हैं । कभी वे अनुदित के साथ मूल नाम देते हैं । इस मामले में हर जगह एक रूपता नहीं है । पहले देवनागरी लिपि में विधाओं और. काव्य रूपों के नाम लीजिए - इतियाड ओडेसी, पैराडाइजलास्ट रिवोल्ट ऑफ इस्लाम, बैलेड (Ballads), लिरिक (Lyrics)। अब हिन्दी अनुवाद के साथ मूल अंग्रेजी शब्द देखिए - 'इस्लाम का विप्लव' (The Revolt of Islam), स्थिर (Static) गत्यात्मक (Dynamic), शिक्षावाद (Didacticism), चेतना का प्रकाश (Conscious), अन्तःसंज्ञा क्षेत्र (Sub-Consious), शक्तिकाव्य (Poetry as an emergy), कलाकाव्य (Poetry as an art) । वे अपने कथन की प्रामाणिकता के लिए अंग्रेजी उद्धरणों का प्रयोग सामान्यत: फुटनोट में करते हैं । जैसे शैली के सन्दर्भ में अपनी कही गयी बात की पुष्टि के लिए उन्होंने एण्टी-स्ट्रांग की पुस्तक (Studies in Shelly) का उद्धरण फुटनोट में अंग्रेजी लिपि में दिया है।

शुक्ल जी की भाषा जड़ नहीं 'गतिशील भाषा' है । कहीं विचारों के भार से वह मंथर(धीरे-धीरे) चलती है । रूचिकर प्रसंग में उसमें अद्भुत रवानगी, प्रवाहशीलता और आवेग दीख पड़ता है । ऐसे प्रसंग में शुक्ल की भाषा लम्बे सामासिक पदों, विशेषणों, क्रिया विशेषज्ञों को डूबाकर बहाती चलती और साथ में मनोहारी आनुप्रासिक नाद भी सुनाती चलती है । कभी बहाव नदी की भांति लम्बा-चौड़ा होता है और कभी छोटी-छोटी लहरें उठाकर आगे बढ़ता हुआ । भाषा में यह रवानगी उनका हृदय लाता है । कुछ उदाहरण के लिए और रेखांकित अनुप्रासों और उनकी कणप्रिय ध्वनि पर ध्यान दीजिए-

1. "इस जगत में न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसन्त-विकास रहता है न सुख समृद्धि पूर्ण ह्रास-विलास । शिशिर के आतंक से सिमटी और झोंके झेलती वनस्थली की भिन्नता और हीनता के बीच से ही क्रमश: आनंद की अरूण आभा धूँधली-धूँधली फटती हुई अन्त में वसन्त की पूर्ण प्रफुल्लता और प्रचुरता के रूप में फैल जाती है । "

2. "आदि कवि वाल्मीकि की वाणी इसी सौन्दर्य के उद्घाटन महोत्सव का दिव्य संगीत है । सौन्दर्य का यह उद्घाटन असौन्दर्य का आवरण हटाकर होता है । धर्म और मंगल की यह ज्योति अधर्म और अमंगल की घटा फाड़ती हुई फटती है । "

3. इसी प्रकार शैली के महाकाव्य के नायक-नायिका की विशेषताओं के उद्घाटन में गण' विशेषण वाली पदावली देखिए । शुक्ल जी की बहती भाषा में जगह-जगह अद्भुत ध्वनि, तुक और शब्द भी है । यह उनका साध्य नहीं । वे अपनी भाव छटा दिखाकर फिर गंभीर 'भाषा की और चले जाते हैं ।

शैली - किसी निबंधकार की व्यक्तिगत विशेषता यानि उसके भीतरी स्वभाव, मनोरचना संसार उसकी दृष्टि और पसंद-नापसंद आदि की सूचक उसकी शैली होती है । विचार प्रधान ' -में भी निबंधकार की व्यक्तिगत विशेषता बहुत शक्तिशाली, साग्रह और निबन्ध में उसके प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के रूप में सामने आती है, वहीं विचार प्रधान निबंधों में निबंधकार अपने व्यक्तित्व का साग्रह और सीधे-सीधे हस्तक्षेप प्राय: नहीं करता है । वह व्यक्तित्व की तुलना विषय के उद्घाटन में विशेष रस लेता है और उसी के पीछे उसका व्यक्तित्व मौजूद रहता है और आवश्यकतानुसार कभी-कभार वह उसकी छटा दिखाकर फिर विषय उद्घाटन में लग जाता है । शुक्ल जी के ज्यादातर निबंध विचारात्मक है । इसलिए उनकी शैली भी प्रधानत: चिन्तन परक है । उनकी चिन्तन परक शैली में विचार-भाव समाहार की अद्भुत शक्ति है । इसके लिए वे सूत्रात्मक सूक्ति शैली' में अपने विचार रखना पसंद करते हैं । उदाहरण के लिए लोक मंगल की साधानावस्था वाले निबंध के कुछ वाक्यों पर ध्यान दीजिए । 'भगवान की शक्ति अमोघ है । ' इस जगत में अधर्म प्राय: दुर्दमनीय शक्ति प्राप्त करता है, जिसके सामने धर्म की शक्ति बार-बार उठकर व्यर्थ होती रहती है । ' 'कवि कर्म-सौन्दर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अन्त: प्रकृति में उत्पन्न करता है, उसका उपदेश नहीं देता । ' 'करूणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की सृजन की ओर । लोक में प्रथम साध्य रहा है । रंजन का अवसर उसके पीछे आता है । ' उच्च दशा का प्रेम और करूणा दोनों सत्वगुण-प्रधान है । ' आदि

अपने गढ़ चिन्तन के स्पष्टीकरण के लिए वे व्याख्यात्मक शैली और रचनात्मक दृष्टान्तों' का सहारा लेते हैं । शुक्ल जी पेशे से अध्यापक थे । उनकी व्याख्यात्मक शैली में उसका रंग-ढंग मिल गया है । काव्य में लोक मंगल की साधानावस्था निबंध को ध्यान से पढ़कर आप भी उसे देख सकते हैं । जैसे-तात्पर्य यह कि', 'जैसा ऊपर कह आये हैं', ऊपर कहा गया है कि', हम पहले कह आये हैं कि', यह भी दिखा आये हैं कि' आदि । वे दृष्टान्तों का उपयोग प्राय: रचनात्मक रूप, कारण की निबंध रचनात्मक विद्या है में करते हैं । अगर आप की विश्लेषणात्मक बुद्धि सजग नहीं तो उन्हें पकड़ना आसान नहीं है । वे जैसे', उदाहरण के लिए' प्रयोग किये बगैर वाक्य के भीतर पूरी तरह खपा देते हैं । किसी कोट-पतलून-हैट वाले', अथवा किसी पंडित-वेशधारी

सज्जन', 'आदि कवि वाल्मीकि की वाणी' 'अंग्रेज कविशेली 'माइकेल मधुसुदन दत्त', नवीन चन्द्र', टालस्टाय' वल्लभाचार्य आदि दृष्टान्त इसी प्रकार वाक्यों के भीतर रचे-पचे हैं । जब वे किसी बात को आगे नहीं बढ़ाना चाहते तो संक्षेप में उसकी सूचना देकर प्रसंगान्तर कर देते हैं । जैसे - इसका निरूपण हम किसी अन्य प्रबंध में करेंगे । ' कुल मिलाकर लोकवादी चिन्तक, आलोचक, अध्यापक व्यक्तित्व इस निबंध के भीतर आद्यन्त मौजूद हैं ।

14.7 शब्दावली

अभ्युदय - समाज और लोक को अपने प्रयत्न से ऊपर उठाना, विकास के मार्ग पर ले जाने का नाम अभ्युदय है । इसी को दूसरे शब्दों में अभ्युत्थान और उत्कर्ष कहते हैं ।

कलाकाव्य - जिस काव्य में कथ्य की मार्मिकता को अनदेखा करके सिर्फ कहने के ढंग और चमत्कार पर सबसे ज्यादा हो वह कलाकाव्य कहलाता है ।

शिक्षावाद - विषय के चित्रण के बदले जहाँ उसके बारे में सिर्फ जानकारी ही दी जाए । जैसे - सच बोलो, झूठ मत बोला । धर्मोपदेशक यही करते हैं । इसका दूसरा नाम उपदेशवाद है ।

साधारणीकरण - जब लोक मंगल में प्रयासरत प्रधानपात्र के भावों का साथ पाठक के हृदय के भाव देने लगे यानि पात्र के मन के साथ पाठक का भी मन मिल जाए । यह उच्च कोटि का साधारणीकरण है । जब लोक मंगल विरोधी खलनायकादि पात्रों के भावों के साथ पाठक के भावों का मेल न हो, बल्कि वह उससे दूरी मानसिक बनाकर केवल उसके चरित्र दृष्टा आलोचक के रूप में हो तो साधरणीकरण की हीन कोटि होती है । यहाँ तादात्म्य पात्र से न होकर कवि के उस भाव के साथ होता है जिस भाव से उसने ऐसे पात्र को रचा है ।

शास्त्र स्थिति सम्पादन - जहाँ रससिद्धान्त से सम्बद्ध सारे अवयव - विभाव, अनुभाव, संचारी भाव मौजूद हों, पर रस की निष्पत्ति न हो पाये ।

14.8 सारांश

भारतेंदु युग के निबंध विचार की दृष्टि से बहुत सरल और भाषा-शैली की दृष्टि से पाठक के सहज संवाद स्थापित करने वाले और शैली में जिन्दादिली से भरपूर थे । द्विवेदी युग में विषयों की विविधता बढ़ी, भाषा भी परिष्कृत होकर भारतेन्दु युग के निबंधों से कुछ आगे बढ़ी, लेकिन विचारों की दृष्टि से निबंध आगे न बढ़ सके । चन्द्र धर शर्मा गुलेरी, सरदार पूर्ण सिंह और बाल मुकुन्द गुप्त के निबंधों में विचारों की चमक अवश्य कुछ दीख पड़ी, लेकिन ज्यादातर निबंधकारों में भीतर से निकलती हुई स्वाभाविक विचारधारा का अभाव है । महावीर प्रसाद द्विवेदी समेत उनके निबंध विचारों के छिटपुट संग्रह और भाषा कि कलाकारी के रूप में दिखाई पड़ते हैं । विचारात्मक निबंधों को कथ्य और भाषा शैली दोनों दृष्टियों से शुक्ल जी ने बड़ी ऊँचाई प्रदान की । गढ़ विचारों के गुंफन और समाहार सघन अर्थव्यजंक चुस्त भाषा-शैली,

दोनों दृष्टियों से वे हिन्दी निबंध में बेजोड़ हैं । ' 'भारतेन्दु युगीन लेखकों की सी जिंदादिली और पाठकों से बातचीत की सी आत्मीयता उनमें नहीं मिलती, फिर भी उनके निबंध सुंदर गद्य के बौद्धिक उत्कर्ष पर खरे उतरते हैं । उनके निबंधों की सी तर्क पुष्टि भाषिक संरचना अत्यन्त दुर्लभ है । " (चिन्तामणि-विमर्श, पृष्ठ-223) । शुक्ल जी के निबन्धों में द्विवेदीयुग के निबन्धों की तरह बिखराव भी नहीं है, वे बहुत गढ़, गुंफित और पाठकों से पूरी दिमागी मशक्कत की अपेक्षा रखते हैं । विचारात्मक निबन्धों का चरमोत्कर्ष वास्तव में आचार्य शुक्ल के ही निबन्धों में दिखाई पड़ता है । निःसंदेह हिन्दी निबंध के विकास में आचार्य शुक्ल का योगदान और निबन्धकारों के बीच स्थान सबसे ऊँचा हैं । ' (वही, पृष्ठ-88) । साहित्य सिद्धान्त सम्बन्धी निबन्धों में 'काव्य में लोक मंगल की साधानावस्था काव्य प्रयोजन पर मौलिक निववेचन की दृष्टि से अकेला निबंध है । उसका विशेष महत्व काव्य प्रयोजन में 'लोकमंगल की साधानावस्था और उसे लेकर चलने वाले प्रबंधकाव्यों को सबसे ज्यादा महत्व देता है ।

14.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. पं. रामचन्द्र शुक्ल के जीवन और रचना का संक्षेप में परिचय दीजिए ।
2. 'काव्य में लोक मंगल की साधानावस्था' निबंध का मूल प्रतिपाद्य समझाइए ।
3. शुक्ल जी की भाषा-शैली पर 'काव्य' में लोक मंगल की साधानावस्था' के सन्दर्भ के विचार कीजिए ।

14.10 सन्दर्भ ग्रंथ

1. रामचन्द्र शुक्ल; चिन्तामणि, भाग- 1, इण्डियन प्रेस-इलाहाबाद, संस्करण-सन् 1987
   चिन्तामणि, भाग-3, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वि. सं. - सन् 1985
   हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. सं. 2040
2. राम कृपाल पांडेय; चिन्तामणि-विमर्श, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-प्र.स. सनृ 1994

इकाई- 15 हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'अशोक के फूल' निबंध का अध्ययन और विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 अशोक के फूल' की अन्तर्वस्तु
15.3 अशोक के फूल' का भाषिक सौंदर्य
15.4 सारांश
15.5 शब्दावली
15.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
15.7 संदर्भ ग्रंथ

15.0 उद्देश्य

इस इकाई में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'अशोक के फूल' निबंध का अध्ययन, मनन और विश्लेषण किया गया है । इसे पढ़ने के बाद आप :

- रचनाकार और खासतौर एक निबंधकार के रूप में हजारी प्रसाद द्विवेदी की महत्ता स्थापित कर सकेंगे ।
- अशोक के फूल' की अन्तर्वस्तु से परिचित हो सकेंगे ।
- विवेच्य निबंध की संरचना शिल्प और भाषिक सौंदर्य का आस्वादन और विश्लेषण कर सकेंगे ।

15.1 प्रस्तावना

पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी के ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने जिस विधा में लिखा उसमें नई लीक बनाई । इतिहास लिखा तो नए तथ्य और दृष्टिकोण से अवगत कराया, नई इतिहास दृष्टि विकसित की; उपन्यास लिखा तो नई परम्परा की नींव डाली; निबंध रचा तो नई शैली ढाली । परंतु हर विधा में उनका इतिहासज्ञ और खोजी मन हमेशा सक्रिय रहा और परम्परा को आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में कैसे देखा जाना चाहिए इसकी मौलिक दृष्टि पेश की । भारतीयता की विशुद्ध अवधारणा के बरक्स उन्होंने भारतीय संस्कृति की 'दूसरी परम्परा' का रास्ता सुझाया जिसकी जड़ें लोक से जुड़ी हैं जो अवशुद्ध है । द्विवेदी जी हमेशा लोक के साथ और श्रमिक जन के पक्ष में खड़े रहे । इसलिए 'अशोक के फूल' की महत्ता का उत्थान और पतन को सामंतवाद के उत्थान और पतन के साथ जोड़कर देखते हैं । शास्त्रों के ब्राह्मण और आभिजात्य दृष्टिकोण से रचित होने के कारण वे इसकी पुनर्व्याख्या की जरूरत महसूस करते हैं ।

इस लिहाज से द्विवेदी जी के निबंध भारतीय संस्कृति को नए आलोक में देखने की दृष्टि प्रदान करते हैं जिसमें सहभागिता, समरसता और सौंदर्य का भाव है ।

आचार्य द्विवेदी अपने 'पंडिताऊपन' को कहीं बोझिल नहीं बनाते बल्कि उसका सर्जनात्मक प्रयोग करते हैं और कठिन से कठिन मसलों को चुटकी में सुलझाते प्रतीत होते हैं । उनकी व्याख्याएं इतनी नूतन, नवीन और तर्कसंगत होती हैं कि तुरंत उसे स्वीकार कर लेने का मन होता है । उनका भाषा ज्ञान, इतिहास बोध और वैज्ञानिक दृष्टि भारतीय अतीत को नए आलोक में देखती है और भविष्य में बननेवाले भारत को वह मार्ग सुझाती है जो विभिन्न धर्मों, जातियों और गुटों को एक साथ चलने और भारत के एक बहुलतावादी 'राष्ट्र' के रूप में विकसित होने में सहायक बन सके । इस इकाई में 'अशोक के फूल' का अध्ययन करते हुए इन्हीं पहलुओं को उजागर करने का, प्रयत्न किया गया है ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य के प्रमुख कथाकार, निबंधकार, आलोचक और चिंतक हैं । उनका विपुल साहित्य परम्परा में आधुनिकता और आधुनिकता में परम्परा की अद्भुत मिसाल है । उनमें साहित्यकार की सहृदयता, कलाकार की सृजनशीलता, स्थापत्यकार की सुगढ़ता, मूर्तिकार के लालित्य के साथ-साथ इतिहासकार की मर्मज्ञता, दार्शनिक की मीमांसा और पुरातत्ववेत्ता की सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि मौजूद है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी के ऐसे मूर्धन्य साहित्यकार और चिंतक हैं जिन्होंने भारतीय परम्परा का वैज्ञानिक अध्ययन और विश्लेषण किया है और उसे आधुनिक परिप्रेक्ष्य और परिवेश में देखने और समझने की साधना की है ।

हजारी प्रसाद द्विवेदी को विरासत में वैष्णव संस्कार मिले थे । उनका परिवार ज्योतिष विद्या के लिए प्रतिष्ठित था । आचार्य द्विवेदी भी ज्योतिष के बड़े विद्वान थे । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म 20 अगस्त 1907 को बलिया जिले के दुबे का छपरा, ओझवलिया नामक गांव के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था । उनके पिता का नाम अनमोल द्विवेदी तथा मां का नाम परमज्योति द्विवेदी था । द्विवेदी जी के जन्म के बाद का नाम रखा गया बैजनाथ । उनका नाम हजारी प्रसाद द्विवेदी किस प्रकार पड़ा यह एक दिलचस्प किस्सा है । एक बार उनके पिता को मुकदमा लड़ने के लिए कुछ पैसे की जरूरत पड़ी । अचानक उन्हें कहीं से एक हजार रूपए मिले । उन्हें लगा कि ये पैसे पुत्र के भाग्य से मिले हैं इसलिए उन्होंने अपने पुत्र का पुन: नामकरण किया और नाम रखा हजारी प्रसाद ।

द्विवेदी जी ने अपनी आरम्भिक शिक्षा रायपुर में और फिर बसीरपुर के मिडिल स्कूल में प्राप्त की । इसके बाद उन्होंने संस्कृत की प्रवेशिका भी उत्तीर्ण की । बचपन में ही उन्होंने लघु सिद्धांत कौमुदी, भारत भारती और जयद्रथ वध को कंठस्थ कर लिया । इसके बाद उनका दाखिला काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हुआ और उन्होंने इंटर और ज्योतिषाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की । 1927 ई. में उनका विवाह भगवती देवी से हुआ। 7 दिसम्बर 1930 को अध्यापक के रूप में उन्होंने शांति निकेतन में पदभार

ग्रहण किया । द्विवेदी जी 20 वर्षों तक शांति निकेतन में कार्यरत रहे । यह काल उनकी रचनात्मकता का उत्कर्ष का काल था । यहीं रहकर उन्होंने कलकत्ता की अभिनव भारती ग्रंथमाला और विश्वविद्यालय की शोध पत्रिका विश्वभारती का संपादन किया । शांति निकेतन में ही वे आचार्य क्षितिमोहन सेन और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सान्निध्य में रहे और उनके पांडित्य, चिंतन और प्रतिभा को नया संस्कार मिला । इसलिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी यह मानते थे कि शांति निकेतन पहुंचने पर उनका दूसरा जन्म हुआ । नामवर सिंह लिखते हैं ' जन्मदिन मनाते थे उन्हें कभी नहीं देखा गया लेकिन द्विजत्व प्राप्ति का दिन वे बड़ी निष्ठा से मनाते थे । " (दूसरी परम्परा की खोज, पृ. 11) हजारी प्रसाद द्विवेदी जन्मना ब्राह्मण थे । उनका यज्ञोपवित संस्कार भी हुआ था । ब्राह्मण. धर्म की यह मान्यता है कि यज्ञोपवित होने के बाद व्यक्ति दूसरा जन्म यानी द्विजत्व को प्राप्त करता है । हजारी प्रसाद द्विवेदी आरंभ से ही परम्परा के रूढ़िबद्ध आचरण के भंजक रहे हैं और शांति निकेतन पहुंचने के दिन को अपना दूसरा जन्म मानना भी परम्परा के खिलाफ एक जंग है और नामवर सिंह के शब्दों में दूसरी परम्परा की खोज है । ' हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मान्य रूढ़िवाद परम्परा के समानान्तर एक आधुनिक और वैज्ञानिक परम्परा की नींव रखी रितसने परम्परा को आधुनिकता बोध के साथ समझने में मदद की । आचार्य द्विवेदी 1950-60 तक काशी हिंदू विश्वविद्यालय में रहे । 1961 ई. में वे पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ चले गए! इस महान पंडित और विद्वान के साथ प्रतिष्ठा और पद छाया बनकर चले । लेकिन इसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर न पडा । विचारों की तरह रहन-सहन और पहनावे में भी लोकतत्व की झलक दिखाई पड़ती है। हजारी प्रसाद द्विवेदी का जीवन कष्ट में बीता और उन्हें लगातार संघर्ष करना पड़ा । परंतु उन्होंने इसे चुनौती मानकर स्वीकार किया और हमेशा आगे निकलते चले गए । 19 मई 1979 को द्विवेदी जी का निधन हो गया । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कालीदास, वाणभट्ट, तुलसी, कबीर, रवीन्द्रनाथ से बेहद प्रभावित थे । उनके व्यक्तित्व पर इन सभी की प्रतिच्छवि देखी जा सकती थी । जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है द्विवेदी जी के जीवन का आरंभ संस्कृत के पंडित और ज्योतिष के रूप में हुआ परंतु वे हिंदी में भी लिखते रहे । उन्होंने वीर रस में कविताएं लिखीं और जब हरिऔध जी को दिखाया तो उन्होंने उनकी प्रशंसा की और हिंदी में साहित्य रचने की प्रेरणा उत्पन्न की ।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 1933 ई. में हिंदी में एक लेख लिखा ' 'वैष्णव कवियों की रूपोपासना '; यह उनका पहला प्रकाशित लेख है । उनकी पहली कृति सूर साहित्य 1936 में प्रकाशित हुई । 'हिंदी साहित्य की भूमिका, 'कबीर', 'मध्यकालीन धर्म साधना, 'हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास', 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप आदि इनकी प्रमुख रचनाएं हैं ।

इसके अलावा पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ललित निबंधों की भी रचना की जिन्होंने हिंदी में एक प्रतिमान स्थापित किया । हिंदी में निबंध लेखन की परम्परा आधुनिक युग की देन है । हजारी प्रसाद द्विवेदी से पहले शारतेंदु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, सरदार पूर्ण सिंह, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बदरी नारायण चौधरी, प्रेमघन, बालमुकुंद गुप्त हिंदी के प्रमुख निबंधकार हो चुके थे ।

इस प्रकार एक समृद्ध विरासत हजारी प्रसाद को प्राप्त हुई थी । परंतु हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी निबंध और खासतौर पर ललित निबंध को एक नया व्यक्तित्व प्रदान किया । उनके निबंधों में भारतेंदु का व्यंग्य, बालकृष्ण भट्ट की अलंकारिकता, प्रताप नारायण मिश्र की स्वच्छंद चेतना और लोकतत्व का समावेश मिलता है । इस समृद्ध विरासत को हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक विशेष शैली तो दी ही उसमें एक ऐतिहासविद अनुसंधानकर्ता और पुरातत्ववेत्ता का जो नया पक्ष जोड़ा उसने उनके ललित निबंधों को नूतन और विलक्षण बनाया ।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध व्यक्ति की स्वातंत्रय चेतना और सरोकार के प्रतिफलन थे । उनके निबंध व्यष्टि की सीमा का अतिक्रमण कर समष्टि की सीमा में प्रविष्ट होते हैं । निजता प्रत्येक ललित निबंध का गुण होता है । परंतु हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों की निजता लोक कल्याण और सामाजिक चिंता के रूप में प्रकट होती है । उनका निबंध शुद्ध मनोविनोद, क्रीड़ा या लीलाभाव के निमित्त लिखा साहित्य नहीं है बल्कि उसमें देश, समाज, और खासतौर पर समाज के दलित और वंचित वर्ग की चिंता बार-बार उभरकर आती है । उनके निबंधों में इतिहास भी है, विज्ञान भी है, भावना भी है, कल्पना भी है और चिंतन भी है । उनके निबंधों में समाज और संस्कृति और इतिहास की गवेषणा भी है तो वैयक्तिकता से लबरेज भावप्रवणता भी । उनके निबंधों में ये सारे तत्व इस प्रकार घुले मिले हैं कि उनकी शल्य चिकित्सा नहीं की जा सकती। बौद्धिकता, अनुभूति, कल्पना आदि के निकष पर द्विवेदी जी के निबंध खरे उतरते हैं । हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का प्रसिद्ध ललित निबंध 'अशोक के फूल' 1948 में छपकर आया । शिरीष के फूल, देवदारू, वसंत आ गया, केतु-दर्शन, पंडितों की पंचायत, ठाकुर जी की बटोर, पुरानी पोथियां, भारतीय मेले और कल्पतरू इनके कुछ प्रमुख निबंध हैं । इन्हीं में से एक निबंध 'अशोक के फूल' का अध्ययन हम इस इकाई में करने जा रहे है ।

15.2 अशोक के फून की अन्तर्वस्तु

'अशोक के फूल' हजारी प्रसाद द्विवेदी का एक प्रसिद्ध निबंध है । इस निबंध में हजारी प्रसाद द्विवेदी की निबंध लेखन यात्रा का उत्साह देखा जा सकता है । यह निबंध 1948 में द्विवेदी जी के शांति निकेतन प्रवास के दौरान रचित और प्रकाशित हुआ । 'अशोक के फूल' में हजारी प्रसाद द्विवेदी एक सर्जक रचनाकार और अन्वेषी इतिहासकार के रूप में प्रकट हुए । आमतौर पर 'अशोक के फूल' को ललित निबंध की श्रेणी में रखा जाता है और इसकी संरचना को देखते हुए यह सही भी है परंतु यह

निबंध ललित निबंध की सीमा का अतिक्रमण करते हुए विचार, विश्लेषण और अन्वेषण की ओर बढ़ता दिखाई देता है । आमतौर पर ललित निबंध में बोध पक्ष की अपेक्षा भाव पक्ष प्रबल होता है और उसमें बुद्धि की अपेक्षा हृदय को स्पर्श करने का सामर्थ्य अधिक होता हे । परंतु यदि हम 'अशोक के फूल पर विचार करें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह केवल कलात्मक सौन्दर्य, कल्पना विलास और भावना परिष्कार का ही उपादान नहीं बना है बल्कि इसमें इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र और अन्य ज्ञानमूलक साहित्यिक चेष्टाओं का भी प्रणयन किया गया है ।

हजारी प्रसाद द्विवेदी उद्भट शास्त्रज्ञ, मर्मज्ञ और संस्कृत साहित्य के परम विद्वान और जानकार थे । उन्होंने अपने निबंधों के माध्यम से विपुल संस्कृत साहित्य में उपलब्ध ज्ञान को भारतीय समाज के सामने नई और आधुनिक व्याख्या के साथ पेश किया । 'अशोक के फूल' में उन्होंने इसके व्याज से कई प्रसंगों को सामने रखा है और इस पुष्प के माध्यम से भारतीय संस्कृति को खंगालने का प्रयास किया है । परम्परा के नाम पर नाक भौं सिकोड़नेवालो को द्विवेदी जी के निबंधों को जरूर पढ़ना चाहिए और यह सबक लेनी चाहिए कि परम्परा को किस तरह पुनर्व्याख्यायित किया जा सकता है । परम्परा कोई बंधी हुई नाली नहीं है बल्कि यह अविरल बहती हुई नदी है जो पुरातनता को पीछे छोड़ जाती है और नूतनता को गले लगाती है ।

'अशोक के फूल' के सौंदर्य से अभिभूत होकर एक रचनाकार उसके 'इतिहास' में प्रवेश करता है । अपने संस्कृत ज्ञान के आधार पर रचनाकार याद करता है कि अशोक का फूल कभी काम देवता के तूणीर का बाण था । ध्यातव्य हो कि मदन अपने फूल के बाणों से लोगों को घायल किया करते थे । हजारी प्रसाद द्विवेदी का खोजी मन यह सोचकर बेचैन हो जाता है कि जो फूल कभी इस भूमि का सिरमौर था आज वह उपेक्षित क्यों है । वह यह सोचकर व्यथित हो जाता है कि लोग अशोक का पेड़ भी नहीं पहचानते और दुख की बात तो यह है कि उत्तर भारत के लोग जिस वृक्ष को अशोक के नाम से जानते हैं वह तो अशोक का पेड़ है ही नहीं ।

इतिहास साक्षी है कि जो काल की गति के साथ कदमताल नहीं करता वह काल कवलित हो जाता है , यानी वह काल का ग्रास बन जाता है; उसकी पहचान मिट जाती है । हजारी प्रसाद द्विवेदी का अन्वेषक मन उन्हें इस बात के लिए बेचैन करता है कि कालिदास ने जिस पुष्प की शोभा और सौकुमार्य को अपने काव्यों में प्रतिष्ठित किया था वह "मनोहर पुष्प' साहित्य के सिंहासन से उतार दिया गया । ' ऐसा क्यों हुआ ' क्यों भुला दिया गया है अशोक को रचनाकार सोचता है कि क्या हम इतने बेदर्द हो गए हैं हमारी 'कविता क्या सो गई थी पर द्विवेदी जी अपने इस ऊहापोह से उबर नहीं पाते हैं ।

एक अन्वेषक के रूप में आगे बढ़ते हुए फिर यह तथ्य ढूंढकर सामने रखते हैं कि इस पुष्प को भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में यक्षों और गन्धर्वो के प्रयास में महिमामंडित किया गया था । इतिहास की गलियों में घूमते हुए वे बताते हैं कि अशोक के फूल का फूल आर्येतर सभ्यता की देन है जिनके उपास्य थे वरुण, कुबेर, वज्रपाणि

और यक्षपति । शब्द संधान करते हुए वे बताते हैं कि आज जो शब्द 'कंदर्प' काम देवता का पर्याय बन गया है वह वस्तुत: गन्धर्व का पर्याय है । कामदेव अपने फूल के इन बाणों का प्रयोग मनुष्य पर करते रहे हैं और मनुष्य इससे घायल होता रहा है । परंतु जिनका आत्मबल मजबूत होता है उससे वे लगातार पराजित होते रहे हैं । वे शिव से परास्त हुए और बार-बार परास्त हुए । परंतु उन्होंने नए-नए फूल के हथियारों का प्रयोग किया । बौद्ध धर्म, शैव मार्ग, शक्ति साधना, वजयान, कौल साधना और कापालिक, मत को कामदेव ने अपने बाणों से धाराशाई कर दिया । यानी अशोक का फूल उस कामदेव का हथियार रहा है जो सत्य मार्ग पर चलनेवाले लोगों को विचलित करते रहा है और धर्म और सत्य की निष्ठा में सेंध लगाया करता है । इस प्रकार काम एक अधोमुखी प्रवृत्ति है जो सफलता के मार्ग को कुंठित करती रही है । यह अपनी कोमलता से भ्रम का मायावी संसार रचती है जो सत्यनिष्ठ व्यक्ति के आसन को भी डोला देता है ।

इसी कम में आचार्य द्विवेदी भारतीय संस्कृति की ग्रहणशीलता का जिक करते हैं और यह बताते हैं कि ' 'असुर आए, आर्य आए, शक आए, हूण आए, नाग आए, यक्ष आए, गंधर्व आए-न जाने कितनी मानव जातियां यहां आई और आज के भारतवर्ष के बनाने अपना हाथ लगा गई । जिसे हम हिंदू रीति-नीति कहते हैं, वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है । " आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन उन हिंदुत्ववादियों के लिए ज्ञान का चक्षु खोलती है कि हिंदू का मतलब क्या है । जिसे हम हिंदू कहते हैं उसका निर्माण कैसे हुआ है । हिंदू परम्परा घृणा और विद्वेष के आधार पर नहीं बल्कि सबको अपने में समाहित करने और सबको एक साथ लेकर चलने में विश्वास रखती है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन हिंदू आचार और आचरण को समझने की एक 'धर्म निरपेक्ष दृष्टि प्रदान करता है जो आज के परिदृश्य और परिवेश में अचानक बहुत महत्वपूर्ण हो गया है । कई मानवजातियों से बना यह भारतीय समाज अपने भीतर न जाने कितने अन्तर्विरोधों को समेटे हुए है । भारत के इस विशाल वक्ष में समाहित इस उदारता को समझे बिना भारतीय समाज को नहीं समझा जा सकता है । विदेशी विद्वान और भारत के बारे में दिलचस्पी लेनेवाले युरोपीय और अन्य विदेशी सुधीजन विस्फारित नेत्रों से अन्तर्विरोधों से भरे इस देश को देखते हैं और चकित हो जाते हैं ।

इसके बाद एक कथा के माध्यम से पंडित द्विवेदी इस फूल के उत्थान और पतन का रहस्य जानने की दिशा में आगे बढ़ते हैं और स्वर्ग और धरती को एक करने का सपना संजोते हैं । कथा इस प्रकार है कि 'मनो जन्मा यानी कामदेव ने शिव पर बाण फेंका था पर शिव की अग्नि के सामने टिक न सका और कामदेव खुद भस्म हो गया । उसका रत्नजडित धनुष खंडित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और इसके अंग-प्रत्यंग धरती का स्पर्श पाते ही अलग-अलग फूलों में रूपांतरित हो गए । इस पूरी कथा के माध्यम से हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक और आर्येतर जातियों के महत्व को स्थापित करते हुए यह बताया है कि भारतीय संस्कृति के निर्माण में वे किस प्रकार महत्वपूर्ण हैं । उन्होंने

खासतौर पर इस बात पर जोर दिया है कि जो श्रेष्ठ होता है उसमें लोकतत्व मौजूद होता है और कुलीन और आभिजात्य संस्कृति जब द्वती है, खंडित होती है तो लोक उसे एक नया रूप देता है । उसी प्रकार जिस प्रकार कामदेव का टूटा हुआ धनुष चम्पा, मौलसरि चमेली, बेला जैसे फूलों में बदल गया । इसमें समाज के कुलीन वर्ग का लोक में समाहित हो जाना महत्वपूर्ण है । इसे वर्ग चेतना का विस्तार भी कह सकते हैं । इसे पुरानी परम्परा के टूटने और नूतनता के गुण के विकसित होने के रूप में भी देख सकते हैं । इसे राजसत्ता के टूटने और लोकतंत्र के विजय के रूप में देख सकते हैं । इसे विलासी मानसिकता के पराजय और पराभव और श्रमरत की विजय के रूप में भी देख सकते हैं । हजारी प्रसाद द्विवेदी लोक और लोकतंत्र में आस्था रखनेवाले रचनाकार हैं । इसलिए वे बार-बार लोक की ओर लौटते हैं और इसी लोक की खोज में उन्होंने दूसरी परम्परा की खोज की है जिसके दर्शन 'अशोक के फूल' में भी होते हैं । द्विवेदी जी यक्षों और गंधर्वों के योगदान की चर्चा करते हैं । वे अपदेवता को देवता का सिंहासन देते हैं । अशोक का पेड़, फूल, पत्तियां, सृष्टि की रचयिता है इसकी ओर भी रचनाकार इशारा करते हैं ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इस बात को बड़ी ही शिद्दत के साथ महसूस करते हैं कि अधिकांश प्राचीन साहित्य आर्यो द्वारा ही लिखा गया है इसलिए उनका ही दृष्टिकोण उसमें प्रतिफलित होता है । अपने इस विश्लेषण में द्विवेदी जी 'सबालर्टन' इतिहास लेखन के काफी करीब दिखाई पड़ते हैं जिसमें दलितों, उपेक्षितों और हाशिए पर खड़े लोगों के दृष्टिकोण से इतिहास लिखने की बात की जाती है । आमतौर पर असुरों, दानवों, दैत्यों और राक्षसों को इन प्राचीन ग्रंथों में खलनायक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि ' यह बड़ी गर्वीली जाति थी । " परम्परा से खलनायक माने जाने वाले जातियों को गर्वीली माना जाना प्रगतिशील, आधुनिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक है । इतिहास को समझने और परखने की यही दृष्टि तर्कसंगत और सुसंगत है ।

गंधर्वों और यक्षों से आर्यों के संघर्ष के प्रमाण नहीं मिलते हैं क्योंकि शायद वे ' 'शांतिप्रिय जातियां थीं' ' । स्पष्ट है कि गर्वीली जाति आक्रमणकारी का सामना करेगी । इस तरह द्विवेदी जी आयी को बाहर से आए आक्रमणकारी की तरह देखते हैं और असुरों, दैत्यों, राक्षसों आदि को यहां की मूल जातियों के रूप में पेश करते हैं । यह परम्परा से चली आ रही ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण और मानसिकता का पूरी तरह खंडन है। एक इतिहासकार की भांति तथ्यों के आधार पर वे अनुमान लगाते हैं कि गंधर्व और यक्ष पहाड़ी जातियां थीं और वे पहाड़ों में रहती थीं । वे व्यापारी थे और व्यापारी हमेशा सत्ता वर्ग के साथ रहता है । वह सत्ता के साथ संघर्ष नहीं करता । यक्षों और गंधर्वों के इतिहास का अवलोकन करते हुए द्विवेदी जी रहस्योद्घाटन करते हैं कि हिंदू रीति रिवाज में अशोक वृक्ष के पूजन की परम्परा यक्षों और गंधर्वों से आई है । अशोक की पूजा इसलिए की जाती थी क्योंकि वह कामदेव का प्रिय पात्र था । इस उत्सव को

मदनोत्सव भी कहा जाता था । इसलिए अशोक के फूल वनिताओं के सुकुमोल चरणों के आघात से ही पुष्पित होता था ।

इसके बाद द्विवेदी जी इस प्रश्न की कुहेलिका में प्रवेश करते हैं और इसे हटाते हुए इसके पतन की कहानी कहते हैं । इस कम में जीवन की नश्वरता पर भी विचार करते हैं जो आरंभ हुआ है उसका अत होना अवश्यंभावी है । अशोक के फूल का इतिहास के गर्भ में दफन हो जाना यही प्रमाणित करता है । आचार्य द्विवेदी जी यहां स्पष्ट करते हैं कि परम्परा और आधुनिकता में लगातार संघर्ष चलता रहता है । जीवन के इस बहाव में जो नूतनता का साथ देते हैं वे जीवन के साथ आगे बढ़ जाते हैं और जो पुरातनता और रीत गई रूढ़ियों से चिपके रहते हैं वे समाप्त हो जाते हैं । दुनिया उनको भूल जाती है । आचार्य द्विवेदी इस धारणा का खंडन करते हैं कि विशुद्ध संस्कृति जैसी कोई चीज होती है । संस्कृति में हमेशा मिलावट होती रही है और इतिहास की धारा सभी स्थापित सत्यों, मान्यताओं, धर्माचारों और विश्वासों को क्षणभंगुर सिद्ध कर देती है । द्विवेदी जी उस महाकाल और प्रकृति का आह्वान करते हुए कहते हैं प्रकृति ने बड़े-बड़े मठाधीशों, सत्ताधारियों और अमीरों का घमंड चूर किया है । अशोक के फूल की अवनति इसलिए होती है क्योंकि वह एक विलासी और अकर्मण्य वर्ग के साथ दिया है । यह विलासी वर्ग हर समाज और हर युग में उपस्थित होता है । मदनोत्सव हर युग में दिखाई देता है । लेकिन मदनोत्सव के भागीदार और हिस्सेदार समाज का शोषक वर्ग होता है इसलिए युग क्रांतिया उसे ध्वस्त कर देती हैं । सर्वहारा की कांति न केवल मदन देवता का गर्व खंडित करती हैं, धर्मराज के कारागार को नष्ट करती हैं, यमराज का सामना करती है बल्कि विधाता की सर्वव्यापकता को भी चुनौती देती है । यह दृष्टिकोण अपने आप में क्रांतिकारी है । रचनाकार दार्शनिकता का माहौल बनाते हुए यथार्थ की भूमि से टकराता है और आसक्ति और जड़ता को नकारता है । समाज में स्थापित नैतिक मूल्य जब रुढ़िबद्ध होने लगते हैं, जब उनसे सड़ांध निकलने लगती है तो प्रगतिशील समाज उसे त्याग देता है । हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने इस निबंध में धर्म को आधार बनाकर अपना स्वार्थ साधनेवाली प्रगतिगामी शक्तियों और धर्म के नाम पर समाज में जड़ता कायम करनेवाले कारकों पर कुठाराघात किया है । रचनाकार ने अपने इस निबंध में बीते हुए को भूलने और नया सृजन करने का आह्वान किया है । एक बड़ा प्रश्न यहां द्विवेदी जी उठाते है कि हम अपनी जिस संस्कृति को बहुमूल्य मान रहे हैं क्या वह ऐसी ही बनी रहेगी । सम्राटों और सामंतों का मोहक और मादक रूप नष्ट हो गया । धर्माचार्यों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को सर्वश्रेष्ठ समझा था वह विलुप्त हो गया । मध्ययुग के बनाए गए मापदंड समाप्त हो गए । परिवर्तन और नूतनता सृष्टि का नियम है और इस महाकाल के कालचक्र में युग अपनी केंचुली बदलकर हर समय नया रूप धारण करता है ।

सृष्टि में राम और काम का युद्ध लगातार चलता रहता है । वस्तुत: यह समाज का ही नहीं बल्कि मनुष्य का आंतरिक संघर्ष है । मनुष्य में हमेशा सत् प्रवृत्तियों और कुप्रवृत्तियों के बीच घमासान मचा रहता है । मनुष्य अपने व्यक्तित्व में भी लगातार

विकास करता चलता है और कुप्रवृत्तियां पुराने पत्तों की तरह झड़ती रहती हैं । मनुष्य के भीतर बैठा काम देवता उसे लगातार विचलित करते रहता है लेकिन मनुष्य का शिवत्व उसे भस्मीभूत कर देता है । इस प्रकार मनुष्य के आंतरिक और बाहरी जीवन में लगातार संघर्ष चलता रहता है । हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस निबंध में इसी दर्शन को रूपायित किया है । अशोक के पेड़ की अमरता को देख कवि चकित तो है परंतु वह इस रहस्य को जानता है कि अशोक का फूल प्रकृति का एक महत्वपूर्ण अंग है । जिस प्रकार मनुष्य अपनी जरूरत और काबिलीयत के अनुसार और बल पर प्रकृति को देखता, समझता और उसका उपयोग करता है उसी प्रकार हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कालीदास के इस अशोक के पेड़ को एक नई दृष्टि से देखा है । यह पेड़ या फूल विचारों के आलंबन मात्र हैं जो दृष्टिकोण की प्रस्तुति में सहायक बने हैं । यदि मनुष्य अपनी पुरातनता को छोड़कर आधुनिकता का वरण नहीं करेगा और पुरानी दृष्टि से ही जीवन को देखने का प्रयास करेगा तो अस्वीकृति और असफलता उसकी नियति बन जाएगी । वह काल द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाएगा । ३

15.3 अशोक के फल का भाषिक सौंदर्य

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी में ललित निबंध लिखने की जिस परम्परा की शुरूआत की वह बाद में निबंध लेखकों के लिए अनुकरणीय बनी । उन्होंने निबंध लेखन की नई शैली का प्रणयन किया जिसमें भाव और विचार एक दूसरे को सम्पोषित करते चलते हैं । हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में कल्पना की उड़ान तो प्रभूत मात्र में मौजूद है परंतु उसमें कहीं भी भटकाव देखने को नहीं मिलता है ।

उनके निबंध अपनी अन्तर्वस्तु के साथ-साथ शैली के लिए भी नया रास्ता खोलते हैं । उनके निबंध का आधारभूत गुण है कथाशैली । जिस प्रकार एक कथावाचक अपने श्रोताओं को सम्मोहित करने के लिए अपने प्रवचन में कई प्रसंगों, उद्धरणों और उदाहरणों को समाहित करता है उसी प्रकार हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने निबंधों में रस घोलते रहते हैं । कुछ पहले की कही कहते हैं और कुछ अपनी तरफ से जोड़ते चलते हैं। 'हजारी प्रसाद द्विवेदी संचयिता के संपादक राधाबल्लभ त्रिपाठी के अनुसार ' ललित निबंधों में वे प्रवचनकार की भांति अपने पाठकों को संबोधित करते हैं प्रवचनकारों की इस शैली का अत्यंत रचनात्मक उपयोग कदाचित अकेले द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्य में किया है ' (हजारी प्रसाद द्विवेदी संचयिता सं.राधाबल्लभ त्रिपाठी, भूमिका, पृ35) । द्विवेदी जी ने इस प्राचीन प्रवचन शैली को अपने ललित निबंधों के रूप में ढाला और उसे सरस बनाकर प्रस्तुत किया । 'अशोक के फूल' में भी कहना की यही शैली अपनाई गई है । अशोक के फूल की शुरूआत संस्मरण शैली में हुई है । ऐसा लगता है कि रचनाकार सामने का दृश्य पूरी तरह प्रस्तुत कर रहा है । यह कथा की वर्णन शैली है । "अशोक में फिर फूल आ गए हैं । इन छोटे-छोटे लाल-लाल पुष्पों के मनोहर स्तबकों में कैसा मोहन भाव है! बहुत सोच समझकर कंदर्प देवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पांच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था । एक यह

अशोक ही है । " इसके बाद विचारों की श्रृंखला को रचनाकार एक क्रम से आगे बढ़ाता है । वह अपनी बात भी कहता है और दूसरों पर टिप्पणी भी करता है । दूसरे ही अनुच्छेद में रचनाकार ने अपने दिल की बात कही है और दुनियादार लोगों पर व्यंग्य भी किया है ।

कथावाचक का चोला उतारकर रचनाकार जब इतिहास के गलियारे में प्रवेश करता है तो कहीं तो वह कालीदास की तरह अलंकरण युका चित्रण करने लगता है और कहीं एक विज्ञ इतिहासकार की तरह अतीत की व्याख्या परोसता है ।

अपनी विवेचनात्मक और विश्लेषणात्मक भंगिमा के फलस्वरूप द्विवेदी जी हमारे मन में कई सवाल खड़ा करते हैं और उन सवालों के तर्कसंगत जवाब देने का भी प्रयास करते हैं । लेकिन इस सवाल जवाब में भी कथावाचक की शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है । 'अशोक के फूल' में भारतीय संस्कृति और परम्परा का पुनर्पाठ भी द्विवेदी जी प्रस्तुत करते चलते हैं । अपने इस निबंध में भारतीयता को लेकर भी संवाद करते हैं और उसे नई दृष्टि के साथ पेश करते चलते हैं । आत्मीयता हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों का विशेष गुण है । अशोक के फूल में भी द्विवेदी जी विषय के साथ एक आत्मीय संबंध स्थापित करते हैं । यह आत्मीय संबंध वे पाठकों के साथ भी स्थापित करते हैं । 'अशोक के फूल' में बार-बार वे मैं शैली का उपयोग करते हैं और पाठकों को सीधे संबोधित करते प्रतीत होते हैं ।

प्रकृति. के उपादानों को हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक नए नजरिए से देखने का प्रयास किया है । प्रकृति उनके लिए प्रेरणा स्रोत रही है जिसके माध्यम से वे अपने मन की बात सहृदयों के सामने रख सके हैं । इसके अलावा इनके माध्यम से वे हमें अतीत के गलियारों में ले जाते हैं और अतीत की नई व्याख्याएं प्रस्तुत करते हैं । अशोक के फूल, शिरीष के फूल, कुटज, देवदारू, वसंत आ गया है, केतु दर्शन आदि कुछ ऐसे ही निबंध हैं जिसमें जो विषय सामने है वह मुख्य विषय नहीं है यानी इनके शीर्षक भी प्रतीकात्मक मात्र हैं । जैसे अशोक के फूल में अशोक के फूल की कथा के व्याज से भारतीय साहित्य संस्कृति और परम्परा की ही चर्चा की गई है । अशोक का फूल तो इन विचारों के प्रवर्तन का बहाना भर है । आचार्य द्विवेदी जी के रचनात्मक लेखन में बतरस का विशेष महत्व रहा है । गरिष्ठ और बोझिल विचारों को इतने सुबोध और सुगम्य रूप से पाठकों तक पहुंचाने में इस बतरस शैली का विशेष योगदान रहा है ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी देवभाषा और लोकभाषा दोनों के ही पारंगत विद्वान थे । उनके निबंधों में वाणभटट की गद्यशैली के भी दर्शन होते हैं और लोकरस से भरी गगरी भी छलकती दिखाई देती है । उनके गद्य में कविता के दर्शन होते हैं । उनकी भाषा एक लय में नहीं चलती बल्कि लगातार करवट लेती रहती है । उनके निबंधों में उनकी भाषा नृत्य करती है और सुर के हिसाब से ताल बदलते रहते हैं । 'अशोक के फूल' के तीसरे अनुच्छेद में वाणभट्ट की आलंकारिक गद्य शैली का नमूना देखने को मिल जाता है । लेकिन उसमें वे मन के उमड़ने घुमड़ने की बात कर मेघ के उमड़ने घुमड़ने का सौंदर्य उद्भासित कर उसमें नई अदा डाल देते हैं ।

व्यंग्य, व्याख्या, कथागुण और काव्यगुण से संपृक्त इस निबंध शैली का भाषिक गठन और शब्द चयन भी मौलिक है । संस्कृत के पंडित होने के कारण आचार्य द्विवेदी जहां आसिजनकारी, 'कुअझटिकाच्छन्न 'अलक्तक', 'सर्वकर्तृत्व जैसे ठेठ तत्सम संस्कृत शब्दावली का उपयोग करते हैं तो वहीं उदास, इज्जत चिल्ला चिल्लाकर, पलटन, रास्ता जैसे आमफहम शब्दों का भी सर्जनात्मक इस्तेमाल करते हैं । निबंध का आरंभ एक छोटे से वाक्य से होता है "अशोक में फिर फूल आ गए हैं । " इसके बाद ही दूसरा वाक्य आलंकारिक हो जाता है ' 'इन छोटे-छोटे लाल-लाल पुष्पों के मनोहर स्तबकों में कैसा मोहन भाव है । " उसके बाद के वाक्य में शामिल शब्द परिभाषा और संदर्भ की मांग करते हैं; "बहुत सोच समझकर कंदर्प देवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पांच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था । ' पूरे निबंध में द्विवेदी जी ने भाषा को इसी उठान के साथ आगे बढ़ाया है । भाषा का टोन निचले स्वर से शुरु होता है और धीरे-धीरे सरल से कठिन की ओर बढ़ता है उसी तरह जैसे एक सुर साधक अपना सुर साधता है । भाषा अवधारणा की क्लिष्टता का साथ देती है पर यह अवधारणाओं और सिद्धांतों को उलझाती नहीं बल्कि खोलती है ।

आचार्य द्विवेदी की रचनाओं में व्यंग्य अपनी स्वाभाविक चाल से आता है । निबंध के दूसरे अनुच्छेद में ही भाषा व्यंग्य का परिधान धारण करती है । तुरंत इस परिधान को हटाकर ललित भाषा लहराने लगती है और ' 'नववधू के गृह-प्रवेश की भांति शोभा' ' जैसे उपमानों का प्रयोग भाषा को परम्परा से जोड़ता है । 'नील अलकों, 'अचंचल शोभा, जैसे प्रयोग जहा भाषा के लालित्य को बढ़ाते हैं वहीं 'झन्' और खप जैसे ननिमूलक शब्दों का इस्तेमाल भाषा में नाट्य गुण और रंगमंचीयता भर देता है ।

15.4 सारांश

हमने 'अशोक के फूल' का अध्ययन, विवेचन और विश्लेषण किया और इसमें निहित विचारों, दर्शनों और व्याख्याओं को समझने का यत्न किया ।

'अशोक के फूल' के बहाने द्विवेदी जी ने भारतीय समाज और संस्कृति के उत्थान-पतन और विकास पर गौर किया है । 'अशोक के फूल' उनके लिए मात्र सौंदर्य का साधन नहीं बल्कि विचार मंथन की प्रेरणा बने जिसके तूणीर पर सवार होकर वे अतीत का संधान कर सके और अतीत के संसार की सैर करा सके । यह सैर एक पर्यटक की नहीं बल्कि एक खोजी की सैर है जहां से वे ढेर सारे तथ्य इकट्ठा करके लाए हैं ।

अशोक के फूल की शैली, संरचना और भाषिक गठन में अद्भुत सौंदर्य है । हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथावाचक अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ इस निबंध में मौजूद है । भाषा में पांडित्य तो झलकता ही है लोक रस की रवानगी भी मौजूद है । विचार भाषा की चाशनी में घुलकर रसमय हो गए हैं जिससे ग्रहण करना सुस्वादु भोजन ग्रहण करने का आनंद मिलता है । ज्ञान और रस के संगम का यह उत्कृष्ट निदर्शन है ।

15.5 शब्दावली

अधिष्ठाता	-	देखभाल करनेवाला, ईश्वर
अरुण उल्लास	-	जिस उल्लास में उगते हुए सूर्य का रंग हो यानी सौंदर्यपूर्ण उल्लास
आसिंजनकारी	-	गहनों के हिलने से उत्पन्न झंकार (सिंजा) से युक्त /झंकार उत्पन्न करने वाला
कंदर्प	-	कामदेव
कर्णावतंस	-	कान की बाली
किसलय	-	प्रसवोडीप विलासिना मदयिता दयिता श्रवणार्पित- प्रिया के कानों में शोभायान किसलय भी मदमस्त करनेवाला होता है।
कुत्रझटिकाच्छन्न	-	कुहरे से भरा
कुण्ठनृत्य	-	निराशा या आक्रोश में किया गया नृत्य
झंझा	-	तेज हवा
त्रयोदशी	-	किसी पक्ष की तेरहवीं तिथि
दुर्दम	-	जिसका दमन मुश्किल हो
दोहद	-	कवि-समय के अनुसार रमणियों के स्पर्श, पदाघात, दृष्टिपात आदि जिनसे अशोक के वृक्ष में फूल लगते हैं ।
नीलोत्पल	-	नीले रंग का कमल
पाटल पुष्प	-	गुलाब का फूल
मेखला	-	करधनी
विद्रुम	-	मूंगा, नया पत्ता, कोंपल
सर्वकतृत्व	-	सबकुछ करने का सामर्थ्य
वायु लुलित	-	हवा से झूलता,
स्तबक	-	गुलदस्ता
स्मरवर्धक	-	स्मृति बढ़ानेवाला
स्फटिक	-	एक प्रकार की मणि

15.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों की विशेषताएं बताइए ।
2. 'अशोक के फूल' में वक्त विचारों का मूल्यांकन कीजिए ।
3. 'अशोक के फूल' निबंध का भाषिक सौंदर्य निरूपित कीजिए ।
4. 'अशोक के फूल' के रचनागत वैशिष्ट्य का विवेचन कीजिए ।
5. ललित निबंध के रूप में अशोक के फूल की विशेषताएं बताइए ।

15.7 सन्दर्भ ग्रंथ

1. नामवर सिंह; दूसरी परम्परा की खोज, राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-1 10002
2. लालित्य तत्व; हजारी प्रसाद द्विवेदी, वाणी प्रकाशन, 21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली-1 10002
3. मुकुन्द द्विवेदी (सं.); हजारी प्रसाद द्विवेदी: चुने हुए निबंध, सं. किताब घर, 24 अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली-1 10002
4. राधावल्लभ त्रिपाठी (सं.); हजारी प्रसाद द्विवेदी संचयिता, (महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय) वाणी प्रकाशन, 21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

इकाई -16 विद्यानिवास मिश्र कृत 'मेरे राम के मुकुट भीग रहा है' का अध्ययन व विवेचन

इकाई की रूपरेखा

16.0 इकाई का उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 निबंधकार का साहित्यिक परिचय

16.3 निबंध के विचारणीय बिन्दु

16.3.1 लेखक का उद्देश्य

16.3.2 निबंध का सारांश

16.3.3 निबंध का प्रतिपाद्य

16.4 निबंध का शिल्प-विन्यास

16.4.1 निबंधकार का रचना-कौशल

16.4.2 भाषा-शैली

16.5 व्याख्या-योग्य पद

16.6 शब्दावली

16.7 सारांश

16.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

16.9 सन्दर्भ ग्रंथ

16.0 इकाई का उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- विद्यानिवास मिश्र के ललित निबंध 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' का प्रतिपाद्य समझ सकेंगे ।
- निबंधकार की संवेदनशीलता को अनुभूत कर सकेंगे ।
- वर्तमान जीवन की जटिलताओं को लेखक किस रूप में स्वीकार करता है ।
- निबन्ध के शिल्प की विवेचना कर सकेंगे ।
- महत्वपूर्ण स्थलों की व्याख्या कर सकेंगे ।

16.1 प्रस्तावना

अभी आप ने 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबंध का वाचन किया है । अब इस इकाई में विद्यानिवास मिश्र के अध्याय निबंध का आलोचनात्मक अध्ययन करेंगे जिससे जान सकेंगे कि लेखक कितना सहृदय तथा संवेदनशील है और किस प्रकार अपनी संवेदना के बल पर एक सामान्य-सी घटना को निबंध के कलेवर में ढाल दिया है । लोक-संस्कृति से उसका कितना गहरा लगाव है और वह लोक-संस्कृति को किस

रूप में अंगीकार करता है । लोक-संस्कृति उसके रचनाकार को किस प्रकार संवारती है । साथ ही पता चलेगा कि लेखक घर आयी मेहमान लड़की के स्वजनों के साथ संगीत समारोह में जाने के बाद, देर रात तक उसके घर न लौटने पर कितना उद्विग्न हो गया था और अनुभव करने लगा था कि वर्तमान पीढ़ी पिछली पीढ़ी की ममता को नहीं समझ पा रही है जबकि पिछली पीढ़ी अपनी संतान के संभावित संकट की कल्पना मात्र से भयभीत हो उठती है ।

16.2 निबंधकार का साहित्यिक परिचय

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' के निबंधकार विद्यानिवास मिश्र; 1926-2005द्ध हिंदी के सशक्त निबंधकार हैं । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की निबंध परम्परा को जिन निबंधकारों ने आगे बढ़ाया, उनमें विद्यानिवास मिश्र का सर्वोपरि स्थान है । मिश्र जी ने भी आचार्य द्विवेदी की तरह व्यक्तिनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ दोनों प्रकार के निबंध लिखे । उनके दर्जनाधिक प्रकाशित निबंध संकलनों में 'छितवन की छांह, 'कदम्ब की पफूली डाल', तुम चंदन हम पानी, आँगन का पंछी और बनजारा मन', वसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं, 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, कौन तू पफूलवा बीननिहारी, तमाल के झरोखे से, शेपफाली झर रही है आदि उनके व्यक्तिनिष्ठ निबंधों के संकलन हैं तो 'हिन्दी की शब्द-संपदा, 'परम्परा बंधन नहीं, नैरन्तर्य और चुनौती', 'जीवन अलभ्य है, जीवन सौभाग्य है, देश, धर्म और साहित्य', 'नदी, नारी और संस्कृति, 'भारतीयता की पहचान', साहित्य का खुला आकाश' आदि में उनके वस्तुनिष्ठ निबंध संकलित हैं । इन दोनों प्रकार के निबंधों में उनकी ख्याति का आधार उनके व्यक्तिनिष्ठ निबंध हैं जिनमें उनके व्यक्तित्व की व्यंजना हुई है ।

उनके ऐसे निबंधों में बौद्धिकता और भावुकता का अदभुत समन्वय मिलता है । उनके निबंधों में वैदिक- साहित्य से लेकर लोक-साहित्य तक जो कुछ भी गरिमापूर्ण है तथा मानवीय संवेदना को उभारने वाला है, उसकी झांकी सहज सुलभ होती है । भारतीयता की भावना, भोजपुरी लोक-जीवन और लोक-संस्कृति से लगाव लोकगीतों की छौंक, संस्कृत साहित्य की पृष्ठभूमि, गांव के जीवन और उसकी मिट्टी की सुग, अस्मिता का संकट, बढ़ रही संवेदनशून्यता, नगरीय-जीवन का संकट, राजनीति का गिरता स्तर, आधुनिकता के नाम पर हो रही स्वस्थ परम्पराओं की अवहेलना, काव्यमयी भाषा आदि ऐसे संदर्भ हैं जो उनके व्यक्तिनिष्ठ निबंधों में उनकी ललिता का संचार करते हैं ।

विषय को प्रस्तुत करने का विद्यानिवास मिश्र का अपना अंदाज है । गंभीर-से-गंभीर विषय को अपने व्यक्तित्व की चासनी से चसकर इस प्रकार उपस्थित करते हैं कि पाठक को लगता है कि वह गद्य में लिखी कोई कविता पढ़ रहा है । इस क्रिया-व्यापार में उनकी घुमावदार भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है । उनकी संस्कृतगर्भित भाषा में प्रयुक्त भोजपुरी के आंचलिक शब्दों की छटा सहज ही पाठक को अपने चुंबक में बांध लेती है । डा. शिवप्रसाद सिंह को उनके निबंधों का यह भाषायी रूप बहुत पसंद

है । उनकी दृष्टि में उनकी भाषा में भोजपुरी संस्कारिता राप्ती की प्रखरधारा, हिमालय की तलहटी में रहने वाले व्यक्तित्व के उतुंग शृंग और संस्कृति में पले एक खांटी ब्राह्मण की वदान्यता से पुष्ट वैदुष्य और सबके ऊपर एक आधुनिक बुद्धिजीवी की अपने ही भीतर के देवता और दैत्य से निरन्तर युद्धरत रहने की सरगर्मी है । '

समीक्षकों ने विद्यानिवास मिश्र के ललित निबंधों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और उन्हें निर्विवाद रूप से हिन्दी का श्रेष्ठ ललित निबंधकार स्वीकार किया है । श्रीनारायण चतुर्वेदी को उनके निबंध गद्य-काव्य लगते हैं- "यदि रस का परिपाक काव्य का मुख्य लक्षण है तो मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि मिश्र जी के निबंध गद्य-काव्य हैं । " उनके निबंधों का वर्ण्य-विषय चाहे जितना भी प्राचीन क्यों न हो उसका समापन वर्तमान की भावभूमि पर होता है । अतीत को वर्तमान से जोड़ देने में वे सिद्धहस्त रचनाकार हैं । विद्यानिवास मिश्र का अध्येय निबंध 'मेरे राम का मुकुट भींग रहा है' उनका एक प्रतिनिधि ललित निबंध है जिसमें उनके ललित निबंधकार की संपूर्ण विशेषताओं का समाहार मिलता है । आगे के अध्ययन से इस बात की पुष्टि हो जायेगी ।

16.3 निबंध के विचारणीय बिन्दु

विद्यानिवास मिश्र के अध्येय निबंध 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' को निम्नलिखित बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है-

16.3.1 लेखक का उद्देश्य

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबंध में डा. विद्यानिवास मिश्र का उद्देश्य वर्तमान पीढ़ी को समझाना रहा है कि उनको लेकर पिछली पीढ़ी कितना संवेदनशील है और हर स्थिति में उनके मंगल की कामना करती है । दुर्भाग्यवश वर्तमान पीढ़ी उनकी भावनाओं को नहीं समझ पा रही है । इस सत्य को समझाने के लिए निबंधकार ने एक लोकगीत का सहारा लिया है जिसमें माता कौशल्या इस स्थिति की कल्पना मात्र से द्रवित हो उठती हैं कि न जाने मेरे बच्चे इस बरसात में किस पेड़ के नीचे भीग रहे होंगे? यह संकट केवल राम की माता _ का संकट नहीं, उन जैसी असंख्य कौशल्याओ का संकट हैं जिनकी संताने प्रवासी को जीवन यापन करती हैं और वे हर दिन, हर रात अपनी संतानों की सुरक्षा को लेकर चिंतित रहती हैं और उनके मंगल की' कामना करती है ।

16.3.2 निबंध का सारांश

विद्यानिवास मिश्र के निबंध मेरे राम का मुकुट भीग रहा है के स्मरणीय बिन्दु इस प्रकार हैं-

16.3.2.1 लेखक की मनःस्थिति - 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबंध का प्रारम्भ लेखक की उदासी से होता है । जब वह अपनी उदासी का कारण नहीं जान पाता है तो

अवसादग्रस्त हो जाता है और अनुभव करने लगता है कि कभी तो बड़ी से बड़ी परेशानियां विचलित नहीं करतीं और कभी सामान्य- सी घटना मन को बेचैन कर देती है । इसी प्रकार की एक सामान्य घटना ने लेखक को उस समय उद्विग्न कर दिया जब घर आयी मेहमान लड़की कृष्णा लेखक के मित्र और एक चिरंजीवी के साथ रात नौ बजे संगीत के कार्यक्रम में भाग लेने जाती है और रात बारह बजे तक घर नहीं लौटती है तो लेखक चिंतित हो उठता है । वह अपराध बोध से ग्रस्त हो जाता है कि आजकल की अराजक स्थिति में मुझे परायी लड़की को इस प्रकार नहीं भेजना चाहिए था और भेजना था तो कोई व्यवस्था करनी चाहिये थी । इसी बीच जब वर्षा होने लगती है तो लेखक बरामदे में कुर्सी डालकर उनकी प्रतीक्षा करने लगता है ।

16.3.2.2 लोकगीत का स्मरण - लेखक के मन में सहसा भोजपुरी का एक ग्राम्य गीत उभरता है जिसे कभी उसने बचपन में दादी-नानी को गाते हुए सुना था । गीत का भावार्थ है कि वन में रह रहे मेरे राम का मुकुट भीग रहा होगा । मेरे लक्ष्मण का दुपट्टा भीग रहा होगा । मेरी सीता की मांग का सिंदूर भीग रहा होगा । मेरे राम घर लौट आते ।

'मोरे राम के भीजै मुकुटवा
लछिमन के पटुकवा
मोरी सीता के भीजै सेनुरवा
तो राम घर लौटहि ।'

गीत के स्मरण के साथ लेखक को अपना बचपन याद आ जाता है । लेखक के घर से बाहर रहने पर उसकी दादी-नानी इस गीत को विह्वल होकर गाती थीं और घर लौटने पर कहती कि मेरे लाल को कैसा वनवास मिला था । तब लेखक को भले ही इस गीत का दर्द स्पर्श न कर पाया हो किन्तु आज ढलती रात में बच्चों की प्रतीक्षा करते समय गीत का दर्द उभर आया और सोचने लगता है कि आने वाली पीढ़ी पिछली पीढ़ी की ममता को नहीं समझ पा रही है । वह नहीं समझ पा रही है कि पिछली पीढ़ी अपनी संतान के संभावित संकट की कल्पना मात्र से कितना भयभीत हो जाती है । समय पर बच्चों के घर न लौटने के कारण लेखक भी भयभीत हो उठता है और उसे राम की माता कौशल्या का स्मरण हो आता है । उनके दर्द का स्मरण होता है । पिफर उन्हीं के आलोक में मां के रूप में विराजमान करोड़ों-करोड़ कौशल्याओं का स्मरण होता है जिनके राम प्रवासी का जीवन जी रहे हैं ।

16.3.2.3 कौशल्या की चिन्ता- गीत के बोल में माता कौशल्या को पहली चिंता राम के मुकुट की है कि वह वन में राम के साथ भीग रहा होगा । उसे नहीं भीगना चाहिए क्योंकि वह लोगों की आस्थाओं का प्रतीक है । निर्वासन के समय राम ने सभी राजसी प्रतीकों का परित्याग कर दिया था किन्तु उस मुकुट का परित्याग नहीं कर पाये थे जो अभिषेक की सूचना के साथ लोकमन में उनके माथे पर बंध गया था । उसे उतार पाना राम के लिए भी संभव नहीं था । वह तो जनमानस के मन में बसा था । कौशल्या के मातृत्व में बसा था । इस कारण कौशल्या की कामना रही कि राम भींगे

तो भींगे, उनका मुकुट, उनका सौभाग्य और उनका ऐश्वर्य न भीगने पाये । कौशल्या की दूसरी चिंता है कि राम के अंगरक्षक लक्ष्मण का दुपट्टा अर्थात उनका रक्षकभाव नहीं भीगना चाहिए । प्रहरी की सतर्कता ही भीग गयी तो कोई भी अनर्थ हो सकता है । इस कारण माता कौशल्या उनके दुपट्टा के भीगने की आशंकामात्र से व्यथित हो उठती हैं । माता कौशल्या की तीसरी चिंता है कि उनकी सीता का अखंड सौभाग्य रूपी मांग का सिंदूर नहीं भीगना चाहिए । भले ही राम भीगें, लक्ष्मण भीगें पर किसी भी स्थिति में सीता का सौभाग्य सुरक्षित रहे और सभी सकुशल घर लौट आयें ।

16.3.2.4 राम का चिर निर्वासन - राम का निर्वासन वन से लौटने के बाद भी समाप्त नहीं होता । सीता के रूप में उनका दूसरा निर्वासन होता है । लोकमानस में आज भी राम वनवासी हैं । आज भी उनकी यात्रा जारी है । वह रुकी नहीं है । उनकी असली राजधानी जंगल में है । वनवासी राम ही जनमानस में राजा राम हैं । उनका पथ आज भी कुश-कंटकों से भरा हुआ है जिसपर वे नंगे पांव चल रहे हैं । इसके विपरीत राज-पाट संभालने वाले भरत नन्दी ग्राम की कोठरी में जिलावतनी हैं । विद्यानिवास मिश्र का मानना है कि आज के मनुष्य की यही नियति है कि जिसे ऐश्वर्य सौपा जाने को है, उसको निर्वासन पहले ही बदा है । लोग मंगल की आकांक्षा तो करते हैं किन्तु जो उनके मंगल की कामना रखते हैं, उनसे अपनी दूरी बनाये रखते हैं । ऐसे में मंगलाकांक्षियों का समूचा उत्साह जाता रहता है ।

16.3.2.5 अवधा की दयनीय स्थिति - निबंधकार ने राम के निर्वासन के बाद अवध की दशा का निरूपण तुलसीदास की पंक्तियों के आधार पर किया है कि कहां मंगलमय प्रभात की कल्पना थी और कहां अंधेरी कालरात्रि आ गयी जिसका अभिषेक होना था वही निर्वासित हो गया । पिफर तो पूरी परिस्थिति ही बदल गयी । घर मसान बन गया । एक दूसरे को देखने में लोगों को डर लगने लगता है ।

लागति अवध भयावह भारी । मानहुं काल राति अंधियारी । ।
घोर जंतु सम पुर नरनारी । डरपहि एकहि एक निहारी । ।
घर मसान परिजन जनु भूता । सुतहित मीत मनहुं जमदूता । ।
बागन बिटप बेलि कुम्हिलाहीं । सरित सरोवर देखि न जाहीं । ।

राम के निर्वासन से अयोध्या की स्थिति जंगल जैसी हो जाती है । स्नेह की रसधर सूख जाती है । इसके विपरीत वन का भाग्य निखर उठता है । निबंधकार का मानना है कि उत्कर्ष की ओर मनुष्य की ऊर्ध्वोन्मुख चेतना की यही कीमत सनातन काल से अदा की जाती रही है । इस कारण कौशल्या की चिंता स्वाभाविक है कि अब कम से कम राम का उत्कर्ष तो सुरक्षित रहे ।

16.3.2.6 सीता का निर्वासन - अयोध्या दूसरी बार तब भयावह हो जाती है जब राम के राजा होने के बाद रानी सीता का निर्वासन हो जाता हैं । सीता का निर्वासन राम का दूसरा निर्वासन है । इस निर्वासन में वन्य-पशुओं से घिरी सीता का मुख्य संकट है कि प्रसव की स्थिति में इस विजन प्रदेश में कौन सहारा देगा? सीता को स्वयं अपना सहारा बनना पड़ता है । सूखी लकड़ी जलाकर उसके प्रकाश में अपने जुड़वे बेटों का मुंह

देखना पड़ता है । इस स्थिति में भी सीता का सौभाग्य अखंडित है जो मुकुटधारी राम को पीड़ा देता है । भवभूति के शब्दों में पहचान की बस एक निशानी बच रहती है उसमें जड़े हुए हीरों की चमक जो बहुत कठोर और निर्मम है । उनके बोझ से राम का मुकुट इतना भारी हो जाता है कि वह उनके संभाले नहीं संभलता । जब राम का मन उसके बोझ के कारण लिये गये निर्णय से कराह उठता है तो सीता की मांग का सिहर और अधिक दमक उठता है ।

7.2.3.16बच्चों का घर पहुंचना - लम्बी प्रतीक्षा के बाद जब बच्चे चार बजे घर लौट आये तो लेखक ने बस इतना कहा कि तुम लोगों को इसका क्या अंदाज होगा कि हम कितने परेशान रहे हैं । लेखक की चिंता खत्म हुई कि अपने बच्चे घर पहुंच आये, बारिश से नहीं, संगीत से भीग कर आये हैं । लेकिन दादी-नानी के गीतों के राम, लखन और सीता अभी भी वन में भीग रहे हैं । लेखक को लगता है कि उसके राम भीगते जा रहें हैं और बादल हैं कि रुकने का नाम नहीं लेते । तभी उसके मन में भाव जागृत होता है कि राम कब से हमारे हो गये? जिसकी बुनावट पहचान में नहीं आती, जिसके व्यक्तित्व के ताने-बाने तार-तार होकर अलग हो गये हैं । भला ऐसे व्यक्ति के राम कैसे हो सकते हैं कि तुम राम को अपना कह रहे हो । 'वैसे ही मन हजार टुकड़ों में बंटा हुआ है । इस कारण प्रतीत ही नहीं होता कि मैं किसी का हूं और कोई मेरा अपना है । लेखक सोचता है कि विचित्र से अनमनेपन में अकारण किसी के लिए चिंता होती है तो क्या यह चिंता पराये के लिए होती. है? क्या उससे अपना कोई संबंध नहीं है? तो पिफर क्या राम अनमनेपन में ही अपनाने के लिए हाथ बढ़ाते आये हैं ।

16.3.2.8 राम से अपनत्व - लेखक राम से रिश्ता बनाना चाहता है, पर रिश्ता बना नहीं पाता । उसकी विवशता है कि उसके पास वह हृदय नहीं है जिसमें उसके राम समा सकें । अपने स्वजनों के प्रति प्रेम, उनके आसन्न संकट की कल्पना मात्र से राम के निर्वासन का जो ध्यान आ जाता है उससे अधिक एक पढ़ी-लिखी लड़की के एक रात कुछ देर से घर लौटने पर अकारण चिंता हो जाती है । उस लड़की में लेखक सीता का अन्वेषण कर उसके अनुमानित संकट का भावन माता कौशल्या की भावभूमि पर करने लगता है । तब उसे अपने राम के मुकुट के भीगने का भावार्थ समझ में आ जाता है ।

16.3.2.9 लेखक की उदासीनता का अंत - निबंधकार पूरी रात भावनाओं में डूबता-उतराता रहा और सबेरा हो गया । उसके कानों में एक बार पिफर दादी-नानी द्वारा चक्की पर गाये जाने वाले लोकगीत के बोल कि 'मोरे राम के भीजै मुकुटवा' गूंजने लगता है । पर थोड़ी ही देर में जब लेखक व्यावहारिक जीवन से टकराता है तो उसे नीरसता घेर लेती है । उसकी उदासी बरसना चाहती है, पर बरसे कहां? और बरसे तो किस दिशा में बरसे? लेखक इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि जिस दिशा से बरसने का भाव आ रहा है उसी दिशा में बढ़ने की आवश्यकता है । यह दिशा ममता और अनुराग की दिशा है । कौशल्या के भाव की दिशा है । मानवीय संवेदना की दिशा है । इसी

दिशा में आगे बढ़कर कोई भी राम के मुकुट का महत्व और उसके भीगने के दर्द को समझ सकता है ।

16.3.3 निबंध का प्रतिपाद्य

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' के सारांश से आप जान गये होंगे कि लेखक ने इस निबंध में तीन बिन्दुओं को स्पर्श किया है । पहला बिन्दु है लेखक के मित्र के साथ घर आयी अतिथि लड़की कृष्णा का लेखक के चिरंजीवी के साथ संगीत के कार्यक्रम में जाना तथा देर रात तक घर न लौटना । दूसरा बिन्दु है वह लोकगीत जिसे लेखक ने बचपन में अपनी दादी-नानी से सुना था जिसमें माता कौशल्या इस आशंका से विह्वल हो जाती हैं कि न जाने मेरे बच्चे इस बारिश में किस पेड़ के नीचे भीग रहे होंगे । तीसरा बिन्दु है आज की अराजक स्थिति जिसमें सुरक्षा का भारी संकट है । इन तीनों बिन्दुओं को लेकर लेखक ने जिस अध्याय निबंध का कलेवर निर्मित किया है उसके मूल में लेखक की अपनी निजी पीड़ा है जिसका भावना वह अपनी संवेदनशीलता के कारण करता है । संवेदनशीलता से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से जुड़कर अपनत्व का अनुभव करता है । एक दूसरे के सुख-दुख में भागीदार बनता है । किसी के कष्ट में चुरने के लिए विवश हो जाता है । लेखक अनुभव करता है कि अपनी व्यस्तताओं और उलझनों के कारण आज का मनुष्य दिन-प्रतिदिन संवेदनाशून्य होता जा रहा है । यह स्थिति व्यक्ति और समाज दोनों के लिए घातक है । व्यक्ति को इस स्थिति से बचाने के लिए ही लेखक ने इस निबंध में मानवीय संवेदना को जगाने का उपक्रम किया है । गहरी मानवीय संवेदना के ही कारण लेखक महानगरीय वातावरण में पली एक उच्च शिक्षा प्राप्त मेहमान लड़की के रात देर से घर लौटने पर अकारण चिंतित हो उठता है और कौशल्या भाव से उसके मंगल की कामना करता है ।

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबंध में विद्यानिवास मिश्र ने प्रतिपादित किया है कि मानवीय संवेदना को उभार कर ही इस स्थिति से निजात मिल सकती है । मानवीय संवेदना को उभारने में लोकगीतों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है । नगरीय जीवन के बियाबान में ऊबे किसी मन को उसी के छीटों से कुछ राहत मिल सकती है । उसी से कौशल्या भाव जागकर अपनी संतति तथा संतति रूप में विराजमान पूरे मानव समुदाय की पीड़ा का भावना कर, उसके उत्कर्ष की चिंता कर सकता है । यही चिंता मनुष्य को एक-दूसरे से जोड़कर नेह के बंधन में बंधने में सक्षम है । इसी से व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण हो सकता है । 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबंध में लेखक का यही अभिधेय रहा है और यही निबंध का प्रतिपाद्य है ।'

16.4 निबंध का शिल्प-विन्यास

चूंकि विद्यानिवास मिश्र का विवेच्य निबंध 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' एक ललित निबंध है, इसलिए पहले ललित निबंध को जानना आवश्यक है । ललित निबंध, निबंध का वह प्रकार है जिसमें निबंधकार के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना होती है । व्यक्तित्व

की अभिव्यंजना के कारण ही ऐसे निबंधों को पहले व्यक्तिव्यंजक निबंध कहा जाता रहा । स्वयं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, जिनके निबंधों को ललित निबंध कहा जाता है और जिनके निबंधों की विशेषताएं ही ललित निबंधों की मानक और पहचान बनीं, अपने निबंधों को व्यक्तिव्यंजक निबंध कहना अधिक पसंद करते थे । अपने निबंधों के विषय में विद्यानिवास मिश्र की भी यही राय रही ।

पिफरहाल ऐसे निबंधों के लिये ललित निबंध नाम रूढ़ हो गया है । ललित निबंधों में निबंधकार के व्यक्तित्व की व्यंजना कभी उसके मन के उन्मुक्त प्रकाशन से होती है तो कभी उसकी कल्पनाशीलता से और कभी उसकी भावनाशीलता तथा उसके पाण्डित्य प्रदर्शन से । ललित निबंधकार पहले पाठक से आत्मीयता स्थापित करता है पिफर गृहीत विषय के परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिक संदर्भों. घटनाओं, दृष्टांतों कथाओं, इतिहास, पुराण, साहित्य, दर्शन आदि का निरूपण इस प्रकार करता है कि पाठक को पता ही नहीं चल पाता कि उसके सामने ज्ञान-विज्ञान की इतनी गंभीर और महत्वपूर्ण सामग्री परोसी जा रही है । वह तो निबंधकार की ललिता में डूबा रहता है । मधुवेष्ठित कुनैन की टिकिया की तरह वह लेखक की बौद्धिक सामग्री को ग्रहण कर लेता है ।

16.4.1 निबंधकार का रचना-कौशल

डा. विद्यानिवास मिश्र हिन्दी के ख्याति प्राप्त ललित निबंधकार हैं । उनके ललित निबंध वस्तु-विन्यास और शैली-विन्यास में बेजोड़ हैं । विषय को बातचीत के सामान्य ढंग से उठाकर पहले वे पाठक से आत्मीयता बनाते हैं, पिफर उसे अपना सहयात्री बनाकर विचारों की सैर कराते हैं । ज्ञान-विज्ञान के विविध संदर्भों, भावनाओं के विविध स्तरों और विचारों से साक्षात्कार कराते हैं । विवेच्य निबंध 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' में उनके निबंधकार की इस विशेषता को देखा जा सकता है कि किस प्रकार वे पहले अपनी मानसिक दशा का निरूपण करते हैं और पिफर उसे रामकथा के एक प्रसंग से जोड़कर उसके द्वारा हमारी संवेदना को झंकृत करते हैं । उनके रचनाकार का यह कौशल उनके अन्य निबंधों में भी देखा जा सकता है । आँगन का पक्षी, 'मधुवन जाऊंगा रे, 'वसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं, 'तमाल के झरोखे से', 'कौन तू पफुलवा बीननिहारी, 'शेपफाली झर रही है' आदि ऐसे ही निबंध हैं । अपनी बात को विश्वसनीय और प्रभावशाली बनाने के लिये विद्यानिवास मिश्र जहां लोकगीतों, लोककथाओं और लोकविश्वासों के साथ वेद-शास्त्रों का सहारा लेते हैं वहां समसामयिक घटनाओं पर पैनी नजर रखते हैं और उस पर अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त करते हैं । कहीं उनका आक्रोश प्रकट होता है तो कहीं उपहास और कहीं उनके व्यंग्य-बाण । वे ग्रामीण स्वभाव के एक खांटी रचनाकार हैं । यही कारण है कि- उनके निबंधों में शास्त्र-संपदा और लोक-संपदा एवं लोकाचार आदि का सहज स्वाभाविक सम्मिलन क्या है ।

16.4.2 भाषा-शैली

विद्यानिवास मिश्र संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी वे सरल भाषा के पक्षधर रचनाकार हैं । शब्दों के प्रयोग में वे बहुत उदार हैं । उनकी उदारता का ही परिणाम है कि उनके अध्याय निबंध में उद्विग्न, विह्वल, उदग्र, निर्वासन, उत्कर्ष जैसे संस्कृत के उपसर्गों एवं प्रत्ययों द्वारा गढ़े गये शब्दों के साथ मुटरी, जोहना, अंजोर उजास जैसे भोजपुरी के देशज शब्दों का बाहुल्य है । उन्हें अंग्रेजी, पफारसी तथा अरबी भाषा के शब्दों से भी कोई परहेज नहीं है । यही कारण है कि उनके 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' में अदा, ख्याल, कारबरदार तलाश जैसे विदेशी भाषा के शब्दों का प्रयोग मिलता है । उनके निबंधों में इन भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किसी योजना के तहत नहीं हुआ है । विचारों के प्रवाह में ये शब्द स्वत: आये हुए हैं । इस कारण विचार-प्रवाह में ऐसे शब्दों के कारण किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नहीं होता । भाव-प्रवाह में इनकी भूमिका सकारात्मक होती है । विद्यानिवास मिश्र की भाषा का मुख्य आकर्षण भोजपुरी के शब्दों की योजना में निहित है । भोजपुरी के शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों के प्रयोग के कारण जहां उनकी भाषा में निखार आया है वहां उसमें ताजगी का अनुगमन हुआ है । उनके ग्रामीणमन को उजागर करने में भोजपुरी के शब्दों और संस्कारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है ।

विद्यानिवास मिश्र की निबंध शैली का मुख्य आकर्षण उसकी काव्यमयता है । उनके लम्बे-लम्बे घुमावदार वाक्यों में कहीं उनका आक्रोश प्रकट होता है तो कहीं उनकी सहृदयता का प्रवाह मिलता है । कोमलकांत पदावली का लालित्य उनके निबंधों का प्राण है और वे उसी के द्वारा लालित्य की सृष्टि करते हैं । उनकी ऐसी ही पदावली के कारण उनके निबंधों में काव्यमयता का ऐसा अनुगमन हुआ है कि पाठक को लगता है कि वह निबंध नहीं, गद्य में लिखी कोई कविता पढ़ रहा है । उनकी अलंकृत शैली में प्रयुक्त उद्धरणों, लोककथाओं, संस्मरणों और उनकी मनःस्थिति से जहां उनकी संवेदनात्मकता का बोध होता है वहां उनके पाण्डित्य और उनके लोकानुराग का परिचय भी मिलता है । वे उद्धरणात्मक शैली के सिद्धहस्त निबंधकार

16.5 व्याख्या योग्य पद

"इस प्रतीक्षा में एकाएक उसका दर्द उस ढलती रात में उभर आया और सोचने लगा, आने वाली पीढ़ी पिछली पीढ़ी की ममता की पीड़ा नहीं समझ पाती और पिछली पीढ़ी अपनी संतान के संभावित संकट की कल्पना मात्र से उद्विग्न हो जाती है । मन में यह प्रतीति ही नहीं होती कि अब संतान समर्थ है, बड़ा-से बड़ा संकट झेल लेगी । "

संदर्भ : प्रस्तुत गद्यांश सुप्रसिद्ध निबंधकार डा. विद्यानिवास मिश्र के ललित निबंध 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' शीर्षक निबंध से लिया गया है । गद्यांश की इन पंक्तियों में लेखक की मनोव्यथा का निरूपण हुआ है।

प्रसंग : लेखक के घर आयी मेहमान लड़की कृष्णा जब देर रात तक संगीत के कार्यक्रम से घर नहीं लौटी तब लेखक उसकी सुरक्षा को लेकर चिंतित हो जाता है कि कहीं वह किसी संकट में तो नहीं घिर गयी । लेखक बरामदे में कुर्सी पर बैठकर उसकी प्रतीक्षा करने लगता है । प्रतीक्षा की स्थिति में उसके मन में नानाप्रकार के भाव उमड़ते-घुमड़ते रहते हैं । इसी क्रम में उसे अपनी दादी-नानी द्वारा गाये जाने वाले गीत- 'मोरे राम के भीजै मुकुटवां' का स्मरण हो आता है । फिर उसे स्मरण आता है कि उसके घर से बाहर रहने पर वे इस गीत को कितनी विह्वलता के साथ गाया करती थीं और लेखक के घर लौटने पर कहती कि मेरे लाल को कैसा वनवास मिला था । उस समय लेखक उनके दर्द को नहीं समझ पाता था । किन्तु आज जब वह अपने बच्चों के आने की प्रतीक्षा कर रहा है तब उसे उनके दर्द का भावना होता

व्याख्या :बच्चों के आने की प्रतीक्षा करते हुए रात के जब बारह बज जाते हैं और संगीत के कार्यक्रम से उसके स्वजन घर नहीं लौटते हैं तब लेखक के मस्तिष्क में दादी-नानी का वह दर्द उभर आता है जिसका भावना वे उसके घर से बाहर रहने पर किया करती थीं । उनकी पीड़ा का अनुभव कर लेखक व्यथित हो उठता है और लेखक सोचने लगता है कि आने वाली पीढ़ी, पिछली पीढ़ी की ममता को नहीं समझ पाती कि वह अपनी संतानों को लेकर कितना संवेदनशील होती है । उनके संभावित आसन्न संकट की कल्पना मात्रा से हर क्षण भयभीत रहती है और हर स्थिति में उनके मंगल की कामना करती रहती है । वह विश्वास नहीं कर पाती कि अब उसके बच्चे बड़े होकर समर्थ हो गये हैं और अपना भला-बुरा समझने लगे हैं । अपनी रक्षा करने में स्वयं सक्षम हैं । पिछली पीढ़ी की इस ममता को न समझ पाने का कारण है कि अगली पीढ़ी को अभी इस पथ से गुजरना नहीं पड़ा है । जब उन्हें इस पथ से गुजरना पड़ेगा तो वे भी इस दर्द को उसी तरह समझ जायेंगे जिस प्रकार इस दर्द को लेखक ढलती रात में समझ पाया है ।

विशेष : 1 लेखक ने गद्यांश में पीढ़ीगत सोच के अंतर को स्पष्ट किया है ।

2. भाषा सरल तथा परिष्कृत है ।
3. शैली सरस, विचारात्मक तथा आत्मानुभूति से आवेष्ठित है ।
4. गद्यांश में लेखक का चिंतक रूप उभरा है ।

'उत्कर्ष की ओर उन्मुख समष्टि का चैतन्य अपने ही घर से बाहर कर दिया गया, उत्कर्ष की मनुष्य की उर्द्वोन्मुख चेतना की यही कीमत सनातन काल से अदा की जाती रही है । इसीलिए जब कीमत अदा कर दी गयी तो उत्कर्ष कम-से-कम सुरक्षित रहे, यह चिंता स्वाभाविक हो जाती है । राम भीगें तो भीगें, राम के उत्कर्ष की कल्पना न भीगे, वह हर बारिश में, हर दुर्दिन में सुरक्षित रहे । नर के रूप में लीला करने वाले नारायण निर्वासन की व्यवस्था झेलें पर नर रूप में इनकी ईश्वरता का बोध दमकता रहे, पानी की बूंदों की झालर से उसकी दीप्ति छिपने न पाये ।'

संदर्भ : प्रस्तुत पंक्तियां हिन्दी के सुप्रसिद्ध निबंधकार डा. विद्यानिवास मिश्र के ललित निबंध-संग्रह 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' से इसी नाम के निबंध से उधृत हैं । इन पंक्तियों में लेखक राम वनगमन के संदर्भ में कौशल्या की मनःस्थिति को स्पर्श करते हुए अपना विचार व्यक्त किया है ।

प्रसंग :माता कौशल्या के दर्द का अनुभव करते हुए लेखक को राम के वन जाने के बाद अवध की उस भयावह दशा का स्मरण हो आता है जिसका निरूपण गोस्वामी तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में किया है । कहां मंगलमय प्रभात की कल्पना थी और कहां भयावह अंधेरी कालरात्रि आ गयी! सारे नर-नारी, एक-दूसरे को जन्तु के समान समझकर डरने लगे । घर श्मशान की तरह लगने लगे तो परिजन किसी भूत की तरह भयावहकारी हो गये । वनस्पतियां कुम्हला गयीं तो नदी-सरोवर श्रीहीन हो गये। उनकी सुन्दरता जाती रही । राम के निर्वासन की बहुत बड़ी कीमत अवध और अवध के राजघराने को चुकानी पड़ी थी । जब कीमत चुका ही दी गयी तो कम से कम राम का उत्कर्ष तो सुरक्षित रहना चाहिए । माता कौशल्या की इसी आकांक्षा को स्तुत पंक्तियों में उभारा गया है ।

व्याख्या : लेखक का मानना है कि जिस राम का ऐश्वर्य से अभिषेक होने वाला था उसी राम को भारी कीमत चुकाकर घर से निर्वासित कर वन में भेज दिया गया । लेखक की दृष्टि में जिस राम को निर्वासित किया गया, वह सामान्य नर नहीं थे । नर के रूप में स्वयं नारायण थे । समस्त समष्टि के उत्कर्षोन्मुखी चैतन्य थे । ऊर्ध्वोन्मुखी चेतना के प्रतीक थे । ऐसे व्यक्ति को भी यदि निर्वासन का दंश झेलना पड़ता है तो लेखक को लगता है कि उत्कर्ष और ऊर्ध्वोन्मुखी चेतना के लिये मनुष्य को सदा से ऐसी कीमत चुकानी पड़ी है और मनुष्य उस कीमत को चुकाता आ रहा है । सच तो यह है कि बिना कीमत चुकाये किसी को भी उत्कर्ष नहीं मिला है । राम का उत्कर्ष भी कीमत चुकाने के बाद ही हुआ । जब सारी कीमत चुका दी गयी है तो हर स्थिति में राम का उत्कर्ष सुरक्षित रहना चाहिए ।

माता कौशल्या की यही चिंता है कि राम भीगते हैं तो भीगें, पर उनके उत्कर्ष की कल्पना न भीगने पाये । उनका रामत्व विषम-से-विषम परिस्थितियों में भी सुरक्षित रहे। नर के रूप में लीला कर रहे नारायण भले ही निर्वासन की व्यवस्था झेलें, किन्तु नर के रूप में उनकी ईश्वरता पर किसी प्रकार की आंच न आने पाये । वह हर स्थिति में दमकती रहे । चाहे घनघोर वर्षा की स्थिति हो अथवा विषम परिस्थितियां हों, उनका रामत्वभाव दमकता रहे । उनके रामत्व को सुरक्षित रखने की कामना से ही अयोध्या और अयीध्या के राज-परिवार को भारी कीमत चुकानी पड़ी थी ।

विशेष.

1. निबंधकार की दृष्टि में राम की तुलना में राम के रामत्व का अधिक महत्व है । राम का निर्वासन न हुआ होता तो बनवासी राम का वह रूप हमारे सामने नहीं आ पाता जिसके कारण वे जन-जन की आस्था का कारण बनें हैं ।

2. राम का एक वनवास तो समाप्त हो गया किन्तु सीता के निर्वासन के रूप में उनका दूसरा वनवास ऐसा प्रारम्भ हुआ कि वह आज तक समाप्त नहीं हुआ है । लोकमन में समाहित राम अब भी हर बारिश में भीग रहे हैं और कौशल्या के रूप में लाखों-करोड़ों माताएं आज भी घर से बाहर रह रही अपनी संतानों के उत्कर्ष को लेकर चिंतित और भयभीत रहती हैं ।
3. व्यक्ति, समाज और राष्ट्र बहुत महत्वपूर्ण हैं, किन्तु उनसे अधिक महत्त्वपूर्ण उनका उत्कर्ष है । उत्कर्ष, बिना कीमत चुकाए नहीं होता । त्याग करके ही उत्कर्ष को प्राप्त किया जा सकता है और उसे सुरक्षित रखा जा सकता है ।
4. अवतरित गद्यांश की भाषा प्रवाहयुक्त, परिष्कृत तथा परिमार्जित है । शैली भावात्मक तथा विचार-प्रधान है ।

16.6 शब्दावली

उद्विग्न- उत्तेजित, उदग्र- उत्सु, उत्कर्ष- उन्नति, चिरई का पूत- सन्नाटा, जिलावतनी- जनपद से निकाले गये की तरह, मुटरी- गठरी, निर्वासित- नगर या देश से निकाला हुआ, अभिषेक- तिलक, बिसूर- दुखित, पहरुए-पहरेदार, दुर्निवार- जिसका निवारण कठिन हो, बंदनवार- पत्तों, पफूलों आदि की मांगलिक झालर, औधाई- उलटा लटकाई गयी, मसान- श्मशान, अंजोर-प्रकाश बियाबान- जंगल, अशेष- संपूर्ण, जंतसार- वह गीत जो स्त्रियां जातो से आटा पीसते समय गाती हैं ।

16.7 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान गये होंगे कि डा. विद्यानिवास मिश्र हिन्दी के सुप्रसिद्ध ललित निबंधकार हैं और उन्होंने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की निबंध परम्परा को आगे बढ़ाया । अध्येय निबंध 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' उनका प्रतिनिधि ललित निबंध है जिसमें उनकी मानवीय संवेदना का प्रस्पफुरण माता कौशल्या और घर आयी मेहमान लड़की के परिप्रेक्ष्य में हुआ है ।

संगीत समारोह से देर रात तक लड़की के घर न पहुंचने पर लेखक उसके किसी संकट में घिर जाने की कल्पना मात्र से उसी प्रकार चिंतित हो उठता है जिस प्रकार माता कौशल्या निर्वासित अपनी संतानों के अमंगल की आशंका मात्र से चिंतित रहती हैं । निबंधकार गांव के मन का रचनाकार है । लोक-जीवन और लोक-संस्कृति से उसके निबंधकार को ऊर्जा प्राप्त होती है । लोकानुराग के कारण ही उसकी भाषा में भोजपुरी के शब्दों का बाहुल्य मिलता है ।

16.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. विद्या निवास मिश्र के जीवन और रचना का संक्षेप में परिचय दीजिए ।
2. मेरे राम का मुकुट भीग रहा है के प्रतिपाद्य व शिल्प की विवेचना कीजिए ।

16.9 सन्दर्भ ग्रंथ

1. डा. श्यामसुंदर पाण्डेय; विद्यानिवास मिश्र का निबंध साहित्य : ज्ञान प्रकाशन 128/90 जी ब्लाक, किदवई नगर, कानपुर-208001

इकाई-17 हरिशंकर परसाई कृत : 'ठिठुरता हुआ गणतन्त्र' की व्यंग्य चेतना' का अध्ययन व विवेचन

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 व्यंग्य-विद्या का परिचय और विकास

17.3 हरिशंकर परसाई का परिचय

17.3.1 व्यक्तित्व

17.3.2 कृतित्व

17.4 हिंदी में व्यंग्य-विधा और परसाई का महत्त्व

17.5 'ठितुरता हुआ गणतंत्र' का विवेचन

17.5.1 'ठिठुरता हुआ गणतंत्र' का कथ्य

17.5.2 व्यंग्य के आलम्बन

17.5.3 व्यंग्य की भंगिमाएँ

17.6 'ठिठुरता हुआ गणतंत्र' व्यंग्य का मूल्यांकन

17.7 गद्यांश की व्याख्या एवं संभावित व्याख्यांश

17.8 सारांश

17.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

17.10 संदर्भ ग्रंथ

17.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- व्यंग्य-विधा की परिभाषा से अवगत हो सकेंगे ।
- हिन्दी में व्यंग्य-विधा के विकास का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।
- व्यंग्य का साहित्यिक महत्व समझ सकेंगे ।
- व्यंग्य-विधा की प्रमुख रचनाओं का परिचय प्राप्त कर सकेंगे ।
- हरिशंकर परसाई के व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित ले सकेंगे ।
- 'ठिठुरता हुआ गणतंत्र' का मूल प्रतिपाद्य समझ सकेंगे ।
- 'ठिठुरता हुआ गणतंत्र' की शिल्पगत विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।
- किसी व्यंग्य रचना के मूल्यांकन में क्षमता मं अभिवृद्धि कर सकेंगे ।

17.1 प्रस्तावना

साहित्य से व्यंग्य का सम्बंध बहुत पुराना है - उतना ही जितना पुराना ध्वनि सिद्धान्त है । व्यंग्य से रचना की अभिव्यक्ति-भंगिमा में वाचालता आती है और वह भावक के मन को गुदगुदाती या विचलित करती है । गद्य के उन्मेष के साथ व्यंग्य का बहुआयामी उपयोग रचनाओं में होने लगा । वस्तुत: व्यंग्य का कार्य जीवन-जगत की विद्रूपताओं को उजागर करना होता है । गद्य-रचनाओं में व्यंग्य का प्रयोग इतना अधिक होने लगा कि व्यंग्य एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्वीकृत हो गया । व्यंग्य को स्वतंत्र विधा की स्वीकृति दिलाने में जिन रचनाकारों का योगदान है उनमें हरिशंकर परसाई का नाम सबसे अग्रणी है । शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवीन्द्रनाथ त्यागी, प्रेम जनमेजय आदि लेखकों ने इस विधा को समृद्ध किया । किन्तु हरिशंकर परसाई ने व्यंग्य विधा को वैविध्य और रचनात्मकता प्रदान की परसाई की रचनाओं के माध्यम से स्वतंत्र भारत के इतिहास को बखूबी समझा जा सकता है । इसलिए परसाई व्यंग्य-लेखन के क्षेत्र में अप्रतिम हैं ।

17.2 व्यंग्य-विद्या का परिचय और विकास

भारतीय काव्य शास्त्र :यहाँ व्यंग्य शब्द बहुत व्यापक रूप में आया है । व्यंजना से उत्पन्न होकर व्यंग्य तक पहुँचने में उसे कई नाम मिले और रूप भी । यद्यपि व्यंजना से व्यंग्य भिन्न है फिर भी भारतीय आचार्य व्यंग्य के इस रूप से परिचित तो थे ही । कविराज विश्वनाथ ने लक्षणा के भेदों की चर्चा करते हुए प्रयोजनवती लक्षणा का उद्देश्य इसमें अन्तर्निहित व्यंग्य को ही माना है ।

स्पष्ट है, प्रारम्भ में पाश्चात्य विद्वान व्यंग्य (Satire) के लिए विनोद के हल्के-फुल्के पन को जरूरी मानते रहे । कालान्तर में हास्य की अनिवार्यता क्षीण होती गई । कॉलिन्स कान्साइज एनसाइक्लोपीडिया में व्यंग्य की परिभाषा में उसके उपकरणों में हास्य की अनिवार्यता नहीं मानी है । उसमें स्पष्ट लिखा है "व्यंग्य वह पद्य अथवा गद्यमय साहित्य है जो मूलत: सुधार के उद्देश्य से व्यक्तियों, स्थितियों और विचारों का मखौल उड़ाती है । इसके लिए वहाँ विडम्बना (Mockery), वाग्विदग्धता (Wit), परिवृति (Parody) या लक्षणा का प्रयोग होता है ।

उक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय अवधारणा में यह व्यंग्य (Satire), हास्य (Humour), उपहास (Sarcasm), लक्षणा (Irony), वाग्विदग्धता के द्वारा आता है । इसकी सहयोगी विधाएँ प्रहसन (Farce), परिवृति (Parody) व्यंग्य चित्रण (Caricature), छद्मरूप (Travesty), बर्लेक्स, लेम्पून, इन्वेक्टिव, सिनिसिज्म सारडोनिक एवं कष्ट्रास्ट आदि हैं ।

स्पष्ट है कि भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य रूपों में व्यंग्य किसी न किसी रूप में आरम्भ से ही विद्यमान है । हिन्दी के प्रादुर्भाव के साथ ही हम देखते हैं कि व्यंग्य

वहाँ सदैव विद्यमान रहा है । कबीर ने जब कहा 'बूढ़ा बस कबीर का, उपजा पूत कमाल तो यह स्वयं की स्थितियों पर तीखी व्यंग्योक्ति ही थी ।

इसका मुख्य कारण स्थितियों की भयावहता से आक्रांत विश्वमानव है । प्रसिद्धि रूसी व्यंग्य लेखक एन्तोन चेखव (क्लर्क की मौत) ने कहा भी जो दुखी है वह हास्य और व्यंग्य लिखता है, जो सुखी है वह साहित्य लिखता है । "

स्वातंत्रयोत्तर व्यंग्य-लेखकों में हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, श्रीलाल शुक्ल, बरसानेलाल चतुर्वेदी, शंकर पुणताम्बेकर, लतीफ घोघी, श्यामसुन्दर घोष, प्रेम जनमेजय, अशोक शुक्ल, कान्तिकुमार जैन, प्रभाकर माचवे, के. पी. सक्सैना, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, शेरजंग गर्ग, आलोक पुराणिक, अजय अनुरागी, यशवन्त व्यास एवं पूरन सरमा जैसे महत्वपूर्ण लेखक हैं । इन्होंने समाज में- बिखरी विद्रूपताओं, राजनीति में चल रही दुरभि संधियों एवं आम आदमी के असहाय होते जाने को गम्भीरता पूर्वक लिया है ।

17.3 हरिशंकर परसाई का परिचय

17.3.1 व्यक्तित्व :

22 अगस्त सन् 1922 में मध्यप्रदेश के बुंदेलखण्ड अंचल में जबलपुर के पास 'जमानी' गाँव के एक मध्यमवर्गीय देहाती परिवार में जन्मे परसाई जी ने अल्पायु में ही माता-पिता के देहांत के कारण बेहद संघर्षों में जीवन यापन किया । मुफलिसी में पारिवारिक उत्तरदायित्व निभाते हुए 18 वर्ष की उम्र में ही उन्होंने छुटपुट नौकरियाँ की । खंडवा में स्कूल-शिक्षण कार्य से शुरूआत करते हुए महाविद्यालय शिक्षा पाई एवं दैनिक पत्रों में व्यंग्य-स्तंभ लिखना जारी रखा । मार्क्सवाद से प्रभावित होने के कारण जनवाद के समर्थक रहे और तत्कालीन जनसंघ सरकार से विरोध के कारण कई बार मानसिक दबाव एवं शारीरिक प्रताड़ना के शिकार हुए ।

महत्त्वपूर्ण पुरस्कारों एवं पद्मश्री से सम्मानित परसाई जी ने 'मुक्तिबोध सृजन पीठ, सागर के अध्यक्ष पद पर वर्षा कार्य किया । 10 अगस्त सन् 1995 को जबलपुर में 73 वर्ष की उम्र में उनका देहान्त हो गया ।

17.3.2 कृतित्व :

हिन्दी-व्यंग्य को विदूषक की भूमिका से निकाल कर सम्मानजनक स्थान दिलाने में, उसे स्वतंत्र विधा बनाने में और विशेष रूप से आम जनता की बोली-बानी में आम जन से जोड़ने में हरिशंकर परसाई का अविस्मरणीय योगदान रहा है । उन्होंने प्रहरी से लेखन का आरम्भ किया और 'वसुधा' नामक साप्ताहिक पत्र का 3 वर्ष प्रकाशन किया।

परसाई जी ने पहले मध्यप्रदेश, फिर समस्त भारत के विविध दैनिक पत्रों में व्यंग्य कालम लिखे जो आम आदमी के दुख-दर्दो और सरोकारों से जुड़े होने के कारण अत्यधिक लोकप्रिय हुए । 'नई दुनिया' दैनिक में प्रकाशित उनका व्यंग्य स्तम्भ सुनो

भाई साधो' बेहद प्रसिद्ध हुआ । इसके साथ ही प्रहरी में अघोर भैरव के छद्मनाम से प्रकाशित नर्मदा के तट से', देशबसु में 'पूछिए परसाई से', जनयुग में 'आदिम' के छद्मनाम से ये माजरा क्या है', कालम में परसाई जी ने अपनी कलम के नुकीले बाणों से सत्ता, व्यवस्था और ;रूढ़ूद्ध संस्था तीनों पर प्रहार किए । अपने समय की सबसे गम्भीर साहित्यिक पत्रिका कल्पना में उन्होंने 'और अन्त में नाम से नियमित स्तम्भ लिखा ।

परसाई जी के निबन्ध 'बेईमानी की परत, पगडंडियों का जमाना, 'बोलती रेखाएँ', 'माटी कहे कुम्हार से' 'शिकायत मुझे भी है नामक संग्रहों में प्रकाशित हुए, जो जीवन के प्रत्येक पक्ष की त्रासदी को पूरे इत्र से उभारते हैं ।

'ठिठुरता हुआ गणतंत्र, 'एक बेचारा भला आदमी, 'फिर ताज देखा, 'वैष्णव की फिसलन', 'शवयात्रा का तौलिया, 'चूहा और मैं' आदि उनके प्रसिद्धि निबन्ध हैं । जहाँ तक व्यंग्य उत्पन्न करने की बात है, यह काम परसाई जी कई तरह से करते हैं । उनका व्यंग्य पूरे निबन्ध में तो रचा-बसा होता ही है, वे बीच-बीच में यथास्थान और यथावसर अन्य बहुत सी चीजों पर भी व्यंग्य करते चलते हैं ।

व्यंग्य निबन्धों की तरह परसाई जी की कहानियाँ भी जीवन के मारक पक्षों को निर्ममता से खोलती हैं । इंशाअल्लाह खाँ लिखित रानी केतकी की कहानी' का पेरोडीकल रीमेक 'रानी नागफनी की कहानी' उनकी बेहद प्रसिद्धि कहानी है जिसमें पात्र और घटनाएँ कल्पित, पर बेहद समसामयिक हैं । फेंटेसी-माध्यम से लिखी यह कहानी पूँजीवादी व्यवस्था में आदमी के द्वितीयक हो जाने की कथा कहती है । 'भोलाराम का जीव' परसाई जी की एक अन्य प्रसिद्धि कहानी है जो सरकारी दफ्तरों में पसरे बाबूवाद में धक्के खाते सीधे आदमी की त्रासदी को स्पष्ट करती है । आपकी कहानियाँ साहब महत्त्वाकांक्षी, इंस्पेक्टर मातादीन', हँसते हैं, रोते हैं, 'क्रांति हो गई', तब की बात और थी' आदि संग्रहों में संकलित हैं । 'भगत की गत, मैं हूँ तोता प्रेम का मारा', सदाचार का ताबीज' आदि उनकी कुछ प्रसिद्धि कहानियाँ हैं । छोटे आकार की इन कहानियों में अशुभ का नकार स्पष्ट दिखता है, पुरानी मर्यादा को ठुकराते हुए वे अपने सरोकारों में पूरी तरह वर्तमान को समर्पित हैं ।

आपने 'तट की खोज', 'ज्वाला और जन' आदि उपन्यास तथा कुछेक कविताएँ भी लिखी । लेकिन परसाई जी काव्य-सौंदर्य की बजाए सीधी गद्यात्मक बात कहने के अभ्यस्त रहे, वह भी औपन्यासिक विस्तार के स्थान पर छोटी कहानियों में, अत: इन दोनों विधाओं में उनका अधिक कार्य नहीं है ।

ये समस्त रचनाएँ अब परसाई समग्र रचनावली में आ चुकी हैं, जो आम सड़क के आदमी से लेकर विश्वविद्यालयों के कोर्स तक में पढ़ी जा रही हैं और जिन पर अगणित शोध हो रहे हैं । क्रान्ति कुमार जैन के शब्दों में कहें तो "बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत को समझने के लिए परसाई का साहित्य अनिवार्य है । 1947 के

बाद के भारतीय जीवन में मूल्यों का जो विघटन हुआ है, परसाई जी का साहित्य उसका साक्षी है । उनके साहित्य के आधार पर स्वतंत्र भारत के विविध क्षेत्रों में व्याप्त मूल्य-पद्धति का पुनराख्यान' किया जा सकता है । '

17.4 हिन्दी में व्यंग्य-विधा और परसाई का महत्व :

अन्य कई विधाओं की तरह व्यंग्य का पुनुरून्मेष भी भारतेन्दु युग में हुआ, यह वह युग था जिसमें देश में नयी राजनैतिक चेतना प्रसव पीड़ा से गुजर रही थी और सामन्ती संस्कृति अपनी अन्तिम साँसे गिन रही थी । आम आदमी का जीवन गुलामी और तदजन्य त्रासदियों के साथ जातीय विसंगतियों एवं रूढ़ियों के दबाव में चरमरा रहा था । ऐसे में आर्यसमाज जैसे संगठनों ने परम्परागत रूढ़ियों एवं बन्धनों को तोड़कर नई नैतिकताओं व आदर्शों को स्थापित करने का प्रयत्न किया । कठमुल्ला और महन्तों की मिली भगत को चुनौती देने वाला नवजागरण का यह युग सुधारप्रिय लोगों के मन में नई आशा का संचार करने वाला रहा ।

इन स्थितियों ने, स्वाभाविक है कि साहित्यकार की चेतना को भी उद्वेलित किया । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यंग्य से बढ़कर कोई साधन नहीं हो सकता था, यह वह हथियार था जो वार करता था और प्रहारकर्ता को सुरक्षित भी रखता था इसलिए भारतेन्दु काल के साहित्य का प्रमुख स्वर व्यंग्य रहा । व्यंग्य अब केवल हँसने-हँसाने की चीज नहीं रहा, वह वैयक्तिक आक्षेप एवं विद्रूप हास्य के स्तर से उठकर विडम्बनाओं को अनावृत करता दिखाई देता है-

भीतर - भीतर सब रस चूसे
हँसि-हँसि के तन-मन-धन मूसे ।
जाहिर बातिन में अति तेज
क्यों सखि साजन, नहीं अँगरेज ।

जैसी मुरकियों व नाटकों में व्यंग्य ने तेजी से स्थान बनाया और हिन्दी में पहली बार स्वतंत्र विधा के रूप में स्थापित हो गया । भारतेन्दु हरिशचंद्र पहले साहित्यकार थे जिन्होंने व्यंग्य को पहले पहल उस सामाजिक चेतना से जोड़ा जिसे 'आधुनिक व्यंग्य का प्राण' माना जाता है ।

प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, बदरीनारायण चौधरी प्रेमधन, राधाचरण गोस्वामी एवं बालकृष्ण भट्ट आदि भारतेन्दु जी के दो सहयोगी हैं जिन्होंने व्यंग्य-विधा को समृद्ध किया ।

भारतेन्दु युग के अवसान के पश्चात द्विवेदी युग में, हम देखते हैं कि व्यंग्य की यह धार किंचित मौंथ हो गई । यह युग सुधार आन्दोलन का था अत: गहराती हुई राष्ट्रीय स्वतंत्रता-चेतना और भाषा परिष्कार की धारा में व्यंग्य-विधा टिक नहीं सकी । फिर भी चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (कछुआ धर्म, जिसे : विजय शंकर भट्ट ने भारतेन्दु युगीन निबन्धों से भी श्रेष्ठ माना है ।), पं. माधव प्रसाद मिश्र, सरा पूर्णसिंह, बाबू गुलाब राय जैसे

सामान्यत: गम्भीर निबन्धकारों ने भी यंत्र-तंत्र व्यंग्य का सहारा लेते रूढ़ियों का विरोध किया । यहाँ तक कि युग-प्रवर्तक निबन्धकार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने दण्डदेव का आत्म निवेदन' जैसा सशक्त व्यंग्य निबन्ध लिखा । शिवपूजन सहाय (मैं हज्जाम हूँ), हरिशंकर शर्मा (सम्पादक जन्तु) जैसे हास्य प्रिय निबन्धकारों के साथ ही आचार्य शुक्ल (लोभ और प्रीति) एवं हजारी लाल द्विवेदी (फिर से सोचने की आवश्यकता है ।) भी यदा -कदा नुकीले व्यंग्य के मिश्रण से अप्रिय पर चोट करते दिखाई पड़ते हैं । प्रगति चेतना के आविर्भाव के साथ ही आर्थिक सामाजिक, धार्मिक विषमताओं एवं अन्याय के प्रति व्यंग्यकार का स्वर अधिक तीव्र होने लगा । निबन्ध, एकांकी, नाटक एवं कहानी सभी विधाओं में व्यंग्य तीव्रतर स्वरूप में उभरा । निराला (कुकुरमुत्ता), बच्चन (बंगाल का काल), केदारनाथ अग्रवाल (पैतृक सम्पत्ति), अज्ञेय (शोषक भैया), नागार्जुन (प्रेत का बयान), मुक्ति बोध (चाँद का मुँह टेढ़ा है) आदि ने अपनी कविताओं में इस व्यंग्य को अभिव्यक्त किया ।

हिन्दी-नाटकों में यह व्यंग्य-चेतना सुदर्शन (ऑनरेरी मजिस्ट्रेट), उपेन्द्र नाथ, 'अश्क' (तौलिए) जी. पी. श्रीवास्तव (नकदम), रामकुमार वर्मा (साँप), जगदीश प्रसाद माथुर (रीढ़ की हड्डी) कुछ सशक्त व्यंग्य नाटक एकांकी हैं । नाटक की तुलना में एकांकी व्यंग्य के लिए अधिक सफल सिद्ध हुए । इस युग के व्यंग्य कथाकारों में भगवती चरण वर्मा (प्रायश्चित) श्रेष्ठ लेखक हैं जिन्होंने व्यंग्य को उभारा । यशपाल (महादान), आचार्य चतुरसेन शास्त्री (ककड़ी की कीमत) एवं अमृतलाल नागर की (अमृत और विष) कथा-कृतियों में भी तीखा व्यंग्य है ।

स्वातंत्रयोत्तर साहित्य में व्यंग्य दो समानान्तर धाराओं में बँट गया । एक, कथा में समानान्तर रूप से चलने वाला पारम्परिक व्यंग्य-रंग । दूसरा, कथ्य के मूल में विराजमान शुद्ध व्यंग्य ।

स्वतंत्रता के पश्चात व्यंग्य साहित्य की अन्तश्चेतना बन गया है । वस्तुत 'आम आदमी का मोहभंग, अपनी अकिंचनता का बोध, दमित अभिव्यक्ति से खदबदाता आक्रोश, राजनेताओं के शोषण, मूल्य-विघटन की प्रक्रिया आदि से व्यंग्यकार का संवेदनशील मन स्थितियों को बेपर्दा करने के लिए बेचैन हो उठा । इसकी अभिव्यक्ति क्षमता, शैली की व्यापकता, कथ्यों की अनन्त विविधता में कई प्रतिभाशाली लेखक उभरे । ये वो काल आया जब व्यंग्य हल्का-फुल्का न रहकर गम्भीर हो गया । आम आदमी के लिए सुबह की चाय के साथ दैनिक पत्रों के नियमित कालम में पढ़ा जाने लगा एवं अपार लोकप्रिय हुआ । इस युग के प्रसिद्धि व्यंग्यकार हैं शरद जोशी (चुनावगीतिका सरलार्थ), श्रीलाल शुक्ल (राजदरबारी), लतीफ घोघी (कब्रिस्तान का उद्घाटन), बालेन्दु शेखर तिवारी, शंकर पुणताम्बेकर (सत्यकथा), प्रेम जनमेजय (राजधानी में गँवार) अशोक शुक्ल (कॉलेज सूत्र), अजातशत्रु (आधी वैतरणी), रवीन्द्रनाथ त्यागी (अंगद का पाँव), पूरन शर्मा (साहित्य में खटपट) अजय अनुरागी (दफ्तर में बसन्त), आलोक पुराणिक,

ज्ञान चतुर्वेदी, यशवन्त व्यास (अब तक छप्पन) आदि । आधुनिक व्यंग्यकारों के बीच हरिशंकर परसाई हिन्दी व्यंग्य-साहित्य में वो नाम है जिन्होंने व्यंग्य-कर्म को विदुषकों या मसखरों के स्तर से ऊपर उठाकर सामाजिक उत्तरदायित्व का वहनकर्ता बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई ।

कबीर, कार्लमार्क्स, चेखव एवं ओ हेनरी जैसे समाजोन्मुखी चिन्तक, लेखकों के प्रभाव को स्पष्ट स्वीकारने वाले हरिशंकर परसाई की महत्ता इस बात में है कि उन्होंने व्यंग्य को उस उच्चतम भूमि पर प्रतिष्ठित किया है जहाँ खड़े होकर आधुनिक समीक्षक कबीर, भारतेन्दु और निराला के साहित्य का व्यंग्य के संदर्भ में पुनर्मूल्यांकन करने लगते हैं और परसाई को उनकी पंक्ति में रखते हैं । परसाई एक युग प्रवर्तक साहित्यकार हैं, उनका योगदान व्यंग्य को पुनर्प्रतिष्ठित करने तक ही नहीं रहा अपितु नवीन प्रयोगों द्वारा उसको उस कलात्मक ऊँचाई तक ले जाने में भी है, जहाँ उसे एक स्वतंत्र विधा का दर्जा मिला ।

'कहत कबीरा', 'नर्मदा के तट से', 'यो माजरा क्या है, 'और अंत में आदि स्तंभों में परसाई जी ने व्यवस्था की सुविधा भोगी यथास्थिति में मजे मार रहे गिने चुने मलाई वर्ग की हत्यारी मानसिकता और भूखों मर रहे तलछट के असंख्य लोगों की मृत्यु तुल्य कष्ट की स्थिति पर मारक प्रहार किये हैं ।

हरिशंकर परसाई का लेखन अनुभवों की व्यापकता और विचारों की गहराई दोनों से सम्पन्न है । दैनिक पत्रों में स्तंभ लेखन के साथ आपने कहानी, लघुकथा व उपन्यास आदि के रूप में प्रचुर मात्रा में व्यंग्य लिखा है । परसाई जी ने भ्रष्टाचार की सर्वव्यापकता, सरकारी उपक्रमों के चोट्टेपन, बाबू सम्प्रदाय की जेब ढीली करो नीति, भाई भतीजावाद, सरकारी सम्मान-अभिनन्दनों की थोथी असलियत, भ्रष्ट राजनीतिक, बेईमान व्यापारी, लचर कानून व्यवस्था एवं ऊँचे लोगों के भय से अंधी बनी न्याय व्यवस्था, धर्म के नाम पर चल रही दुकानदारी और साम्प्रदायिकता के नाम पर वोटों की रोटी सेक रहे, राजनेताओं पर तो तीखे प्रहार किये ही हैं, मानव की शाश्वत कमजोरियों पर भी महीन मार की हैं । पर निन्दा पर निन्दा रसं, युवा बने रहने की प्रवृति पर 'पहिला सफेद बाल', साहित्यकार के दायित्व और स्वाभिमान पर कबीरा आप ठगाइये आदि इसके उदाहरण है ।

हरिशंकर परसाई के लेखन की एक बड़ी विशेषता है- स्थितियों का सूक्ष्म अंकन । ऊपर ये, बिल्कुल सामान्य लगने वाली स्थितियों में से विकृतियों को पकड़ लेना एक सक्षम व्यंग्यकार की कसौटी है । विवाह समारोहों ही नहीं, शोक अवसरों तक में धन-वैभव का फूहड़ प्रदर्शन उनके व्यंग्यों में बड़ी बारीकी से घुसपैठ करते हैं । इस प्रदर्शन वृति पर वे लिखते हैं 'धन की देवी लक्ष्मी ही कमलासन पर बैठती है, फिर उसके भक्तों से क्या अपेक्षा की जा सकती है? फूल कहीं बैठने की चीज होते हैं? '

उनके मित्र, पड़ोसी एवं प्रसिद्धि लेखक कान्तिकुमार जैन के शब्दों में कहें तो परसाई का व्यंग्य ऐसा आईना है, जो सजी-धजी मानव-मूर्ति के पीछे छुपे बौने, विकृत और ओछे

चेहरे को सामने ला देता है । समाज के अंधे और थोथे आदर्शों में सने धृतराष्ट्र के लिए हमारे समाज के महाभारत में रोज जो दे ले चल रही है, उसे देखने-दिखलाने के लिए एक संजय की आवश्यकता है, परसाई वही संजय हैं ।"

वस्तुत: स्वातंत्रयोत्तर वैश्विक एवं क्षेत्रीय परिस्थितियों में जो वक्रता आई उसके फलस्वरूप उपजी शोचनीय स्थितियों में साहित्य व साहित्यकार का दायित्व भी बढ़ गया । इन स्थितियों में रस, कला, काव्य-सौन्दर्य आदि जैसे काव्यशास्त्रीय उपकरणों के साथ लिखने वाले आचार्यों के स्थान पर ऐसे लेखक की आवश्यकता थी जो संवेदना में साहित्यकार हो,दृष्टि में समाज शास्त्री और चिंतन में यथार्थवादी वैज्ञानिक हो । और यह कार्य किया परसाई जी ने । परसाई जी की महत्ता मात्र इस में नहीं है कि उन्हें महान लेखक मानकर विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम या वृद्धिजीवियो के पुस्तकालय में स्थान मिला है, अपितु इस में है कि वे रिमो-रेहड़ी वाले, पान-चाय की थड़ी वाले जैसे देश के आम जन में पड़े जाते रहे हैं । उनका लेखन हर उम्र व बुद्धि वाले को 'अपील' करता है, यह उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि है । अपनी समकालीन धारा में परसाई जी का स्थान इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि परसाई का साहित्य अपने प्रभाव की तीव्रता में हमें सुधारता है, जगाता है, फटकारता है और दिमाग पर चढ़ी जंग को हटाता है । बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में मूल्यगत कूड़े को हटाने के लिए व्यंग्य लेखन का कार्य परसाई जी ने पूरी गम्भीरता से किया ।

कबीर का प्रभाव लेकर जो तेज, तुर्श धारदार व्यंग्य का स्वायत्त रूप उन्होंने ईजाद किया, उन्हें अपने समकालीनों से अलग बनाता है । अभिजात, महानता एवं नाम का मोह उन्हें नहीं था । उन्होंने कबीर, गालिब, चेखव और प्रेमचंद की लेखन परम्परा को आगे बढ़ाया, उनका स्पष्ट मानना था कि रचना का पठनीय होना ही उसकी बड़ी उपलब्धि है । उन्होंने जो कुछ लिखा आँखों से देखकर लिखा, बिना किसी मुरबत लिहाज, लागलपेट के लेकिन प्रभावपूर्वक लिखा । स्पष्ट प्रतीक, सहजग्राही शैली, आमजन की रोजमर्रा वाली भाषा में लेखकीय प्रतिबद्धता के साथ लिखा जो किसी भी विषयगत, कलागत बन्धन को स्वीकार नहीं करती । यही गुण उन्हें अपने समकालीन समय में महत्त्वपूर्ण बनाता है कि वे लीक छोड़ कर चले । उनकी संस्मरणात्मक कृति एक उम्र से वाकिफ हैं इसका प्रमाण है ।

17.5 ठिठुरता हुआ गणतंत्र का विवेचन

17.5.1 ठिठुरता हुआ गणतंत्र का कथ्य :

इस छोटे से व्यंग्य निबन्ध का कथ्य मौसम और गणतंत्र दिवस के जलसे से सम्बन्धित है । देश के उत्तरी भाग में स्थित राजधानी दिल्ली गणतंत्र दिवस पर कड़ाके की ठंड में ठिठुरता-धुंधलाया रहता है । ऐसे में परेड देखने वाले आम लोग सड़क पर शीत से ठिठुरते हैं फिर भी वही भाषण सुनकर तालियाँ बजा रहे होते हैं । वातानुकूलित गाडियों से उतरे प्रभुता -सम्पन्न लोग न तो अपने गर्म कोट की जेब से

हाथ निकाल कर ताली बजा रहे हैं और न ही प्रधानमंत्री का भाषण सुन रहे हैं, बल्कि मौसम के बहाने से एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगा रहे हैं । सभी पार्टियाँ समाज वाद लाने का वादा तो करती हैं लेकिन निजी स्वार्थ से उपजे भय के चलते उसे कार्यान्वित करने का आरम्भ कोई नहीं करना चाहता । न राजनेता, न अफसर शाही और न ही बाबू-व्यवस्था, जिनके दम पर या मिली-भगत से सरकार चलती है । अन्त में हर सरकार में ये योजना सिर्फ फाइल बन कर धूल में दब जाती है और अगले गणतंत्र-दिवस पर फिर वही घोषणा ।

पारम्परिक कथ्य से अलग इस निबन्ध में प्रतीकों के माध्यम से देश में लोकतंत्र या गणतंत्र की स्थिति भी सत्ता रूपी मौसम में ठिठुरती आम जनता की तरह ही है - धुंधली और कंपकंपाती ।

17.5.2 व्यंग्य के आलम्बन :

इस संक्षिप्त से निबन्ध में परसाई जी ने अपनी चिर परिचित शैली में एक साथ कई विसंगतियों को व्यंग्य का आलम्बन बनाया है जो निम्नानुसार हैं- -

1. राजनैतिक पार्टियों द्वारा एक दूसरे पर दोषारोपण एवं आरोप-प्रत्यारोप की चिरस्थाई प्रवृति पर प्रहार "इधर जब कांग्रेस के दो हिस्से हो गए, तब मैंने एक इंडीकेट कांग्रेसी से पूछा । उसने कहा हम हर बार सूर्य को बादलों से बाहर निकालने का वादा करते पर हर बार सिंडीकेट वाले अड़ंगा डाल देते थे । अब हम वादा करते हैं कि अगले गणतंत्र दिवस पर सूर्य को बाहर निकाल कर बताएँगे । "
2. अपनी किसी भी गलती के लिए अन्य देशों की साजिश बताने की प्रवृति. 'यह सब सी आइ. ए. षडयंत्र है, सातवें बेड़े से बादल दिल्ली भेजे जाते हैं । "
3. आम जनता रूपी लोकतंत्र की दयनीय दशा : "गणतंत्र को उन्हीं हाथों की ताली मिलती है जिनके मालिक के पास हाथ छिपाने के लिए गर्म कपड़ा नहीं है ।.
4. राज्यों एवं केन्द्र की सरकार के द्वारा आम जनता को भरमाने के लिए विकास के नाम पर झूठे तथ्यों की झाँकी सजाई जाती है : "मध्यप्रदेश उस साल राहत-कार्यों के कारण नहीं, राहत-कार्यों में घपले के लिए मशहूर हुआ । मेरा सुझाव माना जाता तो मैं झाँकी में झूठे मस्टर रोल भरता दिखाता । '
5. सरकार द्वारा जनता को झूठी घोषणाओं का झाँसा देने की प्रवृति पर कटाक्ष 'हर साल घोषणा की जाती है कि समाजवाद आ रहा है पर अब तक नहीं आया ।.
6. किसी भी कार्य की जिम्मेदारी से बचकर सुरक्षित रहने की प्रवृति : मुख्य सचिव दिल्ली लिख देगा. हम समाजवाद की सुरक्षा का इन्तजाम करने में असमर्थ हैं उसका आना अभी मुल्तवी किया जाए ।
7. आपसी स्वार्थ की खींचातानी में मात्र सरकार ही नहीं अपितु अन्य प्रतिबद्ध लोग एवं संगठन भी आम जनता का शोषण कर रहे हैं : सहकारिता तो एक स्पिरिट है, सब मिलकर सहकारिता पूर्वक खाने लगते हैं और आन्दोलन को नष्ट कर देते हैं । '

8. सत्तापरस्त लेखक अपने सामाजिक सरोकार भूल कर दरबारी चाटुकारिता में लगे हैं, उन पर प्रहार ।

9. भ्रष्टाचार या कार्य टालने की शैली प्रधानमंत्री से लेकर बाबूशाही तक श्रृंखला के रूप में चलती है किन्तु श्रेय प्रत्येक निकम्मा लेना चाहता है : "हरेक समाजवाद का हाथ पकड़कर उसे बस्ती में ले जाकर लोगों से कहना चाहता है लो मैं समाजवाद ले आया।"

17.5.3 व्यंग्य की भंगिमाएँ

हरिशंकर परसाई की साहित्यिक महत्ता उनके माटी से एवं माटी के खाँटी लोगो से जुड़ाव, उनके लिए उनकी भाषा में बोलने की बेखौफ कबीरी हिम्मत, मुक्तिबोधीय फेंटेसी एवं प्रेमचंदीय सादगी में छुपी है ।

1. भाषाई स्तर पर परसाई जी ने इस निबन्ध में आम आदमी की सादा भाषा को ही पकड़ा है लेकिन इसी सादगी में उन्होंने सत्ता एवं व्यवस्था की विद्रुपताओं पर तीखी फलियाँ कसी है । आम आदमी के मुहावरे में गढ़ी ये भाषा व्यंग्य को अधिक विश्वसनीयता प्रदान करती है- स्वतंत्रता दिवस भी तो भरी बरसात में होता है । अंग्रेज बहुत चालाक हैं । भरी बरसात में स्वतंत्र करके चले गए । उस कपटी प्रेमी की तरह भागे जो बाजार का छाता भी ले जाए ।

2. अपनी बात हरिशंकर परसाई ने सदैव ही बिना राज-भय के हिम्मत के साथ कही है । इस व्यंग्य में भी उन्होंने बेखौफ कबीरी अखंडता से मारक प्रहार किए हैं. 'मैंने एक कांग्रेसी मंत्री से पूछा था कि यह क्या बात है कि हर गणतंत्र दिवस को सूरज छुपा रहता है ।'

3. मुक्तिबोध एवं परसाई जी दोनों लेखकों में जनवादी चेतना एवं तीखे व्यंग्य के साथ ही एक अन्य बात सामान्य' है वह है-फेन्टेसी । वैचारिक तीव्रता की अनुभूति में जब कल्पना घनीभूत होकर विश्वसनीय सी लगने लगती है, ऐसी फेन्टेसी की छवियाँ परसाई जी के साहित्य में बहुतायत में आती हैं । विवेचित निबन्ध मैं भीड़ में गुम हुए एक आदमी की कल्पना देश के प्रधानमन्त्री से लेकर बाबू तक की प्रतिक्रिया जान लेती है । यह विश्वसनीयता की चरम सीमा है, क्योंकि हालेवतन बिलकुल यही है । आम आदमी इसी व्यवस्था में धक्के खा रहा है, समाजवाद बेचारा बिन बुलाए मेहमान की तरह इसी तरह दरवाजे के बाहर ही खड़ा हुआ है ।

4. इस प्रकार स्पष्ट है, आम हिन्दुस्तानी के मुहावरे में रचा यह व्यंग्य अपने छोटे से कलेवर में, छोटे-छोटे वाक्यांशों में चुभती साफगोई और फेंटेसी के साथ बेहद रोचक एवं उद्वेलनकारी है ।

17.6 ठिठुरता हुआ गणतंत्र व्यंग्य का मूल्यांकन :

एक स्वतंत्र रचना के तौर पर आँका जाए तो यह परसाई जी के साहित्य का ही नहीं अपितु उनके समकालीन सम्पूर्ण लेखन का बेहद महत्त्वपूर्ण व्यंग्य है जो अपना विशेष साहित्यिक मूल्य रखता है ।

इस चर्चित राजनैतिक व्यंग्य में हमारे राष्ट्रीय समारोहों के खोखलेपन को उभारा गया है। इसके साथ ही लेखक ने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि राष्ट्रभक्ति की भावना यदि कहीं बच रही है तो वह सारे अभावों को झेलने वाले निम्न वर्ग में ही शेष है । इन्हीं वंचित लोगों के अज्ञान पर हमारे लोकतंत्र की झाँकी जमी-चलती रहती है । यही वर्ग है जो भीड़ में ' पिस के भी भीगता हुआ स्वतंत्रता दिवस समारोह देखता है और ठिठुरता हुआ भी गणतंत्र दिवस पर तालियाँ बजाता है ।

'ठिठुरता हुआ गणतंत्र' में आम आदमी के साथ तथाकथित लोकतंत्र की सर्वहारा स्थिति और प्रभुत्व के सर्व-हरता होने को जिस निर्भय अंदाज में फेन्टेसी और चुभती भाषा के साथ प्रस्तुत किया है वह व्यंग्य को अर्थवान संवेदना प्रदान करता है । लेखक ने व्यंजना के सम्प्रेषण के लिए शास्त्रीय संहिता के निर्धारित उपकरणों को प्रयोग में लिए बिना फेन्टेसी और विभिन्न प्रतीकों के द्वारा तथाकथित लोक के तंत्र की पोलमपट्टी खोली है वह अद्वितीय है । यहाँ ठिठुरन स्तब्धता, जड़ता, अन्धकार, अज्ञान व निराशा का प्रतीक बन कर उभरती है । निबन्ध को पढ़ते हुए पाठक कई स्थानों पर मुस्करा पड़ता है किन्तु निबन्ध समाप्त करके उन विसंगतियों में स्वयं को भी एक भोक्ता के स्थान पर पाता है तो उसकी आँखों में नमी उतर आती है । यह इस निबन्ध की मूल्यगत कसौटी पर श्रेष्ठ उपलब्धि है ।

17.7 व्याख्या हेतु गद्यांश

सत्यमेव जयते हमारा मोटो है पर झाँकियाँ झूठ बोलती हैं । इनमें विकास - कार्य, जनजीवन, इतिहास आदि रहते हैं । असल में हर राज्य को उस विशिष्ट बात को यहाँ प्रदर्शित करना चाहिये जिसके कारण वह राज्य मशहूर हुआ । गुजरात की झाँकी में इस साल दंगे का दृश्य होना चाहिए, जला हुआ घर और आग में झोके जाते बच्चे होने चाहिए । पिछले साल मैंने उम्मीद की थी कि आंध्र की झाँकी में हरिजन जलाते हुए दिखाए जाएंगे । मगर ऐसा नहीं दिखा । यह कितना बड़ा झूठ है कि कोई राज्य अपने गृह-उद्योग में दंगे नहीं दिखाता । दंगे से अच्छा गृह उद्योग तो इस देश में है ही नहीं ।

प्रसंग : प्रस्तुत गद्यांश हिन्दी के शलाका पुरूष हरिशंकर परसाई के प्रसिद्धि व्यंग्य 'ठिठुरता हुआ गणतंत्र' से उद्धृत है । गणतंत्र दिवस परेड पर दिल्ली की सड़कों से गुजरती विभिन्न राज्य की झाँकियों को देखकर लेखक के मन में उन सजावटी छद्मों की बदसूरत हकीकत का असली चेहरा आ जाता है और वह अपनी कल्पना में उन कड़वी सच्चाइयों को झाँकी के रूप में देख रहा है ।

व्याख्या : चाहे हम 'सत्यमेव जयते' का नारा सरकारी वाक्य के रूप में रटते रहें, सच तो यह है कि प्रत्येक राज्य इन झूठी, सुखद तस्वीरों के विपरीत विभिन्न त्रासदियों से जूझ रहा है । चाहे गुजरात के दंगों की त्रासदी हो या आंध्र के दलित-अत्याचार का इतिहास, देश के लगभग सभी राज्य ऐसे दंगो के शिकार हैं । इस दुखद सत्य को लेखक तीखे व्यंग्य के माध्यम से कह रहे हैं कि राज्य व केन्द्र सरकार इन दंगों को

उद्योग का दर्जा नहीं दे रही है, जबकि उसे यह कार्य कर देना चाहिए क्योंकि धर्म व वर्ग के नाम पर भडका कर लोगों को मरवाना और फिर अपने भ्रामक आश्वासन द्वारा वोट बैंक पक्का करना हर दल एवं सरकार की खासियत होती है । इससे जनता को फायदा मिले न मिले, उनके निजी फायदे अवश्य हो जाते हैं ।

विशेष :

1. सरकारी समारोहों का खोखलापन उजागर किया है ।
2. इस प्रकार की झाँकियों में यथास्थिति के विपरीत झूठे-भ्रामक दावे व तथ्य प्रस्तुत किए जाते है, इसका रोचक वर्णन है ।
3. व्यंग्यात्मक भाषा में पर्दे के पीछे छुपी असली तस्वीर का कल्पनाशक्ति (फेंटेसी) के माध्यम से रोचक वर्णन है ।
4. राजनैतिक दलों की वोट के लिए धर्म के नाम पर दंगे करवाने की नृशंस प्रवृति पर चोट ।
5. लिखे जाने के वर्षों बाद आज भी विषय की प्रासंगिकता (बल्कि पहले से भी अधिक प्रासंगिकता) निबन्ध को सर्वकालिकता प्रदान करती है जो रचना को मूल्यवान सिद्ध करती है ।
6. भाषा आम आदमी-सुलभ सामान्य हिन्दी है, लेकिन अपनी व्यंग्य प्रभाव की तीव्रता में बेहद रोचक मर्मस्पर्शी एवं विश्वसनीय है ।

अभ्यास हेतु अन्य व्याख्यांश :

1. समाजवाद परेशान है, उधर जनता भी परेशान है । समाजवाद आने को तैयार खड़ा है, मगर सामाजवादियो में आपस में धौल-धप्पा हो रहा है । समाज वाद एक तरफ से उतरना चाहता है कि उसे पत्थर पड़ने लगते हैं 'खबरदार उधर से मत जाना । ' एक समाजवादी उसका एक हाथ पकड़ता है, तो दूसरा दूसरा हाथ पकड़ कर उसे खींचता है । तब बाकी समाजवादी छीना-झपटी करके हाथ छुड़ा लेते हैं । लहुलुहान समाजवाद टीले पर खड़ा है ।
2. इस देश में जो जिसके लिए प्रतिबद्ध है, वही उसे नष्ट कर रहा है । लेखकीय-स्वतंत्रता के लिए प्रतिबद्ध लोग ही लेखक की स्वतंत्रता छीन रहे है । सहकारिता के लिए प्रतिबद्ध इस आन्दोलन के लोग ही सहकारिता को नष्ट कर रहे हैं । सहकारिता तो एक स्पिरिट हैं। सब मिलकर सहकारिता पूर्वक खाने लगते हैं और आन्दोलन को नष्ट कर देते हैं । समाजवाद को समाजवादी ही रोके हुए हैं ।
3. मेरा सुझाव माना जाता तो मैं झाँकी में झूठे मास्टर रोल भरते दिखाता । चुकारा करने वाले का अंगूठा हजारों मूर्खो के आगे लगवाता, नेता, अफसर, ठेकेदार के बीच लेनदेन का दृश्य दिखाता । पिछले साल स्कूलों की टाट्पट्टी काण्ड से हमारा राज्य मशहूर हुआ है मैं साल की झाँकी में यह दृश्य दिखाता । मन्त्री, अफसर वगैरह खड़े हैं और टाट-पट्टी खा रहे.,. हैं ।

17.8 सारांश

स्वयं की, अन्य लोगों की एवं स्थितियों की विद्रूपताओं की खिल्ली उड़ाने का व्यंग्य-भाव मानव स्वभाव में मूल रूप से है इसलिए उसकी किसी भी रचना में -वह प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक है । साहित्य-लेखन में भी यह हर देश काल में अनिवार्य रूप से उपस्थित रहा । किन्तु यह उपस्थिति स्पष्ट व स्वतंत्र न होकर हास्य, काकु वक्रोक्ति, समासोक्ति, विट, सटायर या पेरोडी के रूप में मुख्य रचना में सहायक तत्व के तौर पर आती रही । हिन्दी-साहित्य के विकास के समय से ही यह व्यंग्य प्रत्येक युग में एवं विधा में प्रसार. पाता गया । 19वीं सदी का अन्त आते-आते हिन्दी-साहित्य में यह स्पष्ट रूप से उभरा । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र युग में जागृत होती युग-चेतना में अपनी गुलाम विसंगतियों को और शासकों के दमन को बालमुकुन्द गुप्त व हरिश्चन्द्र जैसे लेखकों ने बेहद प्रभावशाली रूप से उभारा । स्वातंत्रोत्तर भारत में आम जनता के सपनों पर जीवन के कडवे सच के प्रहार, खाली खजाना, सत्ता लोलुप नेता, भ्रष्टाचारी व्यवस्था, धर्म का दोगलापन एवं बढ़ती बेरोजगारी से जो मोहभंग हुआ उसकी प्रतिक्रिया तीखी, बेलाग व्यंग्य के रूप में हुई । श्रीलाल शुक्ल, रवीन्द्रनाथ त्यागी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शरद जोशी, शंकर पुणताम्बेकर एवं ज्ञानदेव अग्निहोत्री आदि के साथ ही आधुनिक हिन्दी व्यंग्य में शलाका पुरूष के रूप में हरिशंकर परसाई जी का आगमन एक महत्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक महत्व रखता है । उन्होंने हिन्दी व्यंग्य को हास्य एवं व्यंग्य लेखकों को विदूषकों एवं फनी मेन की हल्की श्रेणी से निकाल कर न केवल एक गम्भीर स्वतंत्र विधा के रूप में स्थापित किया अपितु उसे दैनिक-पत्र स्तम्भों में स्थान दिलवाकर आम आदमी से जोड़ा । ठिठुरता हुआ गणतंत्र उनका बेहद चर्चित, प्रशंसित राजनैतिक व्यंग्य है जिसमें उन्होंने गणतंत्र दिवस की परेड में ठिठुरते आम आदमी के जीवन-सत्यों एवं फेंटेसी के माध्यम से तथाकथित, लोक, तंत्र, गण, व्यवस्था, प्रशासन, कानून आदि की धज्जियाँ उड़ा दी है । बेलौस भाषा में निर्भय खरेपन से लिखित यह व्यंग्य भाषा, संवेदना एवं फेंटेसी प्रयोग, तीनों के मान से मूल्यवान है ।

17.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. हिन्दी व्यंग्य का परिचय देते हुए हिन्दी व्यंग्य के विकास की विवेचना कीजिए ।
2. स्वतंत्रयोत्तर हिन्दी व्यंग्यकारों का तथा उनके प्रमुख व्यंग्य निबन्धों का परिचय दीजिए।
3. हिन्दी के स्वातंत्रयोत्तर निबन्धकारों में हरिशंकर परसाई का स्थान निर्धारित करते हुए उनके निबन्धों की प्रमुख प्रवृतियों का उल्लेख कीजिए ।
4. 'ठिठुरता हुआ गणतंत्र ' के कथ्य पर प्रकाश डालते हुए इसका शीर्षक - औचित्य सिद्धि कीजिए।
5. 'ठिठुरता हुआ गणतंत्र' में लेखक ने समय, समाज, सत्ता और व्यवस्था की किन-किन विसंगतियों पर प्रकाश डाला है? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए ।

6. हरिशंकर परसाई की लेखकीय विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए 'ठिठुरता हुआ गणतंत्र, का मूल्यांकन कीजिए ।
7. हिन्दी व्यंग्य निबन्धों में 'ठिठुरता हुआ गणतंत्र' क्यों विशेष है? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए ।

17.10 सन्दर्भ ग्रंथ

1. हरिशंकर परसाई ग्रंथावली
2. बालेन्दु शेखर तिवारी; हिन्दी का स्वातंत्रयोत्तर हास्य व्यंग्य
3. विजय शंकर भट्ट; हिन्दी-गद्य की प्रवृतियॉ
4. श्याम सुन्दर घोष; व्यंग्य क्या है? क्यों?
5. (सं.) संसारचन्द्र हिन्दी हास्य-व्यंग्य निबन्ध : रूप यात्रा
6. डॉ. हेतु भारद्वाज; परिवेश की चुनौतियाँ और साहित्य
7. कमला प्रसाद; आँखन देखी
8. कान्तिकुमार जैन; तुम्हारा परसाई
9. वीरेन्द्र मेंदीरत्ता आधुनिक हिन्दी-साहित्य में व्यंग्य
10. बालेन्दु शेखर तिवारी; हिन्दी-व्यंग्य के प्रतिमान
11. डॉ. तेजपाल चौधरी; हिन्दी-व्यंग्य : बदलते प्रतिमान

इकाई- 18 महादेवी वर्मा कृत 'भाभी रेखाचित्र का अध्ययन व विवेचन

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 रचनाकार का साहित्यिक परिचय
18.3 पाठ का वाचन
18.4 रचना का सारांश
18.5 प्रतिपाद्य
18.6 शिल्प
18.7 कठिन शब्दों के अर्थ
18.8 संदर्भ सहित व्याख्या
18.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
18.10 सारांश
18.11 संदर्भ ग्रंथ

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- महादेवी वर्मा के साहसिक परिचय की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- 'भाभी' रेखाचित्र के प्रतिपाद्य व शिल्प को समझ सकेंगे ।
- इस रेखाचित्र से संकलित गद्यांश की व्याख्या कर सकेंगे ।

18.1 प्रस्तावना

'भाभी' रेखाचित्र का लेखन महादेवी वर्मा ने 11 अक्टूबर 1933 को किया था । इस रचना के द्वारा महादेवी वर्मा तत्कालीन समाज में विधवा की स्थिति का वर्णन करती है । रेखाचित्र एक उन्नीस वर्षीय विधवा के बारे में बताता है जिससे अनायास ही बालिका महादेवी ने भाभी का संबंध जोड़ लिया था । लेखिका अपने बचपन के उस संबंध को याद करते हुए बताती है कि उसे-एक वक्त का भोजन मिलता था । वह सारे दिन काम में लगी रहती थी । उसे पास सफेद ओढ़नी और काला लहंगा या काली ओढ़नी और सफेद बूटीदार कत्थई लहंगा था । भाभी के जीवन में और किसी रंग का प्रवेश निषद्ध था । रंगो के निषेध के बावजूद जब महादेवी रंगीन ओढ़नी उसे उढा देती हैं तब वह प्रसन्न ही होती है लेकिन तभी उनके ससुर और ननद उसे देख लेते है और फिर उस पर अमानुषिक अत्याचार करने लगते हैं । महादेवी वर्मा कहती हैं-क्रूरता का वैसा प्रदर्शन मैंने फिर कभी नहीं देखा ।

18.2 रचनाकार का साहित्यिक परिचय

आमतौर से महादेवी वर्मा को छायावाद की कवियत्री के रूप में ही देखा और समझा जाता है । उनकी कविताओं में व्याप्त प्रेम, करूणा, और विरह की मार्मिक अभिव्यक्ति के कारण उन्हें अक्सर आधुनिक युग की मीरा कहा जाता है । दरअसल यह उनके रचना संसार के प्रति एकांकी दृष्टिकोण का परिचायक है ।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि भविष्य में महादेवी वर्मा अपने गद्य के कारण ही जानी जाएँगी । यह दूसरी तरह का सरलीकरण है । जरूरत इस बात की है कि महादेवी वर्मा को समग्रता के साथ जाना और समझा जाए ।

महादेवी वर्मा भारतीय सांस्कृतिक चिंतन परंपरा और जीवन दर्शन में अपनी निजी संवेदनाओं का अंतर्गुम्फन करके अपनी रचनाओं को स्वर देती है । काव्य और गद्य दोनों में ही यह सामंजस्य हैं । यही सामंजस्य उनके व्यक्तित्व में भी है ।

अपने बचपन और अपने वातावरण के बारे में उनका कहना है- ' उनके परिवार में दो सौ वर्षों से कोई कन्या हुई ही नहीं थी । उसके पहले तो उनको विदा दे देते थे । उसके बाद नहीं हुई तो सबने समझा कि उनकी हत्याओं का अभिशाप है । जब मैं हुई तो सब बड़े प्रसन्न हुए । मुझे वातावरण दूसरे प्रकार का मिला । घर का वातावरण ऐसा था कि जिसमें राष्ट्रीय चेतना थी । पिता बहुत खुले दिमाग के व्यक्ति थे । इस सबके बावजूद उनका विवाह 11 वर्ष की उस में कर दिया गया किन्तु गौने का समय आते-आते उन्होंने विद्रोह कर दिया । यह आसान नहीं था । संघर्ष के बाद यह संभव हुआ । इसके बाद घर वालों ने भी उन्हें बाध्य नहीं किया ।

स्कूल में सुमद्रा कुमारी चौहान उनकी सीनियर थीं । कविता प्रतियोगिता में निरंतर वे भागीदारी करती रही । तेरह चौदह वर्ष की अवस्था में ' 'उन्होंने नहीं गाया जाता अब देब, थकी उंगली है ढीले तार, विश्व वीणा में मिलालो मेरी यह अस्फुट झंकार' ' जैसी कविता लिखी थी । आनंद भवन में आनाजाना रहता था और राष्ट्रीय जागरण में बापू का साथ मिल गया था ।

छायावाद के उत्तरकाल में व 1930-32,35,36 में क्रमश: उनके नीहार, रश्मि नीरजा और सान्ध्यागीत संग्रह एक के बाद एक प्रकाशित हुए । उनके प्राकृतिक चित्रों में आध्यात्मिक चेतना का मान है जो कि वहीं-कहीं कही पर प्रेम और प्रतीक्षा का अनुभव बन कर व्यक्त हुआ है । अपने बनाए इस घेरे को उन्होंने कविता में नहीं तोड़ा । तोड़ा इस घेरे को गद्य सृजन में । 'अतीत के चलचित्र' और 1942 में श्रृंखला की कड़ियाँ' प्रकाशित हुई । हालांकि 1941 में 'दीपशिखा' काव्य संग्रह आया । उनका गद्य उनकी सामाजिक तलाश का आयाम था । कविताऐं उन्होंने बाद में भी लिखीं लेकिन उसी भावभूमि पर रहकर लिखी । महादेवी की रचनाओं में ठहराव और गति दोनों एक साथ मिलती है ।

उनकी कविताओं में प्राथमिक स्तर पर अपने अस्तित्व की सीमाओं को पार करने की बैचेनी है । उदाहरण देखें

फिर विकल है प्राण मेरे
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है
जा रहे जिस पंथ में युगकल्प उसका छोर क्या है
क्यों मुझे प्राचीर बनकर
आज मेरे श्वास घेरे

अगली कोटि उन कविताओं की हैं जिनमें असीम जैसे किसी बोध को प्रिय का संबोधन दिया गया है ।

मुस्काता संकेत भर नभ
अलि प्रिय आने वाले हैं

कविताओं की तीसरी कोटि में असीम को देख कह कर संबोधित किया गया है-

चकित सा सूने में संसार
गिन रहा हो प्राणों के दाग
सुनहरी प्याली में दिनमान
किसी का पीता हो अनुराग
ढाल देना उसमें अनजान
देव मेरा चिरसंचित राग

महादेवी के गद्य की जहाँ तक बात है वह सामाजिक राजनैतिक आयाम के संदर्भ में विकसित होता है । उनका गद्य भारतीय समाज में स्त्री की अंधेरी नियति के साथ साक्षाकार है । उनके रेखाचित्र और संस्मरण जगह-जगह पर सामाजिक आचार संहिता की न्याय सम्मत अवज्ञा करते हैं । अतीत के चलचित्र की भूमिका में वे लिखती हैं इन स्मृति चित्रों में मेरा जीवन भी आ गया है । अंधेरे की वस्तुओं को हम अपने प्रकाश की धुँधली या उजली परिधि में लाकर ही देख पाते हैं । यही उनकी सफलता भी है ।

उनके कृति संदर्भ में "अतीत के चलचित्र ', श्रृंखला की कड़ियाँ, स्मृति की रेखाएँ, पथ के साथी रेखाचित्र, क्षणदा साहित्यकार की आस्था, समन्वित निबंध, मेरा परिवार (संस्मरण) संभाषण (भाषण), चिंतन के क्षण (रेडियो वार्ता) नीहार, रशिम, नीरजा, साध्यगीत, दीयशिखा, प्रथम आयाम, अग्नि रेखा कविता संग्रह है । वे प्रयाग महिला विद्यापीठ में प्रधानाचार्य और 1960 में कुलपति रही । उन्हें नीरजा पर सेक्सरिया पुरस्कार, स्मृति की रेखाएँ पर द्वितीय पदम मिला । इसके अतिरिक्त उन्हें मंगला प्रमाद इसके अतिरिक्त उन्हें मंगला प्रसाद पारितोषिक, उत्तर प्रदेश सरकार का विशिष्ट पुरस्कार, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का भारत भारती पुरस्कार और ज्ञानपीठ पुरस्कार भी मिला । अपनी पुस्तक श्रृंखला की कड़ियाँ में स्त्रीवादी दार्शनिक दिखती हैं । इस पुस्तक में स्त्री जीवन की जटिल समस्याओं उसकी दासता की दारूण स्थितियों और मुक्ति की दिशाओं का विवेचन है । यह पुस्तक आज भी प्रासंगिक और भारतीय स्त्री की मददगार साबित हो सकती है ।

18.3 पाठ का वाचन

इतने वर्ष बीत जाने पर भी मेरी स्मृति, अतीत के दिन-प्रतिदिन गाढ़े होने वाले धुँधलेपन में एक-एक रेखा खींचकर उस करुण, कोमल मुख को मेरे सामने अंकित ही नहीं सजीव भी कर देती है ।

छोटे गोल मुख की तुलना में कुछ अधिक चौड़ा लगनेवाला, पर दो काली रुखी लटों से सीमित ललाट, बचपन और प्रौढ़ता को एक साथ अपने भीतर बन्द कर लेने का प्रयास-सा करती हुई, लम्बी बरौनियोंवाली भारी पलकें और उनकी छाया में डबडबाती हुईसी आँखें, उस छोटे मुख के लिए भी कुछ छोटी सीधी नाक और मानो अपने ऊपर छपी हुई हँसी से विस्मित होकर कुछ खुले रहनेवाली ओठ समय के प्रवाह से फीके भर हो सके हैं, धुल नहीं सके ।

घर के सब उजले मैले, सहज-कठिन कामों के कारण, मलिन रेखा जाल से गुँथी और अपनी शेष लाली को कहीं छिपा रखने का प्रयत्न-सा करती हुई कहीं कोमल, कहीं कठोर हथेलियाँ, काली रेखाओं में जड़े कान्तिहीन नखों से कुछ भारी जान पड़ने वाली पतली उँगलयाँ, हाथों का बोझ सँभालने में भी असमर्थ-सी दुर्बल, रूखी पर गौर बाँहें और मारवाड़ी लहँगे के भारी घेर से थकित-से, एक सहज सुकुमारता का आभास देते हुए कुछ लम्बी उँगलियों वाले दो छोटे-छोटे पैर, जिनकी एड़ियों में आँगन की मिट्टी की रेखा मटमैले महावर-सी लगती थी, भुलाए भी कैसे जा सकते हैं । उन हाथों ने बचपन में न जाने कितनी बार मेरे उलझे बाल सुलझा कर बड़ी कोमलता से बॉध दिये थे । वे पैर न जाने कितनी बार, अपनी सीखी हुई गम्भीरता भूल कर मेरे लिए द्वार खोलने, आँगन में एक ओर से दुसरी ओर दौड़े थे । किस तरह मेरी अबोध अष्टवर्षीय बुद्धि ने उससे भाभी का सम्बन्ध जोड़ लिया था, वह अब बताना कठिन है । मेरी अनेक सहपाठिनियो के कुछ अच्छी भाभियॉ थी, कदाचित् उन्हीं की चर्चा सुन-सुनकर मेरे मन ने, जिसने अपनी तो क्या दूर के सम्बन्ध की भी कोई भाभी ने देखी थी, एक ऐसे अभाव की सृष्टि कर ली, जिसको वह मारवाड़ी विधवा वधू दूर कर सकी ।

बचपन का वह मिशन स्कूल मुझे अब तक स्मरण है, जहाँ प्रार्थना और पाठ्यक्रम की एकरसता से मैं इतनी रुआँसी हो जाती थी कि प्रतिदिन घर लौटकर नींद से बेसुध होने तक सबेरे स्कूल का बहाना सोचने से ही अवकाश न मिलता था ।

उन दिनों मेरी ईर्ष्या का मुख्य विषय नौकरानी की लड़की थी, जिसे चौका-बर्तन करके घर में रहने को तो मिल जाता था । जिस कठोर ईश्वर ने मेरे भाग्य में नित्य स्कूल जाना लिख दिया था, वह माँ के ठाकुर जी में से कोई है या मिशन की सिस्टर का ईसू यह निश्चय न कर सकने के कारण मेरा मन विचित्र दुविधा में पड़ा रहता था । यदि वह माँ के ठाकुरजी में से है, तो आरती पूजा से जी चुराते ही क्रुद्ध होकर मेरे घर रहने का समय और कम कर देगा और यदि स्कूल में है, तो बहाना बनाकर न जाने से

पढ़ाई के घंटे और बढ़ा देगा, इसी उधेड़-बुन में मेरा मन पूजा, आरती, प्रार्थना सब में भटकता ही रहता था ।

इस अंधकार में प्रकाश की एक रेखा भी थी । स्कूल निकट होने के कारण बूढ़ी कल्लू की माँ मुझे किताबों के साथ वहाँ भी आती थी और ले भी आती थी और इस आवागमन के बीच में, कभी सड़क पर लड़ते हुए कुत्ते, कभी किसी घर के बरामदे में लटकते हुए पिंजड़े में मनुष्य की स्वर-साधना करता हुआ गंगाराम, कभी बत्तख और तीतरों के झुण्ड, कभी तमाशा दिखलानेवाले के टोपी लगाए हुए बन्दर, ओढ़नी ओढे हुए बँदरिया नाचनेवाला रीछ आदि स्कूल की एकरसता दूर करते ही रहते थे ।

हमारे ऊँचे घर से कुछ ही हटकर, एक ओर रंगीन, सफेद, रेशमी और सूती कपड़ों से और दूसरी ओर चमचमाते हुए पीतल के बर्तनों से सजी हुई एक नीची-सी दुकान में जो वृद्ध सेठजी बैठे रहते थे, उन्हें मैंने कभी ठीक से देखा ही नहीं परन्तु उस घर के पीछे वाले द्वार पर पड़े हुए पुराने टाट के परदे के छेद से जो आँखें प्राय: आते-जाते देखती रहती थी, उनके प्रति मेरा मन एक कुतूहल से भरने लगा । कभी-कभी मन में आता था कि परदे के भीतर झाँक कर देखूँ, पर कल्लू की माँ मेरे लिए उस जन्तु विशेष से कम नहीं थी, जिसकी बात कह-कहकर बच्चों को डराया जाता है । उसका कहना न मानने से वह नहलाते समय मेरे हाल ही में छिदे कान की लौ दुखा सकती थी, चोटी बाँधते समय बालों को खुब खींच सकती थी, कपड़े पहनते समय तंग गले वाले फ्रॉक को आँखों पर अटका सकती थी, घर में और स्कूल में मेरी बहुत-सी झूठी-सच्ची शिकायत कर सकती थी-सारांश यह कि उसके पास प्रतिशोध लेने के बहुत-से साधन थे। परन्तु कल्लू की माँ को चाहे उन ऑखों की स्वामिनी से मेरा परिचय न भाता हो पर उसकी कथा सुनाने में उसे अवश्य रस मिलता रहा । वह अनाथिनी भी है और अभागी। बूढे सेठ सबके मना करते-करते भी इसे अपने इकलौते लड़के से ब्याह लाये और उसी साल लड़का बिना बीमारी के ही मर गया । अब सेठजी का इसकी चंचलता के मारे नाक में दम है । न इसे कहीं जाने देते हैं, न ।केसी को अपने घर आने । केवल अमावस-पूनो एक ब्राह्मणी आती है, जिसे वे अपने-आप खड़े रहकर सीधा दिलवा कर विदा कर देते हैं । वे बेचारे तो जाति-बिरादरी में भी इसके लिए बुरे बन गये हैं और इसकी निर्लज्जता देखो-ससुर दुकान में गये नहीं कि वह परदे से लगी नहीं । घर में देखने वाला है ही नहीं । एक ननद है, जो शहर में ससुराल होने के कारण जब-तब आ जाती है और तब इसकी खूब ठुकाई होती है, इत्यादि-इत्यादि सूचनाएँ कल्लू की माँ की विशेष शब्दावली और विचित्र भाव-भंगिमाओं के साथ मुझे स्कूल तक मिलती रहती थीं । परन्तु उस समय वे सूचनाएँ मेरे निकट उतना ही महत्व रखती थी जितनी नानी से सुनी हुई बेला रानी की कहानी । कथा में बेचैन कर देने वाला सत्य इतना ही था कि कहानी की राजकुमारी की आँखें पुराने टाट के परदे से सुननेवाली बालिका को नित्य ताकती रहती थी । यह स्थिति तो कुछ सुखद नहीं कही जा सकती । यदि सुनी हुई कहानी के सब राजा, रानी, राजकुमार राजकुमारी, दैत्य, दानव आदि सुननेवालों को इस

प्रकार देखने लगें, तो कहानी सुनने का सब सुख चला जावे, यह कल्लू की माँ की कहानी और परदे के छेद से देखने वाली आखों ने मुझे समझा दिया था ।

भूरे टाट में जड़ी-सी वे काली आँखें मेरी कल्पना का विषय ही बनी रहतीं, यदि एक दिन पानी बरसने से कल्लू की माँ रुक न गयी होती, पानी थमते ही मैं स्कूल से अकेले ही न चल दी होती और गीली सड़क पर उस परदे के सामने ही मेरा पैर न फिसल गया होता । बच्चे गिर कर प्राय: चोट के कारण न रोकर लज्जा से ही रोने लगते हैं । मेरे रोने का भी कदाचित् यही कारण रहा होगा, क्योंकि चोट तो मुझे याद नहीं आती ।

कह नहीं सकती कि परदे से निकल कर, कब उन आँखों की स्वामिनी ने मुझे आँगन में खींच लिया, परन्तु सहसा विस्मर ने मेरी रुलाई रुक गयी । एक दुर्बल पर सुकुमार बालिका-जैसी स्त्री अपने अंचल से मेरे हाथ और कपड़ों का कीचड़ मिला पानी पोंछ रही थी और भीतर दालान से वृद्ध सेठ का कुछ विस्मित स्वर कह रहा था- 'अरे यह तो वर्मा साहब की बाई है!'

उसी दिन से वह घर, जिसमें न एक भी झरोखा था न रोशनदान, न एक भी नौकर दिखाई देता था, न अतिथि और न एक भी पशु रहता था, मेरे लिए एक आकर्षण बनने लगे । उस समाधि-जैसे घर में लोहे के प्राचीर से घिरे फूल के समान वह किशोरी बालिका बिना किसी संगी-साथ, बिना किसी प्रकार के आमोद-प्रमोद के, मानो निरन्तर वृद्ध होने की साधना में लीन थी ।

वृद्ध एक ही समय में भोजन करते थे और वह तो विधवा ठहरी । दूसरे समय भोजन करना ही यह प्रमाणित कर देने के लिए पर्याप्त था कि उसका मन विधवा के संयम-प्रधान जीवन से ऊबकर किसी विपरीत दिशा में जा रहा है ।

प्राय: निराहार और निरन्तर मिताहार से दुर्बल देह से वह कितना परिश्रम करती थी, वह मेरी बालक-बुद्धि से भी छिपा न रहता था । जिस प्रकार उसका खंडहर-जैसे घर और लम्बे-चौड़े आँगन को बैठ-बैठकर बुहारना, आँगन के कुएँ से अपने और ससुर के स्नान के लिए ठहर-ठहर कर पानी खींचना और धोबी के अभाव में, मैले कपड़ों को काठ की मोगरी से पीटते हुए रुक-रुक कर साफ करना, मेरी हँसी का साधन बनता था, उसी प्रकार केवल जलती लकड़ियों में प्रकाशित, दिन में भी अँधेरी रसोई की कोठरी के घुटते हुए धुएँ में से रह-रह कर आता हुआ खाँसी का स्वर, कुछ गीली और कुछ सूखी राख से चांदी-सोने के समान चमकाकर तथा कपड़े से पोंछकर (मारवाड़ में काम में लाने के समय बर्तन पानी से धोए जाते हैं) रखते समय शिथिल उँगलियों से छूटते हुए बर्तनों की झनझनाहट मेरे मन में एक नया विषाद भर देती थी ।

परन्तु काम चाहे कैसा ही कठिन हो, शरीर चाहे कितना ही क्लान्त रहा हो, मैंने न कभी उसकी हँसी से आभासित मुख-मुद्रा में अन्तर पड़ते देखा और न कभी काम रुकते देखा । और इतने काम में भी उस अभागी का दिन द्रौपदी के चीर से होड़ लेता था ।

सबेरे स्नान, तुलसी-पूजा आदि में कुछ समय बिताकर ही वह अपने अंधेरे रसोईघर में पहुँचती थी परन्तु दस बजते-बजते ससुर को खिला-पिला कर उस टाट के परदे से मुझे शाम को आने का निमन्त्रण देने के लिए स्वतन्त्र हो जाती थी । उसके बाद चौका-बर्तन, कूटना-पीसना भी समाप्त हो जाता, परन्तु तब भी दिन का अधिक नहीं तो एक प्रहर शेष रह ही जाता था । दुकान की ओर जाने का निषेध होने के कारण वह अवकाश का समय उसी टाट के परदे के पास बिता देती थी, जहाँ से कुछ मकानों के पिछवाड़े और एक दो आते-जाते व्यक्ति ही दिख सकते थे, परन्तु इतना ही उसकी चंचलता का ढिंढोरा पीटने के लिए पर्याप्त था ।

उस 19 वर्ष की युवती की दयनीयता आज समझ पाती हूँ जिसके जीवन के सुनहरे स्वप्न गुड़ियों के घरौंदे के समान दुर्दिन की वर्षा में केवल बह ही नहीं गये, वरन उसे इतना एकाकी छोड़ गये कि उन स्वप्नों की कथा कहना भी सम्भव न हो सका ।

ऐसी दशा में उसने आठ वर्ष की बालिका को ही अपने संगीहीन हृदय की सारी ममता सौंप दी, परन्तु वह बालिका तो उसके संसार में प्रवेश करने में असमर्थ थी, इसी से उसने उसी गुड़ियोवाले संसार को अपनाया ।

वृद्ध भी अपनी बहू के लिए ऐसा निर्दोष साथ पाकर इतने प्रसन्न हुए कि स्वयं ही बड़े आदर-यत्न से मुझे बुलाने-पहुँचाने लगे । और माँ तो उस माता-पिताहीन विधवा बालिका की कथा सुनकर ही मुख फेर कर आँखें पोंछने लगती थीं । इसी से धीरे-धीरे मेरी कुछ नाटी गुड़िया, उसका बेडौल सिरवाला पति उसकी एक पैर से लँगड़ी सास, बैठने में असमर्थ ननद और हाथों के अतिरिक्त सब प्रकार से आकारहीन दोनों बच्चे, सब एक-एक कर भाभी की कोठरी में जा बैठे । इतना ही नहीं उनकी चक्की से लेकर गहनों तक सारी गृहस्थी और डोली से लेकर रेल सब सवारियाँ उसी खंडहर को ' बसाने लगीं ।

भाभी को तो सफेद ओढने और काला लहंगा या काली ओढ़नी और सफेद बूटीदार कत्थई लहंगा पहने हुए ही मैंने देखा था, पर उसकी ननद के लिए हर तीज-त्योहार पर बड़े सुन्दर रंगीन कपड़े बनते थे । भाभी की बटोरी हुई कतरन से और कुछ अपने घर से लाए हुए कपड़ों से गुड़ियों के लज्जा निवारण का सुचारू प्रबन्ध किया जाता था । भाभी घाघरा, कॉचली आदि अपने वस्त्र सीना जानती थी, अत: मेरी गुड़िया मारवाडिन की तरह श्रृंखला करती थी, मैंने स्कूल में ढीला पाजामा और घर में कलीदार कुरता सीना सीखा था, अत: गुड्डा पूरा लाला जान पड़ता था, चौकोर कपड़े के टुकड़े के बीच छेद करके वही बच्चों के गले डाल दिया जाता था, अत: वे किसी आदिम युग की संतान से लगते थे ।

भाभी के लिए काला-अक्षर भैंस बराबर था, इसलिए उस पर मेरी विद्वत्ता की धाक भी सहज ही जम गई थी । प्राय: सभी पशुओं के अंग्रेजी नाम बताकर ओर तस्वीरों वाली किताब से अंग्रेजी की कविता बड़े राग से पढ़कर मैं उसे विस्मित कर चुकी थी, हिन्दी की पुस्तक से 'माता का हृदय', 'भाई का प्रेम' आदि कहानियाँ सुनाकर उसकी आँखें

गीली कर चुकी थी और अपने मामा को चिट्ठी लिखने की बात कहकर उसके मन में बीकानेर के निकट किसी गाँव में रहने वाली बुआ की स्मृति जगा चुकी थी । वह प्राय: लम्बी साँस लेकर कहती- 'पता नहीं जानती, नहीं तो तुमसे एक चिट्ठी लिखवा कर डाल देती । '

सबसे कठिन दिन तक आते थे, जब वृद्ध सेठ की सौभाग्यवती पुत्री अपने नैहर आती थी । उसके चले जाने के बाद भाभी के दुर्बल गोरे हाथ पर जलने के लम्बे, काले निशान और पैरों पर नीले दाग रह जाते थे, पर उनके सम्बन्ध में कुछ पूछते ही वह गुड़िया की किसी समस्या में मेरा मन अटका देती थी ।

उन्हीं दिनों स्कूल में कशीदा काढ़ना सीखकर मैंने अपनी धानी रंग की साड़ी में बड़े-बड़े नीले फूल काढ़े । भाभी को रंगीन कपड़े बहुत भाते थे, इसलिए उसे देखकर वह ऐसी विस्मय-विमुग्ध रह गयी, मानो कोई सुन्दर चित्र देख रही हो ।

मैंने क्यों माँ से हठ करके वैसा ही कपड़ा मंगवाया और क्यों किसी को बिना बताए हुए छिपा-छिपाकर उस ओढ़नी पर नीले फूल काढ़ना आरम्भ किया यह आज भी समझ में नहीं आया ।

वह बेचारी बार-बार बुलवा भेजती, नये-नये गुड़ियों के कपड़े दिखाती, नये-नये घरोंदे बनाती पर फिर भी मुझे अधिक समय तक ठहराने में असमर्थ होकर बड़ी निराश और करूण मुद्रा तक पहुँचा जाती । उस दिन की बात तो मेरी स्मृति में गर्म लोहे से लिखी जान पड़ती है, जब उस ओढ़नी को चुपचाप छिपाकर मैं भाभी को आश्चर्य में डालने गयी । शायद सावन की तीज थी, क्योंकि स्कूल के सीधे-साधे बिना चमक-दमक वाले कपड़ों के स्थान में मुझे गोटा लगी हुई लहरिये की साड़ी पहनने को मिली थी और सबेरे पढ़ने बैठने की बात न कहकर माँ ने हाथों में मेंहदी भी लगा दी थी ।

वह दालान में दरवाजे की ओर पीठ किये बैठे कुछ बीन रही थी, इसी से जब दबे पांव जाकर मैंने उस ओढ़नी को खोलकर उसके सिर पर डाल दिया, तो वह हड़बड़ाकर उठ बैठी । रंगों पर उसके प्राण जाते ही थे, उस पर मैंने गुड्डियों और खिलौनों से दूर अकेले बैठे-बैठे अपने नन्हें हाथों से उसके लिए उतनी लंबी चौड़ी ओढ़नी काढी थी आश्चर्य नहीं कि वह क्षण भर भी अपनी स्थिति को भूल गयी, जिसमें ऐसे रंगीन वस्त्र वर्जित थे और नये खिलौने से प्रसन्न बालिका के समान, एक बेसुधपन में उसे ओढ़, मेरी ठुड्डी पकड़कर खिलखिला पड़ी ।

और जब किसी का विस्मय-विजड़ित बींदनी (बहू) सुनकर उसकी सुधि लौटी, तब हतबुद्धि से ससुर मानो गिरने-गिरने से बचने के लिए चौखट का सहारा ले रहे थे और क्रोध से जलते अंगारे जैसी आँखोवाली खुली तलवार सी कठोर ननद, देहली से आगे पैर बढ़ा चुकी थी । अवश्य ही तीज रही होगी, क्योंकि वृद्ध स्वयं पुत्री को लेने गए थे ।

इसके उपरान्त जो हुआ वह तो स्मृति के लिए भी अधिक करुण है । क्रूरता का वैसा प्रदर्शन मैंने फिर कभी नहीं देखा । बचाने का कोई उपाय न देखकर ही कदाचित मैंने

जोर-जोर से रोना आरम्भ किया परन्तु बच तो वह तब सकी जब मन से ही नहीं, शरीर से भी बेसुध हो गयी ।

वृद्ध मुझे कैसे घर पहुँचा गये, घबराहट से मैं कितने दिनों जर में पड़ी रही, यह सब तो गहरे कुहरे में छिप गया है, परन्तु बहुत दिनों के बाद जब मैंने फिर उसे देखा तब उन बचपन भरी आँखों में विषाद का गाढ़ा रंग चढ़ चुका था और ओठ, जिन पर किसी दिन हँसी सी जान पड़ती थी, ऐसे काँपते थे, मानो भीतर का क्रन्दन रोकने के प्रयास से थक गये हों । उस एक घटना से बालिका प्रौढ़ हो गयी थी और युवती वृद्धा ।

फिर तो हम लोग इन्दौर से चले ही आये और एक-एक करके अनेक वर्ष बीत जाने पर ही मैं इस योग्य बन सकी कि उसकी कुछ खोज खबर ले सकूँ । पता लगा कि छोटी दुकान के स्थान में एक विशाल अट्टालिका वर्षों पहले खड़ी हो चुकी है । पता चला कि वधू की रक्षा का भार संसार को सौंप कर वृद्ध कभी के विदा हो चुके हैं परन्तु कठोर संसार ने उसकी कैसी रक्षा की यह आज तक अज्ञात है, इतने बड़े मानव-समुद्र में उस छोटे से बुद्बुद् की क्या स्थिति है यह मैं जानती हूँ परन्तु तब भी कभी-कभी मन चाहता है कि बचपन में जिसने अपने जीवन के सूनेपन को भूलकर मेरी गुड़ियों की गृहस्थी बसाई थी खिलौनों का संसार सजाया था, उसे एक बार पा सकती ।

आज भी जब रंगीन कपड़ों के प्रति विरक्ति के सम्बन्ध में कौतुक भरा प्रश्न कर बैठता है, तो वह अतीत फिर वर्तमान होने लगता है । कोई किस प्रकार समझे कि रंगीन कपड़ों में जो मुख धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगता है, वह कितना करुण और कितना मुरझाया हुआ है । कभी-कभी तो वह मुख मेरे सामने आने वाले सभी करूण क्लान्त मुखों में प्रतिबिम्बित होकर मुझे उसके साथ एक अटूट बन्धन में बाँध देता है ।

प्राय: सोचती हूँ-जब वृद्ध ने कभी न खोलने के लिए आँखें मूद ली होंगी तब वह, जिसे उन्होंने संसार की ओर देखने का अधिकार ही नहीं दिया था, कहीं गयी होगी?

और तब-तब न जाने किसी अनिष्ट सम्भावना से, न जाने किस अज्ञात प्रश्न के उत्तर में मेरे मन की सारी ममता आर्त्त-क्रन्दन कर उठती है-नहीं नहीं..... ।

18.4 रचना का सारांश

भाभी रेखा चित्र में महादेवी वर्मा का अपना भी बचपन है । बचपन के मिशन स्कूल को वे याद करती हैं और बताती हैं कि वहाँ प्रार्थना और पाठ्यक्रम एकरसता से ऊबकर स्कूल न जाने का बहाना ढूँढती रहती थी । ही स्कूल जाने के रास्ते में सड़क पर लड़ते हुए कुत्ते उनके भटकते पिल्ले, पंजों से मुंह धोती बिल्ली, आदि स्कूल की एकरसता कम करते रहते ।

स्कूल जाने के रास्ते में ही वृद्ध सेठजी की दुकान थी । दुकान कपड़ों की थी । उन्होंने सेठजी को तो ध्यान से देखा नहीं लेकिन और घर के पीछे दरवाजे पर पड़े टाट के पर्दे के छेद से दो आँखें आते जाते दिखती थी । बालिका का मन कौतूहल से भर जाता लेकिन कल्लू की माँ उन्हें स्कूल ले जाने और लाने के काम करती थी । उसके अनुशासन में परदे के अंदर झाँक कर देख पाना संभव नहीं था किन्तु कल्लू की माँ से

उसे पता चला था कि वह अभागिनी है । विवाह के वर्ष ही पति की मृत्यु हो गई । उसका पति वृद्ध सेठजी का इकलौता लड़का था । लड़की चंचल है और सेठजी परेशान । सेठजी के जाते ही परदे के पास बैठकर बाहर का नजारा देखती रहती है ।

एक दिन कल्लू की माँ स्कूल लेने नहीं आई और वे अकेले ही चल दीं और वे टाट के सामने पैर फिसलने से गिर पड़ी । उन आँखों की स्वामिनी ने उसे अंदर खींच लिया और अपने ऑचल से उसका मुँह पोंछने लगी । सेठजी भी बोल उठे अरे यह तो वर्मा जी की बाई है । तब से उनका और उस युवती का नेह नाता जुड़ गया । और वे उसे भाभी कहने लगी ।

भाभी एक ही समय भोजन करती और सारे दिन काम में लगी रहती । उसने अपनी सारी ममता आठ वर्षीया बालिका को सौंप दी । वे अपने सारे खिलौने उनके यहाँ ले जाकर खेलती रहती । भाभी उसकी गुड़िया के कपड़े भी सिलती थी । जब भाभी की ननद आती तो उनके जाने के बाद भाभी के हाथों में जलने के निशान और पैरों पर पिटाई के नीले निशान देख कर जब वे उसके बारे में पूछती तो भाभी बात बदल देती। ऐसे ही तीज के दिन लेखिका स्वयं अपने हाथों से काढ़ कर रंगीन ओढ़नी भाभी को ओढ़ा देती है और उसी समय उसके ससुर और ननद प्रवेश करते हैं फिर तो ऐसी क्रूरता का प्रदर्शन होता है जो भाभी के बेसुध होने पर ही रुकता है । फिर वह भाभी से नहीं मिल पाती लेकिन उनकी स्मृति उन्हें बार-बार उद्वेलित करती है ।

18.5 प्रतिपाद्य

महादेवी वर्मा का लेख भारतीय समाज में स्त्री की अंधेरी स्थिति से साक्षात्कार है । भाभी में विधवा की स्थिति बताई गई है और बताया है कि वह पशुओं से भी बदतर जीवन जीने को बाध्य है । यह तब की बात है जब स्वतंत्रता आंदोलन अपने चरम पर था । समाज में आर्य समाज का पदार्पण हो चुका था और स्वामी दयानंद राजाराम राय और गांधी जैसे महापुरुष हो चुके थे । स्वामी दयानंद ने भले ही विधवा विवाह की बात की थी लेकिन वास्तविकता ठीक इसके विपरीत थी । यही बताना संभवत: लेखिका का उद्देश्य है । रचना की संवेदना करूणा है लेकिन केवल इसका जगाना ही उद्देश्य नहीं है । पाठक के मन में करूणा और आक्रोश दोनों जन्मते हैं और यही संरचना की संवेदना और सरलता है ।

18.6 शिल्प

रचना का शिल्प गुथा हुआ है । कहीं कोई कृत्रिमता नहीं । पूरी रचना बच्चे के भोलेपन में चलती हुई उसी की आँख से पात्र को देखती है । गद्य का एक गुण यदि बोलचाल की सहजता है तो दूसरी उसकी आत्मीयता है । महादेवी वर्मा के गद्य में आत्मीयता का स्वर उनके लहजे में ही है । महादेवी वर्मा की भाषा.... ..शब्द प्रधान है । गद्य में वाक्य विन्यास भी अपेक्षाकृत लंबा और जटिल है फिर भी वह निर्मल और आत्मीय है। वह उनकी भाषा और सर्जन के सघन रूप को दर्शाती है । इसमें कहीं कोई कल्पना नहीं फिर भी काव्य का सा रस है और यही उनके रेखाचित्र की विशेषता है ।

18.7 कठिन शब्दों के अर्थ

ललाट = मस्तक, विस्मित = आश्चर्य चकित, कान्तिहीन = बिनाचमक की, गौर = गोरी, थकित = थकी हुई, सुकुमारता = कोमलता, अबोध = अनजान, अष्टवर्षीय = आठ साल की, स्मरण = याद, दुविधा = असमंजस, आवागमन = आने जाने, वृद्ध = बूढ़े, कुतूहल = जिज्ञासा, प्रतिशोध = बदला, निर्लज्जता = बेशरमी, थमते = रूकते, पाचीर = दीवार, निराहार = बिना कुछ खाए, मिताहार = कम खाना, परिश्रम = मेहनत, शिथिल = थकी हुई, आभासित = प्रकाशित, दुर्दिन = बुरे दिन, एकाकी = अकेला, सुचारू = अच्छा, नैहर = मैका, ओढ़नी = चुन्नी, वर्जित = मना, सुधि = होश, कदाचित = शायद, क्रंदन = रूलाई,

18.8 संदर्भ सहित व्याख्या

(1) परन्तु काम चाहे कैसा ही कठिन हो, शरीर चाहे कितना ही क्लान्त रहा हो, मैंने न कभी उसकी हँसी से आभासित मुख-मुद्रा में अन्तर पड़ते देखा और न कभी काम रुकते देखा । और इतने काम में भी उस अभागी का दिन द्रौपदी के चीर से होड़ लेता था । सबेरे स्नान, तुलसी-पूजा आदि में कुछ समय बिताकर ही वह अपने अंधेरे रसोईघर में पहुँचती थी परन्तु दस बजते-बजते ससुर को खिला-पिला कर उस टाट के परदे से मुझे शाम को आने का निमन्त्रण देने के लिए स्वतन्त्र हो जाती थी । उसके बाद चौका-बर्तन, कूटना-पीसना भी समाप्त हो जाता, परन्तु तब भी दिन का अधिक नहीं तो एक प्रहर शेष रह ही जाता था । दुकान की ओर जाने का निषेध होने के कारण वह अवकाश का समय उसी टाट के परदे के पास बिता देती थी, जहाँ से कुछ मकानों के पिछवाड़े और एक दो आते-जाते व्यक्ति ही दिख सकते थे, परन्तु इतना ही उसकी चंचलता का ढिंढोरा पीटने के लिए पर्याप्त था ।

संदर्भ:

प्रस्तुत गद्यांश महादेवी वर्मा की पुस्तक 'अतीत के चलचित्र' में भाभी नामक रेखाचित्र से लिया गया है । उक्त पंक्तियों में लेखिका मारवाड़ी विधवा का वर्णन कर रही है जिसके पति की मृत्यु विवाह के एक वर्ष के भीतर ही हो गई थी । यहाँ लेखिका उसकी कठिन जीवन के बारे में बता रही है ।

अर्थ :

लेखिका बताती है कि कठिन से कठिन काम को भी भाभी हंसी खुशी से पूरा करती है। उसके लिए काम की कठिनता से कोई अंतर नहीं पड़ता था । ना ही उसके लिए अपनी थकान का कोई महत्व था । इतने काम के बावजूद उसके दिन का समय काटे नहीं कटता था । सुबह नहा धोकर, तुलसी की पूजा करने के बाद वह रसोई में जाती थी । रसोई भी ऐसी थी जिसमें प्रकाश की कोई व्यवस्था नहीं थी । दस बजते बजते अपने ससुर को वह खिला पिला कर निश्चिंत हो जाती थी । तब वह परदे के पीछे से उसे शाम को आने का निमंत्रण देती थी । उसका चौका बर्तन करना पीसना करना सब

समाप्त हो जाते फिर भी कुछ दिन रह जाता । दुकान की ओर उसका आना जाना मना था । वह टाट के परदे के पास दो छेद करके बाहर देखा करती । बाहर उसे कुछ घरों के पिछले हिस्से और आते जाते व्यक्ति ही दिखते थे । परन्तु इतने ही में उनकी चंचलता का शोर सब तरफ फैल गया था मानो बाहर देखना वह भी खुद भी छिपा कर बाहर देखना भी अपराध है ।

विशेष :

1. गद्यांश की भाषा तत्सम प्रधान है जो कि लेखिका का अपना वैशिष्ट्य है
2. वाक्य लंबे लंबे हैं किन्तु कहीं भी भाव को समझने में कठिनाई नहीं आती अपितु उस युवती के प्रति मन में करुणा जागती है ।
3. इन पंक्तियों में यह बताया गया है कि मारवाड़ी हिन्दू अपने यहां की विधवा स्त्रियों के साथ कैसा व्यवहार करते थे ।

(2) भाभी को तो सफेद ओढ़ने और काला लहँगा या काली ओढ़नी और सफेद बूटीदार कत्थई लहँगा पहने हुए ही मैंने देखा था, पर उसकी ननद के लिए हर तीज-त्योहार पर बड़े सुन्दर रंगीन कपड़े बनते थे । कुछ भाभी की बटोरी हुई कतरन से और कुछ अपने घर से लाए हुए कपड़ों से गुड़ियों के लज्जा-निवारण का सुचारू प्रबन्ध किया जाता था। भाभी घाघरा, काँचली आदि अनेक वस्त्र सीना जानती थी, अत: मेरी गुड़िया मारवाडिन की तरह श्रृंगार करती थी, मैंने स्कूल में ढीला पाजामा और घर में कलीदार कुरता सीना सीखा था, अत: गुड्डा पूरा लाला जान पड़ता था, चौकोर कपड़े टुकड़े के बीच छेद करके वही बच्चों के गले डाल दिया जाता था, अत: वे किसी आदिम युग की संतान से लगते थे ।

प्रसंग :

प्रस्तुत पंक्तियां महादेवी वर्मा की पुस्तक अतीत में चलचित्र के भाभी नामक रेखाचित्र से ली गई है । इस पंक्तियों में मारवाड़ी विधवा के रंगहीन जीवन के बारे में बताया गया है । मारवाड़ में विधवा काला सफेद या कत्थई रंग ही पहनती है ।

व्याख्या :

लेखिका जो उस वक्त सिर्फ आठ वर्ष की बालिका थी भाभी को याद करते हुए बताती है कि भाभी की तो उसने हमेशा सफेद ओढ़नी और काले लहँगा या काली ओढ़नी और कत्थई बूटीदार लंहगा पहने ही देखा था । लेकिन उसकी ननद के लिए हर त्योहार पर सुंदर रंगीन कपड़े बनते थे । लेखिका के सारे खिलौने धीरे-धीरे भाभी की कोठरी में पहुँच चुके थे । इनमें उनकी गुड़ियों को गृहस्थी थी । भाभी कतरनों से गुड़िया के लिये लहँगा ओढ़नी आदि बनाया करती थी और गुड़िया का श्रृंगार मारवाड़िन की तरह होता था । गुड्डे के लिए ढीला पाजामा और कलीदार कुरता बचता और उनके बच्चों के भी कपड़े मिल जाते । लेखिका के माध्यम से जैसे भाभी के जीवन में रंगो का धीरे-धीरे प्रवेश हो रहा था और भाभी स्वयं भी बचपन की ओर लौट रही थी ।

विशेष :

1. यद्यपि लेखिका ने लंबे लंबे वाक्यों का प्रयोग किया है किन्तु कहीं भी बात को समझने में कठिनाई नहीं आती हैं ।
2. लज्जा निवारण आदिम युग जैसे कठिन और तत्सम शब्दों के प्रयोग के बावजूद भाषा की सहजता बनी हुई है ।
3. आठ साल की बच्ची की पूरी दुनिया और मनोविज्ञान लेखिका ने उक्त अंश में वर्णित कर दिया
4. ननद और भाभी के कपड़ों के रंग में अंतर बता कर लेखिका ने सामाजिक विषमता को उजाकर किया हैं

(3) फिर तो हम लोग इन्दौर से चले ही आये और एक-एक करके अनेक वर्ष बीत जाने पर ही मैं इस योग्य बन सकी कि उसकी कुछ खोज खबर ले सकूँ । पता लगा कि छोटी दुकान के स्थान में एक विशाल अट्टालिका वर्षों पहले खड़ी हो चुकी है । पता चला कि वधू की रक्षा का भार संसार को सौंप कर वृद्ध कभी के विदा हो चुके हैं परन्तु कठोर संसार ने उसकी कैसी रक्षा की यह आज तक अज्ञात है, इतने बड़े मानव-समुद्र में उस छोटे से बुदबुद् की क्या स्थिति हुई होगी, यह मैं जानती हूँ परन्तु तब भी कभी-कभी मन चाहता है कि बचपन में जिसने अपने जीवन के सूनेपन को भूलकर मेरी गुड़ियों की गृहस्थी बसाई थी, खिलौनों का संसार सजाया था, उसे एक बार पा सकती ।

संदर्भ :

प्रस्तुत पंक्तियां महादेवी वर्मा के रेखाचित्र भाभी से उद्धत है । यह रेखाचित्र उनकी अतीत में चलचित्र नामक पुस्तक में संकलित है । उक्त रेखाचित्र के माध्यम से लेखिका ने तत्कालीन समाज में विधवाओं की स्थिति का वर्णन किया हैं

व्याख्या :

लेखिका बताती है कि वे लोग इंदौर आ गए और अनेक वर्ष बीत गए लेकिन भाभी की स्मृति बनी रही । बहुत वर्षों बाद पता चला कि छोटी दुकान की जगह पर बड़ी इमारतें खड़ी हो गई और भाभी के बूढ़े ससुर भी पता नहीं कब के संसार से विदा ले चुके थे । भाभी का क्या हुआ पता नहीं चल पाया । वे आशंकित भी होती हैं इस कठोर संसार में उसका क्या हुआ होगा । उसे तो संसार को देखने की इजाजत नहीं दी गई । अकेले कैसे अपने जीवन को चलाया होगा । लेकिन फिर भी उनका मन करता है कि जिसके अपने जीवन में सूनेपन को भुला कर उनकी गुड़ियों की गृहस्थी बसाई थी और जो खिलौनों का संसार सजाया था उसे एक बार तो वे मिल पाते ।

विशेष :

1. पैरे में केवल तीन वाक्य हैं और एक वाक्य तो लगभग छः पंक्तियों में फैला है फिर भी कहीं कुछ ऐसा नहीं कि बोधगम्य न हो ।
2. भाषा लेखिका के मिजाज के अनुसार संस्कृतनिष्ठ और तत्सम प्रधान है । अट्टालिका कठोर, रक्षा जैसे मुश्किल शब्द थी भावना के प्रवाह को नहीं रोक पाते हैं।
3. भाषा कठिन होने के बावजूद प्रवाहमयी हैं और यही इसकी विशेषता है ।

18.9 सारांश

उसके पड़ोस की वह भाभी काला अक्षर भैंस बराबर थी । वह एकांकी और दुखी थी और एक दिन बालिका महादेवी से बोली कि उसे अपनी बुआ का पता नहीं मालूम । नहीं तो तुमसे एक चिट्ठी लिखवा देती । रचना का उद्देश्य तत्कालीन विधवाओं की स्थिति के प्रति हमारे मन में करूणा जगाना है जिसमें रचनाकार सफल भी हुई है ।

अतीत के चलचित्र में प्रारंभ में महादेवी वर्मा का कहना है कि समय समय पर जिन व्यक्तियों के संपर्क ने उनके चिंतन को दिशा और संवेदना को गति दी है ये रेखाचित्र उन्हीं व्यक्तियों के हैं । इन रेखाचित्रों में उनका अपना भी जीवन आ गया है । ये रेखाचित्र बेहद आत्मीय सहज सरल और मानवीय संवेदना से ओत-प्रोत है । भाभी रेखाचित्र की करुणा उनके काव्य का ही गद्यात्मक विस्तार कहा जा सकता है ।

'भाभी के माध्यम से वे समाज में विधवाओं की स्थिति के बारे में बताती हैं और अपनी मानवीय संवेदना से उसमें करूणा का रंग भर कर पाठक को कुछ सोचने को मजबूर करती हैं । वे बड़ी खूबसूरती से सामाजिक यथार्थ और संरचनात्मक परिवेश का सृजन करती हैं । महादेवी वर्मा 'भाभी' के माध्यम से करुणा एवं संवेदना का एक चित्र बताती है कि वर्जनाओं के बावजूद मनुष्य की इच्छाएँ मरती नहीं हैं ।

18.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. महादेवी वर्मा कृत भाभी रेखाचित्र के माध्यम से समाज में विधवाओं की स्थिति की व्याख्या दीजिए ।
2. भाभी के चरित्र की व्याख्या दीजिए ।
3. महादेवी वर्मा की भाषा तत्सम प्रधान होते हुए भी सहज है । भाभी के आधार पर इसकी व्याख्या दीजिए ।

18.11 संदर्भ ग्रन्थ

1. अतीत के चलचित्र; महादेवी वर्मा
2. स्मृति की रेखाएँ; महादेवी वर्मा
3. महादेवी; सं परमानंद श्रीवास्तव
4. श्रृंखला की कड़ियाँ; महादेवी वर्मा
5. इंद्रप्रस्थ भारती; सं नानक चंद (अक्टूबर - दिसम्बर)

इकाई-19 अज्ञेय कृत संस्मरण 'प्रेमचन्द' (स्मृति लेखा से) का अध्ययन और विवेचन

इकाई की रूपरेखा-

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 लेखक परिचय और साहित्यिक अवदान

19.3 संस्मरण का पाठ

19.4 प्रतिपाद्य

19.5 संस्मरण का अर्थ और 'उपन्यास सम्राट'

19.6 स्मृति का साक्षात्कार

19.7 आलोचक की आँख

19.8 व्याख्या

19.9 सारांश

19.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

19.11 संदर्भ ग्रंथ

19.0 इकाई का उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप:

- अज्ञेय के प्रसिद्ध संस्मरण 'उपन्यास सम्राट' का अध्ययन करेंगे ।
- संस्मरण का विधागत महत्व जानते हुए लेखक की इस क्षेत्र में मौलिकता और नवीनता जान सकेंगे ।
- संरचना और शिल्प की दृष्टि से संस्मरण का महत्व समझ सकेंगे ।

19.1 प्रस्तावना

'उपन्यास सम्राट' अज्ञेय द्वारा प्रेमचंद पर लिखा गया संस्मरण है जो उनकी पुस्तक स्मृति लेखा से संकलित किया गया है । यह पुस्तक सन् 1982 में प्रकाशित हुई थी । अज्ञेय के ये संस्मरण ठीक उस पारंपरिक अर्थ में नहीं हैं जहाँ किसी व्यक्ति विशेष के व्यक्तित्व और आभा की छाया में लेखक उन्हें याद करता है । अज्ञेय यहीं स्मृति का सर्जनात्मक उपयोग करते हुए इन्हें मूल्यांकनपरक बना देते हैं । विभिन्न अवसरों पर लिखे गए ये संस्मरण स्मृति लेखा के शीर्षक से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए तब विद्यानिवास मिश्र ने इस पुस्तक की भूमिका में लिखा- ' इन लेखाओं को 'संस्मरण' नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'संस्मरण' बिखरा होता है और ये सभी लेखाएँ संगठित हो इन्हें आलोचना या समीक्षा भी नहीं कह सकते' क्योंकि भाई ने व्यक्ति और कृतिकार

को जोड़कर इन्हें लिखा है एक तरह से व्यक्तित्व और कृतित्व को उन्होंने सगुंम्फित कर दिया है या यह भी कह सकते हैं कि उन्होंने व्यक्ति के उतने ही अर्श को बुना है जो कृतित्व का अमृत द्रव बनता हरे सहज हरे और कृतित्व के भी उस पक्ष को बुना है जो न केवल स्तुति के विषय का व्यक्तित्व दीपित करता है बल्कि साथ-ही- साथ स्वयं लेखाकार का व्यक्तित्व भी दीपित करता हो'

'हिन्दी साहित्य कोश' के अनुसार सस्मरण में लेखक अपने समय के इतिहास को लिखना चाहता है परन्तु इतिहासकार के वस्तुपरक रूप से वह बिल्कुल अलग है । संस्मरण लेखक जो स्वयं देखता है, जिसका वह स्वयं अनुभव करता है, उसी का वर्णन करता है । उसके वर्णन में उसकी अपनी अनुभूतियाँ संवेदनाएँ भी रहती हैं । इस दृष्टि से शैली में वह निबन्धकार के समीप है ।

'उपन्यास सम्राट' प्रेमचन्द से संबंधित एक घटना से प्रारम्भ होता है और तीन चार पृष्ठ बीतते-बीतते उनके साहित्यिक अवदान और मूल्यांकन पर केन्द्रित हो जाता है । यह शैली इस संस्मरण को निबंध के थोड़ा करीब लाने वाली 'है किंतु इसका महत्व इस तथ्य में है कि प्रेमचंद के व्यक्तित्व की सरलता और उनके कृतित्व की गहराई से अज्ञेय सामान्य पाठक को भी परिचित करवाने में पूर्णत: सफल रहे हैं । हिन्दी के समकालीन कथाकार स्वयं प्रकाश के रेखाचित्रों की पुस्तक हमसफरनामा भी इसी ढंग से साहित्यिकों का जीवन परिचय-मूल्यांकन करती है, ठेठ आत्मीय अंदाज में ।

19.2 लेखक परिचय और साहित्यिक अवदान

अज्ञेय हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार हैं जो गद्य एवं पद्य दोनों ही क्षेत्रों में अपने मौलिक अवदान के लिए समादृत हैं । 1911 में जन्मे अज्ञेय का पूरा नाम सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन था । एम.ए. की पढ़ाई करते हुए वे क्रान्तिकारी आंदोलन में कूद पड़े और जेल में रहे । आपने सैनिक', 'विशाल भारत' 'बिजली 'प्रतीक' 'वाक' 'जमाना' जैसे पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया । 1943 में इन्हें नये कवियों के संपादित संग्रह तार सप्तक के लिए अपूर्व ख्याति मिली और इसके साथ ही हिन्दी में एक नये आंदोलन का सूत्रपात हुआ । इस आंदोलन को प्रयोगवाद कहा जाता है । आपने ऑल इण्डिया रेडियो व भारतीय सेना में अपनी सेवाएँ दी तथा जोधपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष भी रहे ।

अज्ञेय को हिन्दी साहित्य में व्यक्ति स्वातंत्र के पुरस्कर्ता के रूप में जाना जाता है । अज्ञेय के उपन्यास 'शेखर:एक जीवनी (भाग- 1 व 2), नदी के द्वीप तथा 'अपने-अपने अजनबी' इस गद्य में सर्वथा नयी शैली और विषय वस्तु के कारण ख्यात हुए । विपथगा, परम्परा काठरी की बात, 'शरणार्थी' और 'जयदोल' आपके कहानी संग्रह है । यात्रा वृत्तान्त, आलोचना, निबन्ध तथा व्यंग्य विधाओं में भी आपने उल्लेखनीय लेखन किया है । अज्ञेय की काव्य यात्रा 1933 से 1985 तक रही, जो सदानीरा भाग- 1 व 2' शीर्षक से एक साथ उपलब्ध है । अपनी साहित्यिक उपलब्धियों के कारण अज्ञेय को

भारतीय ज्ञानपीठ, साहित्य अकादेमी व अन्य कई महत्वपूर्ण सम्मानों से अलकृत भी किया गया ।

डॉ. रमेशचंद्र शाह ने अज्ञेय के सम्बन्ध में उचित ही लिखा है ' आधुनिक हिन्दी भावबोध के इतिहास में अज्ञेय का व्यक्तित्व और कृतित्व केन्द्रीय महत्व रखता है। बहुत कम ऐसे लेखक होते हैं जो अपने जीवन और लेखन दोनों में एक अत्युच्च नैतिक मानदंड के निर्वाह के आग्रह से परिकलित रहे हों। अज्ञेय ऐसे ही लेखकों में थे।'

19.3 संस्मरण का पाठ

मन: संस्कार

यों तो उपन्यास सम्राट जैसा विरुद उस वाचिक परम्परा का एक अवशेष था जिस में कवि-सम्राट एवं कवि-चक्रवर्ती देश-भर में घूमते हुए समाज ओर दुनिया- भर में अपनी रचना प्रस्तुत करते थे : इस सम्प्रेषण की परिस्थितियाँ ऐसी होती थी कि प्रतिस्पर्द्धा का भाव कवि में आ ही जाता था ।

प्रेमचंद को उपन्यास-सम्राठ कहा गया तो इस में समीक्षकों, समालोचकों का मनसंस्कार ही प्रधान कारण था । उन्हीं का विवेक काव्य-कृतियों को इस रूप में जाँचने-परखने का आदी था । प्रेमचंद साहित्य में प्रतिस्पर्धा भाव से नहीं आये और अपने रचना-काल के अन्त तक कभी उन्होंने अपने कर्म को इस दृष्टि से नहीं देखा । अपनी अन्तिम बीमारी के दौरान भी वह इसी पक्ष पर बल दे रहे थे कि साहित्यकार समाजसेवी ही है और साहित्य-कर्म मूलत: साधना ही है ।

विजय

प्रेमचंद जी की बात काटते हुए प्रश्नकर्ता ने कुछ तीखे स्वर में कहा, ' 'आपके लिए तो साधना की बात कह देना आसान है । आप का क्या है, आप तो एक पैर कब में लटकाये बैठे हैं । हम नौजवानों का सोचिये -हमारे लिए साधना की बात किस काम की?' '

प्रश्न के स्वर से और पूछने के ढंग से मैं एक तरफ बैठा भी तिलमिल गया । प्रेमचन्द भी एक छोटे क्षण के लिए सकते में आ गये थे, लेकिन तुरत संभलते हुए उन्होंने संयत स्वर में कहा, ' 'एक क्यों, मैं तो दोनों पैर कब्र में लटकाये बैठा हूं फिर भी कहता हूँ कि साधना का बड़ा महत्व होता है ' और बात पूरी करके उन्होंने अपना प्रसिद्ध कहाकहा लगाया की गूँज आज भी कभी-कभी उनके दोनों बेटों-श्रीपत राय और अमृत राय- की हँसी में सुनाई दे जाती है । स्पष्ट था कि इस बीच प्रश्न की बदतमीजी पर उन्होंने पूरी तरह विजय पा ली है ।

परिचय

प्रेमचंद जी से भी मेरा परिचय पत्राचार से आरम्भ हुआ था-या यों भी कह सकता हूँ कि निजी पत्र व्यवहार से भी पहले प्रतिनिधिक पत्राचार से आरम्भ हुआ था । दिल्ली षड्यन्त्र केस में अभियुक्त के में दिल्ली जेल में रहते हुए कुछ कहानियाँ मैंने लिखी

थीं। जेल में अभियुक्तों को कुछ कागजपत्र रूप - रखने की सुविधा तो रहती थी, लेकिन कोई ठिकाना नहीं था कि कब कौन-से कागज जब्त कर लिये जायें इस लिए कहानियों की प्रतिलिपि बना लेता था और जब भी चोरी-छिपे कुछ कागजात भेजने का मौका बनता तो ये प्रतिलिपियाँ भी बाहर भेज देता जिससे वह सुरक्षित रह सकें ।

अज्ञेय

इन्हीं बाहर भेजी गयी कहानियों में से दो कहानियाँ श्री जैनेन्द्र कुमार ने प्रेमचन्द जी को भेजी थीं-तब प्रेमचन्द ने पाक्षिक जागरण आरम्भ ही किया था । प्रेमचन्द जी को दोनों कहानियाँ बहुत पसन्द आयीं-लेकिन एक कहानी 'बहुत गरम' थी और उसे प्रकाशित करना जोखम का काम होता; दूसरी कहानी की वस्तु उग्र राजनीतिक नहीं थी और उसे छापने कार प्रेमचन्द जी ने निश्चय किया था कहानी की प्रशंसा के साथ इस निश्चय की सूचना जैनेन्द्र जी को देते हुए उन्होंने लिखा था, ' 'लेकिन यह तो तुमने बताया ही नहीं कि लेखक कौन है?' ' इसके उत्तर में जैनेन्द्र जी ने उन्हें लिखा, ' 'लेखक कौन है, यह तो मैं नहीं बता सकता -वह अज्ञेय है । " आशय यही था कि लेखक तो षड्यन्त्र केस का बन्दी है और कहानियाँ भी अवैध तरीके से बाहर भेजी गयी हैं, ऐसी स्थिति में नाम भी कैसे बताया जा सकता है और यह भी कैसे स्वीकार किया जा सकता कि गैरकानूनी तरीके से भेजी गयी सामग्री उन्होंने ग्रहण की । इस पर प्रेमचन्द जी ने लिखा, ' 'कहानी तो मैं छाप रहा हूँ । तब मैं 'अज्ञेय' नाम से ही छाप दूँ?' ' मुझे तो इस पत्र व्यवहार का पता काफी समय बाद लगा-कहानी छप गयी और उस की कतरन मेरे पास पहुँची तो लेखक का नाम देखकर मुझे वितृष्णा हुईनाम बहुत भारी लगा और मैंने अपने विरोध की सूचना जैनेन्द्र जी को भिजवा दी । तभी उन्होंने बताया कि नाम कैसे 'अपने-आप चुन गया-उन्होंने नहीं चुना ।

कविता

कुछ समय बाद मैंने फिर उन्हें तीन-चार कविताएँ भेजीं । इस बार मैंने यह भी नहीं लिखा कि प्रकाशन के लिए उन पर विचार करें । दो-तीन सप्ताह बाद प्रेमचन्द जी का एक पोस्ट कार्ड मुझे मिला । इस में भी कविताओं की पहुँच का तो उल्लेख नहीं था, बल्कि मेरी कविता का ही उल्लेख नहीं था-लेकिन कविता के बारे में एक बड़ी स्पष्ट राय थी, इतनी स्पष्ट और संक्षिप्त कि मुझे आज भी जबानी याद है (हाँ, इतना जरूर है कि उस पोस्टकार्ड को मैंने कई बार पढ़ा ।)-

'भाई अज्ञेय,

मुझे तो कविता ऐसी पसन्द है जैसा इकबाल का यह शेर:

जिस खेत से दहकां को मयस्सर न हो रोटी
उस खेत के हर गोश-ऐ-गन्दुम को जला दो!

तुम्हारा
प्रेमचंद

विलक्षणता

प्रेमचंद जी के विचार उन्हें राजनीतिक मनुष्य के निकटतर लाते जाते हैं, लेकिन न व्यावहारिक राजनीतिक बनाते हैं और न उस व्यवहार की ओर आकृष्ट करते हैं । यानी राजनीतिक मानव और विशेष रूप से भारतीय नागरिक के भविष्य और उसकी निर्यात की चिन्ता में डूब कर भी प्रेमचंद स्वयं पोलिटिशियन नहीं बनते, न बनना चाहते, और शायद यह कहना भी अन्याय नहीं होगा कि पोलिटिशियन बनने की कल्पना से भी विचलित हो उठते । जहाँ उनके राजनीतिक चिन्तन के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए, वहाँ उनके इस अन्त तक अछूते भोलेपन की विलक्षणता भी सामने रखनी चाहिए । वह स्वयं भी अपने इस भोलेपन को पहचानते थे और कभी-कभी यह चिन्ता एकाएक उन्हें ग्रस लेती थी कि उनके राजनीतिक विचारों के कारण उनका इस्तेमाल किया जा रहा है । ऐसा राजनीतिक इस्तेमाल भी शोषण ही है और इस की प्रतिक्रिया ऐसे व्यक्ति में स्वाभाविक थी जिस का सारा मानवतावादी आग्रह मनुष्य वर्ग अथवा समाज के द्वारा मनुष्य के दोहन के विरुद्ध था ।

अपनी बात

मेरी बातों को प्रेमचन्द के एक 'निरपेक्ष ऐतिहासिक' मूल्यांकन के रूप में नहीं लिया जा सकता, नहीं लेना चाहिए; लेकिन दूसरी ओर उन्हें एक समकालीन साहित्यकार की जीवन्त प्रक्रिया के रूप में देखते हुए और ऐतिहासिक मूल्यांकन से अलग करते हुए यह भी पहचानना चाहिए कि अध्यापक के तटस्थ मूल्यांकन उन का स्थान नहीं ले सकते । मेरी स्थिति से कही गयी बातों की अपने ढंग की उपयोगिता हो सकती है और शायद समकालीन साहित्य के मूल्यांकन में इस बात का भी अपना महत्व होता है कि वह साहित्य भीतर से कैसा दिखता था ।

नए युग में

वास्तव में जो साहित्य-स्रष्टा हमें एक युग से दूसरे युग में ले जाते हैं वे मानो खाई के आर पार खड़े हो कर इस सहज भाव से हमें एक कगार से उठा कर दूसरे पर रख देते हैं कि हमें पता ही नहीं लगता कि कितना बड़ा संक्रमण यों सम्पन्न हो गया है । अथवा रूपक बदल कर कहें कि ऐसे साहित्यकार वासुदेव की तरह हमें सुख-निद्रा में सोये-सोये ही डलिया में रख कर ऐसे पार ले जाते हैं कि हमें इस का जरा भी बोध नहीं होता कि हम एक संकट-भरे कारागार से एक सुरक्षित परिवेश में आ गये है ।

प्रेमचन्द के उपन्यास हमें कही से कही ले गये, कैसे उन्होंने कथा और उसके समाज का सम्बन्ध भी बदल दिया, इसे समझने के लिए एक अच्छा उपाय यह हो सकता है कि हम इंशाअल्ला खाँ की रानी केतकी की कहानी की भूमिका का प्रत्यक्ष सम्बोधन पढ़ें और फिर प्रेमचन्द के किसी उपन्यास का आरम्भ देखें । जिन की साहित्य के इतिहासों में रुचि है उनके लिए इस बात को यों भी कह सकते है कि प्रेमचन्द का अकेला व्यक्तित्व समूचे विक्टोरियन युग का आस्फालन करता हुआ हमें डिकेंस और थैकरे के समाज-चित्रों से गिसिंग के समाजालोचन तक ही नहीं ले आता बल्कि पहले महायुद्ध का युग पार करके गाल्सवर्दी से आगे तक पहुँचा देता है ।

सरोकार

प्रेमचंद के संदर्भ में 'सामाजिक यथार्थवाद' और 'सामाजिक आदर्शवाद' अथवा 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' को ले कर लड़ाइयाँ लड़ी गयी है और जन्म शताब्दी के समारोहों ने माने ठंडी पड़ती लड़ाई को फिर भडका दिया है, लेकिन सच्चाई वहीं की वहीं है । अन्त तक प्रेमचन्द का सरोकार नैतिक मानव से रहा और इस लिए जहाँ एक ओर उनके द्वारा प्रस्तुत किया गया सामाजिक यथार्थ कटुतर और अधिक नंगा होता गया, जहाँ उस के भीतर संघर्ष की भावना भी बार-बार उभरी और रूप बदलती गयी, वही यह बात भी स्पष्ट दिखती रही कि एक नैतिक मूल्य-निष्ठा लगातार प्रेमचन्द को प्रेरणा दे रही है । यथार्थ दर्दनाक है इसलिए उसी को कोई रंगत दे दी जाय, ऐसा उन्होंने कभी नहीं किया; लेकिन दर्द का कारण देखने के लिए आँख देखने वाले के संवेदन में है, इसे भी वह नहीं भूले-शायद यहाँ तक कहा जा सकता है कि उसे वह भुला नहीं सके ।

जीवन से विचार

प्रेमचंद चरित्रों को गढ़ते नहीं, प्रस्तुत करते है । ऐसा नहीं है कि किसी मतवाद या सिद्धान्त या समस्या से आरम्भ कर के वह जीवन की ओर बढ़े; उपन्यासकार के नाते वह जीवन को देखते हुए, उसी में से अपने विचार पाते हैं ।

उपन्यासकर का दृष्टिकोण

असल में हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जब हम कहते है कि उपन्यास सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करता है तब उस का जरूरी तौर पर यह अर्थ नहीं होता कि वह यथार्थ विषयी-निरपेक्ष होता है, 'ऑब्जेक्टिव रिएलिटी' होता है । उपन्यास क्योंकि सर्जना है इसलिए वह सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए भी उसका पुनःसर्जन करके उसे सामने लाता है । रिएलिटी पुन:सर्जित होती है, और ऑब्जेक्टिव होती है तो अपनी शर्तों पर, उस दायरे में जिसमें सर्जना-कर्म-मात्र निरपेक्षीकरण होता है । इस प्रक्रिया में उपन्यासकार के दृष्टिकोण को विशेष महत्व हो जाता है और दृष्टिकोण आधुनिक का एक लक्षण है । प्रेमचन्द के उपन्यासों में दृष्टिकोण क्रमश: ही प्रकट और पुष्ट हुआ ।

एक परम्परा

प्रेमचंद की रचना यात्रा का उल्लेख करते हुए मैंने कहा कि अंग्रेजी उपन्यास ने डिकेंस से लेकर गाल्सवर्दी तक जितना क्षेत्र पार किया था, प्रेमचन्द ने अपने सर्जक जीवन में उसे अकेले पार कर लिया । इस रूप में प्रेमचन्द केवल एक उपन्यासकार नहीं हैं बल्कि आधुनिक हिन्दी उपन्यास के लिए एक पूरी परम्परा हैं । इस बात को पहचानते हुए यह भी कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द पूरी तरह 'आधुनिक' शायद नहीं थे: उन की रचनाओं में प्रचलित अथवा पारम्परिक सामाजिक, राजनीतिक, आचार-नैतिक मूल्यों को तिरस्कार और सदैव नयी कसौटियों की खोज की तड़प नहीं है; यद्यपि सामाजिक अन्याय की गहरी चेतना, उस अन्याय के प्रति उत्कट विरोध के साथ-साथ स्पष्टतर

होती गयी है । समकालीन सामाजिक यथार्थ की तीव्रतर होती हुई आलोचना के साथ-साथ उनकी रचनाओं में आदर्श समाज की परिकल्पना की झलक तो मिलती है, लेकिन यह नहीं मालूम पड़ता कि नये वैज्ञानिक चिन्तन को सम्पूर्णतया स्वीकार करते हुए उन्होंने नयी मानवता की कोई समग्र कल्पना अपनायी अथवा प्रस्तुत की ।

इकहरापन

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस कारण तकनीकी दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यास अपेक्षया कम स्तरों पर सम्प्रेषण करते है, उनमें वह सघन संरचना नहीं है जिसे आज का विदग्ध पाठक खोजता हैं । (अपवाद रूप में कुछ कहानियाँ अवश्य हैं, लेकिन सामान्य रूप से उपन्यासों के बारे में यह बात सच है ही ।) लेकिन तकनीकी दृष्टि से भी देखें तो लक्ष्य है कि प्रेमचंद के उपन्यास उतने ही इकहरे हैं जितना भारत का अधिसंख्य समाज अपनी तमाम जटिलताओं के बावजूद इकहरा है ।

विरासत

साहित्य के क्षेत्र में विरासत का कोई अर्थ नहीं होता । साहित्यकार का न कोई वली होता है, न कोई वारिस: उस की देन समग्र मानवता के लिए होती है, जैसे कि वह जो कुछ पाता है वह भी समग्र मानवता से पाता है । अवश्य ही विधाओं के विकास की ऐतिहासिक परम्परा में अध्येता और अध्यापक हर साहित्यकार का कोई न कोई स्थान निश्चित कर देना चाहते हैं और इसी सन्दर्भ में यह प्रश्न भी उठता है कि कौन से साहित्यकार उसी परम्परा को आगे बढ़ा रहे हैं । लेकिन यह बात साहित्यकार के अवदान से अलग है और बहुत छोटी है ।

.... ..फिर भी अगर उत्तराधिकार की बात में कोई अर्थवत्ता हो सकती है तो इसी रूप में कि हम खोजें कि जो व्यापक करुणा अथवा मानवीय समवेदना प्रेमचन्द की विशेषता रही वह हमें किन परवर्ती साहित्यकारों में मिलती है । मेरा अनुमान है कि इस प्रश्न का सही जवाब उन सबको चौंकाने वाला होगा जो भारतीय साहित्य की वास्तविक समृद्धि और आवश्यकताओं की ओर ध्यान न दे कर प्रेमचन्द को केवल अपनी खत्ती में भर लेने को व्यग्र है ।

इस दृष्टि से देखे तो वैसी व्यापक ओर समावेशी समवेदना हमें मिलती है तो फणीश्वरनाथ 'रेणु' ओर अमृतलाल नागर में ।

श्रृद्धाजली

जहाँ तक मेरा अपना सवाल है, मैं तो पहले ही कह चुका कि मैं अध्यापक नहीं हूँ प्रेमचन्द का मूल्यांकन करने का अधिकारी अपने को नहीं समझता ऐसा कोई आग्रह मैं नहीं करता कि मैंने प्रेमचन्द को जिस दृष्टि से देखा उसी दृष्टि से सभी देखें । मैंने यही प्रयत्न किया कि दिखा सकूँ कि एक बड़ा साहित्यकार अपने समकालीन या अनुवर्ती लेखक की चेतना में कैसे जीता है और इसलिए उसकी रचनादृष्टि को कैसे प्रभावित करता है- जो रचना दृष्टि फिर अपने युवतर समकालीनो को सन्दर्भ अथवा परिवेश बन जाती है । लेखक प्राय: अपने निकटतम पूर्ववर्तियों को ही सब से अधिक काटने का प्रयत्न करते हैं । लेखक के नाते प्रेमचंद जी से अलग होने पर भी मुझे

कभी उन्हें काटने की आवश्यकता नहीं पड़ी, बल्कि मैं सदा उन्हें साथ लिये चल सका । मैं नहीं समझता कि इससे बड़ी कोई श्रद्धांजलि मैं उन्हें दे सकता ।

19.4 प्रतिपाद्य

उपन्यास सम्राट अज्ञेय की संस्मरण पुस्तक स्मृति लेखा का प्रतिनिधि संस्मरण है । इसे संस्मरणात्मक निबंध कहना अधिक समीचीन होगा क्योंकि यहाँ प्रारम्भ में प्रेमचंद के व्यक्तित्व पर बात करते हुए अज्ञेय अंतत: उनके लेखक के महत्व और मूल्यांकन पर गंभीर प्रयत्न करते है । लगभग सोलह पृष्ठों के इस संस्मरण में प्रारम्भिक पाँच पृष्ठ ऐसे हैं जहाँ अज्ञेय ने व्यक्ति और संपादक प्रेमचंद से अपने संबंधों को विवरण दिया है । आगे के पृष्ठ वस्तुत: अज्ञेय की सूक्ष्म आलोचकीय क्षमता का उदाहरण हैं । हिन्दी में आमतौर पर प्रेमचंद की परंपरा के समानान्तर प्रसाद-जैनेन्द्र और अज्ञेय की परंपरा को गढ़ने देखने की समझ रही है । अर्थात यह समझ लिया जाता है कि जहाँ प्रेमचंद दीन दुखी मनुष्यता की कथा कहते हैं वहीं इनके समानान्तर व्यक्ति मन का भीतरी यथार्थ इन तीनों की रचनाओं में अभिव्यक्त हुआ है । जाहिर है कि ऐसे सरलीकरण किसी भी तरह से संगत नहीं होते और यहीं इस संस्मरणात्मक निबंध का महत्व बढ़ जाता है जब दो परस्पर समानांतर विचार सरणियों वाले साहित्यकार आमने सामने सामने हैं और एक ने यह चुनौती स्वीकार की है कि वह दूसरे का सम्यक मूल्यांकन कर सके ।

यहाँ अज्ञेय ने प्रेमचंद को सबसे पहले इस बात का श्रेय दिया है कि उन्होंने कथा साहित्य के पाठकों की रुचि और भाव संवेदना में अपूर्व योगदान दिया । इसके लिए वे इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी' की कहानी की भूमिका और प्रेमचंद के किसी उपन्यास का आरम्भ पढ़ने का सुझाव देते हैं । आगे अज्ञेय प्रेमचंद को सामाजिक यथार्थवाद, सामाजिक 'आदर्शवाद' या 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' जैसी कोटियों में बाँधने को अनुचित ठहराते हुए उन्हें नैतिक संसार की वास्तविकता को प्रस्तुत करने वाला साहित्यकार बताते हैं । फिर वे प्रेमचंद के कथालेखन के शैल्पिक पक्ष पर विचार करते हैं । उनकी मान्यता है कि प्रेमचंद कथानक को बहुत अधिक महत्व देते थे, दृष्टिकोण को कम, और इसी आधार पर वे कहते हैं कि प्रेमचंद ने हमें उतने अलग-अलग स्मरणीय पात्र नहीं दिए ।

वस्तुत: यह संस्मरण बताता है कि अपने समय के एक बड़े साहित्यकार को दूसरा बड़ा लेखक किस तरह अपनी चेतना में धारण करता है ।

19.5 संस्मरण का अर्थ और 'उपन्यास सम्राट'

कथाकार और मीडिया विश्लेषक अरुण प्रकाश इन दिनों हिन्दी गद्य विधाओं के स्वरूप की तात्विक पड़ताल कर रहे हैं । उन्होंने लिखा है संस्मरण इतनी तरल विधा हे कि अपने बारे में लिखो तो आत्मकथा लगे, दूसरों के बारे में लिखो तो रेखाचित्र या निबंध दिखे ओर जगहों, यात्राओं के बारे में लिखा जाए तो यात्रा वृत्तांत । ' कुछ ऐसा ही

'उपन्यास सम्राट' में भी हुआ है जहाँ अज्ञेय प्रेमचंद के लेखन पर बात करते हुए इतनी दूर निकल जाते हैं कि इस रचना का रूप संस्मरण की प्रचलित परिभाषा से बाहर निकल आता है । सवाल यह है कि संस्मरण की कसौटी पर इस रचना का मूल्यांकन किस तरह किया जाना उचित होगा? एक अच्छा संस्मरण वह होता है जो स्मृति ओर सत्य के बीच की दूरी को न रहने देने के लिए तत्पर दिखाई देता हो । प्रेमचंद के व्यक्तित्व की विशेषताओं को अज्ञेय ने यही जिस ढंग से प्रस्तुत किया है वह सचमुच विश्वसनीय है । इंटरव्यू में बेहद निम्न स्तर के फूहड़ सवाल पर उत्तर देकर ठहाका लगाते या कविता पर अपनी दो टूक राय बताते प्रेमचंद के चित्र कहीं भी कृत्रिम नहीं लगते । असल समस्या आगे आती है जब अज्ञेय प्रेमचंद के साहित्यिक अवदान पर विस्तृत विचार करते हैं और यहीं यह संस्मरण धीरे-धीरे एक ऐसे निबंध का रूप ग्रहण करता जाता है जो अपने पूर्ववर्ती साहित्यिक का आत्मीय किंतु निर्भीक मूल्यांकन करने में सफल हुआ है । इसके उदाहरण देना अनुचित न होगा-

> जिस दुनिया में हम जीते हैं वह नैतिक दृष्टि से कितनी अँधेरी है, इस बात की पहचान उनकी रचनाओं में लगातार तीव्रतर होती गयी, यहाँ तक कि अन्तिम काल की कुछ कहानियों में तो वह मानो एक चरम अतिनेतिक अथवा नीति-निरपेक्ष संसार की देहरी पर आ खड़े हुए थे ।लेकिन इस यथार्थ को पहचान कर भी वह स्वीकार नहीं कर पा रहे थे; सामाजिक वास्तविकता का चित्र खींचते हुए उनका लक्ष्य एक नीति-निरपेक्ष संसार की वास्तविकता प्रस्तुत करना नहीं था, बल्कि एक नैतिक संसार की वास्तविकता प्रस्तुत करना था । वह नैतिक वास्तविक संसार चाहे कितना ही मर्माहत और उपेक्षित क्यों न हों? निःसन्देह और भी साहित्यकार रहे जिनके प्रति प्रेमचन्द समय-समय पर आकर्षित हुए्और इनमें गोर्की तथा इकबाल उलेख्य है-लेकिन यह कहना अनुचित न होगा कि साहित्यकार के नाते प्रेमचन्द ने अपने को हमेशा एक जाग्रत नीतिप्राण, सामाजिक चेतना के ही रूप में देखा एक सिपाही के रूप में नहीं । यह कहना प्रेमचन्द के महत्व को कम करना नहीं है क्योंकि मेरे मत में तो जो साहित्यकार विपरीत परिस्थितियों में पूरे समाज की जाग्रत आत्मा का काम करता है वह उससे अच्छा, बड़ा और अधिक विकासशील है जो कि अपने को एक योद्धा के रूप में देखता है । योद्धा पिछड़ भी जाता है, लेकिन जाग्रत आत्मा कभी नहीं पिछड़ती ।

19.6 स्मृति का साक्षात्कार

'वास्तव में संस्मरण सत्य का अभ्यास है। वह स्मृति पर निर्भर है और स्मृति में कई जटिलताएँ होती हैं एक तरह से देखें तो स्मृति सत्य की रिश्तेदार जरुर है पर ये जुड़वा सताने तो कतई नहीं हो स्तुति के चश्मे से दूरस्थ समय की चीजें विशाल दिखती हैं। हम बहुत बातें भूलते भी हैं बचपन के बारे में तो जरूर ही भूलते हो इसलिए बचपन के बारे में जो कहे लिख दें चलेगा बचपन का कोई जीवाश्म नहीं होता। स्मृति तथ्य को

धूमिल भी करती है। हम इस उस से वाकिफ हैं शीर्षक से संस्मरण का विधागत विवेचन करते हुए अरुण प्रकाश ने स्मृति और संस्मरण का द्वंद्वात्मक संबंध बताया है । इस आलोक में उपन्यास सम्राट को देखना सचमुच रोचक है । अज्ञेय यहाँ प्रेमचंद से जुड़े केवल दो प्रसंगों को ही लेते हैं जबकि वे इस तरह के कुछ और ब्यौरे भी दे सकते थे । इसका तात्पर्य यह है कि संस्मरण में वे स्मृति का उतना ही इस्तेमाल करते हैं जितना विश्वसनीयता के लिए जरूरी हो । यहाँ अज्ञेय का लक्ष्य है प्रेमचंद के लेखन की उपयोगिता का सम्यक विवेचन कर उसका वास्तविक मूल्य अंकन करना । इस मूल्यांकन की प्रक्रिया को वे किसी पेशेवर आलोचक की तरह करने के बजाय स्मृति के आख्यान का सहारा लेते हैं।

जैसा पूर्व में बताया गया है कि अज्ञेय ने इस बात का बड़ा महत्व प्रतिपादित किया है कि 'प्रेमचंद का अकेला व्यक्तित्व समूचे विक्टोरियन युग का आस्फालन करता हुआ हमें डिकेंस और थैकरे के समाज-चित्रों से गिसिंग के समाजालोचन तक ही नहीं ले आता बल्कि पहले महायुद्ध का युग पार करके गाल्ल-वर्दी से आगे तक पहुँचा देता है। ' इस तथ्य की भूमिका के रूप में संस्मरण में आए प्रारंभिक प्रसंग को रख दें तो बात स्पष्ट हो सकेगी- ' प्रश्न के स्वर से और पूछने के ढंग से मैं एक तरफ बैठा भी तिलमिला गया प्रेमचदं भी एक छोटे ठन के लिए सकते में आ गये थे लेकिन तुरत संभलते हुए उन्होने संयत स्वर में कहा "एक क्यों, मैं तो दोनों पर कब में लटकाये बैठा हूँ फिर भी कहता हूँ कि साधना का बड़ा महत्व होता है' और बात पूरी करके उन्होने अपना प्रसिद्ध कहाकहा लगाया की गूँज आज भी कभी- कभी उनके दोनों बेटों- श्रीपत तय और अमृतराय -- की हँसी में सुनाई दे जाती है । स्पष्ट था कि इस बीच प्रश्न की बदतमीजी पर उन्होंने पूरी तरह विजय पा ली है। '

प्रेमचंद यहाँ साधना का महत्व बता रहे हैं जो दरअसल अज्ञेय के इस संस्मरण का बीज सूत्र भी है । अज्ञेय ने इसी भाव बिन्दु का विस्फार समूचे संस्मरण में किया है । वे प्रेमचंद के बारे में लिखते है- उनकी शक्ति का स्रोत इसी में है कि उन्होंने मानवीय समवेदना का इतना विस्तार किया और अन्याय का विरोध करते हुए भी उस समवेदना का दायरा समय के साथ संकुचित नहीं होने दिया। परवर्ती उपन्यास बहुत सी बातों में, विशेषतया रचना-शिल्प की दृष्टि ने प्रेमचन्द से कहीं आगे है। लेकिन जिस महाकरूणा की बात मैंने की है वह प्रेमचन्द को महान उपन्यासकारों की कोटि में रखती है- वह उन्हें अब तक एक बड़े समाज के साथ जोड़े रख सकती हे जब कि उन से कुशलतर परवर्ती उपन्यासकारों को दायरा छोटा हो गया है।"

इस संदर्भ में स्मृति का एक रचनात्मक उपयोग अज्ञेय ने अपने ही प्रसंग में किया है । सच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन को अज्ञेय उपनाम कैसे मिला? यह जानना किसी भी पाठक के लिए रोचक होगा । अजेय उपन्यास सम्राट' में इस प्रसंग का संक्षिप्त किंतु दिलचस्प विवरण देते हैं और आत्मालोचन से गहरी विश्वसनीयता भी अर्जित करते हैं ।

19.7 आलोचक की आँख

अज्ञेय मूलत: कवि-कथाकार हैं लेकिन आलोचना के सूक्ष्म विवेक के कारण ही हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में भी उनका दाय स्वीकार किया जाता है । 'उपन्यास सम्राट' संस्मरण के ढाँचे में कथाकार प्रेमचंद के लेखन की समालोचना भी प्रस्तुत करता है और-चालू ढाँचे से हटकर लिखे जाने से इस आलोचना को विशिष्ट कहना चाहिए । अज्ञेय ने प्रेमचंद का मूल्यांकन करते हुए कुछ सूत्र दिये हैं-

1. लक्षणीय है सामाजिक की रुचि और भाव संवेदन का वह परिवर्तन जो उनके माध्यम से संपन्न हुआ ।
2. सामाजिक वास्तविकता का चित्र खींचते हुए उनका लक्ष्य एक नीति-निरपेक्ष संसार की वास्तविकता प्रस्तुत करना नहीं था, बल्कि एक नैतिक संसार की वास्तविकता प्रस्तुत करना था -वह नैतिक वास्तविक संसार चाहे कितना ही मर्माहत और उपेक्षित क्यों न हों ।
3. प्रेमचंद के श्रेष्ठ उपन्यास गोदान के होरी को शयद इस करुणा का प्रतीक-पुरुष माना जा सकता है जो क्रोध करना चाह कर भी इसलिए नहीं कर पाता कि वह धर्म भीरु है और उसके भीतर कारुण्य की एक धारा सदैव बहती हे । प्रेमचन्द भी शायद रोष करना चाहते हैं, लेकिन कर नहीं पाते क्योंकि वह भी मानव मात्र को प्यार करते हैं-वैसा व्यापक प्यार जिसके लिए करुणा ही सही नाम हो जाता है ।
4. उनके विचार या सिद्धान्त चरित्रों पर आरोपित किये जा कर उन्हें पुतलियों की तरह नहीं नचाते, बल्कि चरित्र ही मंच पर आ कर अपना जीवन जीते हुए अपने विचारों तक पहुँचते हे अथवा अपने पाये हुए विचार निरूपित किये जाने के लिए उपन्यासकार को सौंप देते हैं ।
5. प्रेमचंद की रचना यात्रा का उल्लेख करते हुए मैंने कहा कि अंग्रेजी उपन्यास ने डिकेंस से लेकर गाल्सवर्दी तक जितना क्षेत्र पार किया था, प्रेमचन्द ने अपने सर्जक जीवन में उसे अकेले पार कर लिया । इस रूप में प्रेमचन्द केवल एक उपन्यासकार नहीं हैं बल्कि आधुनिक हिन्दी उपन्यास के लिए एक पूरी परम्परा हैं ।
6. क्योंकि असंख्य सामाजिक जटिलताओं के बीच भी भारतीय मानव की अवस्थिति के आधारभूत सम्बन्धों को सीधे सरल ढंग से भी निरूपित किया जा सकता है-क्योंकि महान सत्य अन्तत: बड़े सरल सत्य होते हैं-इसी लिए प्रेमचन्द की विशाल मानवीय करुणा और उनकी समवेदना-क्षमता का इतना महत्व है ।
7. लेकिन महान साहित्यकार को यों उपयोज्य या उपजीव्य नहीं बनाया जा सकता प्रेमचन्द को भी हम उन्हें अपने-अपने बाड़े में ले आने या अपनी खली में बन्द करने का मनोभाव छोड़कर उसी रूप में ग्रहण कर सकें जिस रूप में वह हमारे पाठक-समाज में बने रहने वाले हैं तो ही हम उनका वास्तविक सम्मान कर रहे होंगे और हिन्दी साहित्य अथवा उसके अध्ययन-अध्ययापन को सही प्रेरणा दे रहे होंगे ।

विद्यानिवास मिश्र ने 'स्मृति लेखा' की भूमिका में लिखा है- ' प्रेमचंद की स्मृति-लेखा में नैतिक यथार्थवाद की जो अवधारणा भाई ने रेखांकित की है वह बहुत प्रासंगिक होते हुए भी अत्यन्त उपेक्षित है। कुछ सतही पैमानों से साहित्यिक परम्परा का जो लोग विकास नापते- जोखते रहते हैं वे भूल जाते हैं कि साहित्यकार सिपाही नहीं होता, वह जाग्रत नागिप्राण सामाजिक चेतना का वाहक होता है। भाई ने 'सिपाही' और चेतना-वाहक इन दो भूमिकाओं को एक- दूसरे का विकल्प नहीं बनाया, जरूरत पड़ने पर सिपाही भी रहे पर उन्होंने अपनी मुख्य भूमिका सामाजिक चेतना के वाहक की ही रखी । अज्ञेय की विशेषता ही कही जानी चाहिए कि वे प्रचलित मुहावरों से हटकर प्रेमचंद को नये आलोक में देख पाते हैं । अज्ञेय कहते भी हैं कि मैंने यही प्रयत्न किया कि दिखा सकूँ कि एक बड़ा साहित्यकार अपने समकालीन या अनुवर्ती लेखक की चेतना में कसे जीता है और इसलिए उसकी रचना- दृष्टि फिर अपने युक्त? समकालीनों को सन्दर्भ अथवा परिवेश बन जाती है।' कहना न होगा कि यह बात लिखकर ही अज्ञेय ने चालू विभाजनों को पीछे छोड़ते हुए कैसे हिन्दी लेखन की समृद्ध परंपरा स्वत: निर्मित कर दी है ।

19.8 व्याख्या -

1- **व्याख्या**

प्रश्न के स्वर से ओर पूछने के ढंग से में एक तरफ बैठा भी तिलमिल गया प्रेमचन्द भी एक छोटे क्षण के लिए सकते में आ गये थे, लेकिन तुरत संभलते हुए उन्होंने संयत स्वर में कहा, एक क्यों' मैं तो दोनों पैर कब्र में लटकाये बैठा हूं फिर भी कहता हूँ कि साधना का बड़ा महत्व होता होता है। और बात दूरी करके उन्होंने अपना प्रसिद्ध कहाकहा लगाया की गूँज आज भी कभी-कभी उनके दोनों बेटों -श्रीपत राय और अमृत राय- की हँसी में सुनाई दे जाती है । स्पष्ट था कि इस बीच प्रश्न की बदतमीजी पर उन्होंने दूरी तरह विजय पा ली है।

संदर्भ- ये पंक्तियाँ अज्ञेय द्वारा लिखित संस्मरण 'उपन्यास सम्राट' से उद्धष्त की गई हैं । प्रेमचंद से मुलाकात के वर्णन में अज्ञेय एक प्रसंग बता रहे हैं जब उनसे तीन युवतर साहित्यकार इंटरव्यू लेने आए हुए थे । वे प्रेमचंद को उत्तेजित कर कोई सनसनीखेज बयान लेना चाहते थे ।

व्याख्या- प्रेमचंद इन प्रश्नकर्ताओं के उत्तर धैर्य से दे रहे थे लेकिन ऐसा लग रहा था कि युवतर साहित्यकार जो उत्तर चाहते हैं वह मिल नहीं पा रहा । तब उनमें से एक ने प्रेमचंद को उत्तेजित करने की नीयत से कह दिया कि आपके लिए साधना की बात करना आसान है क्योंकि क्योंकि आप एक पैर कब में लटकाकर बैठे हैं लेकिन हमारे लिए साधना की बात किस काम की? प्रश्न पूछने के ढंग और स्वर से प्रेमचंद को बुरा लगना स्वाभाविक था लेकिन उन्होंने तत्काल स्वयं को संभालकर उत्तर दिया कि एक क्यों मैं तो दोनों पैर कब में लटकाए बैठा हूँ तब भी यही कहूँगा कि साधना का बड़ा महत्व होता है । यह प्रेमचंद के उदात्त व्यक्तित्व ओर श्रम में निष्ठा का परिचायक था

कि वे विचलित हुए बगैर ऐसे बेहूदा सवाल पर भी आपा नहीं खो बैठे । अज्ञेय लिखते हैं इसके बाद उन्होंने कहकहा लगाया । जिसका आशय वे इस बदतमीजी पर विजय पाते हैं ।

विशेष- प्रेमचंद के व्यक्तित्व की सरलता और तेजस्विता का संयोग इस प्रसंग में आया है । श्रम के प्रति अनन्य निष्ठा उनके व्यक्तित्व की सरलता और बेहूदगी पर न भड़कना तेजस्विता का ही लक्षण है ।

2. व्याख्या -

इधर कई-एक साहित्यकारों की जन्म-शताब्दियाँ मनायी गयी हैं और लगभग प्रत्येक के साथ विरासत का प्रश्न बड़े विकृत छप में उठाया गया है मानो हम अपने को परम्परा में जोड़ने की बात न सोचकर परम्परा को अपने एकाधिकार में ले लेना चाहते हो' विचित्र बात है कि साहित्यकारों को अपनी-अपनी सम्पत्ति सिद्ध करने की यह प्रवृत्ति उन्हीं लोगों में अधिक हे जो दूसरे क्षेत्रों में सम्पत्ति के अधिकार के विरोध की बात करते है।

संदर्भ- उक्त गद्यांश प्रसिद्ध कवि कथाकार अज्ञेय द्वारा लिखित संस्मरण उपन्यास सम्राट' से लिया गया है । यशस्वी कथाकार प्रेमचंद की जन्म शताब्दी के अवसर पर लिखा गया उक्त संस्मरण अज्ञेय की पुस्तक मति लेखा में संकलित है । यहाँ लेखक की विरासत के सवाल पर विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि परंपरा बढ़ाने की बजाय उस पर अधिकार की प्रवृत्ति अनुचित है ।

व्याख्या- अज्ञेय यहाँ कहते हैं कि साहित्यकारों की जन्म शताब्दियों के साथ ही विरासत का सवाल भी उठाया जाता है लेकिन यह देखना चाहिए कि विरासत का असल अर्थ क्या है? अज्ञेय के अनुसार लेखक की विरासत वह है जो परवर्ती लेखक अपने लेखन संस्मरण में अपनाकर समृद्ध करें न कि लेखक की विरासत को विचारधारा विशेष की संपत्ति ही सिद्ध करने लगें । वस्तुत: अज्ञेय साहित्य में मतवाद के प्रबल विरोधी है ओर इसे वे साहित्य की स्वायत्तता में अवरोध मानते हैं । प्रेमचन्द की विरासत को आमतौर पर प्रगतिशील जनवादी लेखक अपनी विचारधारा से जोड़ते हैं जो अज्ञेय को उचित नहीं जान पड़ता । वे व्यंग्य करते हैं कि साहित्यकारों को अपनी सम्पत्ति सिद्ध करने की प्रवृत्ति इन्हीं प्रगतिशील जनवादी लोगों में अधिक है जो सम्पत्ति के अधिकता के विरोध की बात करते हैं । अज्ञेय लेखक की विरासत को इन मतवादों से ऊपर उच्च मानवीय धरोहर के रूप में देखने के आग्रही हैं ।

विशेष- लेखक की विरासत और विचारधारा का सवाल पुराना नहीं है । अज्ञेय का यह तर्क उपयोगी है कि लेखक को विराट मनुष्यता से जोड़कर देखना चाहिए न कि विचारधारा-मतवादों के आग्रह से ।

19.9 सारांश

अज्ञेय के संस्मरण 'स्मृति लेखा' में संकलित किए गए हैं और इसमें प्रेमचंद के बारे में लिखा गया उपन्यास सम्राट' पाठकों को प्रेमचंद के व्यक्तित्व की सादगी ओर सरलता

के बारे में जरूरी इशारा करता हुआ उनके लेखन की बुनियादी गहराई को बताता है । अज्ञेय ने चालू मुहावरों से पृथक प्रेमचंद का मूल्यांकन करने के लिए दो सूत्र दिए हैं- पहला, हिन्दी कथा साहित्य को अय्यारी - तिलिस्मी दौर से निकालकर कथा और समाज का संबंध बदल देना और दूसरा, नैतिक यथार्थवाद । वस्तुत: अज्ञेय प्रेमचंद के लेखन को व्यापक मानवीय संवेदना के कारण न केवल बड़े लेखन का दर्जा देते हैं और उन्हें अपनी चेतना में जीवंत बताकर उन्होंने सच्ची श्रद्धांजलि भी देते हैं ।

19.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1- संस्मरण लेखन में अज्ञेय का दाय सर्वथा भिन्न है । बताइए ।

2- 'उपन्यास सम्राट' में संस्मरण और निबन्ध का भेद जैसे खत्म हो जाता है । अपना अभिमत दीजिए ।

3- प्रेमचंद के साहित्य का बुनियादी मूल्य संवेदना था । 'उपन्यास सम्राट' के आधार पर बताइए ।

4- साहित्यकार की विरासत क्या होती है? अज्ञेय का मत बताइए ।

5- साहित्यकार की भूमिका ज्यादा बड़ी है । उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए ।

6- उपन्यास सम्राट' से प्रेमचंद की बड़ी लेखक छवि बनती है । बताइये ।

7- अपने पढ़े साहित्यकारों के अन्य संस्मरणों से 'उपन्यास सम्राट' की तुलना कीजिए ।

19.11 संदर्भ ग्रंथ

1. अज्ञेय-स्मृति लेखा; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण 1986
2. रमेशचन्द्र शाह; अज्ञेय - साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, संस्करण 2000
3. प्रणय कृष्ण; अज्ञेय का काव्य, आधार प्रकाशन, पंचकूला, संस्करण 2007
4. अरुण प्रकाश; हम इस उम्र से वाकिफ हैं- प्रगतिशील वसुधा, भोपाल जनवरी, मार्च 2006
5. स्वयं प्रकाश; हमसफरनामा-रचना प्रकाशन, जयपुर, 2000
6. नामवर सिंह (सं.) आलोचना-राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
7. प्रभाकर श्रोत्रिय (सं.) पूर्वग्रह-भारत भवन, भोपाल

इकाई-20 रांगेय राघव कृत रिपोर्ताज 'अंधकार' (तूफानों के बीच में) का अध्ययन व विवेचन

इकाई की रूपरेखा-

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 लेखक परिचय और साहित्यिक अवदान

20.3 रचना पाठ

20.4 प्रतिपाद्य

20.5 रिपोर्ताज का अर्थ और 'अंधकार'

20.6 संकट के ओर छोर

20.7 यथार्थ का निरूपण

20.8 व्याख्या

20.9 सारांश

20.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

20.11 संदर्भ ग्रंथ

20.0 उद्देश्य

इस इकाई में अध्ययन के पश्चात आप :

- रांगेय राघव के प्रसिद्ध रिपोर्ताज 'अदम्य जीवन' के एक अंश 'अंधकार' का अध्ययन करेंगे ।
- रिपोर्ताज के विधागत महत्त्व को जानते हुए लेखक द्वारा किए गए यथार्थ निरूपण का साक्षात्कार कर सकेंगे ।
- संरचना और शिल्प की दृष्टि से रिपोर्ताज का महत्व समझ सकेंगे ।

20.1 प्रस्तावना

'अंधकार' रांगेय राघव का रिपोर्ताज है जो उनके प्रसिद्ध रिपोर्ताज संग्रह 'तूफानों के बीच' से संकलित किया गया है । 'तूफानों के बीच' को हिन्दी का पहला रिपोर्ताज संकलन माना जाता है । 1942 में बंगाल में भयानक अकाल के दिनों में आगरा के दिनों में आगरा से प्रगतिशील लेखक संघ के तत्वावधान में डॉ. कुण्ठे के नेतृत्व में एक दल पूर्वी बंगाल भेजा गया था । रांगेय राघव इस दल में एक रिपोर्टर के रूप में गए थे यद्यपि इस समय वे एक वयस्क विद्यार्थी ही थे । उन्होंने इस विभीषिका का आँखों देखा हाल अमृत राय के संपादन में आ रहे 'हंस' में लिखा और यह हिन्दी में एक ऐतिहासिक घटना थी जिसने एक नयी विधा को जन्म दिया ।

हिन्दी साहित्य कोश में रिपोर्ताज की जो परिभाषा दी गई है वह है- रिपोर्ताज फ़्रांसीसी भाषा का शब्द है और अंग्रेजीं शब्द रिपोर्ट से इसका गहरा संबंध है। रिपोर्ट किसी घटना कि यथातथ्य साध्य वर्णन को कहते है । वस्तुगत तथ्य को रेखाचित्र की शैली में प्रभावोत्पादक ढंग से अंकित करने में ही रिपार्ताज की सफलता है ।

'अन्धकार' अकाल की विभीषिका से लड़ रही एक युवती की कथा कहता है । उसने अपने पेट की भूख का शमन करने के लिए चार विवाह किए और चारों बार उसका जीवन संकटों से मुक्त न हो सका । उसे वेश्यावृत्ति करनी पड़ी । दल में आए डॉक्टर इस युवती से बात करते हैं और तभी उसके चौथे पति की भी मृत्यु हो जाती है । इस रिपोर्ताज में निराशा के घोर अंधकार में जीवन की उद्दाम लालसा टिमटिमाती हुई पाठक को विस्मित कर जाती है ।

20.2 लेखक परिचय और साहित्यिक अवदान

17 फरवरी 1923 को आगरा में जन्मे रांगेय राघव हिन्दी कथा साहित्य के विख्यात हस्ताक्षर हैं । आपका मूल नाम तिरूमतलै नम्बाकम वीरराघव आचार्य था । कुल से आप दाक्षिणात्य थे । आपने एम.ए. पीएच डी. के साथ हिन्दी जगत में लेखक के रूप में पहचान बना ली थी । 1947 में आपका पहला कहानी संग्रह साम्राज्य का वैभव प्रकाशित हुआ । 12 सितम्बर 1962 को बीमारी के कारण केवल 39 वर्ष की आयु में आपका देहांत हो गया था लेकिन तब तक वे कहानी, उपन्यास कविता, नाटक, रिपोर्ताज और आलोचना, सभ्यता व संस्कृति पर लगभग 150 से अधिक पुस्तकों का सृजन कर चुके थे ।

हिन्दी कथा साहित्य में आपने कई अविस्मरणीय पात्र दिए । 'गदल' जैसी कहानी और 'कब तक पुकारू जैसा उपन्यास किसी भी भाषा के लिए गौरवपूर्ण उपलब्धि है । प्रो. कुँवरपाल सिंह ने लिखा है- 'प्रगतिशील आन्दोलन में रंगेय राघव की महत्वपूर्ण भूमिका है। वे रचनात्मक और वैचारिक दोनों स्तरों पर प्रगतिशील आन्दोलन में योगदान करते हो' राजस्थान के कथा साहित्य के विशेषज्ञ डॉ.दुर्गाप्रसाद अग्रवाल ने रांगेय राघव के लेखन पर कहा है- ' कृतित्व की विपुलता रांगेय राघव की महानता का कारण नहीं है। उनका अधिक महत्व विषयगत वैविध्य अपने विश्व के प्रति गहन निष्ठा और कथा शिल्प पर असाधारण अधिकार के कारण है। ..... अपनी गहन मानवीय संवेदना ओर सुलझी हुई राजनीतिक समझ के कारक रांगेय राघव सृजन के ऐसे कीर्तिमान स्थापित करते हैं जिन्हें पार करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही लगता है ।

20.3 रचना पाठ

<u>रात</u>

जब रात हो गयी, तो नियमानुसार मजदूर अपनी गप्पें सुनाने लगे । डाक्टर कुंटे आज बैंगन की तरकारी बना रहे थे । स्टोव की आवाज कमरे में भर्र-भर्र करती गूँज रही थी। हवा का तेज झोंका एक खिड़की से आकर दूसरी खिड़की से निकल जाता था। लैंप

कभी-कभी भक-भक करने लगता, और जगदीश और कृपा शतरंज की बाजी से सिर उठाकर देखने लगते । जगदीश को अपने शरीर के मांसलपन का गर्व था तो कृपा को अपने शरीर के गठीलेपन का । और मजदूरों को गर्व था दिन-भर की थकान के बाद मनोरंजन करने के लिए डॉक्टर को शतरंज लाकर देने का । रोशनी थोड़ी देर तक काँपती रही । फिर सब पर ही स्टोव का घोष छा गया ।

डॉक्टर

डॉक्टर मन ही मन परेशान था । इस व्यक्ति ने कहा था- 'थोड़ी ही दूर चलना पड़ेगा, डॉक्टर! वहाँ सोनारगाँव परगने के गाँवों में आदमी बुरी तरह मर रहे हैं । आज अकाल के बाद बीमारियों में वे पिस्सू-ग्रस्त चूहों की तरह बिलबिला रहे हैं..... । ' और उस व्यक्ति के स्वर में न दया की याचना थी न करुणा का कम्प!

पाँच मील चल चुके हैं । किन्तु अभी पथ का अन्त नहीं है ।

सोनारगाँव

धुंधले प्रकाश में सोनारगाँव खास टिमटिमा रहा था । डॉक्टर के कदम जल्दी-जल्दी उठने लगे । वायुमंडल उसीसे भर रहा था । आकाश में पतला-सा चाँद चल रहा था- अँधेरे के व्यथित हृदय में कसकन पैदा करनेवाला एक काँटा! डॉक्टर का मन भारी हो गया ।

पेड़ हिलते रहे । अँधेरा काँपता रहा सोनारगाँव बियाबान-सा सिहर रहा था ।

बूढ़ा चौधरी

बूढा चौधरी अपने मरियल बैल पर, नैराश्य की मूर्ति बना, नारियल पीता हुआ हाथ फेर रहा था । उसने कर्ज में अपनी सारी जमीन रेहन रख दी थी । एकमात्र स्नेह का प्रतीक, वही बूढ़ा बैल बाकी था । उसका वियोग उसके लिए असह्य था । लोग अपने अपने कुटुम्बों के लिए चिन्तित थे, किन्तु वह अपनी हड्डियों का मोह छोड़कर उस पशु पर अपना सारा दुलार उँडेल रहा था । खाली बर्तन से पानी की अन्तिम बूँदें टपक रही थीं! उसे किसी पर विश्वास नहीं था । वह किसी की सुनना नहीं चाहता था ।

झोपडी

झोपड़ी का द्वार खुला था । आवाज देने पर भी कोई उत्तर नहीं मिला । डॉक्टर ने आगे बढ़कर झाँका । एक औरत भीतर बेहोश पड़ी थी । उसका बच्चा उसके चेचक से भरे शरीर पर लोट रहा था, रो रहा था । दाने पक गये थे । झोपड़ी से बदबू आ रही थी । वह करीब-करीब नंगी थी । उसके पास कोई खास कपड़ा भी नहीं था । भूमि पर केवल एक चटाई बिछी थी और दीवार पर लक्ष्मी का एक चित्र टँगा था ।

वालंटियर सफाई करने लगे । डॉक्टर लक्ष्मी का चित्र देख रहा था, और उसकी नजर उस दम-तोड़ती औरत पर रह -रहकर कॉप उठती थी हठात् उसके सूखे होंठों पर गहन वेदना कठोर हास्य बनकर फैल गयी । वह मशीन की तरह वेग से काम करने लगा । सोनारगॉव में धूल थी-केवल धूल!

अकाल

गाँव के प्रतिष्ठित वयोवृद्ध मुखोपाध्याय उनका स्वागत करने को पथ पर निकल आये थे । आज सब उनकी सेवाओं की तारीफ करते थे । वृद्ध की आँखों में अँधेरा-सा छिपा बैठा था । घरों में कराहें गूँज रही थीं । बच्चों और औरतों का एक झुण्ड आकर सड़क पर बात कर रहा था । कच्चे पथ पर धूल उड़ रही थी । एक आदमी एक घर के बरामदे में बैठा एक मैल-से बर्तन में चावल दाल के साथ मिला-मिलाकर खा रहा था । उसके काले होंठों पर जब कभी चावल का दाना चिपक जाता, तो वह जीभ फिराकर उसे निगलने का जल्दी प्रयत्न करने लगता ।

वृद्ध

वह जमींदार थे । कल तक उन्होंने घर में चावल छिपाकर कहा था, कि वह बहुत दरिद्र हैं । किन्तु जब भीषण चेचक ने उनके एकमात्र पुत्र को निगल लिया, तो उनका आचरण बदल गया । तब लोगों ने विस्मय से देखा-वृद्ध पथ पर खड़े चावल बाँट रहे थे! चंडीचरण का कुल धन्य हो गया । अन्न-वितरण समिति के प्रधान बन कर वह संसार का भला करने को स्वार्थ त्यागकर बाहर आ गये । सूना-सूना-सा घर काटने को दौड़ता था । डॉक्टर के आने पर उन्हें विशेष सन्तोष था ।

कलंकिनी

सामने एक साँवली स्त्री मटमैली साड़ी पहने खड़ी थी । सिर के बाल खुले हुए थे । घर का बाहरी भाग मुँह खोले पड़ा था । बाँसों पर धूमिल काई सी जम गयी थी । भीतरी भाग में रखे कुछ मिट्टी के मटके बाहर से दिखाई दे रहे थे । स्त्री के उदास मुख पर मुस्कान थी, जो वृद्ध के लिए असहय थी । एक बार वह अपने-आप ही कह उठे- 'क्या वह गाँव का घोर अपमान नहों है? क्या बंगाल की नारी का यही आदर्श है? ' उन्होंने बायें पैर बैठे-ही-बैठे दो बार थपकी दी, और आँखें को संकुचित करके उस और देखा ।

वेश्या

वृद्ध ने केवल इतना ही कहा, एक उच्च कुल की लड़की । अब वेश्या हो गयी है!'

डॉक्टर ने सुना । वह कुछ न कह सका । उसने देखा-एक स्त्री धीरे-धीरे उसकी और आने लगी । इतने विरोध के बीच भी जैसे उसे उस उच्च कुल के गर्व की तनिक भी चिन्ता न थी । जाने क्या था डॉक्टर के मुख पर कि वह उसकी ओर चली आयी, जैसे डूबता हुआ मनुष्य अगाध समुद्र में बहते लकड़ी के तख्ते को देखकर समस्त बल से उस ओर हाथ-पैर पटकने लगता है, उस पर अपना पूरा भार छोड़ देने को, उस पर आश्रित होने को!

करुणा

नारी के नयन सूख गये थे, मानो वह चमार के दुःख पर ही रो सकती थी, किन्तु अपने लिए रोकर दूसरों की करुणा बटोरना अपमान समझती थी । उसने दृढ़ स्वर में कहा, 'आप डॉक्टर हैं । समाज मुझे वेश्या कहता है । किन्तु क्या वेश्या के लिए आप

कुछ नहीं करेंगे? यही आपका धर्म है? ' उसने इस तरह कहा यह सब, जैसे घृणा से वह नहीं डरती ।

डॉक्टर ने हँसकर कहा, मैं न तुम्हें वेश्या कहता हूँ न तुझसे घृणा करता हूँ! मैंने तुमसे कब कहा कि मैं तुम्हारे पति को नहीं देखूँगा?'

व्यथा

डॉक्टर ने देखा-चटाई पर एक कंकाल-सा व्यक्ति पड़ा मर रहा था । उसने सोचकर निश्चय किया-सेरेब्रल मलेरिया! अब दिमाग का डिलेरियम (सरसाम) थोड़ी देर बाद मौत के घाट उतार देगा!

उसने निराशा से सिर हिलाया । औरत मुस्करा उठी । बोली, 'नहीं बचेगा? कोई क्या करे? तुम कोई भगवान तो हो नहीं! तुम्हारा क्या कसूर है? मरे तो मर जाये! क्या कर सकती हूँ? छोड़ जाने का यह भी एक अच्छा तरीका है! और वह हँस पड़ी । उसकी हँसी में एक व्यथा के इतिहास का व्यंग्य छलछला आया और स्वर झनझनाकर बिखर गये ।

कथा

डॉक्टर बाबू, मेरे बाबा नीलकंठ उस मुखोपाध्याय के बड़े मित्र थे । अकाल में जब उनका देहान्त हो गया, तो मेरे चाचा ने उनका स्थान लिया । मेरी एक बड़ी बहिन थी। उसका नाम था कल्याणी । जब हम लोगों के खाने को कोई सिलसिला नहीं रहा, तो चाचा की स्वीकृति से वह वेश्या-वृत्ति करने लगी, और कुद दिन बाद भीषण रोगों की शिकार हो गयी । चाचा ने डॉक्टर बुलाया । जब बीमारियों का पता लगा, तो चाचा ने लज्जावश आत्महत्या कर ली । कुछ दिन बाद कल्याणी भूख से तड़पकर मर गयी । गाँव उन दिनों खाली हो रहा था, सड़क पर गाँव-गाँव के भुखमरे गुजरते थे । कल्याणी का शव पड़ा रहा । उच्चकुल के अभिमानी लोगों में से कोई भी उस रात को उसका शव उठाने नहीं आया । तब मैं भादों की अँधेरी रात में अकेली ही धीवरों की बस्ती में गयी कि उनकी सहायता से शव का दाह कर दूँ । भूख से धीवर अधमरे हो रहे थे । वे एक-एक करके नहीं, समूह-के समूह मर रहे थे । मैंने उनसे कहा उन नीच जाति के लोगों ने मृतक पर आक्षेप करके शव उठाने से इंकार नहीं किया वे आये और शव उठाकर नदी की ओर ले चले शक्तिहीनता के कारण वे नदी तक न चल सके । पथ के पास ही एक ओर उन्हें शव फेंक देना पड़ा ।

'जानते हो, मुखोपाध्याय ने क्या कहा था मुझसे उस दिन? कहा था उन्होंने-तू मर क्यों नहीं जाती? मन हुआ था उस दिन कि उनसे जहर माँगकर खा लूँ । मगर मेरा यह पाप था कि मैं डर गयी जो डरता है, वह कभी सुखी नहीं रहता! मैं उस दिन मर न सकी । और पाप की छाया में चलते-चलते स्वयं आज पाप की सजीव प्रतिमा बन गयी हूँ! आज मैं पशुओं के बीच पशुता का गर्व कर सकती हूँ! तुम मनुष्य, हो । तुम्हारे सामने वह अभिमान कैसे चलेगा? मैं नहीं रोऊँगी, डॉक्टर! तुम शायद मुझे समझ गये हो । तुम मुझसे घृणा नहीं करते न? और उसने डॉक्टर की ओर करुण दृष्टि से देखा।

सुनो, उसके बाद मैं घृणा से अंधी हो गयी । मैंने चार पति किये । पहला भाग गया, दूसरा भाग गया, तीसरा छोड़ गया, चौथा छोड़ रहा है । उसने अपने हाथों में मुँह छिपा लिया, और चीख उठी- नहीं-नहीं, डॉक्टर! मैं क्या करूँ? मुझे कोई क्षमा नहीं करेगा अब! मैंने जीवित रहने के लिए पाप किया है! पाप किया है मैंने!'

भिखारी

भिखारी स्त्री से कहने लगा, माँ, कुछ भीख दे दो । देखो, मैंने कभी भी अच्छा काम नहीं किया! मैं पापी हूँ । अपना विश्वास कहीं छोड़ आया हूँ! मुझे डर लग रहा है ।

डॉक्टर ने स्त्री की ओर देखा । स्त्री कहने लगी, 'यह मेरा तीसरा पति था, जो मुझे छोड़कर भाग गया था! तब पागल हो गया है । और अब वह घुटनों के बीच सिर रख शून्य दृष्टि से पृथ्वी की ओर देखने लगी ।

अँधेरा

बीमार जोर से कराहने लगा । स्त्री देखती रही । एकाएक एक जोर की हिचकी आयी, और बीमार के प्राण-पखेरू उड़ गये । स्त्री जोर से चिल्ला उठी, 'डॉक्टर, अँधेरा छाया जा रहा है चारों ओर! मैं क्या करूँ, डॉक्टर? कौन उठायेगा इसे? दूर-दूर तक अँधेरा छाया जा रहा है!... यहाँ कौन है मेरा? क्या करूँ, डॉक्टर ?' और वह फूट-फूटकर रो पड़ी ।

20.4 प्रतिपाद्य

'अंधकार' रांगेय राघव कृत रिपोर्ताज संकलन 'तूफानों के बीच' का प्रतिनिधि रिपोर्ताज है। हिन्दी में तूफानों से बीच' से पहले भी रिपोर्ताज लिखे गए किन्तु रिपोर्ताज विधा को प्रतिष्ठा इसी पुस्तक से मिली । डी. विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है- काव्य छप की दृष्टि से इसे कहानी विधा का विस्तार कह सकते हो वस्तुतः यह विधा अखबार की रपट के बहुत नजदीक है। इसका उद्भव भी द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान साहसी पत्रकारों की रपटों से हुआ।'

'अंधकार' बंगाल के अकाल के दुर्दिनों में फँसी एक युवती का मार्मिक वृतान्त बुनता है । इसका प्रारंभ सहायता शिविर में बैठे कार्यकर्ताओं की बातचीत से हुआ है । दिनभर काम करने के बाद डॉक्टर आए ही हैं कि फिर बुलावा आ जाता है । सोनारगाँव परगने में लोग बीमारियों के कारण पिस्सू ग्रस्त चूहों की तरह बिलबिला रहे हैं । डॉक्टर जाता है अपना काम प्रारंभ करता है । तभी वहाँ गाँव के प्रतिष्ठित वयोवृद्ध मुखोपाध्याय आते हैं वे डॉक्टर की सेवा की प्रशंसा करते हैं । मुखोपाध्याय अपने पुत्र की मृत्यु के बाद अपना आचरण बदलकर अकाल पीड़ितों की मदद करने लगे थे । तभी वहाँ एक साँवली स्त्री आती है जो युवा है । लेकिन अकाल उसकी देह को कुरूप बना रहा था । मुखोपाध्याय उसे कलकिनी कहकर दुत्कारते हैं । वह डॉक्टर से विनय करती है कि उसके घर चलें और मर रहे पति को बचाएँ । डॉक्टर को वह अपना परिचय वेश्या के रूप में देती है । वह अपनी दास्तान सुनाती है कि कैसे अकाल ने पहले उसके परिवार को निगला ओर जब उसने अपने जीवन की रक्षा के लिए एक एक कर चार पति किए

तो वे भी साथ छोड़ गए । रिपोर्ताज का अंत अत्यंत दारूण है जब देखते देखते उसके चौथे पति के प्राण पखेरू भी उड़ जाते है ।

वस्तुत: अकाल के संकटग्रस्त दिनों में मनुष्यता पर हो रहे आघातों को यह रिपोर्ताज पाठकों तक पहुँचाता है और कलंकिनी घोषित उस नारी के जीवन के प्रति उद्दाम लालसा का वर्णन इसे साहित्यिक गरिमा देता है । ध्यान देना होगा कि हिन्दी में रिपोर्ताज लेखन को परंपरा रांगेय राघव की इसी पुस्तक तूफानों के बीच' से हुई थी । बाद में अमृत राय, प्रभाकर माचवे, प्रकाश चंद्र गुप्त और शिवदान सिंह चौहान ने रिपोर्ताज लेखन में उल्लेखनीय योगदान किया । समकालीन, परिदृश्य में कथाकार सत्यनारायण ने 'इस आदमी को पढ़ो' तथा 'जहां आदमी चुप है' जैसे महत्वपूर्ण रिपोर्ताज लिखे । इन दिनों भी वे 'कथादेश' में नियमित 'यायावर की डायरी' शीर्षक से यह काम कर रहे हैं । रांगेय राघव ने तूफानों के बीच' के अतिरिक्त अनेक रिपोर्ताज लिखे जो अभी असंकलित है, इनका एक साथ प्रकाशन निश्चय ही रिपोर्ताज विधा का महत्व बढ़ाने वाला होगा । रिपोर्ताज का अर्थ और अंधकार

डॉक्टर रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'कथा विवेचना और गद्य शिल्प' में रिपोर्ताज के संबंध में लिखा है- जो पत्रकार सिर्फ रिपोर्ट लिखना जानते हैं के रिपोर्ताज लेखक नहीं हो सकते है। जो लेखक घर बैठे कल्पना के सहारे साहित्य रवा करते हैं उन्हें भी इस ओर सफलता पाने के लिए अपना पुराना क्रम छोड़ना होगा। रिपोर्ताज लेखक के लिए जरूरी है कि वह आधा पत्रकार हो ओर आधा कलाकार हो। वह अपने चारों ओर के गतिशील जीवन की वास्तविक घटनाओं का इतिहासकार है इसलिए वह अपना काम घर में बैठे बैठे नहीं कर सकता ।' इससे पहले भी डॉक्टर शर्मा ने एक स्थान पर जोर देकर लिखा है- ' किसी घटना या घटनाओं का ऐसा वर्णन करना कि वस्तुगत सत्य पाठक के हृदय को प्रभावित कर सके' रिपोर्ताज कहलाता 7' कहना न होगा कि रांगेय राघव भी इसी दृष्टि के कायल हैं जो स्पष्ट लिखते हैं- ' मैं जनता से स्मृति पाकर यह सब लिख सका हूँ ।' 'अंधकार' की रोचकता अपने प्रसंग चयन के कारण बढ़ी है तो मौजूद कथा तत्वों ने इसे रचनागत संपूर्णता दी है । रांगेय राघव की खास बात है संवेदनशीलता । जिस तरह रेणु की आँचलिकता से प्रेरित होकर लिखे गए अनेक उपन्यास मैला ऑचल' के निकट भी नहीं पहुँच सके ठीक उसी तरह रिपोर्ताजों को सपाटबयानी से रचनागत स्तर नहीं मिल पाता । 'अंधकार' इस संबंध में अनुकरणीय है जहाँ संक्षिप्त प्रसंगों में थोड़ी सी देर के लिए आने वाले पात्र, वर्णन की प्रवाहमयता और लेखक की संवेदाईलता मिलकर रिपोर्ताज विधा को ऊँचा आसन देते हैं । आश्चर्य की बात यह कि हिन्दी की पहला रिपोर्ताज पुस्तक होने पर भी लेखक इसे सपाटबयानी और सतही वर्णन से बहुत ऊपर ले जाते हैं । मधुरेश की यह स्थापना सुसंगत है कि नाटकों की अपेक्षा रिपोर्ताज के क्षेत्र में रांगेय राघव का योगदान बहुत मौलिक और स्थायी महत्व का है।

'अंधकार' में आशा या उजास का ऐसे कोई प्रसंग नहीं है जिससे ऐसा लगे कि लेखक ने इस घनघोर निराशा में भी कोई मार्ग खोज लिया है तथापि इसे महत्त्वपूर्ण रिपोर्ताज माना जाता है तो इसका कारण सुगठित ढाँचा ओर कथा का आवेग ही है जो कलंकिनी कही जाने वाली स्त्री के जीवन संघर्ष को रेखांकित करने में सफल हुआ है । मुखोपाध्याय के कहने पर कि तू मर क्यों नहीं जाती, उसका कथन है- मन हुआ था उस दिन कि उनसे जहर माँगकर पी लूँ। मगर मेरा यह पाप था कि मैं डर गयी जो डरता है वह कभी सुखी नहीं रहती में उस दिन मर न सकी।' क्या यह सच्चा जीवन संघर्ष नहीं हे:' क्या परिस्थितियों के वश अधीनता स्वीकार कर मर जाना उक्ति मार्ग होता है? वह जीवन के लिए संघर्ष करती है और कहती है- आज में पशुओं के बीच पशुओं का गर्व कर सकती हूँ। '

पुन: रामविलासजी के कथन से ही चर्चा को समाप्त करना उचित होगा- ' रिपोर्ताज लिखने के लिए जनता से सच्चा प्रेम होना चाहिए। वैसे तो साहित्य के सभी रूपों के लिए यह शर्त है लेकिन रिपोर्ताज के लिए वह और भी जरूरी है। जिन्होंने अकाल ओर महामारी की चिन्ता न करके जनता के बीज में जाकर उसके दुख दर्द की सही तस्वीर खींचना साहित्य का ध्येय समझा है, वही अच्छे रिपोर्ताज लिख सके हैं। ' इस कसौटी पर 'अंधकार' हिन्दी रिपोर्ताज की जाती बन जाता है ।

20.6 संकट के ओर छोर

रांगेय राघव कुशल कथा शिल्पी हैं यह एक स्वीकृत तथ्य है । रिपोर्ताज लेखन में भी वे अपनी गहरी शिल्प सजगता का परिचय देते हैं जो मुखोपाध्याय और कुलटा कही गयी युवती के द्वन्द्व से उपजी है । संकट दोनों तरफ है ओर दोनों को इस संकट को भोगना पड़ा है । मनुष्य के चरित्र की उदात्तता का परिचय संकट में ही होता है, सामान्य स्थितियों में नहीं । रांगेय राघव मुखोपाध्याय के चरित्र को अकारण नहीं लाते, मुखोपाध्याय ही हैं जो दुर्बल युवती को कुलटा कहते हैं जबकि युवती उनके मित्र की बेटी थी । उनका परिचय ही उनके व्यक्तित्व की असलियत को खोलने वाला है- ' वह जमीदार थे । कल तक उन्होंने घर में चावल छिपाकर कहा था , की वह बहुत दरिद्र हैं। किन्तु जब भीषण चेचक ने उनके एकमात्र पुत्र को निगल लिया' तो उनका आचरण बदल गया, तब लोगों ने विस्मय से देखा- वृद्ध पथ पर खड़े चावल बाँट रहे थे! चंडीचरण का कुल धन्य हो गया । अन्न-वितरण समिति के प्रधान बनकर वह संसार का भला करने को स्वार्थ त्यागकर बाहर आ गये सूना- सूना- सा घर काटने को दौड़ता था । 'उन्हें युवती की ओर देखना भी गवारा नहीं, तभी उसे देखते ही उनके मुँह से निकला-' कलंकिनी । फिर वे यह भी कहते हैं कि क्या वह गाँव का घोर अपमान नहीं है:' क्या बंगाल की नारी का यही आदर्श है?

'दूसरी तरफ युवती अपनी कथा कुछ इस तरह कहती हे - 'मेरे बाबा नीलकंठ उस मुखोपाध्याय के बड़े मित्र थे । अकाल में जब उनका देहान्त हो गया' तो मेरे चाचा ने

उनका स्थान लिया । मेरी एक बड़ी बहिन थी । उसका नाम था कल्याणी। जब हम लोगों के खाने को कोई सिलसिला नहीं रहा, तो चाचा की स्वीकृति से वह वेश्यावृत्ति करने लगी' और कुछ दिन बाद भीषण रोगों को शिकार हो गयी। चाचा ने डॉक्टर बुलाया। जब बीमारियों का पता लगा तो चाचा ने लज्जावश आत्महत्या कर ली । कुल दिन बाद कल्याणी भूख से तड़पकर मर गयी । गाँव उन दिनों खाली हो रहा था, सड़क पर गाँव- गाँव के गुखमरे गुजरते थे। कल्याणी का शक पड़ा रहा । उच्चकुल के अभिमानी लोगों में से कोई कई उस रात को उसका शव उठाने नहीं आया । ' बात यहीं खत्म नहीं हो जाती, वह आगे बताती है- ' जानते हो, मुखोपाध्याय ने क्या कहा था मुझसे उस दिन ? कहा था उन्होने-तू मर क्यों नहीं जाती ? मन हुआ था उस दिन कि उनसे जहर मांगकर खा लूँ। मगर मेरा यह पाप था कि मैं डर गयी । जो डरता है, वह कभी सुखी नहीं रहता। मैं उस दिन मर न सकी । और पाप की छाया में चलते-चलते स्वयं आज पाप की सजीव प्रतिमा बन गयी हूँ आज मैं पशुओं के बीच पशुता का गर्व कर सकती हूँ। '

रांगेय राघव दोनों को इस तरह आमने सामने कर संकट की गहरी अभिव्यक्ति करते हैं लेकिन उनकी कुशलता इसमें है कि वे इस संकट की अभिव्यक्ति ही नहीं करते, उसके कारणों की गहराई में जाते हैं । कुलटा-कलंकिनी वह युवती है या वह आदमी जो भीतर अन्त दबाए है ' दुश्चरित्र वह है जो मरने से बजाय जीवन के लिए लड़ता है या वह जो मर जाने को उकसाता है? यही नहीं कुलटा-कलंकिनी सुनकर भी युवती विचलित नहीं होती, रांगेय राघव लिखते हैं- स्त्री ने एक बार भी मुखोपाध्याय की ओर प्रतिहिंसा से नहीं देखा। वृद्ध को वह अपनी बराबरी का नहीं समझती थी । वृद्ध की अपेक्षा उसने अपने-आपको सदा ऊँचा ही समझा उसकी दृष्टि- में कोमलता थी, क्योंकि इतने दिन बाद आज वह एक ऐसे मनुष्य के सामने खड़ी थी, जो भयानक स्वार्थ और भीषण रूढ़ि के मापदण्ड का सहारा नहीं ले रहा था!' इससे पहले गाली देने वाले मुखोपाध्याय का चेहरा आया है- ' डॉक्टर ने एक बार उस स्त्री की ओर देखा, और देखा फिर मुखोपाध्याय को, जिनके मुख पर ग्लानि नीरव, निस्पंद जल रही थी।'

रिपोर्ताज को मानवीय संकटों का सिस्मोग्राफ (भू मापक यंत्र) कहा जाता है, ऐसा कहने का तर्क 'अंधकार' में अपने पूरे कलात्मक वैभव के साथ आया है ।

20.7 यथार्थ का निरूपण

रांगेय राघव के ये रिपोर्ताज अमृत राय के संपादन में प्रकाशित हो रही पत्रिका 'हंस' में छपे थे । एक संस्मरण में अमृत राय ने इन रिपोर्ताज का महत्व बताया है- जहाँ तक मैं जानता हूँ रांगेय राघव के इन्हीं रिपोर्ताजों से हिन्दी में रिपोर्ताज लिखने का चलन शुरू हुआ।मैने और दूसरों ने रिपोर्ताज लिखे लेकिन जो बात रांगेय राघव के लिखने में थी वह किसी को नसीब नहीं हुई । जिन्हें उस वक्त की याद है वे याद करेंगे कि तब हवा में कैसी थरथरी थी। स्वाधीनता संग्राम अपने अन्तिम अध्याय में था। सन्

बयालीस के दमन की पस्ती का दौर खत्म होकर आई. एन. ए. के जवानों की मुक्ति के प्रश्न को लेकर और फिर बम्बई में जहाजियों की बगावत को लेकर देश में फिर एक नया ज्वार आ रहा था । जगह- जगह जुलुस निकलते थे लाठियां चलती थी, गोलियां चलती थीं, पकड़-धकड़ होती थी- और आजादी के उस जुलूस के साथ रांगेय राघव का रेपोर्ताज कंधे से कंधा मिलाकर चल रहा था । ' दरअसल जब अमृत राय अपने इस वक्तव्य में इन रिपोर्ताजों को आजादी के जुलूस से कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना कहते हैं तो यह इनमें निहित यथार्थ के सृाक्त निरूपण का ही उदाहरण है ।

रांगेय राघव की विशेषता यह है कि वे ठीक-ठीक पहचान रहे हैं कि यह अकाल कुदरत से ज्यादा साम्राज्यवादी औपरिवेशिक दासता की देन है । वे उन लोगों को भी पहचानते हैं जो कालाबाजारी कर अंग्रेजी सत्ता को मजबूत बना रहे हैं । वे 'अंधकार' में लिखते हैं- अकाल और रोग बंगाल के वक्षस्थल पर डुगडुगी बजाकर पृथ्वी को कंपित कर रहे थे आकाश पूछों के हाहाकार से भर रहा था । जापानियों ने चीन में बलात्कार किये थे । यह बैठी थी बंगाल की नारी जिसके ऊपर किये गये अत्याचार हँस रहे थे और आकाश में रौद्र अट्टाहास गूँज रहा था । ' इसी पुस्तक के एक अन्य रिपोर्ताज में उन्होंने इस अकाल के कारण पर लिखा था- युग युग तक संसार को याद रखना पड़ेगा कि एक दिन मनुष्य के स्वार्थ और असाम्य के कारण, गुलामी और साम्राज्यवादी शासन के कारण, बंगाल- जैसी शल्य-श्यामला भूमि में भी मनुष्य को भूख से दम तोड़ना पड़ा था?

यहाँ एक दूसरी औरत की मरणासन्न हालत का वर्णन जैसे अकाल के यथार्थ का चित्र ही बन गया है- एक औरत भीतर बेहोश पड़ी थी । उसका बच्चा उसके चेचक से भरे शरीर पर लोट रहा था , रो रहा है- दाने पक गये थी। झोपड़ी से बदबू आ रही थी । वह करीब-करीब नंगी थी ।उसके पास कोई खास कपड़ा भी नहीं था । भूमि पर केवल एक चटाई बिछी थी और दीवार पर लक्ष्मी का एक चित्र टंगा था । वालंटियर सफाई करने लगे । डॉक्टर लक्ष्मी का चित्र देख रहा था, और उसकी नजर उस दम- तोड़ती ओरत पर रह- रहकर काँप उठती थी हठात उसके सूखे होंठों पर गहन वेदना कठोर हास्य बनकर फैल गयी । '

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने रिपोर्ताज विधा के गद्य की यथार्थ प्रकृति को जानकर ही लिखा है- ' पत्रकारिता और साहित्य के संधि- स्थल में विकसित इस माध्यम के अंतर्गत लेखक की समस्या यह है कि वह अपने मन पर पड़े अधिकतर प्रत्यक्ष प्रभाव के आधार पर किसी बड़ी, सामान्यतः, आँखों देखी घटना के विविध प्रसंगों और ब्यौरे की भीड़- भाड़ प्रस्तुत करके उनके आंतरिक संबंध और संगति को स्पष्ट करें ।' उक्त कसौटी पर 'अंधकार' खरा उतरता है ।

रिपोर्ताज में गाँवों का वर्णन कैसी उदासी भर देता है- ' वे गाँव- गांव में घूमते रहे । हाहाकारों की गाथा की एक गूँज, जीवन- पृष्ठ पर मृत्यु की काली छाया! हैजा,

मलेरिया, चेचक-मनुष्य के स्वास्थ्य पर व्याधियों को विकट प्रहार! दिन की धूप ढल चली थी । चिड़ियाँ झुण्ड- बनकर लौट रही थीं, धूल की ऊपरी पर्त पर हवा की ठंडक लोट रही थी । सोनारगॉव टूटी बैलगाड़ी सा पड़ा था, जिसके बैल मर गये थे ओर मनुष्य लुटे से मृत्यु के भय से व्याकुल और त्रस्त केवल आकाश की ओर देख रहे थे कहीं जाने को' जैसे कोई राह न थी ।

वस्तुत: रांगेय राघव का वैचारिक दृष्टिकोण मार्क्सवादी यथार्थवादी रहा है । विख्यात समालोचक डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के उद्धरण से यह चर्चा समाप्त करना उचित होगा- 'रांगेय राघव की प्राय: सभी रचनाएँ, शोध पुस्तकें, इतिहास और संस्कृति पर लिखे गए लेख और किताबें मार्क्सवादी दृष्टि से लिखी गई हो उनका मानववाद बुर्जआ मानववाद नहीं हो बुर्जआ मानववाद में मनुष्य के लिए सिर्फ चिन्ता या सदभावना प्रकट की जाती है, उसके लिए लेखन में कोमल भावनाएं होती हैं लेकिन समाज संरचना का कोई स्पष्ट मानचित्र बुर्जुआ मानववादियों के सामने नहीं होता। के प्राय: समाज में यथा स्थिति के समर्थक होते है लेकिन रांगेय राघव के मानस में मार्क्सवादी दृष्टि से तोबा हुआ समाज का स्पष्ट नक्शा था।'

20.8 व्याख्या

1. व्याख्या

आकाश में हवाई जहाज नहीं थे और न बन ही गिर रहे थे। किन्तु चारों तरफ आग दहक रही थी, जिससे लपटों की जगह कंकाल उठ रहे थे, जिसमें औरतों को सतीत्व भस्म हो रहा का था, वह आग एक प्राचीन संस्कृति को भून रही थी।

<u>सन्दर्भ</u>

वाचक का दल पूर्वी बंगाल के अकालग्रस्त सोनार गाँव पहुंचा है । वहाँ अकाल की विभीषिका के कारण उपजे हाहाकार को लेखक देख रहा है ।

<u>व्याख्या</u>

रांगेय रागव बंगाल के दुर्भिक्ष की भयावहता को बता रहे हैं । ऐसी बदहाली युद्धों में होती है जब शत्रु विमान आकर बम वर्षा कर जाए और पूरा देश बर्बाद हो जाए । बंगाल में किसी ने बम नहीं डाला लेकिन ऐसा लग रहा था मानो बम वर्षा के कारण चारों तरफ आग फैल गयी हो और लपटें ऐसी भयानक कि उनमें कंकाल उठ रहे है । आग औरतों का सतीत्व भस्मकर रही थी और उसकी ऑच में बंगाल की प्राचीन संस्कृति जलभुन कर नष्ट हुई जा रही थी । यहाँ रांगेय राघव प्रतीकार्थ में स्त्री पुरुषों की बदहाली और हाहाकार का विध्वंसक वर्णन थोड़े ही शब्दों में कर पाने में सफल हुए है ।

<u>विशेष</u>

बंगाल के अकाल की विभीषिका का हाहाकार लेखक की भाषा में मूर्त हो उठा है । लपटों की जगह कंकाल उठना और औरतों का सतीत्व भस्म होना ऐसे ही सशक्त उदाहरण हैं ।

2. व्याख्या

उसने निराशा से सिर हिलाया । औरत मुस्करा उठी । बोली 'नहीं बचेगा? कोई क्या करे? तुम कोई भगवान तो हो नहीं! तुम्हारा क्या कसूर है? मरे तो मर जाये! क्या कर सकती हूँ? छोड़ जाने का यह भी एक अच्छा तरीका है! ' और वह हँस पड़ी । उसकी हँसी में एक व्यथा के इतिहास का व्यंग्य छलछला आया और स्वर झनझनाकर बिखर गये ।

संदर्भ

डॉक्टर सोनार गाँव पहुँचे है, वहां एक युवती अपने पति की प्राणरक्षा के लिए उन्हें घर ले जाती है । डॉक्टर देखते हैं कि वह सेरेब्रल मेलेरिया को मरीज है और थोड़ी ही देर में उसकी मृत्यु निश्चित है ।

व्याख्या

डॉक्टर के चेहरे पर आई निराशा को युवती पढ़ लेती है, वह इस पर हतप्रभ नहीं होती अपितु मुस्करा उठती है । कहती है कि अगर मेरा पति नहीं बचता तो कोई क्या कर सकता है? डॉक्टर भी तो भगवान नहीं है । अंत में वह कहती है कि छोड़ जाने का यह भी एक अच्छा तरीका है । दरअसल उसके पहले तीन पति या तो उसे छोड़ गए थे या भाग गए थे, इस चौथे की मृत्यु की व्याख्या वह छोड़ जाने के उसी अर्थ में कर रही है । रांगेय राघव की टिप्पणी इस वर्णन को मार्मिक बनाती है कि उसकी हँसी में कथा के इतिहास का व्यंग्य छलछला आया और स्वर झनझनाकर बिखर गए । उसकी हँसी वस्तुत: हँसी नहीं है अपितु इस व्यवस्था और प्रकृति की क्रूरता पर टिप्पणी है ।

विशेष-

रांगेय राघव यहाँ अभिधा के संदर्भ को जीवित करते दिखाई देते हैं, सामान्य वाक्यों में अकाल की समूची विडंबना दिखाई दे जाती है ।

20.9 सारांश

रिपोर्ताज लेखन का काम विवरण लिख देना नहीं हो सकता रिपोर्ताज यदि साहित्य के आंगन में एक विधा का महत्व पा सका है तो उसका कारण है उद्देश्य की व्यापकता । रांगेय राघव बंगाल के अकाल का ब्यौरा नहीं देते अपितु वे बताते हैं कि यह घटना महान मानवीय त्रासदी क्यों और कैसे है । ब्यौरे और ऑकड़े तो तत्कालिन समाजशास्त्रीय अध्ययनों में और अधिक मिल जाएंगे किंतु यह जानने के लिए रांगेय राघव के रिपोर्ताज ही पढ़ने होंगे कि देह बेचने के बाद भी क्या मनुष्य का जीवन घृणास्पद हो जाता है?

'अंधकार' पढ़कर सवाल आता है कि क्या यह अपने उद्देश्य में सफल है? वस्तुत: रिपोर्ताज का उद्देश्य अपने समय और परिवेश के यथार्थ की संवेदनात्मक ढंग से सुरुचिपूर्ण प्रस्तुति । रांगेय राघव का रिपोर्ताज 'अंधकार' इस उद्देश्य को पाने में सफल रहा है । इसकी सार्थकता इस बात में है कि यह पाठक को विचलित करता है और पाठक इसे पढ़कर वही नहीं रह जाता जो वह था । किसी भी रचना की सार्थकता इसी

तथ्य में निहित होती है । कहना न होगा कि लेखक का अपना जन पक्षधर व्यक्तित्व की इस रिपोर्ताज में खूब उभरा है ।

'अंधकार' इस अर्थ में एक सफल और सार्थक कृति है कि रोचकता, सहजता, दृश्यात्मक विवरण और जीवन की विडंबनाओं को एक साथ समेट कर अपूर्व त्रासदी का मर्म उत्पन्न करती है । संचार माध्यम दृश्यों को दिखाने का काम खूब अच्छे ढंग से कर रहे हैं किंतु दृश्य चयन में जिस सूक्ष्मता और संवेदनशीलता का परिचय रांगेय राघव ने दिया है वह इस रिपोर्ताज को कोरी रचना से उपर उठाकर मानवीय धरोहर बना देता है।

20.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. हिन्दी में रिपोर्ताज लेखन कब से प्रारंभ हुआ और इसमें रांगेय राघव का क्या योगदान है?
2. 'बंगाल के अकाल की विभीषिका रांगेय राघव के रिपोर्ताज में खूब बोलती है । ' 'अंधकार' के आधार पर विवेचन कीजिए ।
3. रिपोर्ताज लेखन में वर्णन का बड़ा महत्व है । 'अन्धकार' के आधार पर बताइए ।
4. जैसे किसी समय की अच्छी बंदूक आज न जाने क्यों फुस करके रह गयी! क्यों?
5. इस रिपोर्ताज का शीर्षक 'अधंकार' स्वयं में एक संदेश देता है । वह संदेश क्या है?
6. 'अन्धकार' में आई इस युवती के स्थान पर यदि आप होते तो क्या करते?

20.11 संदर्भ ग्रंथ

1- मधुरेश; रांगेय राघव (मोनोग्राफ) साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

2- सुलोचना; रांगेय राघव(सं.) रांगेय राघव ग्रंथावली राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली

3- रांगेय राघव; तूफानों के बीच, शब्दकार, दिल्ली

4- डॉ. रामविलास शर्मा; कथा विवेचना और गद्य शिल्प वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

5- अमृत राय; जिनकी याद हमेशा हरी, रहेगी, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

6- दुर्गाप्रसाद अग्रवाल; सृजन के परिप्रेक्ष्य, श्याम प्रकाशन, जयपुर

7- सं.कुंवरपाल सिंह; वर्तमान साहित्य (पत्रिका),एम.आई.जी.28 अवंतिका, प्रथम रामघाट रोड, अलीगढ़

इकाई-21 निर्मल वर्मा कृत 'चीड़ों पर चाँदनी' (यात्रा वृत्तान्त) के एक अंश का अध्ययन व विवेचन

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.1 रचनाकार का साहित्यिक परिचय

21.2 यात्रा वृतान्त और हिन्दी यात्रा वृतान्त की संक्षिप्त रूपरेखा

21.2.1 यात्रा वृतान्त स्वरूप

21.2.2 हिन्दी यात्रा वृतान्त साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा

21.3 चीड़ों पर चाँदनी' यात्रा वृतान्त का परिचय

21.4 यात्रा वृतान्त अंश का प्रतिपाद्य

21.5 शिल्पगत विशेषताऐं

21.6 व्याख्या खण्ड

21.7 सारांश

21.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

21.9 संदर्भ ग्रंथ

21.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- निर्मल वर्मा के प्रसिद्ध यात्रा-वृत्तान्त से अवगत हो सकेंगे ।
- गद्य-विधा के रूप में यात्रा-वृतान्त का महत्व समझ सकेंगे ।
- 'चीड़ों पर चाँदनी' की विषय-वस्तु व सौन्दर्य का उद्घाटन कर सकेंगे ।
- प्रस्तुत पाठ के विशिष्ट स्थलों की व्याख्या से छात्रों को अवगत करवा सकेंगे ।

21.1 प्रस्तावना

निर्मल वर्मा हिन्दी के महत्वपूर्ण कथाकार एवं साहित्य चिन्तक के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। यात्रा वृतान्त के क्षेत्र में भी उनके दो संग्रह - 'चीड़ों पर चाँदनी' और 'हर बारिश में' प्रकाशित हैं । 'चीड़ों पर चाँदनी' यात्रा वृतान्त संग्रह सबसे पहले सन् 1964 में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ था । इसके बाद राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से इसके दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं । अब फिर से निर्मल वर्मा का समग्र साहित्य भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ है । 'चीड़ों पर चाँदनी' में संकलित यात्रा वृतान्तों को यात्रा संस्मरण कहा गया है । सम्भवत: यह उपयुक्त ही है क्योंकि इनमें स्मृति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । यद्यपि किसी भी रचना में स्मृति की भूमिका होती ही,' है

। यात्रा वर्णन में तो उस महत्व का रोल होता है, इसके बावजूद इस संग्रह की रचनाओं में एक यात्रा के वर्णन के साथ अन्य अनेक यात्रा-संस्मरणों एवं संदर्भों का कलात्मक विनियोग हुआ है ।

21.1 रचनाकार का साहित्यिक परिचय

निर्मल वर्मा

निर्मल वर्मा (1929-2005) अज्ञेय के बाद हिन्दी के ऐसे रचनाकार रहे हैं, जिनका समर्थन और विरोध साथ-साथ चलता रहा है । एक समय 'नयी कहानी' के 'प्रथम कहानीकार' का सम्मान पाने वाले निर्मल वर्मा अपने 'भारत प्रेम' के कारण कटघ्रे में खड़े किए गए, लेकिन उन्होंने परवाह नहीं की और अपने विचारों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करते रहे ।

शिमला में बचपन एवं प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने दिल्ली के सेन्ट स्टीफन्स कॉलेज से इतिहास में एम.ए. किया । निर्मल वर्मा ने कुछ समय अध्यापन भी किया और इसी बीच वे मार्क्सवाद से प्रभावित हुए । सन् 1959 में प्राग (चेकोस्लोवाकिया) से आमन्त्रण मिलने पर सात वर्ष वहाँ रहकर चेक साहित्य का अध्ययन एवं अनेक रचनाओं का अनुवाद किया । उनके 'वेदिन' उपन्यास एवं अनेक कहानियों की पृष्ठभूमि प्राग में व्यतीत किया समय और जीवन अनुभव हैं । उन्होंने यूरोप का लम्बा प्रवास किया और 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' के लिए यूरोप से सम्बन्धित लेख लिखे ।

निर्मल वर्मा के साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ सन् 1953 से होता है, जब 'कल्पना' (हैदराबाद) में उनकी कहानी 'रिश्ते' प्रकाशित हुई । उनका रचनाकार निरन्तर सक्रिय रहा । कहानी, उपन्यास, निबन्ध, साहित्य-सांस्कृतिक विचार-चिन्तन, यात्रा वृतान्त, अनुवाद, डायरी आदि अनेक क्षेत्रों में उनका मूल्यवान प्रदान रहा है । उनका महत्वपूर्ण कृतित्व इस प्रकार है :

उपन्यास	-	वे दिन, लाल टीन की छत, एक चिथड़ा, रात का रिपोर्टर, अन्तिम अरण्य।
कहानी संग्रह	-	परिन्दे, जलती झाड़ी, पिछली गर्मियों में, बीच बहस में, मेरी प्रिय कहानियाँ (संकलन), कब्बे और काला पानी, सूखा तथा अन्य कहानियाँ ।
निबन्ध आलोचना	-	शब्द और स्मृति, कला का जोखिम, ढलान से उतरते हुए, भारत और यूरोप : प्रतिश्रुत के क्षेत्र, इतिहास स्मृति आकांक्षा, शताब्दी के ढलते वर्षों में, आदि अन्त और प्रारम्भ, साहित्य का आत्म सत्य, सर्जना पथ के सहयात्री।
यात्रा वृतान्त	-	चीड़ों पर चाँदनी, हर बारिश में
नाटक	-	तीन एकान्त

डायरी - धुंध से उठती धुन

अनुवाद - कुप्रीन की कहानियाँ, कारेल चापेक की कहानियाँ, झोपड़े वाले (रूमानियन कहानियाँ), रोम्यों जूलियेट और अँधेरा (उपन्यास), बाहर और परे (उपन्यास), एमेक की गाथा (उपन्यास)

पुरस्कार -

- कव्वे और काला पानी' के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार (1985)
- उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का सर्वोच्च राम मनोहर लोहिया अति विशिष्ट सम्मान (1995)
- ज्ञानपीठ का मूर्ति देवी पुरस्कार (1995)
- ज्ञानपीठ पुरस्कार (2000)
- पद्मभूषण (2001)
- मैथिलीशरण गुप्त सम्मान (2005)

डॉ. नामवर सिंह ने 'परिन्दे' कहानी को नयी कहानी की पहली कहानी घोषित किया । इतना ही नहीं कहानी के रचना विधान को लेकर वे निर्मल वर्मा से अपनी सहमति बनाये रहे हैं । उपन्यास के क्षेत्र में उनका उपन्यास 'वे दिन' मील का पत्थर माना गया । उनके निबन्धों ने हिन्दी के वैचारिक स्तर को ऊँचा उठाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है । निर्मल वर्मा ने जहाँ हिन्दी निबन्ध को विचार समृद्ध किया, वहीं उनकी भाषा की बनावट अपना विशिष्ट स्थान रखती है । उनके प्रदान को 'ज्ञानोदय' (दिसम्बर, 2005) के सम्पादकीय में डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने सन्तुलित ढंग से प्रस्तुत किया है -

'अपनी शब्दावली को लय पर लादकर वे एक ऐसा स्वर रचते थे जो पढ़ते हुए भाषा की सहजता का आनन्द भी देता है और अनेक सुन्दर कौतूहलपूर्ण शब्दों और संरचना-प्रयोगों का भी । गद्य भाषा की तार्किक छटा में ऐसा मिठास, ऐसा आत्मीय बोध, और विवेकगत सम्यकता का साक्षात्कार निर्मल में अपूर्व है । कहीं भावुक गलदश्रुता नहीं, न फिजूलखर्ची, जैसे शब्द और शिल्प कथ्य तक पहुँचाने के लिए एक नाव हो । मगर पाठक के लिए वह एक नाव भर नहीं होती, एक संस्कार, एक दीक्षा होती है और सबसे बड़ी बात सोचने का एक सलीका होती है ।

इस दृष्टि से सर्जना और विचार के स्तर पर निर्मल ने हिन्दी को जो दिया है उसका मूल्यांकन पीढ़ियों तक होगा । वे उन लेखकों में हैं जिन्होंने लेखक और पाठक का मानसिक तापमान बढ़ाया और यह भ्रम तोड़ा कि हिन्दी के पाठक श्रेष्ठ और गम्भीर साहित्य के पाठक नहीं हैं । वे जानते थे कि पाठक को अपने भीतर सम्मानजनक स्थान देना श्रेष्ठ साहित्य की बड़ी प्रेरणा होती है और शायद कसौटी भी । '

21.2 यात्रा वृतान्त और हिन्दी यात्रा वृतान्त की संक्षिप्त रूपरेखा

21.2.1 यात्रा वृतान्त का स्वरूप

मनुष्य का यात्रा से अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा है । वह अपनी आवश्यकता पूर्ति, अज्ञात के प्रति जिज्ञासा वृत्ति, ज्ञान प्राप्ति के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान जाता रहा है। जब इस वृत्ति के साथ धर्म अथवा संस्कृति के संदर्भ जुड़ जाते हैं तो वे धार्मिक या सांस्कृतिक यात्राएँ मनुष्य को मानसिक शान्ति देने वाली अथवा विधि विधान का पालन करने के उद्देश्य की पूर्ति करने वाली बन जाती हैं । प्रत्येक तीर्थ स्थलों की यात्राएँ केवल भारत में ही नहीं, प्रत्येक देश, जाति, धर्म एवं सम्प्रदायों में होती हैं । प्रत्येक धर्म में तीर्थ यात्राओं के द्वारा पुण्य प्राप्ति एवं अपने चरित्र को पवित्र बनाने का विश्वास है । यही कारण है कि भारत में तीर्थ स्थानों की यात्रा का महात्म्य है ।

प्रारम्भ में यात्राओं के पीछे श्रद्धा का तत्व था, लेकिन बाद में उसमें उत्सुकता, जिज्ञासा एवं ज्ञान की वृद्धि का समावेश होता गया । मनुष्य अपने जीवन की एकरसता से ऊबकर दूसरे स्थानों के व्यक्ति, समाज, संस्कृति का परिचय प्राप्त करता है और अपने जिए हुए जीवन की अर्थवत्ता समझता है, इसी के साथ उसे अर्थपूर्ण बनाता है । ये यात्राएँ सांस्कृतिक आदान-प्रदान का कार्य भी करती हैं ।

यात्रा का मुख्य लक्षण है संचरणशीलता । एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना ही यात्रा के केन्द्र में है । यात्रा के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले प्रमुख शब्द - परिभ्रमण, अटन, पर्यटन, भ्रमण और चंक्रम् आदि हैं, इनमें आशिक अर्थ भेद है । प्रसिद्ध हिमालय यात्री काका साहब कालेलकर ने यात्रा के महत्व को बतलाते हुए लिखा है कि यात्रा अर्थात कष्ट सहने का बादशाही तरीका । यात्रा की असुविधाओं से मनुष्य को यह नहीं लगता कि वे उसके दारिद्र्य का प्रतीक हैं बल्कि वह सोचता है कि अपनी सूझ बूझ को बढ़ाने का अच्छा मौका उसे मिला है । यात्रा व्यक्तित्व के विकास का साधन है । काका कालेलकर ने यात्रा को मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास से जोड़कर देखा है । प्राचीन साहित्य में भी यात्रा का महत्व स्वीकारा गया है । जो व्यक्ति यात्रा नहीं करता उसे 'बिना सींग का बैल' कहा गया है । यात्रा न करने वाले व्यक्ति की संकुचित बुद्धि पानी पर घी की बूँद की तरह स्थिर रहती है, ऐसा उल्लेख मिलता है ।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के जीवन में हमेशा से यात्रा का महत्व रहा है और जब तक मानव समाज का अस्तित्व है, तब तक बना रहेगा । यात्रा मनुष्य जीवन का अनिवार्य अंग है, लेकिन यात्रा साहित्य, साहित्य की अन्य विधाओं से अपेक्षाकृत नई विधा है । गद्य के विकास के बाद कुछ समय बाद यात्रा वृतान्त लिखना प्रारम्भ हुआ । अपने प्रारम्भिक रूप में यात्रा वृतान्त यात्रा के अनुभवों, दृश्यों और घटनाओं का ब्यौरा होता था, प्राय: उसमें किसी गम्भीर वैचारिक दृष्टि का समावेश नहीं होता था । यात्रा वृतान्त लेखक अपने यात्रा वर्णन का स्थूल वर्णन एवं अपने मन

पर पड़े प्रभाव को व्यक्त करता है । अत: उसमें निबन्ध और डायरी के कुछ तत्वों का समावेश हो जाता है ।

डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने यात्रा साहित्य को परिभाषित करते हुए लिखा है कि यात्रा वृत्त में देश-विदेश की प्राकृतिक रमणीयता, नर-नारियों के विविध जीवन-संदर्भ, प्राचीन एवं नवीन सौंदर्य चेतना की प्रतीक कलाकृतियों की भव्यता तथा मानवीय सभ्यता के विकास के द्योतक अनेक वस्तु चित्र यायावर लेखक के मानस रूप में रूपायित होकर वैचारिक रागात्मक उष्मा से दीप्त हो जाते हैं ।

व्यक्तिपरकता के कारण कभी-कभी यात्रा वृतान्त वैयक्तिक निबन्ध के समीप दिखाई देता है, तो कहीं-कहीं वर्णन के वैशिष्ट्य के कारण कहानी सा आस्वाद देता है । व्यक्तिपरकता, तथ्यों की प्रामाणिकता, संवेदनशीलता और लेखक की सौंदर्य दृष्टि यात्रा वृतान्त को स्थायित्व प्रदान करते हैं ।

साहित्यिक विधा के रूप में यात्रा वृतान्त निबन्ध, संस्मरण, डायरी, रिपोर्टाज और कहानी के समीप हो सकता है लेकिन यात्रा का वर्णन और संचरणशीलता उसे अलग करती है, अब यात्रा वृतान्त को स्वतन्त्र विधा के रूप में प्रतिष्ठा मिल चुकी है । यायावर लेखक यात्रा अनुभवों को अपने ढंग से क्रम देकर व्यक्त करता है, क्रमबद्धता यात्रा वृतान्त की आवश्यक शर्त नहीं होती । इसमें घर से बाहर के दृश्य, घटनाएँ और व्यक्ति महत्वपूर्ण होते हैं । कुछ क्षण अथवा कुछ दिनों का अवलोकन और साथ यात्रा वृतान्त की सामग्री बनता है । यात्रा वृतान्त का लेखक वर्ण्य प्रदेश के प्राकृतिक सौन्दर्य, वहाँ के रहन-सहन, आचार-विचार आदि का निजी शैली में वर्णन करता है । यदि पाठक उस स्थल विशेष का प्रवास किए बिना यात्रा वृतान्त को पढ़कर उसके सौन्दर्य की अनुभूति कर लेता है तो उसकी सफलता और सार्थकता मानी जा सकती है।

21.2.2 हिन्दी यात्रा वृतान्त साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा

यद्यपि यात्रा वृतान्त लेखन विशेष रूप से स्वतन्त्रता के बाद ही विकसित हुआ, फिर भी स्वतन्त्रता पूर्व भी कई यात्रा वृत्त लिखे गए हैं । इनके लिखने वालों में श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री कृष्णवंश सिंह बाधेल और स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का प्रदेय विशेष उल्लेखनीय है । स्वामी सत्यदेव परिव्राजक दादूपंथी थे और बाद में स्वामी दयानन्द सरस्वती के आर्य समाज से जुड़े । उन्होंने अमरीका की 2300 मील की पैदल यात्रा की। उनकी लगभग बत्तीस रचनाएँ प्रकाशित हैं । इनमें अमरीका दिग्दर्शन (1911) मेरी कैलाश यात्रा (1915) मेरी जर्मन यात्रा (1917) यूरोप की सुखद स्मृतियाँ (1937) उल्लेखनीय हैं । कृष्णवंश सिंह 'बाधेल' के स्वतंत्रता पूर्व और पश्चात् यात्रा वृतान्त प्रकाशित हुए, उनमें 'काश्मीर और सीमा प्राप्त (1944), तिब्बत के तेइस दिन (1953) हिमालय के कुछ स्थान (1954) मुख्य हैं । पण्डित राहुल सांकृत्यायन का प्रधान गुण घुमक्कड़ी रहा । उन्होंने तिब्बत रूस एवं यूरोप के देशों की अनेक यात्राएँ की और बीस से अधिक यात्रा वृतान्त लिखे हैं । इनमें तिब्बत में सवा बरस (1933)

मेरी यूरोप यात्रा (1935) मेरी लद्दाख यात्रा (1939), मेरी जीवन यात्रा (1940) किन्नर देश में (1948) दार्जिलिंग परिचय (1950) एवं रूस में पच्चीस मास (1952) उल्लेखनीय हैं । यद्यपि हिन्दी में ऐसे यात्रा वृतान्तों की संख्या अधिक हैं जिनमें स्थल विशेष का परिचयात्मक, स्थूल वर्णन विशेष रूप से हुआ है, फिर भी कई साहित्यकारों ने भी यात्रा वृतान्त लिखे हैं जिनकी सौंदर्य दृष्टि, भाषा एवं शैलीगत वैशिष्ट्य के कारण प्रसिद्धि है । रामवृक्ष बैनीपुरी, सेठ गोविन्ददास, यशपाल, दिनकर, डॉ. भगवत शरण उपाध्याय, अज्ञेय, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, विष्णु प्रभाकर, धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, रामदरश मिश्र, आलोक भट्टाचार्य आदि के यात्रा वृतान्त इस श्रेणी में आते हैं । लेखक की सौन्दर्य दृष्टि और शैली यात्रा वृतान्त को अर्थ गम्भीरता और विशिष्टता प्रदान करते हैं । ऐसे यात्रा वृतान्तों की कुछ महत्वपूर्ण कृतियाँ इस प्रकार हैं :

आखरी चट्टान तक	-	मोहन राकेश
शान्ति निकेतन की यात्रा	-	प्यारेलाल
एक बूँद सहसा उछली	-	अज्ञेय
अरे यायावर रहेगा याद	-	अज्ञेय
सैलानी की डायरी	-	राजेन्द्र अवस्थी
हँसते निर्झर. दहकती भट्टियाँ	-	विष्णु प्रभाकर
पैरों में पंख बाँधकर	-	रामवृक्ष बैनीपुरी
ठेले पर हिमालय	-	धर्मवीर भारती
खण्डित यात्राएँ	-	कमलेश्वर
सागर की लहरों पर	-	भगवत शरण उपाध्याय
चीड़ों पर चाँदनी	-	निर्मल वर्मा
पड़ौस की खुशबू	-	रामदरश मिश्र

हिन्दी में विदेशी भाषाओं एवं भारतीय भाषाओं के यात्रा वृतान्त साहित्य का अनुवाद भी उपलब्ध है । स्वतन्त्रता के बाद यात्रा वृत्तों के सम्पादन का कार्य भी उल्लेखनीय है जिनमें यात्रा वृतान्तों का सम्पादन किया गया है । इनमें सेठ गोविन्ददास द्वारा सम्पादित 'ब्रज और ब्रजयात्रा', ओमप्रकाश सम्पादित 'खोज के पथ पर', सत्यकाम विद्यालंकार सम्पादित 'देश-देशान्तर, विष्णु प्रभाकर द्वारा सम्पादित 'अभियान और यात्राएँ तथा चन्द्रकान्त देवताले द्वारा सम्पादित 'दूसरे-दूसरे आकाश' स्मरणीय हैं ।

21.3 'चीड़ों पर चाँदनी' यात्रा वृतान्त का परिचय

निर्मल वर्मा हिन्दी के महत्वपूर्ण कथाकार एवं साहित्य चिन्तक के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। यात्रा वृतान्त के क्षेत्र में भी उनके दो संग्रह - 'चीड़ों पर चाँदनी' और 'हर बारिश में' प्रकाशित हैं । 'चीड़ों पर चाँदनी' यात्रा वृतान्त संग्रह सबसे पहले सन् 1964 में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ था। इसके बाद राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से इसके दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। अब फिर से निर्मल वर्मा का समग्र साहित्य भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ है। 'चीड़ों पर चाँदनी' में संकलित यात्रा वृतान्तों को 'यात्रा

संस्मरण' कहा गया है । सम्भवत: यह उपयुक्त ही है क्योंकि इनमें स्मृति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । यद्यपि किसी भी रचना में स्मृति की भूमिका होती ही है । यात्रा वर्णन में तो उस महत्व का रोल होता है, इसके बावजूद इस संग्रह की रचनाओं में एक यात्रा के वर्णन के साथ अन्य अनेक यात्रा-संस्मरणों एवं संदर्भों का कलात्मक विनियोग हुआ है ।

'चीड़ों पर चाँदनी' नामक संग्रह में निर्मल वर्मा के ऐसे 'यात्रा-संस्मरण भी संग्रहीत हैं, जिन्हें उनके चेकोस्लोवाकिया निवास के समय विविध यात्राओं के अनुभवों की फलश्रुति माना जा सकता है । इनका महत्व अर्थ समर वैविध्यपूर्ण संदर्भों, चिन्तन, संवेदना और सौंदर्य दृष्टि के कारण तो है ही, भाषा की मितव्ययता, फिर भी कथ्य की स्पष्टता के कारण भी है । इन स्मृति खण्डों को दुबारा पढ़ते हुए जिस तरह का अनुभव निर्मल वर्मा को हुआ उसका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है 'मुझे एक अजीब-सा सूनापन अनुभव होता रहा है - कुछ वैसा ही रीता अनुभव, जब हम किसी जिन्दा फड़फड़ाते पक्षी को क्षण भर पकड़ कर छोड़ देते हैं - उसकी देह हमसे अलग हो जाती है, लेकिन देर तक हथेलियों पर उसकी धड़कन महसूस होती रहती है । ' इन यात्रा संस्मरणों में यूरोप के परिवेश, युद्ध की विभीषिका और अकेलेपन को स्थलों की यात्रा के समय अनुभव किया था, उसे मूर्त रूप दिया गया है । यहाँ उन स्थलों, शहरों, व्यक्तियों, रचनाकारों से देखना-मिलना औपचारिक नहीं है । इन यात्रा वृतान्तों में सूनापन, दबाव की अनुभूति होती है, जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पश्चिमी समाज का यथार्थ है । इस संग्रह में तीन खण्ड है । पहले खण्ड में चार यात्रा वृत हैं । 1 - ब्रेख्त और एक उदास नगर, 2- रोती हुई मर्मेड का शहर, 3- उत्तरी रोशनियों की ओर, 4- सफेद रातें और हवा । 'ब्रेख्त और एक उदास नगर' में प्राग से छुट्टियों के बाद बर्लिन जाने का वर्णन है । लेखक के मित्र आइसलेण्ड लौट रहे हैं । थोर्गियेर के प्रस्ताव पर आइसलेण्ड चलने और बर्लिन में रात गुजारने के संदर्भों को स्पष्ट करते हुए निर्मल वर्मा वहाँ के परिवेश में व्याप्त बेचैनी को पकड़ने का प्रयन्त करते हैं । पूर्वी जर्मनी में ब्रेख्त के निवास, उनके नाटक को देखकर हुई अनुभूति को यहाँ व्यक्त किया गया है । इसी के साथ निर्मल वर्मा कम्यूनिज्म और फासिज्म के बारे में टिप्पणी करते हैं 'कौन सी सीमा पर जाकर कम्यूनिज्म का विरोध फासिज्म का चेहरा अपना लेता है, मुझे नहीं मालूम; किन्तु यह वह सीमा है, जो आज पश्चिमी बर्लिन को पूर्वी बर्लिन से अलग करती है ।. यह एक चुनौती है, जिसका सामना हर ईमानदार व्यक्ति को कभी न कभी करना होगा। 'रोती हुई मर्मेड का शहर, थोर्गियर और एंगुई के साथ कोपनहेगन की यात्रा का वर्णन है । 'उत्तरी रोशनियों की ओर' यात्रा वृत्त एडिन बोरो शहर और वहाँ की स्कॉट संस्कृति के बारे में है 'ऊँचा-नीचा शहर एडिन बोरो, प्रिन्सेज स्ट्रीट पर चलते हुए आम स्टॉकिश लोग, पहाड़ी लोगों से सहज और खुशमिजाज । लगता है अंग्रेजों की अभिजात औपचारिकता इन्हें नहीं छू गयी है । सड़क के बीचोबीच ठठाकर हँसते हैं और अचानक

याद हो आती है राबर्ट बर्न्स की । ' सफेद रातें और हवा' में आइसलेंड की राजधानी रिक्याविक की यात्रा का वर्णन है । ग्लेशियर के सौन्दर्य का वर्णन निर्मल वर्मा ने इन शब्दों में किया है: 'बर्फ की स्निग्ध सफेदी जैसे कोई नरम सफेद बालों वाली दिल्ली औंधे मुँह लेटी धूप सेंक रही हो । ' दूसरे खण्ड में पाँच यात्रा वृत हैं । लिदीत्से एक संस्मरण में चेकोस्लोवाकिया के लिदीत्से नामक कस्बे का यात्रा अनुभव है । इस शहर पर 10 जून, 1942 को जर्मनी की मिलटरी ने हमला बोल दिया था और सोलह वर्ष के ऊपर के किसी व्यक्ति को जिन्दा नहीं छोड़ा था । निर्मल वर्मा वर्तमान लिदीत्से का वर्णन करते हैं 'जो देख पाते हैं वह है सिर्फ टूटी दीवारों का मलबा, जली हुई ईंटों का ढेर, सूने खामोश पत्थर ।. टूटे हुए चर्च के खामोश पत्थर और वर्षों पुरानी कब्रें - दोनों ही एक-दूसरे के पास आ सिमटे हैं, दोनों के ही बीच एक अजीब सी समानता है । ' वर्त राम्का : एक शाम' में प्राग के एक घर वर्त राम्का को देखने और उसके महत्व को वर्णित किया गया है जिसमें मोत्सार्ट नामक नाटककार रहे थे, जब वे अपने ऑपेरा 'जान जुआन' का रिहर्सल देखने आए थे । बाद में इस घर को मोत्सार्ट का म्यूजियम बना दिया गया । पेरिक : एक स्टिल लाइफ' और 'वियना' के अतिरिक्त 'चीड़ों पर चाँदनी' नामक यात्रा-संस्मरण भी इस खण्ड में है जिसका अगली इकाईयों में विशेष अध्ययन-विश्लेषण किया जाएगा । इसके तीसरे खण्ड में 'लैक्सनेस एक इण्टरव्यू, 'काफ्का और चापेक : समकालीन चेक साहित्य' और 'देहरी के भीतर चेखब के पत्र' संस्मरण हैं, जिन्हें यात्रा वृतान्त की श्रेणी में रखना कठिन है । यद्यपि इनमें चेकोस्लोवाकिया की यात्रा की पृष्ठभूमि है, फिर भी यह संस्मरण अधिक लगते हैं ।

21.4 यात्रा वृतान्त अंश (चीड़ों पर चाँदनी) का प्रतिपाद्य

'चीड़ों पर चाँदनी' निर्मल वर्मा का ऐसा यात्रा वृतान्त है जिसमें उनके यात्री की सौन्दर्य दृष्टि, स्थूल वर्णन में सूक्ष्म संकेतों की प्रचुरता, विविध स्थलों की यात्राओं के संदर्भ, सघन स्मृतियों का सार्थक विनियोग एवं चुस्त भाषा का संश्लिष्ट प्रयोग हुआ है । पहाड़ पर बचपन गुजारने वाले निर्मल वर्मा जिस तरह पहाड़ी सौन्दर्य, पहाड़ी जीवन एवं प्रकृति के वैशिष्ट्य को मूर्त करते जाते हैं, अपने में अभूतपूर्व है । अतीत में आवाजाही का अद्भुत खेल यही देखने को मिलता है । वे कई स्थलों के चित्रों को स्मृति के सहयोग से ऐसा बुनते हैं कि सजग न हों तो ये एक स्थल का ही वर्णन होने का भ्रम होता है । यह यात्रा वृतान्त इसलिए विशिष्ट है क्योंकि इसमें पहाड़ों के सौन्दर्य, वहाँ की चाँदनी रातें, बर्फ, सुबह और शाम के दृश्य के वैविध्य को इतने कम शब्दों में रूपायित किया गया है ।

गुलमर्ग की पहाड़ियों की चाँदनी रात के सौन्दर्य से अभिभूत होकर यह यात्रा वृतान्त लिखा गया है । निर्मल वर्मा उसके सौन्दर्य को इस तरह शब्द बद्ध करते हैं - 'कमरे में हलकी फीकी-सी -चाँदनी बिखर आयी थी । आँखें खिड़की के पार बीच के तरह अँधेरे को लाँघती हुई खिलनमर्ग की हिमाच्छादित चोटियों पर जा टिकी । चाँदनी के छुई-मुई

से झिलमिलाते कण ऊपर से नीचे तक बर्फ पर फिसल रहे थे । सब कुछ एक-दूसरे में चुपचाप सिमट आया था । लगता था, जैसे संगमरमर के सफेद चूरे की हलकी-हलकी बारिश हो रही हो । एक पीला उजला-सा आलोक होटल के बाहर पोलो ग्राउण्ड की घार पर फैलता हुआ हवा में बार-बार काँप उठता था । बादल, बर्फ, चाँदनी... । "

इस यात्रा वृतान्त में नारकण्डा, डलहौजी और शिमला के पहाड़ी सौन्दर्य को संश्लिष्टता से प्रस्तुत किया गया है । इतने कम शब्दों में पहाड़ी की चाँदनी रातें, गिरती हुई बर्फ एवं सुबह, शाम के परिवर्तित सौन्दर्य के विविध चित्र-स्थल अपनी विशिष्ट भंगिमा के साथ यहाँ उपस्थित हैं ।

यात्रा वृतान्त का प्रारम्भ अतीत स्मृति से होता है । लेखक का बचपन पहाड़ी पर बीता है । बाल सुलभ जिज्ञासा - इन पहाड़ी के पीछे क्या होगा? से प्रारम्भ करके निर्मल वर्मा अपने पहाड़ प्रेम और उससे अपने आत्मीय रिश्ते को प्रकट करते हैं । शिमला का घर छूटने पर भी पहाड़ों का आकर्षण कम नहीं हुआ । बचपन की स्मृति में अंकित शिमला की रातें और सुबह का मनोहारी सौन्दर्य यहाँ अंकित किया गया है-

'दिसम्बर के निविड़, गहन अंधकार में दूर की पहाड़ियाँ, ड्राईंग पेपर पर धूमिल रेखाचित्र-सी स्तब्ध, निश्चल दीखती थी - इतनी महीन, इतनी प्लान कि लगता था जैसे अँधेरे पर हाथ फेरते ही सब कुछ मिट जायेगा । आकाश कुछ नीचे सरक आता था, धरती को छूता सा और धरती अपना ओर छोर समेटकर घुटनों पर झुक आती थी, जैसे पहाड़ियों के आगे गुमसुम प्रार्थना कर रही हो । रात के इस मायाजाल के बाद सुबह का पूरी तरह परिवर्तित दृश्य शिशु मन पर एक अविस्मरणीय प्रभाव डालता है । निर्मल वर्मा के बाल-मानस पर उस सौन्दर्य का कैसा अमिट प्रतिबिम्ब अंकित है, इन पंक्तियों से समझा जा सकता है:

'बर्फ का एक सफेद-सा परदा खिंच आया है, जिसमें गड्ढे, नालियाँ, परिचित पगडंडियाँ, मकानों की छतें, सब छिप गयी हैं - या छिपी नहीं है, महज एक सफेद 'मास्क' पहनकर उभर आयी हैं और हम इन्हें पहली बार नयी आँखों से देख रहे हैं ।

X X X

'कुछ देर बाद धूप निकल आती है - नीचे चमचमाते आकाश के नीचे बर्फ की ढकी पहाड़ियाँ धूप सेंकने के लिए अपना चेहरा बादलों से बाहर निकाल लेती हैं - चेहरा जो बर्फ का मोजायक है - पहाड़ियों के ऊँचे-ऊँचे पोर्टल्ल पर टिका हुआ - जिस पर रंग बिरंगे, पत्थरों से विशाल हिम खण्ड चमक रहे हैं । '

शिमला की रात, सुबह और धूम में बर्फ आच्छादित पहाड़ियों के बाद चाँदनी चाँदनी रात में खिलनवर्ग की पहाड़ियों के सौन्दर्य के मायाजाल के वशीभूत लेखक के साथ पाठक की संवेदना भी जुड़े बिना नहीं रहती । निर्मल वर्मा फिर ढलती शाम के सौन्दर्य को रूपायित करते हैं । यह दृश्य नौकुछिया से भीमताल आते हुए देखते हैं और इसी के साथ वे अन्य पहाड़ी प्रदेशों की शामों की तुलना करने लगते हैं । पहाड़ी के पल-पल परिवर्तित सौन्दर्य को एक शिल्पी की ऑख एवं रचनाकार की संवेदना के द्वारा प्रस्तुत

करते हैं - 'पहाड़ों पर अँधेरा एकदम नहीं आता, एकदम आकर चौंकाता नहीं - न वह उजाले को धकेलकर उसकी जगह लेता है, बल्कि दिन का उजाला खुद व खुद धीरे-धीरे अँधेरे में सिमट जाता है । इसलिए पहाड़ी धूप कभी मरती नहीं, सिर्फ अपना रंग बदल लेती है । '

सोलन हिल स्टेशन, चीड़ के भरे झुरमुट से घिरा चौकोर खोखल, अंग्रेजों के खाली बंगले, बंगलों के बीच फैली वीरानी का अनुभव इन वर्णनों को पढ़कर होता है । इस वीरानी के भाव के बीच ही निर्मल वर्मा के स्मृति पटल पर नारकण्डे के डाक बंगले का चित्र आ जाता है, जहाँ बस से उतर कर वे रूके थे । देवता का मन्दिर, मन्दिर में यात्रियों की मान्यता और कपड़ों के चीथड़ों का फरफराहट यही मूर्त होती है । इस डाक बंगले से देखे उस दृश्य को लेखक मूर्त करता है जिसमें अँधेरा, बादल और धूप का सामंजस्य होता है - 'पश्चिम आकाश में कोहरे के ऊपर अँधेरा अलग था, बादल अलग थे और दोनों के बीच सिन्दूरी रंग की लम्बी विशालकाय व्हेल मछली-सी रेखा खिंच आई थी और कुछ ही क्षणों में यह मछली हवा में धुल गयी, एक नीली धुंध की झीनी-सी चादर पहाड़ियों पर बिछल आयी है । '

'चीड़ों पर चाँदनी' यात्रा वृतान्त इस कारण विशिष्ट है कि इसमें इतनी सूक्ष्मता से पहाड़ी सौन्दर्य मूर्त किया गया है । छोटे-छोटे डिटेल और स्मृति का सहारा लेकर एक अद्भुत मायालोक की सृष्टि की गई है, फिर भी वह यथार्थ है । निर्मल वर्मा प्रसिद्ध कथाकार हैं और उनकी वर्णन क्षमता को सभी ने सराहा है । यही उनकी अद्भुत सौन्दर्य दृष्टि प्रकट हुई है । इस यात्रा वृतान्त में पहाड़ों का सौन्दर्य ही वर्णित है, वहाँ के जीवन, संस्कृति की ओर लेखक ने ध्यान नहीं दिया । लेखक पहाड़ी सौन्दर्य की चित्रावलियों में ऐसा फँसा है कि अन्य बातों की ओर उसका ध्यान नहीं गया है ।

'चीड़ों पर चाँदनी' यात्रा वृतान्त शिमला, गुलमर्ग की पहाड़ियों, नरकण्डा, डलहौजी, भीमताल की यात्राओं के दरम्यान स्मृति पटल पर अंकित पहाड़ी सौन्दर्य का वृतान्त है । स्मृति का ऐसा विरल सहयोग यात्रा वृतान्तों में कम मिलता है । यह अपनी सम्पूर्णता में पहाड़ी सौन्दर्य की भव्यता को मूर्त करने में सक्षम है ।

21.5 शिल्पगत विशेषताएँ

यात्रा वृतान्त में यद्यपि स्थल का विशेष महत्व होता है, वहाँ 'के दृश्य, व्यक्तियों, घटनाओं का द्रष्टा-श्रोता लेखक उन्हें जब शब्द बद्ध करने लगता है, तब वह सारे ब्यौरे गौण होकर लेखक की भावाभिव्यक्ति के घोल में मिलकर नये रूप में प्रकट होते हैं । लेखकीय सौन्दर्य दृष्टि और संवेदना का संस्पर्श पाकर वे वर्णन ब्यौरेवार न भी हों, लेकिन उनको देखने वाली आँख की अभिव्यक्ति के कारण विशिष्ट बन कर आते हैं । 'चीड़ों पर चाँदनी यात्रा वृतान्त को इस दृष्टि से देखें तो इसमें स्मृति का बड़ा ही सर्जनात्मक उपयोग किया गया है । निर्मल वर्मा की सूक्ष्म अवलोकन शक्ति और

सौन्दर्य दृष्टि के साथ विभिन्न यात्राओं की स्मृतियों के ताने-बाने से यह यात्रा-संस्मरण रूप ग्रहण करता है ।

इस यात्रा वृतान्त का प्रारम्भ स्मृति को शब्द बद्ध करने से होता है । निर्मल के लिए पहाड़ों का रूप उस तरह का है, 'जैसे माँ की शक्ल जो बच्चों की ऑखों में होती है, वह दूसरों के लिए नहीं होती । शिमला में बचपन गुजारने के बाद लेखक ने अनेक पहाड़ी यात्राएँ की हैं, उन यात्राओं में पहाड़ी सौन्दर्य के जो दृश्य स्मृति पटल पर अंकित हो गए हैं, उन्हें कलात्मकता से सहजता के साथ बुना गया है । पहाड़ों के प्रति अतिशय आत्मीयता और आसक्ति का कारण बताते हुए लेखक एक-एक कड़ियों को गूँथता जाता है । शिमला की बर्फ आच्छादित पहाड़ियों के बाद चाँदनी रात में गुलमर्ग की पहाड़ियों का सौन्दर्य शब्दबद्ध किया गया है । बर्फ, बादल और चाँदनी के अद्भुत खेल के साथ लेखक के स्मृति पटल पर कोटगढ, रानीखेत, सोलन हिल स्टेशन की वीरानी, नारकण्डे, डलहौजी की सुनसान सड़क के दृश्य आते जाते हैं और इससे पहाड़ के रात, सुबह, बर्फ, बादल और अँधेरे के दृश्य मूर्त रूप लेते जाते हैं ।

निर्मल वर्मा की भाषा इन स्मृति-दृश्यों को मूर्त करने में पूर्ण रूप से सक्षम और समर्थ है । यात्रा वृतान्त की सफलता उसके दृश्यों के अंकन से होती है । तूलिका के रंग का एक स्पर्श चित्र में नये आयाम ला सकता है, उसी तरह दृश्य को सजीव बनाने में बिम्बधर्मी भाषा की विशेष भूमिका होती है । दृश्यावलिए को भाषा के सर्जनात्मक संस्पर्श के कारण विशिष्ट बना दिया गया है । कुछ अंश प्रस्तुत हैं :

- 'आकाश कुछ नीचे सरक आया था, धरती को छूता-सा और धरती अपना ओर-छोर समेटकर घुटनों पर झुक आती थी, जैसे पहाड़ियों के आगे गुम-सुम प्रार्थना कर रही हो
- 'पाउडर-पफ' सा हर बादल हवा में तिरता हुआ अपने सुनहले पंखों से बर्फ के इस 'मोजायक' को पोंछ जाता है ।
- चाँदनी के छुई-मुई से झिलमिलाते कण ऊपर से नीचे तक बर्फ पर फिसल रहे थे।'
- 'चिरन्तन मौन के दायरे में पत्थर सोये हैं, बरसों से सो रहे हैं... हवा में पत्ते काँपते हैं और चुपचाप झर जाते हैं । पत्तों के पीले ढेर में पत्थर दब-से गए हैं ।'

निर्मल वर्मा की अलंकृत भाषा बोझिल नहीं लगती बल्कि उनकी संवेदना को प्रभावमयी बनाने में सहायक है । उन्होंने स्थान-स्थान पर उपमा का प्रयोग किया है, इससे एक ओर रम्यता की अनुभूति होती है, साथ ही शब्द चित्र दृश्य को मूर्त कर देता है-

- 'अंधकार मैं दूर की पहाड़ियाँ, ड्राईग पेपर पर धूमिल रेखा-सी स्तब्ध निश्चल
- बर्फ से आच्छादित देवदार वृक्ष के लिए- लगता था, जैसे वह 'शान्त-क्लूज हो' एक रात में ही जिसके बाल सन-से सफेद हो गए हैं ।
- चाँदनी के झिलमिलाते कण के लिए - 'संगमरमर के सफेद चूरे'
- दोनों के बीच सिन्दूरी रंग की लम्बी विशालकाय व्हेल मछली-सी रेखा खिंच आयी थी ।

भाषा की चुस्तता एवं अकृत्रिमता का गुण इस यात्रा वृतान्त को अधिक प्रभावक बनाता है । स्मृति आधारित इस शब्द-चित्र में वर्णन-विस्तार की काफी सम्भावना थी, लेकिन शब्द शिल्पी लेखक ने पूरी रचना को एक साँचे में ढाल दिया है । संरचनात्मक दृष्टि से यह यात्रा वृतान्त एक अखण्ड रचना का आभास देता है । जिस प्रश्न से यात्रा वृतान्त का आरम्भ होता है - 'इन पहाड़ों के पीछे न जाने क्या होगा ?' इस प्रश्न का औचित्य और आवश्यकता का पता दो पैराग्राफ बाद लगता है । स्मृतियों को जिस सहजता से बुना गया है, यह कुशल शब्द शिल्पी की सामर्थ्य का प्रमाण है । वर्तमान से अतीत और अतीत से वर्तमान में सहज आवाजाही के बीच लेखक पहाड़ों की रात, सुबह, दोपहर और शाम के सौन्दर्य का खोलता जाता है । विभिन्न यात्राओं के अनुभूत सौन्दर्य जो अलंकृत भाषा एवं वर्णनात्मक शैली द्वारा निर्मल वर्मा ने जिस तरह अभिव्यक्त किया है, वैसी भाषा की बुनावट करने वाले वे अद्वितीय शब्द शिल्पी हैं ।

21.6 व्याख्या खण्ड

1- गद्यांश : दिन भर इन चोटियों पर पीले या सलेटी रंग के बादलों का मेला लगा रहता है- 'पाउडर-पफ' सा हर बादल हवा में तिरता हुआ अपने सुनहरे पंखों से इस मोजायक को पोंछ जाता है ।

सन्दर्भ : 'चीड़ों पर चाँदनी' यात्रा वृतान्त का यह गद्यांश बर्फीली पहाड़ियों पर धूप में फिसलते बादलों के सौन्दर्य को मूर्त करता है ।

व्याख्या : निर्मल वर्मा बर्फ से आच्छादित पहाड़ियों के सौन्दर्य को विभिन्न कोणों से प्रस्तुत करते हैं । लेखक के अवलोकन में सूक्ष्मता है । पहाड़ियों के सौन्दर्य के प्रति अतिशय लगाव है । पहाड़ी वातावरण में प्राकृतिक परिवेश में परिवर्तन शीघ्रता से हो जाता है । अँधेरे में पहाड़ियाँ रात में बर्फ से ढक गयी है । सुबह धूप निकलती है और बादलों के खेल का मनोहारी दृश्य दिखाई देता है । धूप में पहाड़ियों के शिखर मानों बर्फ से मुँह निकाल रहे हों ऐसा प्रतीत होता है । उड़ते हुए बादल इन पहाड़ों की चोटियों पर घूमते हैं । उनका रंग पीला और सलेटी होता है, जिसका कारण धूप और पहाड़ियों के रंग का प्रभाव है । निर्मल वर्मा ने एक उपमा का प्रयोग किया है । सौन्दर्य के उभार के लिए सौन्दर्य प्रसाधन - पाउडन पफ का प्रयोग किया जाता है। यहाँ 'पफडर' से बादल पहाड़ियों के शिखर, आच्छादित बर्फ, बादल और धूप के द्वारा जिस सौन्दर्य की सृष्टि हुई है, उसे शब्दबद्ध किया गया है।

विशेष :

1- इस द्यांश में बादलों की सूक्ष्म क्रियाओं का अवलोकन प्रस्तुत किया गया है ।

2- उपमा अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है ।

3- बिम्बात्मक भाषा का प्रयोग ।

2- गद्यांश : पहाड़ों पर चाँदनी का यह अद्भुत मायाजाल मैंने पहली बार देखा था और एक अलौकिक विस्मय से मेरी ऑखें मुँद गयी थीं । उस रात मुझे लगा था कि पहाड़ों में भी साँप की ऑख ज़ैसा एक अविस्मृत, जादुई सम्मोहन होता है...'

सन्दर्भ : 'चीड़ों पर चाँदनी' यात्रा वृतान्त के इस गद्यांश में लेखक होटल से खिलनवर्ग की बर्फीली पहाड़ियों पर चाँदनी के सौन्दर्य की अभूतपूर्व अनुभूति को व्यक्त किया है । लेखक उस दृश्य से अभिभूत है । उसकी अविस्मरणीयता को यहाँ प्रस्तुत किया है ।

व्याख्या : निर्मल वर्मा के पहाड़ प्रेम और सौन्दर्य-दृष्टि का यह उत्तम उदाहरण है । विविध स्थलों के सौन्दर्य को स्मृति-पटल पर स्थान दिए लेखक को खिलनवर्ग की पहाड़ियों का सौन्दर्य अभूतपूर्व लगता है । बर्फीली पहाड़ियों पर चाँदनी जिस मायाजाल को बुन रही थी, उसे लेखक पहली बार देखता है । अब तक के सौन्दर्य दृश्यों से यह दृश्य विशिष्ट है । इसकी अद्वितीयता को व्यक्त करने के लिए लेखक ने अपनी क्रिया को प्रस्तुत किया है । ऐसे परिपक्व पहाड़ी यात्रा का ऐसा दृश्य देखकर 'अलौकिक विस्मय' से उसकी 'आँखों का मुँद जाना, उस अनुभूति की विशिष्टता को मूर्त करने में सक्षम । इस आकर्षण को वह साँप की आँख जैसा 'जादुई सम्मोहन' कहता है ।

विशेष :

1- पहाड़ों की बर्फ, बादल, चाँदनी का अविस्मरणकारी दृश्य की अनुभूति कराने में ये पंक्तियाँ सक्षम हैं ।

2- चित्रात्मक भाषा का उत्तम उदाहरण है ।

3- स्मृति को शब्दबद्ध करने की लेखक की शक्ति का पता चलता है ।

21.7 सारांश

इस इकाई से निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं

इस यात्रा वृतान्त में स्थूल वर्णन के साथ गहरी संवेदनायुक्त सौन्दर्य दृष्टि से पहाड़ी सौन्दर्य को वर्णित किया गया है ।

शिमला, नारकण्डा, डलहौजी, गुलमर्ग की पहाड़ियों के सौन्दर्य स्मृतियों की सहायता से गुंफित किए गए हैं । विविध पहाड़ी यात्रों के अनुभवों को बुनकर यहाँ एक संशिष्ट रचना की सृष्टि की गई है ।

इतने मनोहारी दृश्यों को एक साथ प्रस्तुत करके यह यात्रा-वृतान्त संस्मरण के समीप पहुँच गया है । बिम्बात्मक भाषा एवं संरचना की दृष्टि से भी यह विशिष्ट यात्रा वृतान्त है ।

21.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'चीड़ों पर चाँदनी' में किन-किन स्थलों के दृश्य प्रस्तुत किए गए है? इसका ब्यौरा तैयार करें ।

2. ‘चीड़ों पर चाँदनी’ के पहाड़ी सौन्दर्य को स्पष्ट कीजिए ।
3. निर्मल वर्मा के यात्रा वृतान्त के वैशिष्ट्य को स्पष्ट कीजिए ।
4. 'चीड़ों पर चाँदनी’ के शिल्प पर अपने विचार प्रकट कीजिए ।
5. निर्मल वर्मा की चित्रात्मक भाषा को उदाहरण देकर समझाइए ।

21.9 संदर्भ ग्रंथ

1. नन्दकिशोर आचार्य (संपा.) निर्मल वर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
2. डॉ. इरेश सदाशिव स्वामी; हिन्दी साहित्य का स्वातन्त्र्य प्राप्त उत्तर यात्रा साहित्य, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर
3. डॉ. रामचन्द्र तिवारी (संपा); हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
4. रामस्वरूप चतुर्वेदी (संपा); हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
5. प्रभाकर श्रोत्रिय (संपा); ज्ञानोदय, अंक 34, दिसम्बर, 2005, दिल्ली

इकाई -22 पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' कृत 'अपनी खबर' (आत्मकथा) का अध्ययन व विवेचन इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 रचनाकार का साहित्यिक परिचय

22.3 आत्मकथा और हिन्दी आत्मकथा परम्परा

22.3.1 आत्मकथा स्वरूप

22.3.2 हिन्दी आत्मकथा

22.4 अपनी खबर' आत्मकथा का परिचय

22.5 आत्मकथा अंश का प्रतिपाद्य

22.6 शिल्पगत विशेषताएँ

22.7 व्याख्या खण्ड

22.8 सारांश

22.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

22.10 संदर्भ ग्रंथ

22.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप:

- बेचन शर्मा उग्र की प्रसिद्ध आत्मकथा से अवगत हो सकेंगे ।
- गद्यविद्या के रूप में आत्मकथा का महत्व समझ सकेंगे,।
- अपनी खबर के अंश के प्रतिपाद्य व शिल्प को समझ सकेंगे
- प्रस्तुत पाठ के विशिष्ट स्थलों की व्याख्या कर सकेंगे ।

22.1 प्रस्तावना

पाण्डेय बेचन शर्मा जय 'उग्र' ने श्री शिवपूजन सहाय के प्रेरित करने पर सन् 1960 में 'अपनी खबर आत्मकथा लिखी, इसमें अपने आरम्भिक बीस वर्षों की घटनाएँ वर्णित की है । इसके लेखन के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'आज जिन्दगी के साठा साल सकुशल समाप्त हो जाने के उपलक्ष्य में, जो कि मुझे कम या वेश जानते हैं, अपने जीवन के आरम्भिक बीस बरसों की घटनाओं से कसमसाती कहानी सुनाना चाहता हूँ ।

विवेच्य आत्मकथा अंश में पाण्डेय बेचन शर्मा अपने पाँच गुरूओं का स्मरण करते हैं जिनमें से एक लाला भगवान जन' हैं । इसमें उग्र का विद्यार्थी जीवन, उनके रचनाकार

के रूप में बन रहे संस्कार, बनारस के साहित्यिक वातावरण और स्वाधीनता आंदोलन की सुगबुगाहट का वर्णन हैं । उग्र लालाजी के सीधे विद्यार्थी नहीं रहे लेकिन उन्होंने उग्र की रचनाओं को पूरी निष्ठा और गम्भीरता से तरासने का कार्य किया । इस अध्याय में उग्र के विद्यार्थी मित्र पं. कमलापति त्रिपाठी की सदाशयता, साहित्य प्रीति एवं अपने साहित्यिक गुरू लाला भगवान 'दीन' के प्रति कृतज्ञता प्रकट हुई है ।

22.2 रचनाकार का साहित्यिक परिचय

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' (1900- 1967) चुनार, जिला मिर्जापुर (उ.प्र.) के एक गरीब परिवार में जन्मे थे । बाल्यकाल में पिता का अवसान हो जाने के कारण उनका बचपन बड़ा कष्टमय रहा । चाचा की कृपा और सहानुभूति के कारण प्रारम्भिक शिक्षा चुनार में ही हुई । बड़े भाई के साथ लम्बे समय तक अयोध्या में रामलीला मण्डलियो में सीता और भरत का अभिनय किया । परिस्थितियों के कारण शिक्षा बीच-बीच में छूटती गई । बनारस में शिक्षा ली अवश्य, लेकिन उसे बीच में छोड़ना पड़ा । चुनार वापस लौटे लेकिन बड़े भाई के डर से कलकत्ता भाग गए । इस दौड़-भाग में भी चुनार उनकी स्मृति में कभी दूर नहीं हुआ ।

उग्र राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन में सक्रिय थे, इस कारण उन्हें सन् 1921 में जेल जाना पड़ा । वे दैनिक पत्र 'आज' (बनारस) में सन् 1921 से 1924 तक अष्टावक्र के नाम से कहानियाँ और व्यंग्य रचनाएँ लिखते थे । उन्होंने एक हास्य पत्रिका 'भूत' का भी संपादन किया था । इसी दौरान वे 'मतवाला' नामक प्रसिद्ध साप्ताहिक के जन्मदाता श्री महादेव प्रसाद सेठ के परिचय में आए और वे 'मतवाला' के सहयोगी संपादक बने । 'मतवाला के प्रकाशन और व्यवस्थापन में अवरोध आने पर वे बम्बई (मुम्बई) चले गए और वहाँ कई वर्षों तक मूक फिल्मों का लेखन करते रहे ।

उग्र का बचपन और युवा जीवन गरीबी और संघर्षों में गुजरा । मुम्बई में फिल्म लेखन करते थे कि पुलिस उन्हें पकड़कर गोरखपुर ले आई । जहाँ उन्हें स्वदेश पत्रिका के संपादन के कारण छह महीने की जेल हुई । इस बीच उग्र का सर्जन, फिल्म लेखन, संपादन कार्य भी चलता रहा । जीवन में स्थायित्व नहीं था । विवाह उन्होंने किया नहीं या कर नहीं पाए । मुम्बई के कर्जदार हो गए तो भाग कर इन्दौर आ गए । वहाँ उन्होंने 'बीणा' और 'स्वराज्य' का संपादन किया । वे इस समय तक अपने क्रांतिकारी विचारों एवं यथार्थवादी दृष्टि के कारण काफी प्रसिद्ध हो चुके थे । 'बुढ़ापा' और 'रूपिया' कहानियों के लेखन के कारण सरकार ने उन्हें जेल में डाल दिया था ।

उग्र जी को जिन रचनाओं से विशेष प्रसिद्धि मिली, उनमें उनका नाटक 'महात्मा ईसा' और उपन्यास 'चॉकलेट' हैं । इनके अतिरिक्त चन्द हसीनों के खातूत, फागुन के दिन चार, सरकार तुम्हारी ऑखों में, घण्टा, दिल्ली का दलाल, शराबी, यह कंचन-सी काया, पीली इमारत, चित्र-विचित्र, कालकोठरी, कंचन घट, सनकी अमीर, जब सारा आलम

सोता है, कला का पुरस्कार आदि मुख्य रचनाएँ हैं । उन्होंने आत्मकथा 'अपनी खबर' की रचना सन् 1960 में की जिसमें उनके जीवन में आए व्यक्तियों का परिचय मात्र नहीं है बल्कि उनकी निर्भीक दृष्टि का भी पता चलता है ।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' आधुनिक महत्वपूर्ण लेखकों में से हैं । यह सही है कि उनकी चर्चा उनकी बेलाग अभिव्यक्ति, सामाजिक-सांस्कृतिक विसंगतियों को उघाड़ने की वृत्ति और साहित्य में अश्लीलता जैसे मुद्दों को लेकर अधिक हुई है, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि उग्र जी अपने समय और परिवेश को बड़ी पैनी नजर से देख रहे थे और देख ही नहीं रहे थे, उन सड़ी-गली रूढ़ियों पर अपनी सम्पूर्ण शक्ति से प्रहार भी कर रहे थे । श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने उनके साहित्यिक प्रदान के बारे में सही लिखा है - 'मौलिकता की दृष्टि से 'उग्र' की रचनाओं में साहस और शक्ति का परिचय मिलता है । 'उग्र' ने सदैव उसी मौलिकता की खोज में कभी-कभी साहित्यिक स्तर की भी परवाह नहीं की है । यही कारण है कि 'उग्र' ने जितना भी लिखा है, वह यद्यपि सबका सब साहित्यिक स्तर से उतना महत्त्वपूर्ण न हो, फिर भी अपनी मौलिकता के कारण उसका एक विशिष्ट स्थान है । उग्र जिस युग में थे, उसमें शायद भाषा और दृष्टि दोनों में एक आदर्शवादी आग्रह अधिक था । प्रत्येक आदर्शवादी युग में समसामयिकता का बोध प्राय: खो जाता है । ऐसे युग में भी अपनी नितान्त समसामयिक अनुभूतियों को लिख देना और उसकी यथार्थात्मक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करा देना कम महत्व की बात नहीं है ।' (हिन्दी साहित्य कोश भाग-2, पृ. 336-337)

22.2 आत्मकथा और हिन्दी आत्मकथा परम्परा

22.2.1 आत्मकथा स्वरूप

आत्मकथा को जीवनीप्रेरक साहित्य कहा जाता है । डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसे 'अकाल्पनिक गद्य' की श्रेणी में रखा है, ऐसा कहते हुए वे इसे आख्यानपरक विधाओं (उपन्यास, कहानी, नाटक) से अलग करते हैं लेकिन उसके सर्जनात्मक पक्ष की अवहेलना नहीं करते ।

आत्मकथा में लेखक अपने जिये गए जीवन, अनुभवों, सुख-दुख के प्रसंगों, घटनाओं, शारीरिक-मानसिक स्थिति और प्रतिक्रियाओं का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है । यदि कोई लेखक इसे प्रतिदिन लिखता जाता है तो वह 'डायरी' कहला सकती है । लेकिन जब लेखक स्मृति के झरोखे से अपने अतीत को देखते हुए लिपिबद्ध करता है तो उसे आत्मकथा की कोटि में रखा जा सकता है । इस तरह आत्मकथा व्यक्ति (लेखक) के जिये हुए जीवन का ब्यौरा है । ' हिन्दी साहित्य कोश में आत्मकथा को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'आत्मकथा लेखक के जीवन का सम्बद्ध वर्णन है । इसमें बीते हुए जीवन का सिंहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमि में अपने जीवन का महत्व दिखलाया जाना संभव है । '

आत्मकथा की प्रामाणिक लेखक की साहित्यिक ईमानदारी पर ही निर्भर करती है । यदि जीवन के तथ्यों, घटनाओं, प्रसंगों की अभिव्यक्ति करते समय लेखक कुछ जानबूझकर छोड़ देता है, तो उसे आत्मकथा लिखने का विचार छोड़ देना चाहिए । इस संदर्भ में बंगाली उपन्यासकार शरत्चन्द्र का उल्लेख प्रसंगोचित होगा । शरत्चन्द्र की लोकप्रियता देखकर जब किसी ने उन्हें आत्मकथा लिखने के लिए कहा, तो उन्होंने बड़ी सहजता से उत्तर दिया था कि यदि मुझे पता होता कि मैं इतना प्रसिद्ध व्यक्ति बन जाऊँगा, तो मैं अपना जीवन अलग तरह से जीता । मेरे जीवन-प्रसंगों में ऐसा कुछ नहीं है जो दूसरों की प्रेरणा बने । शरत्चन्द्र के ऐसे कथन से आत्मकथा की विधागत विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है । उसे अपने जीवन के कमजोर और अनछुए, दबे-ढके प्रसंगों को लिखने का साहस होना चाहिए, अन्यथा आत्मकथा आत्मस्तुतिगान मात्र बनकर रह जाएगी । लेकिन जब आत्म-समर्थन और आत्म-प्रदर्शन से ऊपर उठकर आत्म-विश्लेषण और आत्म-परीक्षण की ओर आत्म-कथाकर बढ़ता है तो उसके व्यक्तित्व के विकास की भी सम्भावना रहती है, साथ ही पाठक भी परोक्ष रूप से उससे प्रेरणा लेता है । इस दृष्टि से गाँधीजी की आत्मकथा आज भी विश्व की उत्कृष्ट आत्मकथाओं में गिनी जाती है । उन्होंने स्पष्ट लिखा है - मुझे तो, आत्मकथा के बहाने मैंने सत्य के जो प्रयोग किये हैं, उनकी कथा लिखनी है । यह जरूर है कि उसमें मेरा जीवन ओत प्रोत होने के कारण वह जीवन वृतांत बन जायेगी । पर यदि उसके हर पन्ने पर मेरे प्रयोग ही झलकें तो इस कथा को मैं स्वयं निर्दोष मानूँगा । ' स्पष्ट है कि आत्मकथा में ब्यौरेवार वर्णन होता है । यदि उसमें किसी प्रसंग को बीच में छोड़ दिया गया हो तो उसके दो कारण हो सकते हैं । 'एक कारण सहज विस्मृति का है । चूँकि आत्मकथा का आधार स्मृति है । लेखक अपने व्यतीत जीवन का, वर्षों बाद स्मृति के आधार पर निरीक्षण-स्मरण करता है, अत: विस्मृति की सम्भावना अधिक रहती है । लेकिन, कभी-कभी सहेतुक विस्मृति के कारण लेखक कतिपय प्रसंगों, घटनाओं का वर्णन करना टाल देता है । प्रसिद्ध विवेचक ऐन्द्रे मौरिस ने अपने ग्रंथ 'आस्पेक्ट आव बायोग्राफी' में सहेतुक विस्मृति के कारणों पर प्रकाश डाला है । उन्होंने लिखा है कि लेखक आत्मकथा को कलात्मक स्वरूप देने और अपने को दूसरे से भिन्न बनाने में सहेतुक विस्मृति का शिकार हो जाता है । ऐन्द्रे मौरिस ने आत्मकथा लेखन को दुरूह और साहस का कार्य बताया है । यही कारण है कि आत्मकथा लेखन प्रत्येक भाषा के साहित्य में अधिक मात्रा में नहीं हुआ है ।

22.2.2 हिन्दी आत्मकथा परम्परा

उपर्युक्त विवेचन में हमने देखा कि आत्मकथा लेखन दुरूह एवं साहस का कार्य है । अत: अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी में भी आत्मकथा साहित्य अधिक विकसित नहीं हुआ है ।

बनारसीदास जैन कृत 'अर्द्ध कथानक' (1841) को हिन्दी की प्रथम आत्मकथा होने का गौरव दिया जाता है । इसमें लेखक के जीवन के पचपन वर्षों की घटनाऐं, प्रसंगों का वर्णन है । यह आत्मकथा लम्बे समय तक अप्राप्य रही । बाद में श्री नाथूराम प्रेमी ने इसका सम्पादन किया । पहली बार पुस्तक रूप में सन् 1943 में उपलब्ध हुई, इसमें लेखक ने छह सौ पचहत्तर दोहे और चौपाइयों में अपने जीवन-अनुभवों का वर्णन किया है । भारतेन्दु युग में इस विधा में विशेष कार्य नहीं हुआ । भारतेन्दु ने अवश्य कुछ आप बीती, कुछ जग बीती आत्मकथा अंश लिखा । उनके अतिरिक्त सुधाकर द्विवेदी की राम कहानी और अम्बिकादत्त व्यास का 'निज वृतान्त' इस समय की आत्मकथाएँ हैं ।

आत्मकथा लेखन में प्रेमचन्द के संपादन में 'हँस' के आत्मकथांश (1932) विशेषांक का उल्लेख आवश्यक है । प्रेमचन्द ने अपने समकालीनों से आत्मकथांश माँगे थे । नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसका विरोध किया और अर्द्ध साप्ताहिक 'भारत' के अपने संपादकीय में इसे आत्म विज्ञापन की प्रवृत्ति कहा था । फिर भी स्वतंत्रता पूर्व जो आत्मकथाएँ लिखी गई, उनमें बाबू श्याम सुन्दर दास की 'मेरी आत्मकहानी' और राहुल सांस्कृत्यायन की 'मेरी जीवनयात्रा' उल्लेखनीय हैं । इनके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द की 'आत्मचरित, लज्जाराम मेहता की 'आपबीती', भवानीदयाल सन्यासी की 'प्रवासी की आत्मकथा', मूलचन्द्र अग्रवाल की 'पत्रकार की आत्मकथा' तथा रामकुमार विद्यार्थी कृत 'अपनों की खोज में' ऐसी आत्मकथाएँ हैं जिन्हें पूर्ण रूप से आत्मकथा नहीं कहा जा सकता है । इस दौर में गाँधीजी की 'आत्मकथा' (1926) एवं नेहरू की आत्मकथा मेरी कहानी (1936) अनूदित होकर हिन्दी में आ चुकी थीं ।

' स्वतंत्रता के बाद मेरा जीवन प्रवाह (वियोगी हरि), मेरी जीवन गाथा (क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी), जीवन चक्र (गणेश प्रसाद उपाध्याय), स्वतंत्रता की खोज में (स्वामी सत्यदेव परिव्राजक), क्रांतिकारी की आत्मकथा (मन्मथनाथ गुप्त) परिव्राजक की प्रजा (शांतिप्रिय द्विवेदी), सिंहावलोकन 1 -2-3 (यशपाल), चाँद सूरज के बीरन (देवेन्द्र सत्यार्थी), अर्धकथा (डॉ. नगेन्द्र), टुकड़े-टुकड़े आकाश (अमृतलाल नागर) आदि उल्लेखनीय आत्मकथाएँ हैं । इनमें डॉ. हरिवंश राय बच्चन की आत्मकथा अपनी विशालता (आकारगत) तथ्यों के कारण विशेष चर्चित रही । उन्होंने अपनी आत्मकथा को चार भागों में लिखा । 1. क्या भूलूँ क्या याद करूँ 2. नीड़ का निर्माण फिर, 3. बसेरे से दूर, 4. दश द्वार से सोपान तक । इसी तरह डॉ. रामदरश मिश्र की आत्मकथा भी चार भागों में प्रकाशित हुई है - 'जहाँ मैं खड़ा हूँ, रोशनी की पगडंडियाँ', हटते बनते दिन, तथा उत्तर पथ ये चारों भाग समय है सहचर नाम से एक साथ भी प्रकाशित हुए हैं । इसी तरह डॉ. रामविलास शर्मा की चर की बात आत्मकथा भी महत्त्वपूर्ण है ।

बीसवीं सदी के अंत में आत्मकथा लेखन के प्रति आकर्षण बढ़ा और कई साहित्यकारों ने आत्मकथाएँ लिखीं । जिनमें राजेन्द्र यादव की मुड़ मुड़कर देखता हूँ, मनोहर श्याम जोशी की बातों बातों में, मोहनदास नैमिशराय की 'अपने अपने पिंजरे, प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या, मन्तु भण्डारी की -एक कहानी यह भी, मैत्रेयी पुष्पा की गुडिया भीतर गुडिया, ऐसी आत्मकथाएँ हैं जो सर्वाधिक चर्चित रही हैं । इनके अतिरिक्त मराठी से अनूदित शरण कुमार लिम्बाले की 'अक्करमाशी की व्यथा एवं गंगाधर गाडगिल की महाभारत एक चींटी का भी हिन्दी में काफी चर्चित रही हैं । यह सच है कि इस विधा की ओर आकर्षण बढ़ा है और कई महत्त्वपूर्ण आत्मकथाएँ एवं आत्मकथांश प्रकाशित हुए हैं । फिर भी इनकी संख्या अधिक नहीं है । इस विधा की परम्परा क्षीणकाय ही है । श्री पंकज चतुर्वेदी की निरीक्षण सही है कि निकटस्थ अध्ययन किया जाए, तो रचनात्मक वैशिष्ट्य और उपलब्धि के नाम पर शायद सात-आठ आत्मकथाएँ ही ऐसी निकलेंगी, जिन पर कोई सार्थक बहस हो सकती है । '

22.3 'अपनी खबर' आत्मकथा के अंश का परिचय

पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने श्री शिवपूजन सहाय के प्रेरित करने पर सन् 1960 में 'अपनी खबर' आत्मकथा लिखी, इसमें अपने आरम्भिक बीस वर्षों की घटनाएँ वर्णित की है । इसके लेखन के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'आज जिन्दगी के साठा साल सकुशल समाप्त हो जाने के उपलक्ष्य में, जो कि मुझे कम या वेश जानते हैं, अपने जीवन के आरम्भिक बीस बरसों की घटनाओं से कसमसाती कहानी सुनाना चाहता हूँ । '

'अपनी खबर' इस आत्मकथा से गुजरते हुए सहज ही उग्र की सत्यनिष्ठा और साहसी वृत्ति के जगह-जगह दर्शन होते हैं । उन्होंने अपने जीवन के कमजोर क्षणों और स्थितियों को छिपाने का प्रयत्न नहीं किया । भूमिका में उन्होंने लिखा है कि सत्य लिखने में जीवित 'अंध-भक्त बिरादरी' का भय है । हनुमान प्रसंग के माध्यम से उन्होंने संकेत किया है कि सत्य को पूर्ण परिप्रेक्ष्य में समझने की ओर कम लोगों का ध्यान जाता है । निराला की साहित्यिक ऊँचाई के कारण उनके जीवन की कोई अशुभ घटना का उल्लेख करने से उनके प्रति श्रद्धा रखने वाले लोग नाराज हो सकते हैं । इस भय को समझते हुए उग्र जी ने 'अपनी खबर' लिखी । वे आत्मकथा क्षेत्र में 'आत्म प्रशंसा' और 'अहंकार प्रदर्शन' के खतरे को भी जानते थे, इसलिए उन्होंने लगभग तटस्थ रहकर सत्य को प्रस्तुत किया है । उन्होंने स्पष्टता की है कि 'इन संस्मरणों को पढ़ने पर किसी को ऐसा लगे कि मैंने निन्दा या बुराई किसी की की है तो यही मानना होगा कि मुझे ठीक से लिखना आया नहीं । ' (अपनी खबर, पृ. 14)

'अपनी खबर' में उग्र जी की सत्यनिष्ठा के साथ संवेदनशीलता भी स्थान-स्थान पर प्रकट होती है । उदाहरण के लिए महादेव प्रसाद सेठ की सदाशयता का प्रसंग देखें । महादेव प्रसाद सेठ निराला पर मुग्ध थे, उन्हें निरन्तर सम्भालते थे । इसी तरह उग्र

के प्रति भी उनके हृदय में अहोभाव था । उग्र उन्हें 'गालियां भी देते, लेकिन वे उनके कलाकार की सराहना करते रहते । एक दिन उन्होंने उग्र के 'दुर्वचनों' का विरोध करते हुए कहा कि 'आप गाली ऐसे को दिया करें जो आपको उसका उत्तर दे । मैं चुप रहूँ आप गालियाँ देते रहे; तो आप कायर हो जाएंगे । ' (वही, पृ. 16) महादेव प्रसाद के इस अहिंसक बाण ने उग्र को झकझोर डाला । उन्हें रात को नींद नहीं आई । अत: उन्होंने रात को ही पास सोये सेठ को जगाकर कहा - महादेव बाबू मैं आपसे माफी माँगता हूँ मुझे नींद नहीं आ रही है । ' (वही, पृ. 16) अपने सहयोगियों के प्रति कटु से कटु कथन कहने वाले उग्र अन्दर से अतिशय संवेदनशील थे । जब 'मतवाला' के कार्यालय से डेढ़ सौ गज की दूरी पर निराला ने एक प्रकाशक पर आक्रमण कर दिया और प्रकाशक के शिकायत करने पर सेठजी ने निराला को वहाँ से 'बिस्तर बाँध लेने' को कह दिया । निराला चले गए तो उग्र ने महादेव सेठ के सामने 'कन्फेशन किया कि 'महादेव बाबू, बिस्तर आप मेरा भी बँधवाए, क्योंकि मेरी उत्तेजना से 'निराला' ने अपने अपमान का बदला लिया था ।.. सो भी होश में नहीं, मेरे शब्दों के नशे में । ये अगर गलती है तो उग्र की है, निराला की नहीं । ' (वही, पृ 17)

'अपनी खबर आत्मकथा में उग्र ने अपने बचपन की गरीबी, बड़े भाई का अत्याचार और प्रेम, प्रारम्भिक शिक्षा, रामलीला मण्डली का अनुभव, माँ का क्रोध, मातृभूमि चुनार के प्रति आकर्षण, अपने पाँच गुरू - अग्रज, लाला भगवान दीन', पं. काशीपति त्रिपाठी, पण्डित बाबूराव विष्णु पराड़कर, श्री कृष्णवदन पालीवाल की विशिष्टताओं एवं भागवत प्रसाद, भानुप्रताप तिवारी और बच्चा महाराज तथा मित्र कमलापति त्रिपाठी के संस्मरणात्मक अध्याय लिखे हैं । 'बनारस और कलकत्ता' नामक अध्याय में बनारस की सुन्दरता और करूपता पुरूषों-सम्बन्धियों की वेश्यागामिता तथा कलकत्ते के स्वाधीनता आंदोलन के संदर्भ में राजनीतिक माहौल का वर्णन है । इसमें उन्होंने कांग्रेस के अध्यक्ष बने लाला लाजपतराय के हृदय में असहयोग आंदोलन का बिगुल फूँकने वाले गाँधीजी के प्रति श्रद्धा भाव का वर्णन करते हुए लिखा है - 'प्रेसीडेन्ट होने के बावजूद लालाजी महात्मा जी को पंखा झल रहे थे । राष्ट्रीय महासभा के उस क्रांतिकारी अधिवेशन के दर्शनों ने मेरे मन में जैसे राष्ट्रीय नशा भर दिया था, प्राणों में एक सपना - गौरव!' (वही, पृ. 135)

श्री पंकज चतुर्वेदी ने 'अपनी खबर' की महत्वपूर्ण विशेषता उग्र द्वारा 'ब्राह्मणवाद की सख्त मुखालफत' माना है और इस प्रतिवाद का कारण वामपंथी विचारधारा नहीं बल्कि शुद्धत: जीवनानुभव से निःसृत विवेक कहा है । ब्राह्मणों की मूर्खता, नशाखोरी, व्यभिचार के अनुभवों के कारण उग्र के ये विचार परिपक्व हुए । यह सच है कि अभावपूर्ण जीवन में उन्हें द्विजत्व के संस्कार नहीं मिले थे, लेकिन इन विचारों के पीछे उग्र का दलित, शोषित, वंचित लोगों के प्रति लगाव था ।

विवेच्य आत्मकथा अंश में पाण्डेय बेचन शर्मा अपने पाँच गुरूओं का स्मरण करते हैं जिनमें से एक लाला भगवान 'दीन' हैं । इसमें उग्र का विद्यार्थी जीवन, उनके रचनाकार के रूप में बन रहे संस्कार, बनारस के साहित्यिक वातावरण और स्वाधीनता आंदोलन की सुगबुगाहट का वर्णन हैं । उग्र लालाजी के सीधे विद्यार्थी नहीं रहे लेकिन उन्होंने उग्र की रचनाओं को पूरी निष्ठा और गम्भीरता से तरासने का कार्य किया । इस अध्याय में उग्र के विद्यार्थी मित्र पं. कमलापति त्रिपाठी की सदाशयता, साहित्य प्रीति एवं अपने साहित्यिक गुरू लाला भगवान 'दीन' के प्रति कृतज्ञता प्रकट हुई है । इस आत्मकथाश के प्रतिपाद्य पर अगले पृष्ठों में विचार करेंगे ।

22.4 प्रतिपाद्य

लाला भगवान 'दीन' पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की आत्मकथा का महत्त्वपूर्ण अध्याय है। इस अध्याय में उन्होंने अपने द्वितीय गुरू लाला भगवान 'दीन' के व्यक्तित्व, उनके अध्यापक के दायित्व एवं साहित्य प्रेम को कुछ प्रसंगों के द्वारा व्यक्त किया है ।

यह अध्याय उग्रजी की सत्यनिष्ठा एवं विवेक का भी उत्तम उदाहरण है । वे अपने आदि गुरू अपने बड़े भाई को मानते हैं, जिनकी उन्होंने इस आत्मकथा में भर्त्सना की है । दौर जिम्मेदार, बदमाश, बदचलन, बड़े भाई की यहाँ साहित्य प्रीति को सुन्दर ढंग से रेखांकित करते हैं । उग्र की गुणग्राहम दृष्टि अपने बड़े भाई के साहित्य प्रेम को सही ढंग से प्रस्तुत करती है । मासिक पत्रों में समस्यापूर्ति में उत्साह से भाग लेने वाले अग्रज कवित्त और लेख भी लिखते हैं । हिन्दी ही नहीं, हिन्दी को सिखाते हुए उनका बंगला भाषा को सीख लेना बंगला पुस्तकें खरीदना एवं 'भारतवर्ष' नामक मासिक पत्र मंगवाना उनके उत्कृष्ट साहित्यिक संस्कारों का संकेत देते हैं । ऐसे साहित्य प्रेमी अग्रज से परोक्ष रूप से उग्र ने बहुत कुछ सीखा था । यहाँ उसका सहज स्वीकार है - 'प्रत्यक्ष न सही, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से बड़े भाई साहब के इस विद्या व्यसन का बेचन पर बहुत शुभ प्रभाव अवश्य पड़ा होगा । सो वह खराब आदमी - मेरा बड़ा भाई- मेरा आदि गुरू था । ' (अपनी खबर, पृ. 102)

उग्र अपने भाई के गुणों-अवगुणों को पर्याप्त तटस्थता से वर्णित करते हैं । इसी तरह अपनी निर्धनता और गरीबी को भी । इस अभावग्रस्तता के बीच मिले प्रिय मित्र कमलापति त्रिपाठी और उनके परिवार की सहायता, प्रेम और उनके द्वारा दिये सम्मान का स्मरण करते हैं । वे कमलापति त्रिपाठी के बड़े भाई पं. काशीपति त्रिपाठी को अपना गुरू मानते हैं जिन्होंने उनमें आत्मविश्वास का सिंचन किया था । बनारस में उनसे आसरा ही नहीं मिला बल्कि उन्हें रचनाकार के रूप में सम्मान भी दिलवाया । उग्रजी ने लिखा है - कमलापति के घर में मेरी कद्र पहले उनके बड़े भाई काशीपति जी ने समझी ही नहीं, यों विघोषित किया कि उनके परिवार में और पड़ोस में और परिचितों में भी जिक्र मेरा मुझसे बेहतर प्रमाणित होने लगा । (वही, पृ. व 04)

इस आत्मकथा अंश में उग्रजी की सरलता, सहजता भी ध्यान आकृष्ट करती है । वे अपने मित्र कमलापति त्रिपाठी की खुशामद में छंद लिखते हैं, उनके बड़े भाई पं. काशीपति त्रिपाठी को 'प्रसन्न करने के लिए उनके गुरू गदाधर शर्मा की बरसी पर धनाक्षरी छंद रचते हैं । इस अंश में अपने कमजोर पक्ष को अकुंठ भाव से व्यक्त किया गया है । इसी तरह अपने खण्ड काव्य 'ध्रुव चरित' को प्रकाशित करने के लिए कमलापति की विदुषी भानजी से आर्थिक सहायता के स्वीकार को याद करते हैं ।

इस अंश के केन्द्र में उनके द्वितीय गुरू लाला भगवान दीन हैं । उनके बाह्य व्यक्तित्व को लेखक ने इस शब्दों में व्यक्त किया है - लाला भगवान 'दीन' की पर्सनेल्टी उनके उपनाम के अनुरूप ही थी । मुँह पर चेचक के दाग, पक्का रंग, ठिगना कद, मटमैला, भद्दा मुशियाना लिबास । ' (वहीं, पृ. 106) इस बाह्य रूप की साधारणता के पीछे छिपी असाधारणता को उग्रजी स्पष्ट करने में सफल रहे हैं । मात्र एक-दो प्रसंगों के माध्यम से लालाजी की वाकछटा एवं विद्वता का संकेत किया गया है । लालाजी को 'अखाड़िया स्वभाव के दंगली विद्वान' कहना तत्कालीन साहित्यिक परिवेश में लालाजी के जुझारू व्यक्तित्व का संकेत देता है । इसके अतिरिक्त उनकी साहित्य निष्ठा, हिन्दी प्रेम और विद्यार्थी वत्सलता भी सहज रूप से प्रकट हो गई है । उग्र के 'ध्रुव धारणा' खण्ड काव्य एवं 'महात्मा ईसा' नाटक को प्रकाशन योग्य बनाने में लालाजी ने बड़ी निष्ठा से सम्यक् संशोधन कार्य किया था, यह उनकी साहित्य प्रीति का ही नहीं, साहित्य सर्जन के विकास में उनकी रूचि का भी उदाहरण है । उग्रजी के निम्नलिखित वर्णन में लालाजी के आन्तरिक गुणों का संकेत मिल जाता है - 'लाला भगवान 'दीन' की हॉबी थी पढ़ाना-पढ़ना, पढ़ना-पढ़ाना । एक विद्यालय खोलकर नियम से वह विद्यार्थियों को उसमें सम्मेलन का कोर्स, निष्काम पढ़ाया करते थे । लिखने-पढ़ने से फुर्सत पाते पाते ही लालाजी विद्यार्थियों का घर भी पढ़ाया करते । हिन्दू विश्वविद्यालय के लेक्चरर तो थे ही । लालाजी अखाडिया स्वभाव के दंगली विद्वान थे । भाष्य, समीक्षा, निबन्ध, काव्य - इन सब कलाओं में लालाजी गम्भीर निपुण थे । सबसे ऊपर उनका हृदय कोमल स्नेहमय था । प्रसन्न-वदन विनय पत्रिका विद्यार्थियों को पढ़ाते-पढ़ाते लालाजी भक्ति विभोर, सजल-नयन, गद्गद-गिरा हो जाते थे । (वही, पृ. 106)

इस अंश में लालाजी के व्यक्तित्व की विशिष्टताओं का सांकेतिक रूप से उद्घाटन करते हुए लेखक उनकी एक सहज वृत्ति पर चुटकी लेना नहीं चूकता । जयशंकर प्रसाद की तम्बाकू-जर्दा की दुकान वेश्या बाजार में थी और लालाजी उनकी दुकान की ही तम्बाकू पीते थे । अत: वे दुकान पर आते-जाते ठहरते 'शत-शत-मंगला मुखियों' का दर्शन लाभ भी कर लेते थे । क्या अपने गुरू की विशिष्टताओं और असाधारणता के साथ इस सहज मानव-कमजोरी का उल्लेख करना आवश्यक था ' ऊपर से देखते हुए यह आत्मकथाकार की सत्यनिष्ठा और साहस का उदाहरण है कि वह सम्बद्ध व्यक्ति का सम्यक् परिचय दे रहा है । लेकिन आत्मकथा की स्वरूपगत सीमा के कारण किसी

बाह्य व्यक्ति के जीवन का सम्यक् परिचय आवश्यक नहीं लगता । आत्मकथा में उन घटनाओं, स्थितियों और प्रसंगों का वर्णन आवश्यक होता है जिससे लेखक सीधे जुड़ा हो । तम्बाकू-जर्दा के बारे में किए वर्णन में लेखक के जुड़ाव के संकेत नहीं मिलते, जिससे इस प्रसंग के चित्रण का औचित्य सिद्ध नहीं होता ।

इस सीमा के अतिरिक्त इस अंश में तत्कालीन राष्ट्रीय भावना, साहित्य और अध्यापन के क्षेत्र में सक्रिय महानुभावों की सदाशयता और दायित्व बोध को प्रकट करने में लेखक ने सफलता पाई है ।

22.5 शिल्पगत विशेषताएँ

आत्मकथा अकाल्पनिक गद्य होते हुए भी ऐसी विधा है जिसे कलात्मक रूप देने के लिए तथ्यों, घटनाओं, स्थितियों और प्रसंगों को एक साँचे में ढाला जाता है । यह ढालना अपने आप में एक प्रक्रिया है और इसमें , एक प्रयोजन भी छिपा है । ऊपर से युक्तियुक्त लगती आत्मकथा लेखक की शिल्प सजगता के कारण सुपाठ्य एवं प्रामाणिक हो पाती है । आत्मकथा तथ्यों का कोई बेतरतीब पिटारा नहीं होता । यद्यपि उसमें स्मृति का बड़ा रोल होता है, लेकिन लेखकीय प्रयोजन द्वारा स्मृति अपना कार्य करती है ।

आत्म परीक्षण और आत्म प्रकाशन के साथ लेखक के विशिष्ट अनुभवों को प्रकट करने के मोह के साथ तत्कालीन परिवेश के चित्रण एवं अन्यों को प्रेरित करने की तत्परता आत्मकथा लेखन की ओर ले जाती है । इसमें चित्त की स्वस्थता का होना आवश्यक है, नहीं, तो स्व के प्रदर्शन और आत्म प्रशंसा में वस्तुनिष्ठता की बलि चढ़ सकती है । इस पृष्ठभूमि के बाद 'अपनी खबर' के इस अंश की शिल्पगत विशेषताओं पर विचार करेंगे । उग्र आत्मकथा के स्वरूप एवं उसकी अपेक्षा से परिचित हैं । भूमिका में उन्होंने स्पष्ट किया है महानुभाव फरिश्तों को 'आदमी' बनाने की प्रतिज्ञा के कारण नहीं, बल्कि उन्हें सत्यनिष्ठा और आत्म-संयम एवं विवेक के कारण आत्मकथा लिखने में किसी प्रकार की दुविधा नहीं हुई । यहाँ अन्यों की कमियों -को उघाड़ा गया है तो अपनी कमजोरियों से बचने का प्रयास नहीं किया गया है । आत्मकथा वर्णनात्मक शैली में किस्सागोई के अन्दाज में सहज रूप से आगे बढ़ती जाती है । श्री पंकज चतुर्वेदी ने सही लिखा है कि किस्सागोई, नाट्य-तत्वा. ललित निबन्ध, संस्मरण, रेखाचित्र, पत्र और कविता - इन सब विधाओं के बीच आत्मकथा एक अन्त:सलिला विधा की तरह चलती है । ' (आत्मकथा की संस्कृति, पृ. 140) कथाकार होने के कारण उनकी आत्मकथा में कहानीपन (किस्सागोई) सहज रूप से आ गया है और उसने आत्मकथा को सुपाठ्य बना दिया है । वैसे तो यह अंश लाला भगवान दीन पर केन्द्रित है, लेकिन आत्मकथाकार अपने द्वितीय गुरू की बात न करके अपने पाँचों गुरुओं का उल्लेख करने के बाद लालाजी की चरित्रगत वैशिष्ट्य को प्रकट करते हैं । यह पूरा वर्णन ऊपर से अनावश्यक लगते हुए प्रकारान्तर से लेखक के कलात्मक संघटन की उत्तम मिसाल है ।

इसके साथ यहीं उग्र की सरल, सहज लगने वाली भाषा की अभिव्यंजना शक्ति का संकेत देता है । एक उदाहरण से इसे समझें । गाँधी जन्म दिवस समारोह स्कूल में मनाया जाता है । इसमें गलत-सलत-रही तुकबन्दी के द्वारा हिन्दू स्कूल के माननीय कवि के रूप में लेखक को प्रतिष्ठा मिल जाती है । इस वर्णन में तत्कालीन समाज में राष्ट्रीय भावना के प्रति आकर्षण, उग्र का आत्मसंयम और उनकी हास्यवृत्ति का संकेत एक साथ मिल जाता है - उस सभा में महात्माजी पर मैंने एक तुकबन्दी होला छन्द में) पढ़ी थी । बिल्कुल गलत-सलत, रही । लेकिन उसमें गाँधीजी का नाम था, साथ ही विदेशियों के विरूद्ध विचार थे । बस, फिर क्या था । वह तो राष्ट्रीय भावना से भरी संस्था ही थी ही । हो हो, हा हा! तालियों की गड़गड़ाहट । और दूसरे दिन बेचन पाण्डे हिन्दू स्कूल के माननीय कवि!' (अपनी खबर, पृ. 103)

कवि के रूप में स्कूल में मिली प्रसिद्धि के कारण लेखक प. कमलापति त्रिपाठी और उनके बड़े भाई से परिचय बढने के कारण उसे लालाजी का सानिध्य प्राप्त होता है । यह सारा वर्णन उग्र के रचना-कौशल का उत्तम उदाहरण है । प्रारम्भ की अवांतर कथा के बीच संगति बैठाते हुए लेखक उसके औचित्य को सिद्ध करता है । ठसके साथ ही स्पष्टता भी करता है कि 'असल में कमलापति के यही पहुँचने के कारण ही मैं लालाजी के निकट पहुँच पाया था, अत: पति-भाईयों की चर्चा इस प्रसंग में आवश्यक हुई । (वही, पृ. 105)

उग्र कथाकार हैं और चरित्र निरूपण में सिद्धहस्त हैं । इस आत्मकथा में उसका उपयोग हुआ है । बहुत कम शब्दों में वे लालाजी के बाह्य व्यक्तित्व के साथ उनकी 'असाधारणता' का संकेत भी दे देते हैं । बाह्य कुरूपता दिखाने के बाद उनकी वाकशक्ति की ताकत, साहित्यनिष्ठा विद्यार्थी वत्सलता, वाद-विवाद में हार न मानने वाली दृष्टि लालाजी के एक पृष्ठ के वर्णन में अभिव्यंजित हो जाते हैं । यही कहीं अति विस्तार नहीं, कहीं कहीं यह अतिरिक्त सांकेतिकता खलती है । जहाँ एक ओर यह उग्र की शैली की प्रौढता है, वहीं दूसरी ओर सीमा भी है । अतिशय सांकेतिकता के कारण इस प्रसंग की महत्ता पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो पाती । लालाजी का चरित्र यहाँ कहानी के पात्र के चरित्र की तरह अभिव्यंजित होता है । जिसे द्वितीय गुरू कहा गया है, उसका यह संक्षिप्त वर्णन क्या सहेतुक विस्मृति का उदाहरण माना जाए!

इस अंश में उग्र की आत्मतोष शैली का भी परिचय होता है । लालाजी के प्रति अतिशय आदर होते हुए, अपने फक्कड़पन और धारा के विरूद्ध चलने की वृत्ति उनसे कहलवाती है - मुझमें यदि कुछ प्रतिभा थी तो उसे लालाजी के मात्र आशीर्वाद का पोष प्राप्त हुआ । पढ़ा वह मुझे न पाए । (वही, पृ. 106-107)

यह आत्मकथा उग्र के रचना-कौशल, लेखकीय साहस और युक्ति मुक्त होने के कारण विशेष प्रसिद्ध हुई । वस्तुनिष्ठ ढंग से अपनी कमजोरियों को ही नहीं उघाड़ता, दूसरों की अतिवादिता और असंगत व्यवहारों पर भी कहीं चोत तो कहीं चोट, तो कहीं चुटकी लेता है । इस आत्मकथा अंश की कलात्मक बनावट में उग्र की कलात्मक साधना की ऊँचाई

का पता चलता है । यद्यपि आत्मकथा में व्यक्ति चरित्रों की प्रधानता है और इसमें संस्मरण के तत्व अधिक हैं । लाला भगवान 'दीन' अंश भी इसी शृंखला में आता है । लेकिन लेखक अवांतर कथाओं एवं व्यक्तियों के वर्णन में उनको अभिव्यक्त करने के औचित्य को सिद्ध करता है ।

इस वर्णन में जगह-जगह वर्णनात्मक शैली की शक्ति का परिचय मिलता है । कमलापति त्रिपाठी के अभिजात्य और सम्पन्नता के साथ अपनी गरीबी का कुंठामुक्त वर्णन और उसे एक वाक्य से जोड़कर उसके औचित्य को सिद्ध करने की करामात लेखक को आती है - दैसे तो कमलापति जी हिन्दू-स्कूल और मेरी ही कक्षा में पढ़ते थे, लेकिन मैं था फटेहाल अदना बालक और कमलापति थे प्रतिष्ठित पैसा पति-पुत्र । ब्राह्मण हमारे ही रंग के लेकिन अधिक चटकदार । मुझमें और कमलापति में कोई साम्य नहीं था, कि हम मिलते । ... लेकिन एक घटना घटी, जिससे मैं रातों-रात हिन्दू-स्कूल के विद्यार्थियों में विशेषत: विज्ञापति हो गया । (वहीं, पृ. 103)

इस आत्मकथा अंश में उनकी हास्य-व्यंग्य शैली भी ध्यान आकृष्ट करती है । चाहे स्कूल की प्रतियोगिता हो या फिर कानपुर के 'प्रताप' पत्र की राष्ट्रीय-गान-रचना प्रतियोगिता । राष्ट्रीय प्रेम की तुकबन्दी और विदेशियों के विरोध कैसे कविता की उत्तमता का मापदण्ड बन जाता था, इस अंश में उग्रजी ने दिखलाया है । स्वयं को मिली प्रसिद्धि और सम्मान के लिए 'अंधे के हाथ बटेर लगने' अथवा 'गुरू गुड और चेला चीनी' जैसे मुहावरों द्वारा अपने पर हँसकर जहाँ अपने साहित्यिक विवेक एवं संयम का उदाहरण प्रस्तुत किया है, वहीं तत्कालीन स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रति साहित्यकारों के रूझान को भी स्पष्ट कर दिया है ।

22.6 व्याख्या खण्ड

1. **गद्यांश-** कमलापति धवल-नवल वस्त्र धारण कर माथे में भस्मी लगाए स्कूल आते । मैं जाता हीन-दीन मलीन कपड़े पहने - धूल उड़ती चेहरे पर । मुझमें और कमलापति में ऐसा कोई साम्य न था कि हम मिलते । वह तुंग हिमालय- शृंग, मैं धूलि धँसी धरती की ।

संदर्भ - यह गद्यांश 'अपनी खबर' आत्मकथा के लाला भगवान 'दीन' अंश का है । पाण्डेय बेचन शर्मा नग्र' यह अपने मित्र कमलापति त्रिपाठी के अभिजात्य और अपने निर्धनत्व के अन्तर को अंकुठ भाव से व्यक्त करते हैं । कमलापति के सम्पर्क में आने के कारण ही वे लालाजी का मार्गदर्शन पा सके थे ।

व्याख्या - इस गद्यांश में पं. कमलापति त्रिपाठी के आकर्षण बाह्य व्यक्तित्व के ऐश्वर्य एवं सम्पन्नता को अभिव्यंजित किया गया है । स्वच्छ श्वेत वस्त्रों को धारण करके माथे पर भस्म लगाकर उनके स्कूल आने से आत्मकथाकार पर इसका विशिष्ट प्रभाव पड़ता था । वे अपने मलीन कपड़े और धूसरित चेहरे पर ग्लानि का अनुभव करते थे । इस अभिजात्य के कारण उनमें मिलने, मित्र बनने की कोई सम्भावना नहीं

थी । समान वर्ग, जाति या समीप रहने वालों में मैत्री सहज रूप से हो जाती है, जबकि जहाँ अमीर-गरीब की गहरी खाई हो वहाँ ऐसा होना कठिन है । उग्र यही उनसे अपने अलगाव को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हैं । कमलापति को पैसापति-पुत्र एवं स्वयं को 'अदना बालक' कहकर दोनों के बीच की दूरी को प्रकट कर देते हैं । यही आत्मकथाकार तत्कालीन जाति व्यवस्था में वर्ग-भेद के महत्व एवं प्राथमिकता को भी स्पष्ट कर देते हैं । त्रिपाठी को उच्च हिमालय की चोटी और अपने लिए 'धरती की धूल' कहना, दोनों के बीच के अन्तर को स्पष्ट करने में सक्षम है ।

विशेष -

1- अपने मित्र की सम्पन्नता को बड़े सटीक ढंग से स्पष्ट करते हैं ।

2- अपने निर्धनत्व का अकुंठ भाव से प्रकट करते हैं, और कहीं भी ग्लानि का भाव नहीं आता ।

3- सम्पन्न कमलापति त्रिपाठी के लिए तुंग हिमालय मृग और अपने लिए 'धरती की धूल' की उपमा सार्थक एवं प्रभावोत्पादक है ।

4- तत्कालीन समाज में धन के सहत्व का संकेत दिया गया है ।

2- **गद्यांश-** पहले सौ में-सौ साहित्यिक ऐसे होते थे जो कहीं जरा भी प्रतिभा, जरा भी प्रसाद देखते ही उसका यथोचित आदर करते थे । आज जैसे वह चीज चलीं ही गई है।

संदर्भ - उग्र जी की आत्मकथा 'अपनी खबर' के लाला भगवान 'दीन' अंश के इस गद्यांश में सन् 1920 के आस-पास के साहित्यकारों की सदाशयता, साहित्य निष्ठा और उदारता का स्मरण किया गया है एवं स्वतंत्रता के बाद की स्थिति से उसकी तुलना की गई है ।

व्याख्या - पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र' के ध्रुव-धारणा खण्डकाव्य एवं 'महात्मा ईसा' नाटक की पाण्डुलिपि में लालाजी ने सम्यक् संशोधन करके प्रकाशन योग्य बनाया था । यह वृत्ति लालाजी की ही नहीं उस समय के अधिकांश साहित्यकारों की थी । उस समय जब किसी युवक में सर्जनात्मक उन्मेष दिखाई देता था, तो उसके प्रोत्साहन में तत्कालीन बड़े-बड़े साहित्यकार रूचि लेते थे, उसे उचित मार्गदर्शन देते थे । उग्रजी की प्रतिभा को देखकर अभ्युदय के सम्पादक पं. कृष्णकाना मालवीय ने सम्पूर्णानन्द जी से उग्र पर कृपालु रहने के लिए आग्रह किया था । युवा पीढ़ी को प्रोत्साहन देने में उस समय के महत्वपूर्ण साहित्यकार, श्रेष्ठी तत्पर रहते थे । उसे उचित आदर-सम्मान दिया जाता था । उग्र अपने अनुभव से इस बात को प्रमाणित करते हैं । साथ ही स्वतंत्रता के बाद के बदले परिवेश के प्रति दुख व्यक्त करते हैं । साहित्य जगत में आए परिवर्तन के कारणों का संकेत भी आत्मकथा में मिलता है ।

विशेष -

1. इस गद्यांश में स्वतंत्रता पूर्व के हिन्दी साहित्य-जगत के प्रोत्साहक वातावरण, साहित्यकारों की उदारता, गम्भीर साहित्य प्रेम, युवा वर्ग के प्रति लगाव और उन्हें विकसित होने के लिए सहायक होने की वृत्ति को उभारा गया है ।

2. वर्तमान स्थिति पर टिप्पणी व्यंग्यपूर्ण नहीं है, बल्कि उस पर आत्मकथाकार की चिन्ता का ही स्पष्ट संकेत मिलता है ।

22.7 सारांश

लाला भगवान दीन पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की आत्मकथा का महत्त्वपूर्ण अध्याय है । इस अध्याय में उन्होंने अपने द्वितीय गुरू लाला भगवान 'दीन' के व्यक्तित्व, उनके अध्यापक के दायित्व एवं साहित्य प्रेम को कुछ प्रसंगों के द्वारा व्यक्त किया है ।

आत्मकथा के इस अंश में उग्र जी की आत्मतोष शैली, वर्णनात्मक शैली व हास्य व्यंग्य प्रधान शैली के दर्शन होते हैं । यह आत्मकथा उग्र के रचना-कौशल, लेखकीय साहस और युक्ति मुक्त होने के कारण विशेष प्रसिद्ध हुई । वस्तुनिष्ठ ढंग से अपनी कमजोरियों को ही नहीं उघाड़ता, दूसरों की अतिवादिता और असंगत व्यवहारों पर भी कहीं चोत तो कहीं चोट, तो कहीं चुटकी लेता है । इस आत्मकथा अंश की कलात्मक बनावट में उग्र की कलात्मक साधना की ऊँचाई का पता चलता है । यद्यपि आत्मकथा में व्यक्ति चरित्रों की प्रधानता है और इसमें संस्मरण के तत्व अधिक हैं । लाला भगवान 'दीन' अंश भी इसी श्रृंखला में आता है । लेकिन लेखक अवांतर कथाओं एवं व्यक्तियों के वर्णन में उनको अभिव्यक्त करने के औचित्य को सिद्ध करता है ।

22.8 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. आत्मकथा को साहित्यिक विधा कहने का औचित्य क्या है?
2. हिन्दी में आत्मकथा लेखन की परम्परा का वर्णन कीजिए ।
3. उग्र जी की आत्मकथा की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।
4. उग्रजी ने अपनी आत्मकथा में लाला भगवानदीन की किन विशेषताओं को उभारा है?

22.9 संदर्भ ग्रन्थ

1. पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'; अपनी खबर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2006
2. पंकज चतुर्वेदी; आत्मकथा की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003
3. सं. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा तथा अन्य; साहित्यकोश भाग 1 -2, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, द्वितीय संस्करण- 1986
4. डॉ. कमलेश सिंह; हिन्दी आत्मकथा : स्वरूप एवं साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1989
5. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी; हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण- 1996
6. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी; हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण- 1999

इकाई - 23 विष्णु प्रभाकर कृत 'आवारा मसीहा' (जीवनी) के एक अंश का अध्ययन व विवेचन

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 रचनाकार का साहित्यिक परिचय

23.3 आवारा मसीहा- एक उपलब्धि

23.4 शिल्प

23.5 कठिन शब्दों का अर्थ

23.6 व्याख्या

23.7 सारांश

23.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

23.9 संदर्भ ग्रंथ

23.0 उद्देश्य

इस प्रकार के अध्ययन के पश्चात आप-

- छात्र 'आवारा मसीहा' के नायक शरत् के जीवन चरित्र से परिचित होंगे।
- शरत् के चरित्र में मानववाद की गहरी दृष्टि से अवगत हो सकेंगे।
- 'जीवनी' एक स्वतन्त्र साहित्य-विधा है- जिसका आस्वादन उपन्यास जैसा हो जाता है। इस आशय को छात्र समझेंगे।

23.2 प्रस्तावना

शरतचन्द्र मानववादी चिंतक थे। उनका संपूर्ण साहित्य इस बात का प्रमाण है। उनके साहित्य में मनुष्य में अच्छा या केवल बुरा नहीं है। वे मानते थे कि जब परिस्थितियों से विवश होकर मनुष्य कुछ ऐसा कर बैठता है जो तत्कालीन धर्म और समाज की दृष्टि में बुरा हो तो मनुष्य सचमुच बुरा नहीं तो जाता। उसका जो मनुष्य धर्म है, उसका जो उज्ज्वल पक्ष है वह मर नहीं जाता। स्त्री के संदर्भ में भी उनका यही मत है। बाह्य रूप से जो पतिता है पतन उसके लिए सत्य ही है किन्तु बाहर के उस पतन के भीतर उसका परिपूर्ण नारीत्व सुरक्षित रह सकता है। यह भी सत्य है। यही शरत के यथार्थवाद की परिभाषा है। यह यथार्थवाद वैश्यवृति का प्रचार नहीं बल्कि उस पर रोक ही है। इतना अवश्य है यह रोक एकांगी रोक नहीं है। ऐसा यथार्थवाद समाज पर अंकुश रखता है। जब जीवन में अशुचिता की प्रशंसा नहीं की जा सकती तो उस समाज व्यवस्था की प्रशंसा कैसे की जा सकती है तो मनुष्य को शुचिता के मार्ग पर चलने से रोकती है। यही आदर्श मानववाद पतितों को गले लगा लेता है। शरत अपनी रचना द्वारा किसी का अपमान

नहीं करना चाहते। पुरुष हो या स्त्री गिरकर उठने का रास्ता सबके लिय खुला होना चाहिए।

23.2 रचनाकार का साहित्यिक परिचय

कृति और कृतिकार एक दूसरे का हिस्सा होते हैं । उन्हें अलग नहीं किया जा सकता । विष्णु प्रभाकर के लिए लेखन उनके भावुक मन को शांति देने वाला शरण स्थल रहा । उन्होंने लिखा है कि मैं दर्द को जीता रहा और द्वंद्व को पीता रहा । विष्णु जी का जीवन सर्वाशत: मानववादी रहा । उनका व्यक्तित्व उनके साहित्य से अधिक महिमामय है । वे जीवन कला के आचार्य हैं और उनमें सहजता, निश्छलता, परदुखकातरता है ।

विष्णु प्रभाकर का जन्म 21 जून 1912 को मीरपुर जिला मुजफ्फर नगर उत्तर प्रदेश में हुआ था । 1924 में वे मामा के पास हिसार चले गए । उसके बाद छोटी-मोटी नौकरियाँ करते हुए बीए. हिन्दी प्रभाकर, प्राज्ञ आदि परिक्षाएं पास की । उनका नियमित लेखन, 1934 से प्रारंभ हो गया था ।

उनके बाबा गाँव के मुखिया थे । हिन्दू मुस्लमान होना उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखता था । उनकी माँ सुंदर और पढ़ी लिखी थी । सारी वर्जनाओं और अंधविश्वासों के बीच वे अत्यंत उदार थी । इसके विपरीत उनके पिता छुआछूत, जात-पांत, ऊँच-नीच जैसी बुराइयों के कट्टर समर्थक थे । बालक विष्णु प्रभाकर के भीतर विद्रोह और दुस्साहस की आग उन्होंने ही सुलगाई थी । वह जानबूझकर तथाकथित अछूतों को घलेता, मस्जिद में जाकर हौज से पानी पीलेता । उनके साहित्य की प्रगतिशीलता और तार्किकता संभवत: इन्हीं व्यवहारों का तर्कसम्मत प्रभाव है ।

उनकी पत्नी नितांत घरेलू महिला थीं । लेखक पति के साथ रह कर वे भी लेखन की और उन्मुख हो गई थीं । प्लेग की महामारी की भेंट उनके परिवार के पाँच सदस्य चढ़ गए तब न समाप्त होने वाले दायित्वों का बोझ उनके कंधों पर आ गया । उन्होंने एक पशुपालन फार्म में दफ्तरी की नौकरी से आजीविका प्रारंभ की लेकिन नियति, मेहनत और लगन उन्हें लेखक बनाकर ही मानी ।

व्यक्ति विष्णु प्रभाकर के साथ सबसे खास बात उनका सामान्य होना है । छोटे बड़े सभी लोग उन्हें विष्णुजी ही कहते हैं । कोई अन्य संबोधन उन्हें सूट नहीं करता और यह संबोधन इतना आत्मीय हो जाता है कि उनमें असहजता नहीं झलकती । वेषभूषा में वही सादा खादी का कुर्ता, पाजामा, जैकेट और गांधी टोपी उनका स्थायी वेश है । व्यक्ति विष्णु प्रभाकर की चर्चा कॉफी हाउस के बिना अधूरी है । कॉफी हाउस वही लेखक आ सकता है जो लेखकों की समता का विश्वासी है । कॉफी हाउस में उनसे मिलने के बाद नया लेखक आदरवश हाथ जोड़ना चाहे तो वे तपाक से हाथ मिलाकर उसे अपनी बराबरी का दर्जा देते हुए बैठने का इशारा करते हैं ।

विष्णु प्रभाकर ने साहित्य की विभिन्न विधाओं उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी ध्वनि रूपक, यात्रा साहित्य संस्मरण, डायरी, आत्मकथा आदि विविध-विधाओं में लेखन किया उनका लिखा बाल साहित्य भी महत्वपूर्ण है । इसके अतिरिक्त उन्होंने निबंध, लघु

जीवनियाँ, लघु कथाएँ भी लिखीं । विष्णु जी मूलत: गद्य लेखक हैं लेकिन बहुत कम लोग जानते हैं वे कवि भी हैं । प्रति वर्ष नए साल पर एक कविता उनके मित्रों को मिलती है जो वे अपने पास आए शुभकामना संदेशों के उत्तर में देते रहे । 11 अप्रैल 2009 को उन्होंने यह पार्थिव देह त्याग दी, लेकिन जाते-जाते वे अपनी देह मैडिकल कॉलेज के विद्यार्थियों के लिये दान दे गए । यह उनकी वैज्ञानिक सोच का प्रमाण है ।

23.3 आवारा मसीहा - एक उपलब्धि

लगभग 100 कृतियों के सफल लेखक विष्णु प्रभाकर के यश का एकमात्र आधार यदि भविष्य में केवल आवारा मसीहा को माना जाएगा तो अत्युक्ति न होगी । स्वयं प्रभाकर जी भी अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना इसी कृति को मानते हैं । सन् 1959 से 1975 तक लगातार 14 वर्ष के समर्पण के बाद यह कृति आकार पा सकी । यह जीवनी होते हुए भी किसी रोचक उपन्यास से अधिक रोचक है । लेखक के ही शब्दों में आवारा मसीहा की सफलता का एक कारण तो रहे स्वयं शरतचंद्र उसका जीवन इतना विचित्र है उसको लोगों ने कभी समझा ही नहीं । वे आगे कहते हैं कि शरतचंद्र की जीवनी लिखकर मुझे मनुष्य को समग्रता में देखने की दृष्टि मिली । यहां पर अन्डर लाइन करने वाली पंक्ति मनुष्य को समग्रता में देखना है । शरत् का अपना ही व्यक्तित्व इतने विरोधाभासों से भरा हुआ है कि उस पर काम प्रारंभ करने के पहले ही छक्के छूटने लगे । सामग्री संकलन के दौरान के अनुभवों का उन्होंने भूमिका में विवरण दिया है । उनके अनुभव बड़े विचित्र रहे । किसी ने कहा, छोड़ो भी क्या था उसके जीवन में जो तुम पाठकों को देना चाहोगे । नितांत स्वच्छंद व्यक्ति का जीवन क्या किसी के लिए अनुकरणीय हो सकता है । ' किसी ने कहा उनके बारे में जो कुछ हम जानते हैं वह हमारे बीच में ही रहे । दूसरे लोग उसे जान कर क्या करेंगे । रहने दो उसे लेकर क्या होगा । " एक सज्जन तो उन पर अत्यंत उग्र हो उठे । तीव्र स्वर में बोले कहे देता हूँ मैं उनके बारे में कुछ नहीं बताऊँगा । '

दूसरे सज्जन की घृणा का पार नहीं था । एक बन्धु जो ऊँचे-ऊँचे पदों पर रह चुके थे । मेरी बात सुन कर मुस्कराए और बोले ' 'क्यों इतना परेशान होते हो । दो चार गुण्डों का जीवन देख लो शरतचंद्र की जीवनी तैयार हो जाएगी । '

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि विष्णु प्रभाकर में मनुष्य को समग्रता में जांचने को कुव्वत न होती तो या तो वे काम को बीच में ही छोड़ देते या फिर व्यक्ति शरत् चंद्र का बड़ा कुरूप रूप सामने आता । उन्हें कोयले से भी ज्यादा काला प्रमाणित करने के लिए न जाने कितनी कहानियां गढ़ ली गई थी । और फिर उन्हें गढ़-गढ़ में वे खुद भी बराबर के साझेदार होते थे ।

उनके इस बाहरी रूप से परे भीतर के शरतचंद्र तक विष्णु प्रभाकर पहुंचे उन सब बातों के बावजूद विष्णु प्रभाकर जी के शरत् की वाणी के मर्म को पहचाना । शरत् ने खुद कहा है- ' मेरा जीवन अन्तत: मानो एक उपन्यास ही है । इस उपन्यास में मैंने सब

कुछ किया पर छोटा काम कभी नहीं किया । जब मरूंगा तक निर्मल खाता छोड़ जाऊँगा । उसके बीच स्याही का दाग कहीं नहीं होगा ।

एक अन्य जगह पर वे कहते हैं- ' मैंने अनीति का प्रचार करने के लिए कलम नहीं पकड़ी । मैंने तो मनुष्य के अंतर में छिपी हुई मनुष्यता को, इस महिमा को जिसे सब नहीं देख पाते नाना रूपों में अंकित करके प्रस्तुत किया है ।

ऐसे ही विभिन्न स्थल है जहां से विष्णु प्रभाकर को शरत् के अन्तर्मन का परिचय मिलता है । शरत् का जीवन भी अपने पात्रों की तरह ही है । वे एक मनुष्य है और मनुष्य अपनी अच्छाइयों और बुराइयों समेत ही मनुष्य होता है विष्णु प्रभाकर उनकी अच्छाइयों और बुराइयों के बीच में संतुलन बना कर उन्हें प्रस्तुत कर पाए हैं, यही उनकी सफलता है और इसीलिए यह जीवनी विशिष्ट सी है ।

देखा जाए तो मनुष्य की मनुष्यता ही आवारा मसीहा का मूल कथ्य है । शरत् चन्द्र कुद भी मानववादी थे । स्त्री पुरुष अवर्ण, सवर्ण सबके लिए उसकी एक ही नैतिकता थी । उन्होंने प्राचीन काल से चले आ रहे सतीत्व के मिथ को तोड़ा और बार-बार यह कहा कि मनुष्यता सतीत्व से बड़ी है । वे स्त्री के योनि परीक्षण के खिलाफ थे और स्त्री के स्त्री होने का आधार केवल योनि शुचिता को न देकर अन्य बातों को देते थे । उन्होंने स्त्री को केवल शरीर नहीं माना । बल्कि समाज सेवा, दया ममता मातृत्व आदि को भी स्त्री के लिए महत्त्वपूर्ण माना ।

इसी प्रकार उन्होंने वर्ण व्यवस्था और शास्त्रों से विद्रोह किया । मनुष्य की महिमा पहचानने में यदि उनके रास्ते में शास्त्र आए तो उसे भी उन्होंने मनुष्य से बड़ा नहीं माना । विष्णु प्रभाकर ने लिखा भी है सर्वोत्तम सौन्दर्य के सामने सर्वोत्तम मानवीय करूणा भी क्या ईश्वर नहीं है ।

कहा जा सकता है कि मानवीय करूणा का यह सम्मान ही आवारा मसीहा का मूल कथ्य है । शरतचंद्र के प्रति विष्णु प्रभाकर में श्रद्धा है, अन्ध भक्ति नहीं । इसलिए वे नीर क्षीर विवेक कर सके हैं ।

उन पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि उन्होंने शरत् की भावातिरेक में आकर निर्बन्ध-निंदा की है या प्रशंसा की है । संतुलन सर्वत्र बना हुआ है । इसलिए आवारा मसीहा में शरत् का व्यक्तित्व प्रतिफलित हो सका है और अभिव्यक्ति का कलात्मक ढंग भी आ सका है । उन्होंने एक श्रेष्ठ जीवनी लेखक से की जाने वाली अपेक्षाओं की पूर्ति की है और जीवनी लेखन के कठिन कार्य को सफलतापूर्वक पूरा किया । इसलिए आवारा मसीहा का दोहरा महत्व है । पहला वह एक श्रेष्ठ जीवन है हिंदी के जीवनी साहित्य की एक श्रेष्ठ उपलब्धि । दूसरा उसने जीवनी साहित्य के उपेक्षित क्षेत्र में भावी लेखकों का मार्ग प्रशस्त किया है । उनके सामने एक आदर्श रखा है ।

निस्संदेह आवारा मसीहा हिंदी जीवनी साहित्य की एक अमर रचना है ।

23.4 शिल्प

आवारा मसीहा को लेकर अक्सर यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि उक्त रचना को जीवनी माना जाए या उपन्यास । शिल्प की दृष्टि से आवारा मसीहा में जो रवानगी है

वह रवानगी उसे उपन्यास का कलेवर देती है उनमें जिस तरह से घटनाओं का विवरण दिया गया है जो नाटकीयता है, संवादों की जितनी जीवतता है वह अब मिलकर उसे तथ्यात्मक वस्तु न बने इस सृजनात्मक साहित्य की श्रेणी में ला खड़ा करती है ।

विष्णु प्रभाकर के आवारा मसीहा के पहले अमृतराय की कलम का सिपाही आ चुकी थी । अमृतराय ने जीवनी में कल्पना की सीमा के बारे में चर्चा करते हुए कहा कि वास्तविकता को अपनी कल्पना की सीमा से स्फूर्त और स्पंदित करके मूल तथ्यों को वाणी देना किसी भी जीवनी का साहित्यक का आधार है । जीवनी का उद्देश्य है कि जीवन के संदर्भ में अपने चरित्रों को पहचाने देखें और खोलता चला जाए ।

विष्णु प्रभाकार ने स्वयं माना कि जीवन चरित्र विज्ञान में उसका आदर्श सत्य है । इस सत्य की खोज में उन्हें रचनाएं ढूंढनी पड़ी । शरत् के समयकालीन लोगों से मिलना पड़ा उनके उपलब्ध पत्र खोजने पड़े उस वक्त के केलेण्डर खोलने पड़े । कहा जा सकता है कि आवारा मसीहा जीवनी है लेकिन उसमें उपन्यास का प्रवाह हैं ।

23.5 कठिन शब्दों के अर्थ

जाति बहिष्कृत = जाति से बाहर, भद्रलोगो = सभ्य लोगों, वास्ता = मतलब, अधःपतन = निम्नता की ओर, स्त्रैण = स्त्री का गुलाम, अध्ययन लेखन = लिखना-पढ़ना, अल्पकालिक = थोड़े समय, स्मृति = याद, दाम्पत्य = वैवाहिक

23.6 व्याख्या

(1) "जहाँ निम्न वर्ग के लोग रहते थे, बीच-बीच में वह वहीं मिस्त्री पल्ली में जाकर रहता था । उसके अन्तर का हीन भाव उसे सभ्य समाज से दूर इन तथाकथित छोटे लोगों के बीच में ही आनन्द देता था । देश में वह जाति-बहिष्कृत था । उसके रिश्तेदार उसे अपनाने से हिचकते थे । भद्र लोगों की दृष्टि में वह चरित्रहीन था । यहां भी उच्च वर्ग के बंगाली उससे नफरत करते थे । वे मानते थे कि ऐसे लोगों से कोई वास्ता नहीं रखना चाहिए । जो अधार्मिकता और अधःपतन की ओर ले जाते हों । निश्चय ही उसके अन्तर में उनसे बदला लेने की भावना जाग उठी थी । इसीलिए वह निम्न वर्ग के लोगों को और भी अधिक प्यार करने लगा था । "

प्रसंग :

उक्त अंश विष्णु प्रभाकर शरत चंद्र की जीवनी आवारा मसीहा खंड तीन से लिया गया है । इसमें बताया गया है कि सन में भी शरत्, निम्न वर्ग के लोगों के बीच जाकर रहते थे ऐसा तथाकथित उच्च वर्ग के प्रति विद्रोह के कारण भी करते थे । रंगन का भी भद्र बंगाली समाज उनसे नफरत ही करता था ।

व्याख्या :

शरत् जब मेस में रहते थे तब भी बीच-बीच में मिस्त्री पल्ली में जा कर रह आते थे । मिस्त्री पल्ली मिस्त्रियों की बस्ती थी । अपने देश में वह जाति से बाहर था । लोग उसे चरित्रहीन और दुर्व्यसनी समझते थे । उसके रिश्तेदार उससे दूरी बनाए रखते थे । मामा के यहां से खांसकर अंदर जाने की आज्ञा थी ताकि समवयस्क बहनें अंदर चली

जाएं । रंगन में भी उच्च वर्ग के बंगाली उनसे नफरत ही करते थे और उनका मानना था कि जैसे उस व्यक्ति से दूरी बनाकर रखनी चाहिए । शरत के मन में उनके प्रति विद्रोह जाग उठा होगा तभी कारीगरों की उस बस्ती से उनका प्रेम जागा होगा वहां के लोगों का अकृत्रिम व्यवहार उन्हें खींचता रहा होगा । जो कुछ अच्छा या बुरा था सब सामने था । हो सकता है कि उच्च वर्ग और उसके आडंबरों से विद्रोह करके वे वहां रहते हो और यही भावना निम्न वर्ग के लोगों के प्रति उनके प्यार का आधार बनी हो।

विशेष :

1. इस गद्यांश में शरत् चंद्र की मानवता लक्षित होती है । उनकी दृष्टि में कोई भी देय नहीं था । वे यह मानते थे कि अच्छाई कहीं भी हो सकती है और तथाकथित भद्रजन उसके अकेले ठेकेदार नहीं है ।
2. यह गद्यांश यह बताता है कि ऊपरी आवरण ही सत्य नहीं होता है । ऊपरी तौर पर शरत् चंद चाहे जैसे भी दिखते हों लेकिन उनके अंदर मानवीय स्त्रोत अजस्त था यही स्त्रोत निम्न वर्ग के लोगों में प्यार के रूप में सामने आया ।
3. यहां पर विष्णु प्रभाकर ने शरत चंद्र के व्यक्तित्व के अनुरूप मनुष्य ही सहज सरल भाषा का प्रयोग किया है ।

(2) न जाने कितने दुखों के बीच से होकर उन्होंने यह सुख पाया था । दोनों न जाने कितनी-कितनी देर तक बातें करते रहते । एक-दूसरे की आंखों में झांकते रहते । दफ्तर के मित्रों ने उसे स्त्रैण कहना शुरू कर दिया, लेकिन उसने किसी बात की चिन्ता नहीं की । मिस्त्री पल्ली के लोग पुकारते तभी वह होमियोपैथी का बक्स उठाकर बाहर निकलता । या फिर कभी अध्ययन लेखन की प्रेरणा होती तो नयी अनुभूति के साथ साधना में लग जाता, नहीं तो उसका संसार शान्ति में सीमित होकर रह गया था । "

संदर्भ :

उपर्युक्त पंक्तियां शरत् चंद्र की जीवनी आवारा मसीहा से उद्धत की गयी है । आवारा मसीहा को श्री विष्णु प्रभाकर ने 14 वर्ष की निरंतर साधना करके लिखा है । हिन्दी साहित्य की यह विशिष्ट उपलब्धि यहां रंगून में शरत के विवाह के उपरांत उनके बारे में बताया गया है ।

व्याख्या:

शरत् के जीवन में कुछ व्यवस्था आ गई थी । पत्नी के साथ ने उनके जीवन में सुख भर दिया था । पति पत्नी दोनों देर तक बातें किया करते एक दूसरे की आंखों में झांकते रहते । शरत् ने कहीं भी आना जाना कम कर दिया था । दफ्तर में मित्र उन्हें स्त्रैण तक रहने लग गए थे । किन्तु शरत् पर इन बातों का कोई असर नहीं होता । उसके मुहल्ले में कोई बीमार होता और पुकारता तो वे उन्हें होम्योपैथी का बक्सा लेकर उसकी सेवा को चले जाते अन्यथा घर पर ही रहते । कभी अगर लेखन की इच्छा होती तो नए अनुभव के साथ लिखते अन्यथा उनका जीवन शांति तक सीमित रह गया था ।

विशेष:

1. इस अवतरण के अंतर्गत विष्णु जी ने शरत् चंद्र के दाम्पत्य जीवन की तृप्ति का वर्णन किया है ।
2. शरत् का संसार शांति तक सीमित रह गया था । केवल मरीजों की सेवा करने बाहर जाते थे यह बता कर विष्णु जी ने यह बताया है कि प्रेम की उत्कटता के बीच भी वे अपने मानवीय कामों के पीछे नहीं हटते हैं ।
3. अवतरण की भाषा सीधी सरल व बोध गम्य हैं ।

(3) उसका सारा जीवन एक यात्रा ही था । एक निरुद्देश्य यात्रा । एक बार फिर वह घूमने निकल गया । लेकिन अब पहले की तरह मुक्त नहीं था । छुट्टी की एक सीमा होती है, आखिर उसे अपने काम पर लौटना पड़ा । फिर दर्द सहा जाता है, प्रचारित नहीं किया जाता, तभी तो वह शक्ति बनता है, इसलिए अध्ययन, लेखन, चित्रांकन सब कुछ फिर आरम्भ हो गया । उस दर्द ने उन्हें गहराई दी और दी विशालता, लेकिन उस घर में वह नहीं रह सका । उसके कण-कण में उसके अल्पकालिक दाम्पत्य जीवन की स्मृति अंकित थी । पास ही एक और घर लेकर वह उसमें चला गया ।

संदर्भ :

उक्त गद्यांश शरत् चंद्र की जिनकी आवारा मसीहा से उद्धत है जो विष्णु प्रभाकर के 14 वर्ष की मेहनत और लगन का परिणाम है । शरत् की पत्नी और पुत्र प्लेग की भेंट चढ़ चुके थे उनका लेखन चिंतन, मनन सब छूट गया । बस बावलों की तरह हो गए । तब मित्रों ने उन्हें इधर उधर घूम आने की सलाह दी ।

व्याख्या :

उक्त अवतरण यह बताता है कि शरत् का सारा जीवन एक निरूद्देश्य यात्रा ही था । दुःख की उस असीमता के बीच जिसमें पत्नी पुत्र सब काल के शिकार हो गए थे वह पहले की तरह एक बार फिर भटकने लगा । लेकिन इस बार वह पहले की तरह मुक्त नहीं था । दुःख और स्मृतियां तीव्र थीं और दफ्तर से छुट्टी की भी सीमा थी । फिर वह यह भी मानता है दुख और दर्द को जब चुपचाप सहा जाए तभी वह शक्ति बनता है और इस तरह शरत् लौट आया और एक बार फिर अध्ययन लेखन चिंतन मनन प्रारम्भ हो गया । इस दर्द ने उसके अन्तरमन को गहराई दी । लेकिन वह अपने पुराने घर में नहीं रह पाया उस घर के कोने कोने में दाम्पत्य जीवन की स्मृतियां थी । उसके पास ही एक और घर ले लिया और वहां रहने चला गया ।

विशेष :

1. उक्त गद्यांश शरत् के जीवन की भटकाव की ओर इशारा करता है । उनके भीतर के बैचेनी उन्हें एक जगह टिकने नहीं देती है ।
2. उक्त गद्यांश यह भी बताता है कि दर्द चुपचाप सहने से शक्ति बनता है । उसका प्रचार नहीं किया जाता । प्रचार करने पर सहानुभूति मिल जाती है, लेकिन वह शक्ति नहीं बन पाती

3. उक्त गद्यांश में यह बताया गया है कि शरत् अपने पुराने घर में नहीं जा पाया इससे यह स्पष्ट होता है कि शरत् के पास एक भावुक मन था । उनकी यह भावुकता उन्हें पुराने घर में नहीं जाने देती क्योंकि वहां उनके दाम्पत्य की स्मृतियां थी ।
4. गद्यांश की भाषा सहज सरल और बोधगम्य है ।

23.7 सारांश

देखा जाए तो मनुष्य की मनुष्यता ही आवारा मसीहा का मूल कथ्य है । शरत चन्द्र खुद भी मानववादी थे। स्त्री पुरुष अवर्ण, सवर्ण सबके लिए उसकी एक ही नैतिकता थी । उन्होंने प्राचीन काल से चले आ रहे सतीत्व के मिथ को तोड़ा और बार-बार यह कहा कि मनुष्यता सतीत्व से बड़ी है । वे स्त्री के योनि परीक्षण के खिलाफ थे और स्त्री के स्त्री होने का आधार केवल योनि शुचिता को न देकर अन्य बातों को देते थे । उन्होंने स्त्री को केवल शरीर नहीं माना । बल्कि समाज सेवा, दया ममता मातृत्व आदि को भी स्त्री के लिए महत्त्वपूर्ण माना ।

आवारा मसीहा को लेकर अक्सर यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि उक्त रचना को जीवनी माना जाए या उपन्यास । शिल्प की दृष्टि से आवारा मसीहा में जो रवानगी है वह रवानगी उसे उपन्यास का कलेवर देती है उनमें जिस तरह से घटनाओं का विवरण दिया गया है जो नाटकीयता है, संवादों की जितनी जीवतता है वह अब मिलकर उसे तथ्यात्मक वस्तु न बने इस सृजनात्मक साहित्य की श्रेणी में ला खड़ा करती है ।

23.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. शरत अपने साहित्य और व्यवहार में मानववादी थे । स्पष्ट कीजिए ।
2. दिए गए अंश के आधार पर बताइए कि दुर्भाग्य शरत का पीछा किस प्रकार करता रहा?

23.9 संदर्भ ग्रंथ

1. विष्णु प्रभाकर; आवारा मसीहा
2. डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना; आवारा मानुष, विष्णु प्रभाकर
3. डॉ. धर्मवीर; लोकायती वैष्णव प्रभाकर
4. विष्णु प्रभाकर; शरत चंद्र चिन्तन और मनन

ISBN - 13/978-81-8496-103-4